सिद्ध-साहित्य

डा० धर्मवीर भारती

किताब महल, इलाहाबाद

प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा
डी० फिल० उपाधि के लिये स्वीकृत प्रबन्ध
का परिवर्द्धित रूप

प्रकाशक : किताब महल, १५ थार्नहिल रोड, इलाहाबाद
मुद्रक : पियरलेस प्रिन्टर्स, १ बाई का बाग, इलाहाबाद

श्रद्धेय डॉ० धीरेन्द्र वर्मा को
सादर, साभार

प्रस्तावना

सिद्ध-साहित्य के अध्ययन का इतिहास इस शती के प्रथम दशक से प्रारम्भ होता है जब बगाल के प्रख्यात विद्वान् म० हरप्रसाद शास्त्री को १६०७ ई० मे नेपाल यात्रा मे कुछ अपभ्रंश दोहे तथा चर्यापद मिले, जिनमे बौद्ध तन्त्रो के अनुसार तान्त्रिक तथा योग-साधना की पद्धतियो का प्रतीकात्मक शैली मे वर्णन किया गया था। इन दोहो तथा पदो के रचयिता चौरासी सिद्धो की परम्परा मे गिने जाते थे। लगभग १० वर्ष बाद बगीय-साहित्य-परिषद् से शास्त्री महोदय ने इन्हे संकलित कर ग्रन्थरूप मे प्रकाशित किया और उसी समय उसने भारत तथा विदेश के कई विद्वानो का ध्यान आकर्षित किया।

विद्वानो ने पहले इन दोहो और पदो का अध्ययन भाषा की दृष्टि से किया, क्योकि शास्त्री महोदय ने इन्हे पुरानी बँगला का साहित्य माना था। किन्तु बाद मे यह भी देखा गया कि बगाल के कई लोकप्रचलित शैव, वैष्णव और सूफी साहित्य के सम्प्रदायो मे इनकी प्रभाव परम्परा शेष है, और उस दृष्टि से मणीन्द्रमोहन बसु तथा डा० शशिभूषणदास गुप्त आदि ने इनकी विषय वस्तु का अध्ययन कर बंगाल के लोक-प्रचलित सम्प्रदायो पर इनके प्रभाव का आकलन किया।

जहाँ तक हिन्दी का प्रश्न है, लगभग दो दशक तक हिन्दी क्षेत्र मे इस साहित्य पर ध्यान ही नहीं दिया गया। हिन्दी क्षेत्र मे इस साहित्य की ओर ध्यान आकर्षित करने का श्रेय श्री राहुल साकृत्यायन को है, यद्यपि इन्होने इस स्थापना के साथ इस साहित्य का परिचय हिन्दी को दिया, कि इनकी भाषा पुरानी मगही है। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने भी इस मत का समर्थन किया। फलस्वरूप इसके भाषा-पक्ष को अधिक महत्व मिला, यद्यपि उस पर भी हिन्दी मे आगे कोई महत्वपूर्ण काम नही किया जा सका।

इसके दूसरे पक्ष, जो अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हैं, उपेक्षित ही रहे। वे पक्ष थे, इसके सिद्धान्त-पक्ष और काव्य पक्ष, जिनका प्रभाव हिन्दी के नाथ तथा सन्त-साहित्य पर पड़ा। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रथम बार 'हिन्दी

साहित्य की भूमिका' तथा 'कबीर' मे इसकी ओर थोडे सकेत किये जिससे इसके अध्ययन की एक सर्वथा नयी किन्तु अत्यन्त उपयोगी दिशा मिली।

परवर्ती प्रभाव के प्रसग मे सिद्ध-साहित्य का अध्ययन करते समय मेरे सम्मुख कई समस्याएँ थीं। अभी तक सिद्धो के साहित्य का कोई ऐसा अध्ययन नही किया गया है जिसमे उनके दार्शनिक सिद्धान्तो और साधना पद्धतियो का सागोपाग विवेचन किया गया हो। डाक्टर दासगुप्त ने उनके सिद्धान्तों का एक सक्षिप्त परिचय अवश्य दिया था, किन्तु वज्रयानी तान्त्रिक पद्धतियो मे सहज-पद्धति का क्या स्थान था, तत्व-दर्शन, साधना, उपलब्धि के विषय मे सिद्धो के दोहो तथा पदो मे कौन से तत्व पूर्वागत बौद्ध परम्परा से लिये गये है, कौन से समकालीन तान्त्रिक सम्प्रदायो तथा सिद्धो के साहित्य मे समान रूप से उपलब्ध हैं, सिद्धो की साम्प्रदायिक स्थिति क्या थी और उसका क्या रूप उनके दोहो और पदो से उपलब्ध होता है, इन सभी समस्याओ का समाधान ढूँढना शेष था। उपलब्ध सामग्री अत्यन्त अल्प होने पर भी, तथा धर्म-साधनाओ की दृष्टि से वह युग अत्यन्त उलझनो से भरा हुआ होने पर भी प्रस्तुत ग्रन्थ मे यथासम्भव बिखरे हुये सूत्र जोड कर दोहो तथा पदो मे उपलब्ध उनके दार्शनिक सिद्धान्तो की एक रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

इसके लिये उन महायानी बौद्ध सम्प्रदायो का परिचय देना आवश्यक था जो आगे चलकर तान्त्रिक साधनाओ से समन्वित होकर बज्रयान के रूप मे विकसित हुए। इसीलिये सिद्धो के सिद्धात-पक्ष का विवेचन करने के पूर्व पृष्ठभूमि के रूप मे बौद्ध तन्त्रो के विकास पर एक छोटा अध्याय दे दिया गया है। उसमे सिद्धो की समकालीन बौद्धेतर तान्त्रिक साधनाओ का भी सक्षिप्त परिचय है। चर्यापदो तथा दोहो मे प्रतिपादित सिद्धान्तो का विवेचन करते समय हिन्दू योग-साधना पद्धतियो से उसकी तुलना की गई है और यथास्थान साम्य तथा अन्तर दिखाया हे गया है। परवर्ती प्रभाव की दृष्टि से यह अत्यंत आवश्यक था, क्योकि कई स्थलो पर दोहो तथा चर्यापदो की साधना पद्धति हिन्दू परम्परा से प्रभावित प्रतीत होती है, किन्तु अन्य स्थलो पर वह बौद्ध परम्परा, विशेषतया 'योगाचार' परपरा का पूर्ण अनुसरण करती है।

अपने इन सिद्धान्तो का प्रचार और अपनी रहस्यानुभूतियो की अभिव्यक्ति इन सिद्धो ने जिस काव्य शैली मे की है, वह और भी महत्वपूर्ण है

क्योकि उसी काव्यशैली के प्रतीक, उपमान, रूपक, और छन्द तक कई परवर्ती सम्प्रदायो के साहित्य मे अपनाए जाते रहे है। इनका काव्य निस्संदेह लौकिक काव्य नही था, अतः धार्मिक काव्य के सम्बन्ध मे जो भी कसौटियाँ या धारणाएँ उस समय प्रचलित थीं, उनकी ओर सकेत कर दिया गया है। शैली पक्ष का विवेचन करते समय प्रतीको तथा उपमानो के उद्‌भव और विकास पर भी प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। इन अध्यायो मे बिल्कुल नई अपरिचित दिशाओ मे चलना पड़ा है।

नाथो और सन्तो के हिन्दी साहित्य पर इन सिद्धो का अधिकांश प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर परम्परा रूप मे आया है, अत सिद्धो के बाद उन शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायो के विकास का एक सक्षिप्त परिचय दिया गया है जिनमे ये वज्रयानी प्रभाव चले आ रहे थे। उन सम्प्रदायो मे ये प्रभाव किस रूप मे शेष थे और हिन्दी क्षेत्र के सन्त उनके सम्पर्क मे कब और कैसे आये और कहाँ तक प्रभावित हुए, यह अध्ययन का महत्वपूर्ण विषय है किन्तु ग्रन्थ की सीमाएँ देखते हुए उसके विस्तार मे न जाकर उसके सक्षिप्त परिचय से सन्तोष करना पड़ा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को ३ खडो मे विभाजित किया जा सकता है, १ परिचय तथा पृष्ठभूमि, जिसके अन्तर्गत प्रथम दो अध्याय आते हैं, २ समीक्षा, जिसके अन्तर्गत तीसरा तथा चौथा अध्याय रखा जा सकता है, ३ परवर्ती प्रभाव, जिसमे पाँचवाँ अध्याय आता है। प्रथम खड मे सामाजिक पृष्ठभूमि का कुछ विस्तार से विवेचन किया गया है, जिसका प्रमुख कारण यह है कि सिद्धो से लेकर सन्तो तक लोकभाषा की काव्य परम्परा को एक विशेष सामाजिक वर्ग का प्रश्रय मिलता रहा है जिसके इतिहास के साथ इस साहित्य के विकास का घनिष्ठ सबध है। चूँकि इस परम्परा के प्रारभिक सूत्र सिद्धो के समय से ही मिलते है अत· समकालीन समाज पद्धति और उसमे इन जातियो का स्थान समझ लेना अत्यन्त आवश्यक था। वैसे अपभ्रश काल मे भारत के सामाजिक इतिहास मे जितनी उथल-पुथल हुई है और उसकी बिखरी हुई और कभी कभी विरोधपूर्ण झलक उपलब्ध होती है उससे किसी सुनिश्चित परिणाम पर पहुँच सकना कठिन है, किन्तु पूर्वी भारत के इतिहास मे कई तथ्य ऐसे मिलते हैं जिनको आधार बनाकर सिद्ध साहित्य के सामाजिक मूल्यांकन की दिशा मे कम से कम प्राथमिक प्रयास तो किया ही जा सकता है।

जितने क्षीण सूत्र इस दिशा मे उपलब्ध थे, जितने सीमित साधन मेरे पास थे और जितना बडा यह कार्य था, उसे देखते हुए यदि मेरे निर्देशक गुरुवर डा० धीरेन्द्र वर्मा की प्रेरणा, प्रोत्साहन, सहायता और निर्देशन मुझे बराबर न मिलते रहते तो इस कार्य का पूरा हो पाना असम्भव था। उनके अतिरिक्त भी पं० विधुशेखर शास्त्री, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० परशुराम चतुर्वेदी, प० गोपीनाथ कविराज तथा डा० प्रबोधचन्द्र बागची का मैं विशेष आभारी हूँ, जिनके सम्मुख मैने अपनी कठिनाइयाँ रखी और जिन्होने अपना अमूल्य समय देकर उनके समाधानो की ओर सकेत किया। बंगीय साहित्य परिषद् के अधिकारियो तथा "शनिवारेर चीठी" के संपादक श्री सजनी कान्तदास ने मेरी बहुत सहायता की है। कलकत्ता प्रवास मे भाई शिव नारायण शर्मा और श्री बजरगलाल लोहिया ने पुरानी पुस्तकें खोजने मे जो सहायता की है, तथा पुस्तक की पाण्डुलिपि प्रस्तुत करने तथा उसके मुद्रण मे सर्वश्री रामस्वरूप चतुर्वेदी, रूपनारायण शास्त्री, भोलानाथ तिवारी तथा बंधुवर नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने जितनी चिन्ता और श्रम किया है, वह अविस्मरणीय है।

यह विषय अत्यन्त जटिल है और अभी इस दिशा मे काम करने की बहुत गुंजायश है। जो विद्वान सिद्ध-साहित्य के अध्ययन को आगे बढ़ायेंगे, उनके लिये यदि यह ग्रन्थ एक समुचित भूमिका प्रस्तुत कर सका और अधिकाधिक विद्वानो को दिशा मे कार्य करने को प्रेरित कर सका तो मै अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

हिन्दी विभाग
विश्वविद्यालय
प्रयाग।

धर्मवीर भारती

सिद्ध-साहित्य

वज्रयानी सिद्ध – साहित्य का
विस्तृत अध्ययन तथा नाथ
और सन्त-परम्परा पर उसके
परवर्ती प्रभाव का
समुचित मूल्याकन

जिम विस भक्खइ विसहिं पलुत्ता
तिम भव भुञ्जइ भवहिं ण जुत्ता ।।

जैसे विष के (निरन्तर) भक्षण करने से (मनुष्य) विष के प्रभाव से मुक्त हो जाता है, वैसे ही भव का भोग करने से फिर भव से लिप्त नहीं होता ।

—सिद्ध तिलोपा

योजना



खण्ड १

परिचय तथा पृष्ठभूमि

प्रथम अध्याय : विषय-प्रवेश

क—आधार-सामग्री

ख—दोहाकारो तथा पदकर्ताओ का काल-क्रम तथा जीवन-वृत्त

ग—साधना-केन्द्र तथा राज्याश्रय

घ—सामाजिक पृष्ठभूमि

द्वितीय अध्याय : दार्शनिक तथा साम्प्रदायिक पृष्ठभूमि

महायान का विकास तथा उसकी वज्रयान मे परिणति

क—महायान का विकास

ख—समकालीन बौद्धेतर तान्त्रिक धर्म साधनाएँ

ग—बौद्ध धर्म मे तान्त्रिक प्रवृत्तियो का प्रवेश तथा वज्रयान का विकास

खण्ड २
समीक्षा

खण्ड ३
परवर्ती प्रभाव

विस्तृत-सूची

प्रथम अध्याय : विषय प्रवेश

द्वितीय अध्याय : वज्रयान की परम्परा

तृतीय अध्याय : सिद्धान्त-पक्ष

चतुर्थ अध्याय : काव्य-पक्ष

पंचम अध्याय : परवर्ती प्रभाव



प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

क

आधार-सामग्री

'सिद्ध-साहित्य' से हमारा तात्पर्य वज्रयानी परम्परा के उन सिद्धाचार्यों के साहित्य से है जो अपभ्रंश दोहो तथा चर्यापदो के रूप मे उपलब्ध है और जिसमे वौद्ध तान्त्रिक सिद्धान्तो को मान्यता दी गई है। यद्यपि उन्ही के समकालीन शैव नाथयोगियो को भी सिद्ध कहा जाता था किन्तु कतिपय कारणो से हिन्दी तथा अन्य कई प्रातीय भाषाओ मे शैव योगियों के लिए 'नाथ' तथा वौद्ध तात्रिको के लिए 'सिद्ध' शव्द प्रचलित हो गया। उसी प्रसग मे 'सिद्ध-साहित्य' वौद्ध सिद्धाचार्यों के साहित्य का वाचक हो गया है। प्रस्तुत प्रसग में भी 'सिद्ध-साहित्य' से वही तात्पर्य अभीष्ट है।

सिद्धो की रचनाएँ प्रमुखत दो रूपो मे उपलब्ध है, दोहाकोष तथा चर्यापद। दोहाकोष दोहो से युक्त चतुष्पदियो की कडवक शैली मे मिलते है। कुछ दोहे टीकाओ मे उद्धृत है और कुछ दोहागीतियाँ बौद्ध तन्त्रो तथा साधनाओ मे मिली है। चर्यापद वौद्ध तान्त्रिक चर्या के समय गाये जाने वाले पद है जो विभिन्न सिद्धाचार्यों द्वारा लिखे गये है किन्तु एक साथ सग्रहीत कर दिये गये है।

दोहाकोष

विभिन्न सिद्धो के कई दोहाकोश उपलब्ध है जिनमे से कुछ पूर्ण है, कुछ खडित। उनका विवरण इस प्रकार है ·

अ—काण्हपा का दोहाकोष

१ इसकी एक पाडुलिपि सर्वप्रथम म० हरप्रसाद शास्त्री को नैपाल मे मिली थी जिसका प्रतिलिपि काल १०२७ नैपाली सम्वत् (१९०७ ई०) था। इसके

साथ 'मेखला' नाम की एक सस्कृत टीका भी मिलती है, और अनुमान किया जाता है कि काण्हपा की मेखला शिष्या द्वारा प्रणीत है। शास्त्री महोदय का कहना है कि इसकी पाडुलिपि जापान के श्री एकइ कावागुची के पास सुरक्षित है किन्तु श्री सिल्वियाँ लेवी द्वारा बहुत प्रयत्न करने पर भी उसका पता नही लग सका। श्री शास्त्री महोदय द्वारा 'बौद्ध गान ओ दोहा' मे प्रकाशित पाठ को तजूर मे सुरक्षित रूपान्तर के आधार पर सशोधित करने का प्रयास डा० शाहिदुल्ला ने "ल शा मिस्तीक्स" मे किया है।

२. काण्हपा के दोहाकोष का एक पाठान्तर 'श्री गुह्येन्द्र तिलक तन्त्र' के प्रबोधन पटल मे भी मिलता है जिसकी पाडुलिपि बिबलियाथीक नेशनल, पेरिस में (सस्कृत सख्या ४७) सुरक्षित है। इसके साथ एक दूसरी सस्कृत टीका उपलब्ध है। डा० प्रबोधचन्द्र बागची ने कलकत्ता-सस्कृत-सीरीज से प्रकाशित "दोहाकोष" मे 'गुह्येन्द्र तिलक तन्त्र' के पाठान्तरो का उल्लेख किया है और उसके आधार पर डा० शाहिदुल्ला और शास्त्री महोदय द्वारा प्रकाशित पाठो मे कई नये सशोधन प्रस्तावित किये गये हैं, किन्तु उनके 'दोहाकोष' में मेखला टीका ही प्रकाशित हुई है। डा० दासगुप्त ने 'इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म' मे 'श्री गुह्येन्द्र तिलक यन्त्र' में उपलब्ध टीका की विशेषताओ का उल्लेख किया है।

कण्हपा के इस दोहाकोष मे ३२ छन्द मिलते है जिनमे से २७ दोहे हैं और केवल ५ समचतुष्पदियाँ।

आ—तिलोपा का दोहाकोष

नेपाल के राजगुरु हेमराज शर्मा के व्यक्तिगत सग्रह मे डा० बागची को एक पाडुलिपि मिली है जिसमे सरहपा के एक दोहाकोष के साथ तिलोपा का एक दोहाकोष उपलब्ध हुआ है। इस पाडुलिपि के प्रतिलिपि-काल आदि के विषय मे अन्य कोई भी सकेत नही है, किन्तु डा० बागची इसे १३वी शती का बताते है। इसके साथ 'सारार्थ-पजिका' नामक एक सस्कृत टीका भी मिलती है। बागची ने 'दोहाकोष' मे इसके मूल अपभ्रंश अश के तजूर (नार्थंग सस्करण, खड ८६) मे उपलब्ध तिब्बती रूपान्तर की सहायता से सशोधित पाठ देने का प्रयास किया है और सस्कृत टीका भी प्रकाशित की है। ज० डि० ले० (कलकत्ता) मे

प्रकाशित 'दोहाकोप' मे डा० बागची ने तिब्बती रूपान्तर भी प्रकाशित किया है और टीका के आधार पर दोहो का मर्मार्थ भी दिया है।

इ—सरहपा का दोहाकोष (१)

१ सरहपा का ११२ छन्दो का एक दोहाकोष शास्त्री महोदय ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' मे प्रकाशित किया था जिसके साथ अद्वयवज्र की 'सहजाम्नाय पजिका' नामक सस्कृत टीका भी है। पुष्पिका से ज्ञात होता है कि यह स्थिरमति नाम के पडित के लिए उदयभद्र नामक लेखक ने लिपिबद्ध की है। किन्तु अन्य कोई सकेत नही मिलता। डा० शाहिदुल्ला ने शास्त्री द्वारा प्रकाशित दोहाकोष के पाठ मे तिब्बती रूपान्तर के आधार कई महत्वपूर्ण सशोधन किये है।

२ दूसरी पाडुलिपि तिलोपा के दोहाकोप की पाडुलिपि के साथ राजगुरु हेमचन्द्र शर्मा के सग्रह मे सुरक्षित है जिसका प्रतिलिपि-काल डा० बागची १३ वी शती मानते है। अद्वयवज्र की सस्कृत टीका भी इसके साथ है किन्तु ११२ वें दोहे के उपरात जितना सस्कृत अश शास्त्री महोदय द्वारा प्रकाशित टीका मे है, वह इस पाडुलिपि मे नही मिलता।

३ सरहपा के दोहाकोष की एक तीसरी पाडुलिपि दरबार लाइब्रेरी, नैपाल मे डा० प्रबोधचन्द्र बागची को मिली है जिसका प्रतिलिपि-काल वे २२१ नैपाली सम्वत् (११०१ ई०) बताते है। इस पाडुलिपि मे शास्त्री महोदय द्वारा प्रकाशित दोहाकोष के एक बडे अश के अतिरिक्त सरहपा के दो नये दोहाकोषो के अश मिलते है। इनमे से एक की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि परमोपासक रामवर्मा के लिए स्थविर पथमगुप्त ने उसकी प्रतिलिपि की है जो नैपाली सम्वत् २२१ की श्रावण शुक्ल पूर्णमासी को समाप्त हुई है। यह पाडुलिपि सबसे प्राचीन और प्रामाणिक मानी जाती है और बागची ने अपने सस्करण मे इसी को आधार बनाया है।

ई—सरहपा का खंडित दोहाकोष (प्रथम)

दरबार लाइब्रेरी की पाडुलिपि मे ही लगभग २० दोहो का एक लघु दोहाकोप भी मिला है जिसके प्रथम तथा अन्तिम दोनो ही दोहे खण्डित है अत यह दोहाकोष पूर्ण है या किसी बडे दोहाकोष का अश है यह नही ज्ञात होता। डा० बागची का कथन है कि तिब्बती अनुवादो मे सुरक्षित सरहपा की किसी भी

कृति में ये दोहे नही मिलते किन्तु तीन तथा १०वें दोहे मे (संख्या-क्रम डा० वागची ने दिया है) सरहपा ने अपना नाम दिया है 'सरह भणइ अत्तत्थ विसार' या 'भणइ सरह एवि विषमी रन्धा', जिससे इनके सरह कृत होने मे सन्देह नही होता क्योकि यह पाडुलिपि सबसे प्राचीन (११०१ ई०) है। तिब्बती रूपान्तर के अभाव मे भी डा० वागची ने कलकत्ता सस्कृत सीरीज से प्रकाशित दोहाकोष मे इसकी सस्कृत छाया तथा कलकत्ता युनिवर्सिटी से, प्रकाशित दोहा-कोष मे अँगेजी मे व्याख्या देने का प्रयास किया है किन्तु अधिक सफलता नहीं मिल पाई है।

उ—सरहपा का खंडित दोहाकोष (द्वितीय)

इसी के उपरान्त १२ दोहे उसी पाडुलिपि मे उपलब्ध है जिनकी पुष्पिका इस प्रकार है 'समत्तो जहालद्धो दोहाकोसो ऐसो सगहिओ परत्थकामेण पडिअ सिरि दिवाअर चन्देणेति। सवत् २२१ श्रावणशुक्लपूर्णमास्याम्। श्री नोग्वलके परमोपासक श्रीरामवर्म्मण पुस्तकोऽय। यथादृष्टम् तथा शाक्यभिक्षु स्थविर पथमगुप्तेन लिखितव्यम्।' श्री दे का अनुमान है कि ये दिवाकरचन्द्र वे ही है जिन्हे तिव्वती अनुश्रुतियो मे अद्वयवज्र (सरहपा के टीकाकार) का शिष्य वताया गया है जो विक्रमशिला से दीपङ्कर द्वारा निर्वासित किये गये थे और जिन्होने तिव्वती मे ५ वौद्ध ग्रन्थो का अनुवाद किया।[1] इस दोहाकोष का प्रथम दोहा अपूर्ण है किन्तु अन्तिम दोहे मे सरहपा ने दोहो की सख्या ३० वताई है·

सरहपा पाअ किअ दोह तिउसो सघहिओ एत्थ।[2]

यदि यह लिपिकार की कोई भूल नही है तो यह मानना होगा कि ये १२ दोहे केवल उस दोहाकोष के अश मात्र है जिसके १८ दोहे अप्राप्य है।

ऊ—सरहपा के स्फुट दोहे

१ वेंडेल द्वारा सम्पादित सुभाषित सग्रह मे सरहपा के ४ दोहे तथा ४ समचतुष्पदिया और दो मुक्तक (दो दो पदो के) मिलते है।[3] इनमे से कुछ का पाठ सशोधन करने का प्रयास डा० वागची ने किया है।[4]

२ क्रियासमुच्चय मे सरहपा के खडित दोहाकोष (द्वितीय) का एक दोहा (संख्या ६) कुछ परिवर्तित रूप मे उद्धृत किया गया है और चर्यापदो की मुनि-दत्त प्रणीत टीका में भी इस दोहे का एक अश उद्धृत किया गया है।

३. सरहपा के दो पूरे दोहे मुनिदत्त की टीका मे और उद्धृत किये गये हैं (पद २० तथा पद ४४ की टीका)।[६] इसके अतिरिक्त ९ स्थलो पर सरहपा के दोहे के पहले कुछ शब्दो को उद्धृत कर उनका उल्लेख किया गया है किन्तु वे प्राप्य नही है।[७]

ए—अन्य

१. डा० विनयतोप भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित वज्रयानी देवताओ की साधनाओ मे कई अपभ्रंश मुक्तक मिलते है जिनके लेखको का उल्लेख नही है। इस प्रकार के ४ छन्द प्राप्य है। शुक्ल कुरुकुल्ला साधन (सख्या १८०), शबरपाद कृत शुक्ल कुरुकुल्ला साधन (सख्या १८५), महामाया साधन (स० २३९, २४०) तथा कुरुकुल्ला साधन (१८३) में सस्कृत मूल मे इन अपभ्रंश पद्याशो को उद्धृत किया गया है। इनमे से अन्तिम छन्द हेवज्रतन्त्र मे भी उद्धृत है, जिसे वागची ने हेवज्रतन्त्र की अपनी पाडुलिपि के आधार पर सशोधित कर 'दोहाकोप' मे प्रकाशित किया है।

२ हेवज्रतन्त्र मे से, प्रो० टुची की, अपनी तथा नेपाल दरबार लाइब्रेरी पाडुलिपियो के आधार पर सशोधित कर दो अन्य दोहे बागची ने दोहाकोप मे प्रकाशित किये है।[८]

३ बहि शास्त्र नामक किसी अप्राप्य ग्रथ से मुनिदत्त ने १०वें चर्यापद की टीका मे एक दोहा उद्धृत किया है। शास्त्री द्वारा प्रकाशित पाठ मे कुछ सशोधन डा० वागची ने प्रस्तावित किये है जो तर्कसम्मत प्रतीत होते है।[९] इसी प्रकार मुनिदत्त की टीका मे कारहपा का एक दोहा[१०] (८वी चर्या की टीका) तथा मीननाथ की कुछ पक्तियाँ भी उद्धृत की गई है। मीननाथ की पक्तियो के उद्धरण मे यह कहा गया है कि ये पंक्तियाँ परदर्शन नामक कृति से उद्धृत है (२१वें पद की टीका)[११]

४ डा० मेरियो कारेली द्वारा सम्पादित आचार्य नडपाद (सिद्ध नारोपा) की सेकोद्देश टीका मे १० नये अपभ्रंश छन्द उद्धृत किये गये है। सरहपा का एक छन्द दोहाकोष मे से उद्धृत है। उसके अतिरिक्त एक कारहपा का छन्द, एक भुसुकुपा का छन्द, ४ शान्तिपा के छन्द और ४ अन्य अपभ्रंश छन्द उद्धृत है जिनके लेखको का नाम नही दिया है।[१२] डा० सुकुमार सेन ने उनके पाठ मे कुछ संशोधन प्रस्तावित किये है।[१३]

ऐ—दोहागीति

१ डा० विनयतोष भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित साधनमाला के वुद्ध कपाल साधन (स० २५४) मे चार योगिनियो द्वारा सम्पन्न की जाने वाली गुह्य-साधना मे ४ दोहो की एक अपभ्र श दोहागीति मिलती है जिसके गाने का विधान है। डा० वागची तथा डा० सुकुमार सेन ने "दोहाकोष" तथा "ओल्ड वगाली टेक्स्ट्स" मे साधन-माला मे प्रकाशित पाठ मे सशोधन प्रस्तुत किये है।

२ इसी प्रकार हेवज्रतन्त्र की जो पाडुलिपि डा० वागची के पास है, उसमे से उन्होने दो अन्य दोहागीतियाँ 'दोहाकोष' मे प्रकाशित की है, जिनमे से प्रथम चार दोहो की गीति है और द्वितीय मे ४ दोहो के उपरात एक अतिरिक्त पक्ति है और क्रियासमुच्चय मे भी उद्धृत की गई है।[१४]

३ डा० वागची के पास क्रियासमुच्चय की जो पाडुलिपि है उसमे से उन्होने ५ दोहो की एक महासमयगीतिका प्रकाशित की है। इसका तीसरा दोहा कुरुकुल्ला साधन (स० १८३) मे उद्धृत है और ५वें दोहे की प्रथम पक्ति मुनिदत्त की टीका (४६वें पद) मे उद्धृत की गई है। यह महासमयगीतिका ५ ध्यानी वुद्धो की भार्याओ के अह्वान मे गाई जाती थी।

डा० सुकुमार सेन इन दोहागीतियो को वज्रगीति कहते है और उनका अनुमान है कि ये अत्यन्त प्राचीन है क्योकि तान्त्रिक साधनाओ मे वहुत प्राचीन काल से ये गाई जाती रही है ये अपौरुषेय मानी जाती थी।[१५]

चर्यापद

(अ) सन् १९०७ मे म० हरप्रसाद शास्त्री को नैपाल मे सिद्धो के ५० पदो का एक सग्रह मिला जिसकी प्रतिलिपि कराकर उन्होने लगभग १० वर्ष वाद वङ्गीय साहित्य परिषद् से 'वौद्ध गान ओ दोहा' प्रकाशित कराया जिसमें चर्यापदो के अतिरिक्त सहजाम्नाय पजिका तथा कारहपा का दोहाकोष (मेखला टीका सहित) भी सग्रहीत थे। शास्त्री महोदय का कहना है कि वह पाडुलिपि १२वी शती की थी किन्तु राखालदास वनर्जी ने 'श्रीकृष्ण सकीर्तन' नामक प्राचीन वँगला के एक ग्रन्थ का सम्पादन करते समय भूमिका में शास्त्री महोदय द्वारा प्रकाशित चर्यापदो की भाषा का परीक्षण कर यह मत स्थिर किया कि इन पदो का प्रस्तुत रूप १४ वी शती से पूर्व का नही हो सकता। अत. शास्त्री महोदय ने जिस पाडुलिपि को

अपने सस्करण का आधार वनाया था वह अधिक से अधिक १४वी शती की होगी। अब वह पाडुलिपि उपलब्ध नही है।

किन्तु चर्यापदो के पाठ निर्धारण के सम्बन्ध मे विद्वानो ने यथेष्ट कार्य किया है। उन्होने चर्यापदो का तिब्वती रूपान्तर ढूँढा और उसके आधार पर शास्त्री महोदय द्वारा प्रस्तुत पाठ मे यथेष्ट सशोधन किये है। इस दिशा मे डा० वागची का कार्य महत्वपूर्ण है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के जर्नल आफ डिपार्टमेंट आफ लेटर्स (खड ३०) मे उन्होने चर्यापदो के तिब्बती रूपातर दिये है।[१६] उन तिब्वती रूपातरो की सस्कृत छाया दी है, उनके आधार पर शास्त्री महोदय द्वारा प्रस्तुत पाठ का सशोधन किया है और प्रत्येक पर अत्यन्त उपयोगी टिप्पणियाँ दी है जो अर्थनिर्णय तथा पाठनिर्णय मे विशेप सहायक है। वागची के उपरात श्री मणीन्द्र मोहन वसु ने चर्यापदो का एक सस्करण प्रकाशित किया है जिसमे पाठान्तर देने के अतिरिक्त पदो की बँगला छाया, मर्मार्थ तथा टिप्पणियाँ दी है, पदो की भाषा का विवेचन किया और टीकाएँ भी दी। इस दिशा मे नवीनतम प्रयास डा० सुकुमार सेन का है जिन्होने इडियन लिग्विस्टिक्स (खड १०) मे 'ओल्ड वगाली टेक्स्ट्स' नाम से चर्यागीति (पद) वज्रगीति तथा कुछ प्रहेलिकाओ का सग्रह किया है। उन्होने पदो का क्रम शास्त्री के अनुसार न रखकर प्रत्येक पदकर्ता के पदो को एक साथ सग्रहीत कर नया क्रम निर्धारित किया है। उन्होने अग्रेजी मे इन पदो का छायानुवाद भी दिया है किन्तु उसमे अनुमान का आधिक्य है। प्रस्तुत प्रबन्ध मे आगे डा० सेन के अनुवादो पर यथास्थान टिप्पणिया दी गई है।

शास्त्री महोदय के सस्करण मे इस पद-सग्रह का नाम "चर्याचर्यविनिश्चय" था। पडित विधुशेखर शास्त्री ने इस नाम से अपनी असहमति प्रकट करते हुए इसका सही नाम 'आश्चर्यचर्याचय' अनुमानित किया था। इसका आधार सम्भवत मुनिदत्त की टीका के प्रथम श्लोक की तृतीय पक्ति थी "श्री लूयीचरणादिसिद्धरचितेप्याश्चर्यचर्याचये।" डा० वागची ने जिस तिब्बती रूपान्तर का आधार ग्रहण किया है उसमे "आश्चर्य-चर्या," नाम न होकर केवल इन चर्याओ का विशेषण मात्र प्रतीत होता है। तिब्वती रूपान्तर मे इस पद सग्रह का नाम 'चर्यागीति कोष' है। डा० वागची ने भी इसका यही नाम स्वीकार किया है,[१७], और सम्भवत इसी कारण डा० सुकुमार सेन ने अपने सस्करणो मे इन्हे पद न कह कर चर्यागीति कहा है।

तिब्बती अनुवाद से यह भी ज्ञान होता है कि मुनिदत्त ने ही इन चर्यापदो का प्रस्तुत रूप मे सकलन किया था और उनपर सस्कृत टीका लिखी थी। कीर्तिचन्द्र ने नेपाल के यम्बु नगर में इनका तिब्बती अनुवाद किया था। मुनिदत्त की टीका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अर्थनिर्णय को दृष्टि से तो उसका महत्व है ही, किन्तु मुनिदत्त ने इन पदो के अर्थ स्पष्ट करने के लिये स्थान-स्थान पर सरहपा तथा अन्य आचार्यों के अपभ्र श तथा संस्कृत छन्द उद्धृत किये है जिनके विपय में हम ऊपर सकेत कर चुके है।

मुनिदत्त ने ५० चर्यापदो का सग्रह किया था किन्तु शास्त्री महोदय का कहना है कि पाडुलिपि मे से ५ ताडपत्र खो गये थे, अत २३ वे चर्यापद की केवल ६ पक्तियाँ मिलती हैं और २४वें तथा २५वें चर्यापद अनुपलब्ध है। वागची ने उसका तिब्बती रूपान्तर तथा सस्कृत छाया दी है। अकारादि क्रम से पदकर्ता सिद्ध तथा उनके पदो की सख्या इस प्रकार है। कोष्ठक मे मुनिदत्त के सग्रह की क्रम-सख्याए दी गई है।

आर्यदेव	१	(३१)
ककणपा	१	(४४)
कम्वलाम्वरपा	१	(८)
काण्हपा	१३	(७, ९, १०, ११, १२, १३, १८, १९, २४, ३६, ४०, ४२, ४५,
कुक्कुरीपा	३	(२, २०, ४८,)
गु डुरीपा	१	(४)
चाटिलपा	१	(५)
जयनन्दीपा	१	(४६)
डोम्बीपा	१	(१४)
ढेंढणपा	१	(३३)
तन्त्रीपा	१	(२५)
ताडकपा	१	(३७)
दारिकपा	१	(३४)
धामपा	१	(४७)

विरुपा	१	(३)
वीणापा	१	(१७)
भद्रपा	१	(३५)
भुसुकुपा	८	(६, २१, २३, २७, ३०, ४१, ४३, ४९)
महीधरपा	१	(१६)
लुईपा	२	(१, २९)
शवरपा	२	(२८, ५०)
शान्तिपा	२	(१५, २६)
सरहपा	४	(२२, ३२, ३८, ३९)
	५०	

उपर्युक्त सूची मे २४वा तथा २५वा पद (काण्हपा तथा तन्त्रीपा द्वारा रचित) केवल तिब्बती रूपान्तर मे उपलब्ध है।

(आ) इन ५० चर्यापदो के अतिरिक्त एक चर्यापद राहुल जी ने नेपाली बौद्धो मे प्रचलित चचो (चर्यागीति) नामक पुस्तक से पुरातत्व-निबन्धावली मे उद्धृत किया है [१८] उसका पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है। वह जालन्धरपा का पद बताया जाता है। किन्तु इसका क्या प्रमाण है यह राहुल जी ने नही बताया है। अन्तिम पक्ति मे 'जालन्धरी' नाम का प्रयोग अवश्य है किन्तु उसके साथ प्रभु विशेषण जुडा हुआ है जिससे यह सन्देह होता है कि कि जालन्धर के किसी शिष्य का यह पद है। काण्हपा के एक चर्यापद(सख्या ३६) मे इसी प्रकार जालन्धरीपा का नाम आदर से लिया गया है क्योकि वे काण्हपा के गुरु हैं। इस पद का पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है और प्रस्तुत रूप मे उसका अर्थ-निर्णय कर पाना भी असम्भव है।

चर्यापद के २३ पदकर्ताओ की सूची मे हम अगर तिलोपा, जालन्धरपा, और मीनपा के नाम जोड दें तो दोहाकारो और पदकर्ता के रूप मे कुल २६ नाम होगे। इन २६ दोहाकारो तथा पदकर्ताओ में से अधिकाश चौरासी सिद्धो की पम्रपरा मे गिने जाते हैं। ८४ सिद्धो की परम्परा, उसमे इन २६ पदकर्ताओ तथा दोहाकारो का स्थान, इनके कालक्रम और जीवनवृत्त पर अब हम विचार करेंगे।

ख

दोहाकारों तथा पदकर्ताओ का काल-क्रम और जीवन-वृत्त

इन दोहो तथा पदो के लेखक वज्राचार्य सिद्ध उस ८४ सिद्ध परम्परा के अन्तर्गत आते है जो भारतीय अनुश्रुतियो मे वहुत ही प्रख्यात रही है। तान्त्रिक काल में अधिकाश सम्प्रदाय ८४ सिद्ध पुरुषो के अस्तित्व मे विश्वास करते थे, जिन्हे अष्ट महासिद्धियाँ उपलव्व थी और जो अति-प्राकृतिक चमत्कारो का प्रदर्शन कर सकते थे, ये ८४ महासिद्ध अजर और अमर माने जाते थे, देवो, यक्षिणियो तथा डाकनियो आदि के स्वामी माने जाते थे और अतिमानव अर्द्ध-देवताओ मे उनकी गणना होती थी। मध्यकाल मे समस्त जनता इन ८४ महा-सिद्धो की कल्पना से प्रभावित थी और जायसी तक उनका उल्लेख अमर-पुरुषो के रूप मे करते हुए कहते है

नवौ नाथ चलि आवहिं औ चौरासी सिद्ध
आज महारन-भारथ चले गगन, गरुड और गिद्ध [१]

ये सिद्ध केवल कल्पना मात्र ही नही थे, इनका ऐतिहासिक अस्तित्व भी था जिस पर हम बाद मे विचार करेंगे किन्तु जहाँ तक ८४ सख्या का प्रश्न है, यह सख्या वास्तविक न होकर काल्पनिक सख्या मालूम होती है।

८४ सख्या का तान्त्रिक महत्व

तन्त्रो मे ८४ सख्या का एक विशेष महत्व है और उसके गूढ तान्त्रिक अभिप्राय है। तन्त्रो मे, योग मे, आसन भी ८४ माने गये है और वहाँ भी इस सख्या का साकेतिक महत्व है।[२] टुची इस सख्या को बारह राशि तथा सात ग्रहो का गुणनफल मानते है।[३] यह ८४ सख्या लगभग प्रत्येक तान्त्रिक सम्प्रदाय मे स्वीकृत थी

और यह विश्वास किया जाता था कि सम्प्रदाय मे ८४ सिद्धो का होना अनिवार्य है। उस तन्त्रिक काल में प्रत्येक प्रान्त मे, प्रत्येक सम्प्रदाय मे जाने कितने तात्रिक योगी होते थे जिनमे से कुछ विलक्षण सिद्धियो को उपलब्ध कर लेने वालो को सिद्ध कहा जाने लगता था। किन्तु सम्प्रदायिक प्रतिद्वंद्विता के कारण प्रत्येक सम्प्रदाय कुछ सिद्धो को मान्यता देता था और कुछ का विरोध करता था। इस स्थिति मे प्रत्येक सम्प्रदाय की, सिद्धो की सूची अलग-अलग थी।[४] वौद्धो की सूची नाथ योगियो की सूची से अलग थी, और स्वत बौद्ध तथा नाथो मे भी अलग-अलग सूचियो के अस्तित्व के प्रमाण मिलते है। न केवल नेपाल, तिव्वत, कामरूप तथ उडीसा आदि मे ही इन ८४ सिद्धो की परम्परा बन रही थी वरन् दक्षिण भारत मे भी ८४ सिद्धो की परम्परा का पर्याप्त प्रचलन था।[५]

साम्प्रदायिक सूचियाँ

किन्तु इन सम्प्रदायो की सूची सर्वथा विश्वसनीय नही है, क्योकि प्रत्येक सम्प्रदाय ८४ की सख्या पूरी करने के लिए चारो तरफ जाल फेंकता था और विभिन्न शताब्दियो तथा प्रान्तो के सिद्ध पुरुषो के नाम अपनी सूची मे सम्मिलित कर ८४ का शगुन पूरा करता था।[६] इसीलिए प्रत्येक सम्प्रदाय की सूची मे दूसरे सम्प्रदाय के भी कितने ही सिद्ध सम्मिलित रहते थे और उनका औचित्य सिद्ध करने के लिए कुछ सम्प्रदायिक दन्तकथाएँ गढ ली जाती थी जिनमे यह सिद्ध किया जाता था कि वास्तव मे ये सिद्ध इसी सम्प्रदाय के है और अन्य सम्प्रदायो को उन्होने त्याग दिया था या उसे गौण-साधना-पद्धति के रूप मे अपना रक्खा था या इन सिद्धो के दो अलौकिक रूप थे जिनमे से एक रूप बौद्ध रूप था और दूसरा शैव। इस प्रकार की कितनी ही अविश्वसनीय, अनैतिहासिक, दन्तकथाएँ तिब्बती तथा भारतीय सम्प्रदाय ग्रन्थो मे प्राप्त होती है। जिनकी ओर हमने जीवन-वृत्त पर विचार करते समय सकेत किया है। वास्तव मे जैसा हम हम आगे देखेंगे, बौद्ध तथा शैव दोनो ही तन्त्रिक पद्धतियाँ इतनी निकट आ गई थी कि बहुत ही स्वच्छन्दता से दोनो मे देवताओ, अनुष्ठानो, अभिचारो तथा किम्वदन्तियो का आदान-प्रदान हो रहा था और इस आदान-प्रदान का स्वरूप इतना उलझा हुआ है कि आज यह कह सकना कठिन है कि किस सम्प्रदाय ने किससे प्रभाव ग्रहण किया।[७] इसलिये इन सूचियो को ज्यो का त्यो स्वीकृत नही किया जा सकता। किन्तु अभी तक जो सूचियाँ प्राप्त हुई है, प्रामाणिक सामग्री के अभाव मे उनका

परीक्षण तथा विश्लेषण भी अत्यन्त दुस्साध्य है। इन ८४ सिद्धो के नाम तथा क्रम पर प्रकाश डालने वाली चतुर्विध सामग्री प्राप्त हुई है।

क—महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा निर्दिष्ट वर्ण-रत्नाकर की सूची।[८]

"वर्णरत्नाकर" एक तालपत्र का हस्तलिखित ग्रन्थ है जो वंगलाक्षरो मे लिखा हुआ है। उसका लिपिकाल लक्ष्मण सम्वत् ३८८ दिया हुआ है। एशियाटिक सोसायटी के सग्रहालय मे यह ग्रन्थ सुरक्षित है। इसके लेखक कविशेखराचार्य ज्योतिपीश्वर है जो मिथिला के महाराज हरिसिंह देव १३००-१३२१ के दरबार मे थे। इस ग्रन्थ के विभिन्न कल्लोलो मे नगर-वर्णना, नायिका-वर्णना, आदि का विस्तृत वर्णन है। उसी मे ८४ सिद्ध-वर्णना भी दी गई है, यद्यपि नाम केवल ७६ सिद्धो का ही दिया गया है। १. मीननाथ, २. गोरक्षनाथ, ३ चौरगीनाथ, ४. चामरीनाथ, ५ ततिपा, ६. हालिपा, ७ केदारिपा, ८ धोगपा, ९ दारिपा, १० विरुपा, ११ कपाली, १२ कमारी, १३ कान्ह, १४ कनखल, १५ मेखल, १६ उन्मन, १७. काण्डलि, १८ धोवी, १९ जालन्धर, २० टोगी, २१ मवह, २२ नागार्जुन, २३. दौली, २४ भिषाल, २५ अचिति, २६. चम्पक, २७ ढेण्टस, २८. भुम्वरी, २९. वाकलि, ३०. तुजी, ३१ चर्पटी, ३२ भादे, ३३. चादन, ३४ कामरी, ३५. करवत, ३६. धर्मपापतग, ३७ भद्र, ३८ पातलिभद्र, ३९ पालिहिह, ४०. भानु, ४१. मीन, ४२ निर्दय, ४३ सबर, ४४ सान्ति, ४५ भार्तृहरि, ४६, भीपण, ४७ भरी, ४८ गगनपा, ४९ गमार, ५०,मेनुरा, ५१, कुमारी, ५२ जीवन, ५३ अघोपाधव, ५४ गिरिवर, ५५ सियारी, ५६ नागवालि, ५७ विभवत, ५८ सारग, ५९ विविकिधज, ६० मगरधज, ६१ अचित, ६२ विचित, ६३ नेचक, ६४ चाटल, ६५. नाचन, ६६. भीलो, ६७ पाहिल, ६८. पासल, ६९ कमल कगारि, ७० चिपिल, ७१. गोविन्न, ७२ भीम, ७३. भैरव, ७४ भद्र, ७५ भमरी, ७६. भुरुकुटी।

यह सूची नाथ-सम्प्रदाय द्वारा मान्य सूची थी ऐसा उल्लेख शास्त्री महोदय ने किया है यद्यपि इसका आधार सम्भवत यही है कि इस सूची मे मीननाथ को आदि-सिद्ध माना गया है और मीननाथ की मत्स्येन्द्रनाथ से अभिन्नता दिखाकर इस सूची को नाथ परम्परा की सूची कहा गया है।

ख त्रिपिटकाचार्य राहुल साकृत्यायन द्वारा निर्दिष्ट वज्रयानी सिद्धो की सूची।[९]

इस सूची का मुख्य आधार तिब्बत के स स्क्य विहार के पाँच प्रधान गुरुओ १०९१-१२७९ की ग्रन्थावली है जो तेर्गी मठ मे छपी है । इसमे ८४ सिद्धो को सख्या पूरी है और उनकी जाति तथा देश का भी उल्लेख किया गया है ।

१ लूइपा, कायस्थ, मगध, २ लीलापा, ३ विरुपा मगध (देवपाल का देश), ४ डोम्बिपा, क्षत्रिय, मगध, ५, शबरपा, क्षत्रिय, विक्रमशिला, ६ सरहपा, ब्राह्मण, नालन्दा, ७ ककालीपा, शूद्र, मगध, ८ मीनपा, मछुआ, कामरूप, ९ गोरक्षपा, १० चौरगिपा, राजकुमार, मगध, ११ वीणापा, राजकुमार, गौड (बिहार) १२ शान्तिपा, ब्राह्मण, मगध, १३ तन्तिपा (ततवा) सोधो नगर, १४ चमारिपा, (चर्मकार) विष्णु नगर (पूर्वदेश), १५ खड्गपा, शूद्र, मगध १६ नागार्जुन, ब्राह्मण, काची, १७ कण्हपा (चर्यपा) कायस्थ, सोमपुरी, १८ कर्णारिपा या आर्यदेव, नालन्दा, १९ थगनपा शूद्र, पूर्व भारत, २० नारोपा, ब्राह्मण, मगध २१, शलिपा या शीलपा, शूद्र, विघसुर, २२ तिलोपा या तिल्लोपा, ब्राह्मण, भिगुनगर, २३ छत्रपा, शूद्र, सधोनगर, २४, भद्रपा, ब्राह्मण, मणिधर, २५ दोखधि या द्विखडिपा, गधपुर, २६ अजोगिपा, गृहपति, सालिपुत्र, २७ कालपा, राजपुर, २८ धोम्भिपा, धोबी. सालिपुत्र, २९ ककणपा, राजकुमार, विष्णुनगर, ३० कमर या कबल पा, उडीसा, ३१. डेंगिपा ब्राह्मण, उडीसा, सालिपुत्र' ३२ भदेपा, श्रावस्ती, ३३ तघे या ततेपा, शूद्र, कौशाम्बी, ३४ कुकुरिपा, ब्राह्मण, कपिलवस्तु, ३५ कुचि या कुसूलिपा, शूद्र, करि, ३६ धर्मपा ब्राह्मण, विक्रशिला, २७ महीपा या महिलपा शूद्र, मगध ३८ अचितिपा, लकडहरा, धनिरुप, ३९ भलह (भवपा) क्षत्रिय, धजुर देश, ४० नलिनपा, सालिपुर, ४१ भुसुकुपा, राजकुमार, नालन्दा, ४२ इन्द्रभूति, राजा, लकापुर, ४३ मेकोपा वणिक्, भगलदेश, ४४. कुठालि (कुद्दालि पा) रामेश्वर, ४५ कर्मार या कम्परि पा लोहार, सालिपुत्र, ४६. जालन्धरपा, ब्राह्मण, नगर भो , ४७ राहुलपा, शूद्र कामरूप, ४८ घर्वरि या घर्भरि पा, बोधि नगर, ४९ धोकरिपा, शूद्र, सालिपुत्र, ५० मेदनीपा, लाखपुय, ५१. पकजपा ब्राह्मण, ५२, वज्र पा घटापा, क्षत्रिय, वारेन्द्र, ५३ जोगीपा या अजोगिपा, डोम, उडन्तपुरो, ५४, चेलुकपा, शूद्र, भगलपुर, ५५ गुडरिपा या गोरुर पा, चिडीमार, डेसुनगर, ५६ लुचिकपा, ब्राह्मण, भगलदेश, ५७, निर्गुणपा, शूद्र, पूर्व देश, ५८ जायनप्त, ब्राह्मण, भगलपुर, ५९ चर्पटी या पचरीपा, कहार, चम्पा, ६०

चम्पकपा, राजकुमार ६१ भिखनपा, शूद्र सालिपुत्र, ६२ भलिपा, कृष्णघृतवणिक्, सतपुरी, ६३ कुमरिपा जोमनश्रीदेश, ६४ चवरि (या जवरि=अजपालि) पा, ६५ मणिभद्रा या योगिनी, गृहदासी, मगध, ६६ मेखलापा या योगिनी गृहपतिकन्या, अगचेनगर, ६७ कनखलापा या योगिनी देवीकोट, ६८ कलकलपा शूद्र, भिरलिनगर, ६९ कताली या कथाली पा दर्जी, मणिधर (मैहर), ७० धहुलि या धहुरि पा शूद्र, धेकरदेश, ७१ उधलि या उधरिपा वैश्य, देवीकोट, ७२ कपाल या कमलपा शूद्र, राजपुरी, ७३ किलपा राजकुमार, प्रहर (सहर), ७४ सागरपा राजा, काची, ७५ सर्वभक्षपा शूद्र, महर (सहर) ७६ नागबोधिपा ब्राह्मण, पश्चिम भारत, ७७ दारिकपा राजा, उडीसा सालिपुत्र, ७८ पुतुलिपा शूद्र, भगलदेश, ७९ पनह या उपानह पा चमार, सन्धोनगर, ८० कोकालिपा राजकुमार, चपारन, ८१ अनगपा, शूद्र गौड, ८२ लक्ष्मीकरा या योगिनी राजकुमारी, सभलनगर, ८३ समुदपा, सर्वडिदेश, ८४ भलि या व्यालिपा, ब्राह्मण अपत्रदेश।

ग तजूर पर आधारित ग्रुएनवाल्ड की सूची जिसमे केवल ३८ सिद्धो के नाम है किन्तु उन सबो के साथ उनकी क्रम सख्या का स्पष्ट उल्लेख है और वह क्रम सख्या स स्क्य विहार की सूची से पूरी तरह मेल खाती है।[१०] इससे यह भी ज्ञात होती है कि स स्क्य विहार की सूची वज्रयानी सिद्धो की सर्वमान्य सूची थी। निम्नलिखित क्रम-सख्याओ वाले सिद्धो का उल्लेख इस सूची मे है

१,३,४,५,६,८,९,१०,११,१२,१३,१६,१७,१८,१९,२०,२२,२४,३०, ३१,३२,३४,३६,४२,४४,४६,५२,५४,६४,६६,६७,७७,८२,८४,५७,७४, नामो मे कही कही थोडा उच्चारण भेद अवश्य है (१० वे सिद्ध को इस सूची मे पडरागपा कहा गया है। चो सस्क्य सूची मे चौरगीपा है। यह भी उच्चारण भेद ही प्रतीत होता है)

घ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सग्रहीत[११] महार्णव-तन्त्र, हठयोग-प्रदीपिका, गोरक्ष-सिद्धान्त-सग्रह, योगिसम्प्रदाय विष्कृति सुधाकर-चन्द्रिका, ज्ञानेश्वर-चरित्र तथा प्राण-सगाली नामक ग्रन्थो से सचयिर सिद्धो की सूची जिनकी सख्या वर्णरत्नाकर के नामो को मिलाकर १३७+११=१४८ होती है। इनमे से वहुत से पुराने सिद्ध है जिनमे से कुछ वज्रयानी भी हो सकते है।

सम्प्रदाय की दृष्टि से इनमे से कोई भी सूची अधिकारिक नही मानी जा सकती

है। वर्णरत्नाकर तथा द्विवेदी जी द्वारा सग्रहीत सूची नाथ-सम्प्रदाय की सूची है किन्तु उसमे वज्रयानी सिद्ध भी सम्मिलित हो गये है, सस्क्य ब्कम् बुम् की सूची वज्रयानी है किन्तु उसका सकलन १३ वी शती मे हुआ है अत उसमे बहुत से नाथ-सिद्ध भी मिला कर ८४ सख्या पूरी की गई है । फिर भी जहाँ तक प्रामाणिकता का प्रश्न है सस्क्य सूची ही तुलना मे अधिक प्रामाणिक मानी जा सकती है । इसके कई कारण है—

१ वर्ण-रत्नाकर का सम्भावित रचना-काल (१३००-१३२१ ई०) इस सूची के रचना-काल से लगभग २५ वर्ष बाद का है । जिन ग्रन्थो से द्विवेदी जी ने नाम सकलित किये है वे और भी परवर्ती है और तब तक नाथ-परम्परा ने बौद्ध परम्परा को पूर्णतया उन्मूलित कर दिया था ।

२ तजूर की क्रम-सख्याओ से सस्क्य सूची की क्रमसख्या का पूर्णतया मिल जाना इस बात का द्योतक है कि यह सूची अधिकाश बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदायो द्वारा मान्य सूची थी ।

३ यही एक सूची ८४ की सख्या को पूर्ण करती है। अन्य सूचियाँ अपूर्ण है ।

द्विवेदीजी ने वर्ण-रत्नाकर तथा सस्क्य सूची की तुलना करने के उपरान्त निम्नलिखित नामो को दोनो सूचियो मे सम्मिलित पाया है ।[१२]

शवरीपा (सस्क्य सूची ५, वर्णरत्नाकर सूची ४४), मीनपा (८, १), गोरक्षपा (९, २), चौरगीपा (१०, ३), शान्तिपा (१२, ४४), तन्तिपा (१३, ५), चँवरिपा (६४, ४), नागार्जुन (१६, २२), काण्हपा (१७, १३), थगनपा (१९, ४८), शीलपा, शियालीपा या शृगालीपा (२१,५५), भद्रपा (२४, ३७), धोम्भिपा (२८, १८), कमरिपा (३०, ३४), ढेंगीपा (३१, ८), भदेपा (३२, ३२), धर्मपा, (३६, ३६), अचिन्तिपा (३८, २५), कुडालिपा (४४, ७), कमारिपा (४५, १२), जालन्धरपा (४६, १९), मेदिनीपा या हालीपा (५०,६), चर्पटीपा (५९, ३१), चम्पकपा (२६, ६०), भीखनपा (६१, ४६), भेलिपा (६२, ६६), कुमारिपा (६३, ५१), मणिभद्रा (६५, ७४), मेखलापा (६६, १५), कनखलापा (६७, १४), कपालपा (७२, ६९), नागबोधिपा (७६, ५६), दारिकपा (७७, ९) ।

३३

मिश्रण के कारण इन नामों के मिश्रण पर विचार करने से इसके निम्न-लिखित कारण अनुमानित किये जा सकते हैं—

क १० वी शती के उत्तरार्द्ध से ही कई सिद्ध ऐसे थे जो शैव तथा बौद्ध दोनो ही पद्धतियो के आचार्य थे और यद्यपि वे किसी एक बौद्ध या शैव-सम्प्रदाय को ही प्रमुख मान्यता देते थे किन्तु दूसरे सम्प्रदायो को भी प्रश्रय देते थे और दूसरे सम्प्रदाय वाले भी उन्हे मान्यता प्रदान करते थे। ऐसे तीन सिद्ध प्रमुख है, मत्स्येन्द्र, जालन्धर तथा कारह। मत्स्येन्द्र मूलतया शैव सम्प्रदाय के अनुयायी थे यद्यपि उनका योगिनी-कौल मार्ग बौद्धतन्त्रो से अत्यधिक प्रभावित था। इसी कारण नैपाल मे उन्हे पाशुपत शिव तथा तिब्बत मे अवलोकितेश्वर का अवतार माना जाता था।[13] मत्स्येन्द्र पर हम विस्तृत विचार बाद मे करेंगे। जालन्धर के लिये तारानाथ ने भी कहा है कि पूर्व मे हाडीपा का बौद्ध रूप धारण कर प्रचार करते थे,[14] और पश्चिम में जालन्धरपा सम्भवत शैव रूप ही धारण करते थे। काराहपा के लिये भी तारानाथ का कथन है[15] कि अन्तर से बौद्ध होते हुए भी बाहर वे अबौद्ध पद्धतियो को ग्रहण करते थे और अबौद्ध सम्प्रदायो में भी उनका बडा आदर था। ऐसे समन्वयवादी सिद्ध दोनो ही सम्प्रदायो की सूचियो में सम्मिलित कर लिये गये होगे।

ख जैसा कि हम बाद मे देखेंगे, उस समय की साम्प्रादयिक स्थिति इस प्रकार की थी कि कुछ प्रदेशो में वैष्णवी के विरोध में शैव तथा बौद्ध सम्प्रदायो का सयुक्त शिविर स्थापित हो चुका था सौर दोनो सम्प्रदाय एक दूसरे के देवताओ, पद्धतियो तथा आचार्यों की परम्परा को आत्मसात् कर रहे थे।

ग नाथ सम्प्रदाय स्वत बौद्ध प्रभावो के प्रति शैव विद्रोह है किन्तु इस विद्रोह के पूर्व इनमे से कुछ सिद्ध वज्रयानी रहे होगे। कुछ तिब्बती अनुश्रुतियाँ तो स्वत. गोरखनाथ को पहले वज्रयानी बताती है। वे शैव बाद मे हुए थे।[16]

घ कभी कभी ऐसा होता था कि कोई विशेष पद्धति आचार्य द्वारा प्रवर्तित की गई। वह आचार्य स्वत बौद्ध था। बाद मे किसी दूसरे आचार्य ने वही पद्धति अपनाई किन्तु सम्प्रदाय शैव अपनाया। ऐसी परिस्थिति में उसे उसी बौद्ध सिद्ध का अवतार मानते हुए नाथ-परम्परा मे सम्मिलित कर लिया गया। उसे नाम उसके गुरु बौद्ध सिद्ध का ही दिया गया और इस प्रकार भी कुछ वज्रयानी नाम-नाथ-सूची मे आ गये। उदाहरण के लिये विरुपा मूलत नालन्दा का बौद्ध सिद्ध था, किन्तु उसके कई अवतार बताये गये है और परवर्ती

विरुपा या विरुपाक्ष को कई नाथ-पन्थी ग्रन्थो में मान्यता प्रदान की गई। सम्भवत प्रथम विरुपा की पद्धति अपना कर भी परवर्ती विरुपा ने शैव सम्प्रदाय ग्रहण कर लिया था।[१७]

ड. कुछ सिद्ध ऐसे व्यक्तित्व के थे जिनका जनता पर बहुत प्रभाव था, दूसरे सम्प्रदायो ने जनता पर प्रभाव डालने के लिये, या आदरवश उन्हें अपनी परम्परा मे स्वीकृति कर लिया होगा। गोरख, शरबपा आदि ऐसे ही सिद्ध माने जा सकते हैं।

च कुछ सिद्ध सम्भवत ऐसी विशेष जाति के थे जो वज्रयान के बाद नाथ सप्रदाय मे सामूहिक रूप से दीक्षित हो गए। उस जाति के वज्रयानी सिद्ध की गणना भी उस जति के साथ-साथ नाथ सम्प्रदाय में होने लगी होगी। उदाहारण के लिये वयनजीवी जातियो मे से कुछ पहले बौद्ध थी और बाद मे सामूहिक रूप से नाथ योगी हो गई थी। वज्रयानी सिद्ध तन्तिपा वयनजीवी जाति के थे। उनकी कुछ तन्तुवायो मे दहुत मान्यता रही होगी। जब वे तन्तुवाय शैव हो गये होगे तब अपनी जाति के सिद्ध को उन्होंने परित्यक्त नही किया होगा। फलत तन्तिपा की गणना दोनो सम्प्रदायो की सूची मे होती है। इसी प्रकार चमरिपा तथा धोम्मिप (धोवीपा) के विषय मे भी अनुमान किया जा सकता है।

जब तक पदकर्त्ताओ और दोहाकारो का सम्बन्ध है इनमें से कई ऐसे हैं जो इन दोनो सूचियो मे परिगणित नही है। इसका एक कारण यह है कि बौद्धो मे भी कई आम्नाय थे और इसका कोई प्रमाण नही मिलता कि सभी आम्नायो मे सिद्धो की एक ही सूची मान्य थी। बहुत सम्भव है कि चर्याचार्य-विनिश्चय तथा सस्क्य सूची में आम्नाय-भेद हो अत चर्यापद-विनिश्चय मे कई ऐसे सिद्धो के पद सग्रहीत हो जिन्हे सस्क्य सूची मे स्थान न दिया गया हो। सिद्धो के जीवन-वृत्त पर विचार करते हुए उ न पदकर्त्ताओ पर भी विचार कर लिया गया है जो सस्क्य सूची मे नही सम्मिलित किये गये है। साम्प्रदायिक स्थिति के अन्तर्गत उन प्रमुख पदकर्त्ताओ और दोहाकारो की स्थिति पर भी विचार कर लिया गया है जिनका नाम दोनो सम्प्रदायो में मान्य है।

काल-क्रम

जहाँ तक समय का सम्बन्ध है, यह सिद्ध परम्परा। अधिक से अधिक दो या तीन शतियो की परिधि मे ही आ जाती है क्योकि इनमे से बहुत से सिद्ध समकालीन थे। इनके समय का निर्णय करने के लिये अन्तर्साक्ष्य का सर्वथा

अभाव है। बहिर्साक्ष्य के रूप में जो सामग्री मिलती है वह भी सर्वथा भ्रामक है।

बहिर्साक्ष्य के रूप मे प्रमुख आधार वे साम्प्रदायिक अनुश्रुतियाँ है जो तिब्बती बौद्ध ग्रथो या भारतीय शैव (नाथ) ग्रथो में मिलती हैं। किन्तु उनके लेखकों का दृष्टिकोण अत्यन्त भ्रमात्मक,एकागी और कल्पनारजित है।

सदिग्ध सामग्री उनमे निम्न दोष पाये जाते है। क अति-प्राकृतिक चमत्कार और सिद्धि की कथाओ ने उसमे असम्भाव्य कल्पनाओ की भरमार कर दी है। ख साम्प्रदायिक सकीर्णता और प्रतिद्वन्द्विता इतनी अधिक है कि जान-बूझकर तथ्यो को तोडा-मरोडा गया है। शैव ग्रथो मे बौद्ध आचार्यो को शैवो का शिष्य माना गया है, शैवाचार्यों को प्राचीन और बौद्धो को परवर्ती सिद्ध करने का प्रयास किया गया है और बौद्ध ग्रथो मे यही व्यवहार शैव आचार्यो के साथ हुआ है।[१६] ग कभी कभी एक ही आम्नाय के कई आचार्यो को एक ही आदि-सिद्ध का अवतार सिद्ध करने का प्रयास कर कई युगो तथा कई देशो मे एक ही आचार्य का अस्तित्व माना गया है जैसे तारानाथ ने विरुपा का अस्तित्व कई युग मे और कई देशो मे माना है।[१७] घ कई स्थानो पर एक ही सिद्ध पुरुष को विभिन्न सम्प्रदाय अपना मान लेते थे और उसका सारा इतिहास अपने रग मे रँग डालते थे। मत्स्येन्द्र के विषय मे भी यही हुआ है। नेपाल मे वे शिव के अवतार माने जाते थे और तिब्बत में अवलोकितेश्वर के इसी प्रकार जालन्धरीपा और हाडीपा को एक ही मान कर यह कह दिया गया था कि वे दो रूप धारण करके रहते थे, पश्चिम में जालन्धरीपा और पूर्व में हाडीपा का[१८]। ङ तारानाथ जिनकी साक्षी बहुत से विद्वानो ने ग्रहण की है १६वी १७वी शती में हुए थे और कभी स्वयम् भारत आये भी नही थे। उनकी तिथियाँ, वशावली, सम्प्रदाय निर्णय बिल्कुल प्रामाणिक नही है। च. तारानाथ द्वारा उल्लिखित गुरु-शिष्य-परम्परा भी सर्वथा विश्वासनीय नही है, क्योकि तत्कालीन सम्प्रदायो की दो तीन प्रवृत्तियाँ बडी ही विचित्र थी। निगुरा रहना तो उस समय अशुभ माना जाता था, अत कभी कभी सिद्ध अपने गुरु ऐसे आचार्यों को परिकल्पित कर लेते थे जो उनसे कई शती पहले हुए है।[१९] उन्ही का आम्नाय ग्रहण करते थे और कहते थे कि मैंने उनसे व्यक्तिगत रूप मे दीक्षा ली है। कभी-कभी ऐसी भी कथाएँ मिलती हैं कि शिष्य पहले उत्पन्न हुआ और जब कोई भी ऐसा न दीखा जिसे वह गुरु बना सके तो उसने अपनी चमत्कार शक्ति से एक गुरु भी पैदा कर

दिया ।[२०] चूँकि सिद्ध अजर-अमर माने गये हैं अत कभी-कभी बहुत पहले कई शताब्दियो पहले उत्पन्न होने वाले सिद्ध भी अपने परवर्ती सिद्धो से गोष्ठी या शास्त्रार्थ करते हुए दिखाये गये हैं । यह परम्परा सन्तो तक चलती रही और नानक तथा चौरगी और कबीर तथा गोरख की गोष्ठी का वर्णन पाया जाता है । इन समस्त दोषो को दृष्टि मे रखते हुए इन साम्प्रदायिक अनुश्रुतियो को किसी भी ऐतिहासिक निर्णय का आधार बनाना उचित नही कहा जा सकता । उन पर विश्वास कर डॉ० शाहिदुल्ला ने मत्स्येन्द्र का समय सातवी शती मान लिया है जो किसी भी कसौटी से ठीक नही बैठता । इस पर हम आगे विचार करेंगे । अन्य साक्ष्यो के रूप मे दो पाडुलिपियो का उल्लेख किया जा सकता है ।

क काण्हपा द्वारा लिखित हेवज्र-पजिका-योगरत्नमाला जिसका लिपि-काल काराहपा के समय की निम्नतम सीमा निर्धारित करता है ।

ख कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी लाइब्रेरी मे सग्रहीत साधनाओ की एक पाडु-लिपि जिसका समय ११६५ ई० है और जिसमे ककणपाद अथवा कोकणपाद की भी एक साधना सग्रहीत है ।

इसके पहले कि हम इन थोडे से प्रमाणो के आधार पर सिद्ध-परम्परा के काल तथा क्रम पर विचार करें, सक्षेप मे उन विद्वानो के मत की विवेचना करना आवश्यक है जिन्होने सिद्धो के काल-निर्णय का प्रयास किया है ।

विभिन्न मतो का परीक्षण

सबसे पहले डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य ने तारानाथ की कृतियो मे प्राप्त दो गुरु-शिष्य-परम्पराओ को आधार बनाकर इन सिद्धो का समय अनुमान करने का प्रयास किया । उन्होने भी यह स्वीकार किया है कि सामग्री के अभाव में वे केवल अनुमान ही कर सकते हैं और वह अनुमान भी सही ही होगा ऐसा उनका कोई आग्रह नही ।[२१]

उन्होने अपने अनुमान का आधार दो गुरु-परम्पराओ को बनाया है । पहली जो कार्दियर की तजूर की सूची मे मिलती है और दूसरी जिसे काजी ने चक्र-सवर-तन्त्र की भूमिका मे उद्धृत किया है । पहली परम्परा इस प्रकार है, पद्मवज्र>अनग वज्र>इन्द्रभूति>भगवती लक्ष्मीकरा>लीलावज्र>दारिकपा> सहजयोगिनी>चिन्ता>डोम्बी हेरुक । दूसरी परम्परा इस प्रकार है, सरहं>

नागार्जुन>शबरीपा>लुइपा>वज्रघराटा>कच्छप>जालन्धरी>कृष्णाचार्य (काण्हपा)>गुह्यपा>विजयपा>तैलोपा>नारोपा।

इन दोनो गुरु-परम्पराओ के बीच मे दो सम्बन्ध-सूत्र मिलते हैं। पहला तो जालन्धरीपा जो दूसरी परम्परा मे हुए हैं, पद्मवज्र के बाद हुए होगे क्योकि पद्मवज्र ने हेवज्रतन्त्र का अवतरण किया था और जालन्धरी ने उसका प्रथम प्रचार किया था। दूसरा सूत्र इन्द्रभूति और सरह का है। सरह ने एक टीका लिखी थी जिसका अनुकरण कमलशिला ने किया जो इन्द्रभूति के एक पीढी बाद हुआ था। अत सरह कमलशिला से कम से कम एक पीढी पहले हुए होगे अर्थात् इन्द्रभूति के समकालीन होगे।[२३]

इनकी तिथि का अनुमान करने मे डॉ० भट्टाचार्य ने शान्तिरक्षित को आधार बनाया है। 'शान्तिरक्षित तिब्बत गये थे और इसके ऐतिहासिक प्रमाण मिलते है कि ७४६ ई० मे उन्होने तिब्बत मे एक मठ स्थापित किया था। उन्ही के साथ गुरु पद्मसम्भव भी गये थे। गुरु पद्मसम्भव इन्द्रभूति के पुत्र बताये गये है। अत इन्द्रभूति का समय ६८७ से ७१७ ई० तक माना जा सकता है। अब यदि एक गुरु और शिष्य की पीढी मे १२ वर्ष का अन्तर मान लिया जाय तो इन्द्रभूति के गुरु अनगवज्र का समय ७१७ ई० मे से १२वर्ष कम अर्थात् ७०५ ई० होगा। पद्मवज्र का समय ७०५ ई० से १२ वर्ष कम अर्थात् ६९३ ई० होगा। प्रथम गुरु परम्परा का तिथिक्रम इस प्रकार होगा—पद्मवज्र ६९३ ई०, अनगवज्र ७०५ ई०, इन्द्रभूति ७१७ ई०, लक्ष्मीकरा ७२९ ई०, लीलावज्र ७४१ ई०, दारिकपा ७५३ ई०, सहजयोगिनीचिन्ता ७६५ ई०, डोम्बी हेरुक ७७७ ई०।

यदि जालन्धरीपा पद्मवज्र से एक पीढी अर्थात् १२ वर्ष बाद माने जायँ तो वे अनगवज्र के समकालीन होगे ७०५ ई०। इस गणित से दूसरी गुरु-परम्परा का समय इस प्रकार होगा। सरहपा ६३३ ई०, नागार्जुन ६४५ ई०, शबरीपा ६५७ ई०, लुईपा ६६९ ई०, वज्रघण्टा ६८१ ई०, कच्छपा ६९३ ई०, जालन्धरीपा ७०५ ई०, कृष्णाचार्य ७१७ ई०, गुह्यपा ७२९ ई०, विजयपा ७४१ ई०।

किन्तु इस गणना में कठिनाई यह पडती है कि तिलोपा और नारोपा विजयपा के तात्कालिक उत्तराधिकारी माने गये है, अर्थात् उनका समय इस गणित के अनुसार ७५३ ई० तथा ७६५ ई० होना चाहिये। किन्तु उनके विषय मे स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि वे महीपाल के समय मे हुए थे जिनका समय १०

वी शती का अन्तिम और ११ वी शती का प्रथम चरण माना गया है। अत डॉ० भट्टाचार्य ने कल्पना कर ली है कि विजयपा और तिलोपा के बीच मे कई पीढियाँ रही होगी जिनका कोई उल्लेख नही है।[२४]

तिलोपा के ही कुछ पूर्व ललितगुप्त और अद्वयवज्र अथवा अवधूतीपा हुए थे अत उनका भी समय तिलोपा के दो दशक पूर्व अर्थात् ६५४ ई० हो सकता है।

इस तिथि-निर्णय का मुख्य आधार गुरु-परम्पराएँ है और वे कितनी अप्रमाणिक है इसकी ओर हम सकेत कर चुके है। टुची ने नैपाल मे प्राप्त एक खण्डित ताडपत्र पाण्डुलिपि का हवाला देते हुए लिखा

आपत्तियाँ

है कि ये गुरु-परम्पराएँ विभिन्न आम्नायो के आधार पर कल्पित कर ली गई थी।[२५] सिद्धो तथा वज्राचार्यों को वज्र-काया मे स्थित अमर पुरुष माना जाता था और यदि कई शती बाद भी कोई उनका आम्नाय अपनाता था तो वह उनका प्रत्यक्ष शिष्य मान लिया जाता था और कभी-कभी उसी गुरु का अवतार मान कर उसको वही नाम भी दे दिया जाता था। उदाहरण के लिये, अद्वयवज्र को उस कृति मे नागार्जुन का शिष्य अत उन्ही का अवतार मान लिया गया है।[२६] उनको लोग नागार्जुन ही कहने लगे थे इसका भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार वे ही मैत्रीगुप्त, अवधूतीपा, अद्वयवज्र नागार्जुन भी कहलाते थे। उनका वास्तविक नाम दामोदर था और वे कपिलवस्तु के निवासी थे। इस कृति के अनुसार गुरु-परम्परा इस प्रकार थी—सरहपा>नागार्जुन>शबरपा>अद्वयवज्र (मैत्रीगुप्त)। यदि इन मैत्रीगुप्त या अद्वयवज्र को महीपाल का समकालीन मान लिया तो शबरपा, नागार्जुन तथा सरह तीनो का अस्तित्व १० वी शती मे माना जायगा।[२७] पुनश्च सरहपा के विषय मे कई कठिनाइयाँ आ पडती है। चक्रसवर-तंत्र मे सरह को आदिगुरु बताया गया है। किन्तु कुछ परम्पराओ मे लुईपा को आदि सिद्ध कहा गया है। टुची ने भी यह सकेत किया है कि शान्तिरक्षित की एक रचना मे लुईपा का उल्लेख है।[२८] यद्यपि यह लुईपा केवल उपाधि है या नाम इसका निर्णय नही किया जा सकता। सभव है लुईपा सरह से पहले हुए हो, क्योकि कुछ आम्नाय ऐसा भी मानते है। पुनश्च, सरह के भी विषय मे कई तरह के उल्लेख मिलते है। उनका नाम राहुलभद्र है। एक राहुल कामरूप के निवासी है और शूद्र है। दूसरे राहुलभद्र हैं, तीसरे उडीसा के एक ब्राह्मण है। इनमे से राहुलभद्र सरहपा कौन है, यह नही कहा जा सकता।[२८]

भट्टाचार्य के तिथि-निर्णय को स्वीकृत करने मे उपर्युक्त बाधाएँ तो है ही, एक मूल आपत्ति और है। उन्होने मूल तिथि शातिरक्षित के तिब्बत-गमन की तिथि मानी है और उसी पर सारा अनुमान आधारित किया है। किन्तु इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलते है कि स्वत तिब्बती अनुश्रुतियो ने शान्तिरक्षित नाम के दो आचार्यों की कथाओ को घुलामिला दिया है।[३०] महायानी पण्डित तार्किक शान्तिरक्षित और वज्रयानी तन्त्राचार्य शान्तिरक्षित (पद्मसम्भव के समकालीन) दोनो ही अलग-अलग व्यक्ति थे। 'तत्वरत्नावली' अवश्य महायानी शान्तिरक्षित की कृति थी किन्तु 'तत्वसिद्धि' के लेखक शान्तिरक्षित सम्भवत बाद मे हुए है।[१] अत यदि तिब्बत जाने वाले शान्तिरक्षित पद्मसम्भव के समकालीन, अत इन्द्रभूति के समकालीन नही है तो ऊपर का समस्त अनुमान निराधार सिद्ध होता है।

राहुल जी ने सिद्धो का जो वशवृक्ष दिया है उसका आधार उन्होने तिब्बत के सस्क्य मठ के पाँच प्रधान गुरुओ की ग्रन्थावली सस्क्य व्कम् वुम् का आधार लिया है। इन गुरुओ का समय (१०६१-१२७६ ई०) माना गया है अत यह तारानाथ से अधिक प्रामाणिक होगी इसमे सन्देह नही किया जा सकता।[३२] किन्तु फिर भी जो कारण पहले गिनाये गये है उनके आधार पर इसे भी सर्वथा विश्वसनीय नही माना जा सकता।

राहुल जी ने उसी ग्रन्थ के आधार पर यह वताया है कि हरिभद्र के शिष्य बुद्धज्ञान सहरपा के सहपाठी थे। ये हरिभद्र शान्तिरक्षित के शिष्य थे। शान्तिरक्षित को राहुल जी ने पूर्वोक्त महायानी शान्तिरक्षित माना है जिनका देहान्त तिब्बत मे ८४० ई० मे हुआ था। दूसरे स्थल पर उसी ग्रन्थ मे हरिभद्र तथा बुद्धज्ञान को महाराज धर्मपाल समकालीन बताया गया है। धर्मपाल का समय राहुल जी ने ७६९-८०९ ई० माना है। यद्यपि इसका कोई भी प्रमाण नही दिया है।[३] हरिभद्र वज्रयानी शान्तिरक्षित के शिष्य तो नही थे, इस सम्भावना पर उन्होने कोई विकार नही किया है।

पुनश्च राहुल जी मैत्रीगुप्त या मैत्रीपा को अवधूतीपा या अद्वयवज्र ही मानते है। और यह भी स्वीकार करते है कि उनका समय ११वी शताव्दी था।[३४] टुची ने सरहपा की तीसरी पीढी में मैत्रीपा का उल्लेख किया है (नेपाल में प्राप्त ताडपत्र-पाण्डुलिपि के आधार पर) तारानाथ भी इसकी साक्षी देता है। वह मैत्रीगुप्त को शबरीपा का शिष्य मानता है।[३५] यदि मैत्रीगुप्त ११वी शती

में थे तो सरहपा और उनके बीच मे दो सौ वर्षों का अन्तर नही हो सकता है। सरहपा का समय भी अधिक से अधिक १०वी शती का प्रारम्भ या ९वी शती का अन्त मानना पडेगा। उन्होने अन्य सिद्धो की जो तिथियाँ दी हैं उनका भी कोई आधार नही बताया है।[३६]

वास्तविक परिस्थिति यह है कि जब तक कि अन्य प्रामाणिक सामग्री प्रकाश मे न आये तव तक विभिन्न सिद्धो के कालक्रम का निर्णय कर सकना असम्भव है। इस दिशा मे डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य तथा श्री राहुल साकृत्यायन दोनो ही का आग्रह तर्कसगत नही मालूम होता। अधिक से अधिक हम उन दो-तीन शताब्दियो का निर्णय कर सकते है जिनमे वज्रयानी सिद्धो की परम्परा चलती रहती है।

इस दृष्टि से डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का मत अधिक वैज्ञानिक मालूम होता है। उन्होने हेवज्र-पजिका-योग-रत्नमाला की एक पाडुलिपि का उल्लेख किया है जिसमे यह स्पष्ट उल्लेख है कि यह राजा गोविन्दपाल के शासन के ३९ वें वर्प मे लिपिबद्ध की गई।[३७] गोविन्दपाल पालवश का शासक है या नही यह नही कहा जा सकता है। वह मगध के गया जिले का शासक था। उसके शासन-काल के विषय मे कई मत है। श्री बनर्जी का मत है कि उसका राज्य ३९ वर्ष तक चला और उसके राज्य का ३९वाँ वर्प १२०० ई० होता है। अन्य विद्वानो ने यह समय लक्ष्मण सेन का माना है किन्तु 'हेवज्र-पजिका-योग-रत्नमाला' मे भी श्री वनर्जी के मत का ही समर्थन होता है।[३८]

यदि इस प्रतिलिपि के १०० वर्ष पहले भी हम कारहपा और उनके शिष्यो का समय मानें तो ११०० ई० मे उनकी और उनकी शिष्य-परम्परा की निम्नतम सीमा निर्धारित होती है। यद्यपि सुनीति बाबू १२०० ई० से ही अन्तिम सीमा निर्धारित करना चाहते है। १२वी शती मे ही गोरख और कारहपा को मानने का विशेष आग्रह वे इसलिए करना चाहते है कि महाराष्ट्री गुरु-परम्परा में ज्ञानदेव गोरखनाथ की शिष्य-परम्परा मे चौथे है, ज्ञानदेव का समय १२९० है। इस प्रकार मराठी परम्परा के अनुसार ज्ञानदेव और गोरख मे अधिक से अधिक १०० वर्ष का अन्तर होना चाहिये। इसी तर्क का आश्रय लेकर वे गोरख को भी १२वी शती के अन्त में और उनके समकालीन कारहपा को भी लगभग १२०० ई० का मानते हैं।[३९]

किन्तु तिब्बती परम्परा की ही भाँति महाराष्ट्री परम्परा को भी अत्यन्त

विश्वसनीय नही माना जा सकता। ज्ञानदेव के गुरु निवृत्तिनाथ और निवृत्तिनाथ के गुरु गहिनी तक तो ऐतिहासिक परम्परा है किन्तु गहिनी के गुरु गोरख नही हो सकते। यहाँ गोरख को गुरु मानने का अर्थ यह है कि गोरख की पद्धति गहिनी द्वारा स्वीकृति की गई। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी महाराष्ट्री शिष्य-परम्परा द्वारा गोरख के कालक्रम-निर्णय के प्रयास को अवैज्ञानिक बताते है और इस शिष्य-परम्परा को ऐतिहासिक नही वरन् साकेतिक मानते हैं।[४०]

जालन्धरी भी १२०० से काफी पूर्व थे इसका एक प्रमाण और मिलता है। इस बात का स्पष्ट उल्लेख मिला है कि नारोपा दीपकर श्रीज्ञान के गुरु थे। दीपकर श्रीज्ञान सन् १०४२ ई० मे तिब्बत गये।[४१] अत नारोपा का समय भी वही मानना चाहिये। नारोपा के पुत्र तिलोपा थे जिन्हे महीपाल का समकालीन बताया गया है। महीपाल का शासन-काल १०३० ई० तक था अत तिलोपा का समय हम ११वी शती का प्रथम चरण मान सकते है। तिलोपा की गुरु-परम्परा मे विजयपा, गुह्यपा, कारहपा तथा जालन्धरीपा आते है अत जालन्धरी तथा कारहपा को हम १०वी शती के उत्तरार्द्ध मे मान सकते हैं। गोरखनाथ भी कारहपा के समकालीन थे अत यही समय उनका भी होगा।

गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ थे, और वे भी १०वी शती के पूर्वार्द्ध या अधिक से अधिक ९वी शती के अन्तिम चरण में हो सकते हैं। डॉ० बागची ने कौलज्ञान-निर्णय की एक प्राचीनतम प्रति पाई है जिसका समय उन्होने ११वी शती का मध्य निश्चित किया है।[४२] उसके लेखक मत्स्येन्द्रनाथ है और इस दृष्टि से वे लगभग १०० वर्ष पहले अर्थात् १०वी शती के मध्य मे हुए होगे। अभिनवगुप्त ने अपने तन्त्रालोक मे उनको जिस श्रद्धा से स्मरण किया उससे भी वे अभिनवगुप्त से कुछ पहले के ही सिद्ध होते है।[४३] अभिनवगुप्त का समय ११वी शती माना गया है। इस दृष्टि से विचार करने पर भी उनका समय १०वी शती सिद्ध होता है। तीसरा प्रमाण उन्होने चर्पटी के काल-निर्णय के आधार पर दिया है। चर्पटी गोरक्ष के शिष्य थे। चर्पटी का समय टुची ने अत्यन्त सबल प्रमाणो से १०वी शती शिद्ध किया है।[४४] अत गोरक्ष और मत्स्येन्द्र भी उसी समय के होगे।

अब हम सरह, नागार्जुन (वज्रयानो नागार्जुन, शून्यवादी आचार्य नही) शबर और लुई की परम्परा पर विचार करें। नागार्जुन का समय प्रो० टुची ने १०वी शती माना है। अलबरुनी ने भी अपने यात्रा-वृत्तान्तो मे नागार्जुन सिद्ध

को अपने से एक शती पूर्व माना है। इस गणना से भी नागार्जुन को १०वी शती में माना जा सकता है।[४५] नागार्जुन के शिष्य शबर और लुई थे या लुई के शिष्य नागार्जुन और शबर थे इसमें कई सम्प्रदायो के अनुसार कई तिब्बती गुरु-परम्पराएँ मिलती है। तारानाथ ने सरह के शिष्य नागार्जुन और नागार्जुन के शिष्य शबर, शबर का शिष्य लुई को बताया है।[४६] किन्तु दूसरी तिब्बती परम्परा ऐसी भी मिलती है जिसमे लुई के शिष्य नागार्जुन और नागार्जुन के शिष्य का नाम शबरपा बताया गया है।[४७] अत हम दोनो परम्पराओ को अस्वीकृत कर अधिक से अधिक इन सबो को समकालीन या उसी शताब्दी का मान सकते है और इनका समय ९वी शताब्दी तक मान सकते है।

इस प्रकार मोटे तौर पर हम सरहपा, शबरपा, लुईपा, का समय ९वी शती का प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय चरण मान सकते है। मत्स्येन्द्र का समय ९वी शती का अन्तिम चरण या १०वी शती का प्रथम चरण

निर्णय

और गोरख, जालन्धरपा, काण्हपा, तिलोपा और नारोपा का समय १०वी के मध्य से ११वी शती के अन्त तक मान जा सकता है। इस परिस्थिति मे ११वी शती मे मत्स्येन्द्र का तन्त्रालोक मे उल्लेख तथा कौलज्ञान-निर्णय की प्रतिलिपि सर्वथा सगत है और हेवज्रपजिका-योग-रत्नमाला की भी प्रतिलिपि १२०० ई० मे हो सकती है। इतना ही नही यदि मत्स्येन्द्रनाथ तथा लुईपा को एक ही मान लिया जाय जैसा कि कुछ अनुश्रुतियों मे मिलता है तो भी दोनो के समय मे विशेष अन्तर नही पडता। किन्तु लुईपा ही मत्स्येन्द्र थे इसका अभी तक कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही मिला।

किन्तु यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख हो जाना चाहिये कि यह सिद्धो के काल-क्रम की निम्नतम सीमा है। वे इससे भी पहले के हो सकते है किन्तु जब तक कि अन्य कोई सवल और वैज्ञानिक प्रमाण नही मिलता तब तक उन्हे और पहले की शतियो मे प्रतिष्ठित नही किया जा सकता। डॉ० शाहिदुल्ला द्वारा निर्णीत मत्स्येन्द्र का ७वी शती का समय तो सर्वथा भ्रामात्मक है।

इस काल-क्रम का निर्णय कर लेने मे एक कठिनाई अवश्य आती है। प्रो० टुची ने यह वताया है कि शान्तिरक्षित की "अभिसयम-मजरी" में लुईपा का उल्लेख है।[४८] यदि शान्तिरक्षित वही महायानी तार्किक आचार्य है जो तिब्बत गये थे और यह कृति उन्ही की है तब लुईपा का समय और पहले मानना

पडेगा। किन्तु इस दृष्टि से प्रो० टुची ने इसकी परीक्षा नही की कि यह कृति किसी परवर्त्ती वज्रयानी शान्तिरक्षित की तो नही है क्योकि उसमे लुईपा का नाम बडे आदर से लिया गया है जैसे वह लुईपा को आचार्य मानते हो। यह परिस्थिति आचार्य शान्तिरक्षित के साथ तो नही हो सकती थी क्योकि वे स्वतन्त्र माध्यमिक सप्रदाय के अनुयायी थे।

दूसरी कठिनाई मैत्रीगुप्त या मैत्रीपा अद्वयवज्र के सम्बन्ध में आती है। अद्वयवज्र लगभग दीपकर के समकालीन है थे किन्तु टुची द्वारा प्राप्त नेपाली पाण्डुलिपि में उन्हे शबरपा का शिष्य बताया गया हैं। शबरपा का समय हमने १०वी शती मे माना है जब कि दीपकर ११वी शती के मध्य मे तिब्बत गये थे। तारानाथ के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि अद्वयवज्र ने लुईपा का आम्नाय ग्रहण किया था और उनसे व्यक्तिगत रूप मे दीक्षा लेने की बात बाद मे गढ ली गई है। तारानाथ के अनुसार मैत्रीगुप्त ने बौद्ध धर्म की दीक्षा तो नारोपा के साथ ही ले ली थी और रत्नाकर शान्ति ने उन्हे शिक्षा दी थी किन्तु उन्हें यन्त्रो पर विश्वास नही होता था। उन्होने आकाशवाणी सुनी और उसके अनुसार वे श्रीपर्वत मे सिद्ध शबरी के दर्शन करने गये, जहाँ शबरी ने उन्हें बहुत से चमत्कार दिखाए।

यह कथा विश्वसनीय नही प्रतीत होती और इसका केवल इतना अर्थ लिया जा सकता है कि वाद मे उन्होने शबरी की साधना-पद्धति अपनाई और उनके आम्नाय को स्वीकृत किया।[४९] इसी प्रकार एक तिव्बती कथा यह भी है कि लुईपा ने दीपकर श्रीज्ञान को स्वत 'अभिसमय-विभग' का उपदेश दिया[५०] किन्तु इसमे ऐतिहासिक तथ्य नही वरन् तिब्बती अनुश्रुतियो की कल्पना-प्रवणता ही प्रमुखत प्रतिभासित होती है।

किन्तु इस परम्परा को नवी शताब्दी तक भी ले जाना कठिन प्रतीत होता है। सरहपा के जीवन-वृत्त मे यह उल्लेख आता है कि उन्होने रत्नपाल नामक राजा को वज्रयान मे दीक्षित किया था। कामरूप के इतिहास में एक रत्नपाल राजा का उल्लेख आता है जिसने १००० ई० से १०३० ई० तक राज्य किया। यदि यह वही रत्नपाल है तो सरह का समय फिर ९वी से १०वी के अन्त और ११वी के प्रारम्भ मे अनुमानित करना होगा। किन्तु ये तिब्बती अनुश्रुतियाँ कितनी भ्रमात्मक हैं, इस पर हम विचार कर चुके है।

काल-परिधियाँ

इस प्रकार अन्य प्रामाणिक सामग्री के अभाव में अभी हम जो काल-परिधियाँ अनुमानित कर सकते हैं, वे इस प्रकार है :

लगभग ८०० ई० से ८७५ ई० सरहपा, शबरपा, लुईपा तथा उनके समकालीन सिद्ध।

लगभग ८७५ ई० के ९२५ ई० मत्स्येन्द्र तथा उनके समकालीन मीनपा आदि।

लगभग ९२५ ई० से १००० ई० गोरख, जालधरी, कारहपा तथा समकालीन।

लगभग १००० ई० से ११०० ई० तिलोपा, नारोपा, मैत्रीपा तथा समकालीन।

किन्तु ये काल-परिधियाँ ठीक ही है ऐसा कह सकना कठिन है। केवल इनकी निम्नतम सीमाएँ ही कुछ विश्वसनीय हैं।

आदि-सिद्ध कौन था

इसी प्रसग मे हमे इस प्रश्न पर विचार कर लेना चाहिये कि इन वज्र-यानी सिद्धो मे आदि-सिद्ध कौन है। कई परम्पराएँ लुईपा को आदि-सिद्ध मानती है और कुछ परम्पराओ मे सरहपा को आदि सिद्ध कहा गया है। राहुल जी ने सरह को आदि सिद्ध बताया और उसके लिये ऐतिहासिक क्रम में उनकी सर्वप्रथम स्थित को प्रमाण रूप मे प्रस्तुत किया है।[५१] किन्तु यहाँ पर वे एक भ्रम में पड गये हैं। सिद्ध-परम्परा में कभी भी आदि-सिद्ध ऐतिहासिक कालक्रम से नही निश्चित किया जाता था। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आम्नाय के प्रवर्त्तक को आदि-सिद्ध या आदि-नाथ मानता था और यह सिद्ध करने का प्रयास करता था कि यह सिद्ध दूसरे रूप मे, दूसरी काया मे उन सभी सिद्धो का गुरु रह चुका है जो इसके ऐतिहासिक दृष्टि से इसके पहले हुए हैं मीनपा को स्पष्टत मत्स्येन्द्र का पिता और गुरु माना गया है किन्तु फिर भी प्रमुख नाथ मत्स्येन्द्र ही है, मीननाथ नही।[५२] बाद मे गोरख के अनुयायियो ने गोरख को आदि-शिव माना और अन्य सब नाथो को उनका अवतार माना। इससे यह सिद्ध होता है कि आदि-सिद्ध ऐतिहासिक कालक्रम नही वरन् साम्प्रदायिक महत्व से निर्णीत होता था।

सरहपा के विषय मे ऐसे प्रचुर उल्लेख मिलते है जो यह बताते है कि

सरहपा ने सर्वप्रथम बौद्ध तन्त्रो को एक सुगठित रूप दिया और सम्प्रदाय का सम्यक् प्रवर्तन किया। सरहपा के पहले भी बौद्धो मे तान्त्रिक प्रवृत्तियाँ विद्यमान थी किन्तु उनको व्यापक रूप से प्रतिष्ठा नही मिली थी। "श्री सरहपा जब अवतरित हुए तब वे सब प्रकाश मे आ गई।"[५३] तारानाथ ने जो गुरु-परम्परा दी है उसमे भी स्पष्ट बताया गया है कि महामुद्रा-साधना का पहली बार सरहपा ने ही अभ्यास किया, उसकी सिद्धि की और तब अपनी दोहा-वज्रगीतियो मे इस पद्धति का प्रचार करना प्रारम्भ किया। एक तीसरा अनुमान और लगाया जा सकता है। अद्वयवज्र ने सरहपा के दोहाकोष की टीका मे उनका एक नाम सरोजवज्र भी बताया है और उनके आम्नाय को सहजाम्नाय कहा है।[५४] उधर ओडियान की गुरु-परम्परा पद्मवज्र से प्रारम्भ होती हैं। यह पद्मवज्र कौन थे, कहाँ से आये थे इसका कोई उल्लेख नही मिलता है। किन्तु इनकी सिद्धि-प्राप्ति की कथा बहुत कुछ सरह की सिद्धि-प्राप्ति की कथा से मिलती-जुलती है। सहज सुन्दरी या सुख-ललिता नामक एक नर्तकी राजकन्या ने पद्मवज्र को ज्ञान दिया। भगवान वज्रपाणि ने कन्या को योगिनी बनने का उपदेश दिया था।

सरहपा के दोहो मे हमे योगिनी का बार-बार उल्लेख मिलता है। वे बार-बार योगिनी चार[५५], योगिनी मार्ग[५६] तथा योगिनी सहज सवर[५७] का उल्लेख करते है। बहुत सम्भव है कि यह योगिनी मार्ग ओडियान मे प्राप्त अनुभव के आधार पर हो। सरहपा का नाम सरोजवज्र भी पद्मवज्र का शब्दश अनुवाद है। इसके अतिरिक्त ओडियान से सरहपा के सम्बन्ध के और भी प्रमाण मिलते है। साधनमाला मे त्रैलोक्यवशकर लोकेश्वर की दो साधनाएँ सरहपा के नाम की मिलती है। दोनो ही ओडियान क्रम या ओड्डियान पद्धति की बताई गई है और दोनों ही मे वज्रयोगिनी का उल्लेख है।[५८] दूसरी साधना मे तो स्पष्ट उल्लेख है कि यह ओड्डियान से सरहपा द्वारा अवतरित की गई है। ओड्डियान के इसी योगिनी-मार्ग से उनके सम्बन्ध का एक और अप्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। शबरपा को अभिनव सरह कहा जाता था।[५९] साधनमाला से ज्ञान होता है कि शबरपा ने वज्रयोगिनी आराधना का प्रवर्तन किया था और अनुमान किया जा सकता है कि इसका प्रथम प्रवर्तन सरहपा ने किया होगा और शबरपा को इसका प्रचार करने के कारण अभिनव सरह कहा गया होगा।[६०] यह साधना ओडियान से सम्बद्ध अवश्य थी क्योकि वज्रयोगिनी की एक दूसरी साधना में तन्त्रपीठो में ओडियान की गणना सर्वप्रथम की गई

है।[६१] इन समस्त प्रमाणो से पद्मवज्र सरहपा का ही दूसरा नाम प्रतीत होता है और ज्ञात यह होता है अनङ्गवज्र तथा इन्द्रभूति वाली शिष्य-परम्परा सरहपा की पश्चिमी भारत की शिष्य-परम्परा थी और नागार्जुन तथा शबरपा वाली परम्परा पूर्वी और दक्षिणी भारत की। डॉ० हरप्रसाद शास्त्री ने तो इनका नाम 'बौद्ध गान ओ दोहा' मे पद्म तथा पद्मवज्र भी बताया है यद्यपि इसका कोई आधार नही दिया है।

किन्तु इस अनुमान मे मुख्य बाधा यह पडती है कि एक दूसरे स्थान पर पद्मवज्र को मरुप्रदेश मे उत्पन्न ब्राह्मण बताया गया है।[६२] जब कि सरहपा का जन्म उडीसा या किसी अन्य पूर्वी प्रान्त में बताया गया है। तिब्बती वृतान्तो मे बहुत से अन्तर्विरोध भरे हुए है अत किसी भी निर्णय पर पहुँच सकना कठिन है। किन्तु इतना मानने मे कोई बाधा नही है कि बौद्ध तन्त्रो के प्रवर्तन मे सरहपा का वहुत बडा महत्व है और चाहे वे कालक्रम मे सर्वप्रथम न हो जैसा राहुल जी का आग्रह है किन्तु उन्हे महत्व की दृष्टि से आदि-सिद्ध माना जाता रहा है।

लुईपा की आदि सिद्ध के रूप मे प्रतिष्ठा सभवत बाद मे कामरूप के शैव सप्रदायो की प्रतिद्वन्द्विता में हुई है। लुईपा ओडियान के राजा के दरबार मे कायस्थ लेखक थे।[६३] उनके विषय में भी कई कथाएँ मिलती है। कुछ विद्वानो ने उनका जन्म उज्जयिनी में भी बताया है किन्तु यह मत उड्डीयान के भ्रम मे उज्जयिनी को प्रश्रय देता हुआ प्रतीत होता है।[६४] पूर्वी भारत कामरूप मे बाद मे मत्स्येन्द्रनाथ का माहात्म्य जब बहुत बढा और उन्होने शैव तान्त्रिक साधनाओ का प्रचार किया तब पहले तो तिब्बती आचार्यों ने उन्हे अवलोकितेश्वर का अवतार मान कर बौद्ध सम्प्रदाय की स्थिति को सम्हाला और बाद मे उनकी लुईपा से एकात्मकता स्थापित कर शैव आदि-सिद्ध मत्स्येन्द्र की तुलना मे लुईपा को आदि सिद्ध मान लिया गया। लुईपा सभवत मत्स्येन्द्र से कुछ पहले हुये थे क्योकि मत्स्येन्द्र के पिता मीननाथ बताये गये है और मीननाथ बौद्ध थे क्योकि उनका एक ग्रथ बोधिचित्त पर मिलता है —बाह्यान्तर बोधिचित्त-बन्धोपदेश।[६५] मीननाथ प्रत्येक बौद्ध-परम्परा में लुईपा के बाद आते है। तारानाथ ने मीननाथ को सिद्ध कुक्कुटी का शिष्य बताया है और स्पष्ट लिखा है कि सिद्ध कुक्कुटी ने लुईपा का आम्नाय अपनाया था किन्तु वे लुईपा के समकालीन नही थे। लुईपा उनसे पूर्व हुए थे और कुक्कुटी उन्ही का आम्नाय अपनाने के कारण

अपने को उनका शिष्य कहते थे।[६६] अत स्पष्ट है कि सिद्ध मीनपा या मीन-नाथ लुईपा के बाद हुए थे अत मत्स्येन्द्र और लुईपा को एक मानने का कोई भी सबल आधार नही मिलता है। केवल नाम-साम्य के आधार पर दोनो को एक सिद्ध करना (लुईपा के अर्थ तिब्बती में मत्स्येन्द्र होते है [६७]) यह आग्रह उचित नही है। क्योकि ये सभी नामचर्या पर आधारित होते थे और कभी-कभी चर्या के आधार पर गुरू का नाम शिष्य भी ग्रहण कर लेता था (शबरपा को नव-सरह कहते थे) अत यही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि जब मत्स्येन्द्रनाथ नाथ-सिद्धो मे प्रथम माने गये तब बौद्धो ने उनकी तुलना में लुईपा को आदि सिद्ध मान लिया होगा क्योकि लुईपा की पद्धति भी मत्स्य से सम्बन्धित थी।[६८] जिस समय से सस्क्य-विहार की ८४ सिद्धो की सूची बनी उस समय लुईपा का आम्नाय अधिक सबल था (१३वी शती मे) [६९] अत उसे आदि सिद्ध माना गया किन्तु तारानाथ ने पुराने बौद्ध ग्रथो का आश्रय लिया था, अत उसने सरहपा को आदि सिद्ध माना है।[७०]

इस प्रकार आदि-सिद्ध की मान्यता पर विचार कर लेने के उपरान्त हम उस सामग्री पर विचार करेंगे जो विभिन्न विद्वानो ने उन सिद्धो के जीवन-

जीवन-वृत्त

वृत्त के रूप मे प्रस्तुत की है, जिनके पद या दोहे पूर्ण या आशिक उद्धरणो के रूप मे प्राप्य है और जिन्हें हमने इस अध्ययन की आधार-सामग्री के रूप मे स्वीकार किया है। यह सामग्री भोटिया ग्रन्थो मे प्राप्य है जिनमे दो ग्रन्थ प्रमुख है। एक तारानाथ का ग्रन्थ जिसका भोटिया से जर्मन अनुवाद, ग्रुएनवाल्ड ने और ग्रुएनवाल्ड का अग्रेजी रूपान्तर डॉ० बी० एन दत्त ने "मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ" के नाम से किया है। दूसरा ग्रन्थ "चतुराशीतिसिद्ध-प्रवृत्ति" है जिसका उल्लेख कार्दियर के तन्जूर कैटलाग मे भी है (८६-१)। इस सामग्री के आधार पर सबसे पहले महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री [७१] तथा उसके उपरान्त डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य[७२], श्री एस० के० दे[७३], श्री राहुल सात्कृत्यायन[७४] तथा श्री परशुराम चतुर्वेदी[७५] ने इन पदकर्त्ताओ और दोहाकारो का जीवन-वृतान्त प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त कौल तथा नाथ-सम्प्रदाय पर विचार करते हुए डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची[७६] तथा डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी[७७] ने भी लुईपा, जालन्धरीपा तथा काण्हपा आदि के जीवन तथा साधना-पर प्रकाश डाला है। उक्त दोनो ग्रन्थो के अतिरिक्त जिन गुरु

परम्पराओं, तिब्बती अनुश्रुतियो, साम्प्रदायिक अनुश्रुतियो तथा अप्रकाशित पाण्डुलिपियो का उपयोग इन विद्वानो ने किया है उनका यथास्थान उल्लेख भी कर दिया है।

सरहपा

दोहा तथा पदकर्त्ताओ में हम महत्व की दृष्टि से सर्वप्रथम सरहपा पर विचार करेंगे। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इतने पर्याय नाम बताये हैं सरोरुहवज्र, सरोजवज्र, पद्म, पद्मवज्र तथा राहुलभद्र।[७८] इनमे से सरोरुह तथा सरोजवज्र नाम का प्रयोग तो अद्वयवज्र ने सरह के दोहो की टीका मे किया है। सम्भवत उसी के आधार पर पद्म तथा पद्मवज्र भी सरह के नाम मान लिये गये है। सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व उनका नाम राहुलभद्र था और चूँकि सिद्धि में इन्होने एक बार शर बनाने वाली युवती को महामुद्रा बनाया था अत इनका चर्या-नाम शरह या सरह हो गया। तारानाथ ने यह सकेत किया है कि राहुलभद्र नाम के कारण इन्हे स्थविर राहुल (स्थविर राहुल सस्क्य की सूची मे ४७वें हैं और कामरूप के शूद्र बताये गये है, जबकि सरह ब्राह्मण थे) मान लेने का भ्रम हो सकता है।[७९] शिष्य होने के नाते कभी-कभी शबरपा को भी लघु या नव-सरह कहा जाता था। कार्दियर ने इनकी एक उपाधि महाशबर भी बताई है जो सम्भवत नव-सरह शबरपा की रही होगी।[८०] लघु सरोरुहवज्र ओडियान की गुरु-परम्परा मे तीसरे हैं और कहा नही जा सकता कि अद्वयवज्र ने उन्हे सरह क्यो कहा है। यदि हम पद्मवज्र और सरह को एक मान लें तो यह असगति दूर हो जाती है क्योकि पद्मवज्र को सरोरुहवज्र भी कहते थे और उन्ही के कारण उनकी शिष्य-परम्परा मे आने वाले तीसरे आचार्य को लघु या नव सरोरुह कहते थे। किन्तु किसी अधिक ठोस प्रमाण न मिलने तक ऐसा मान सकना कठिन है। सुम्प म्खन पो के अनुसार सरह का जन्म पूर्व भारत मे राज्ञी नामक नगरी मे ब्राह्मण पिता और डाकिनी के योग से हुआ।[८१] दूसरी तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार इनका जन्म उडीसा मे हुआ।[८२] तारानाथ के अनुसार ये शैशव से ही वेद-वेदागो के ज्ञाता थे, मध्यदेश मे जाकर इन्होने त्रिपिटको का अध्ययन किया, बौद्ध धर्म मे दीक्षा ली और नालन्दा में आकर आचार्य रूप मे रहने लगे। उस समय प्राच्य मे चन्दनपाल राज्य कर रहा था। उडीसा के एक आचार्य से इन्होने मत्रायन की दीक्षा ली और

महाराष्ट्र जाकर एक शर बनाने वाले की कन्या के साथ महामुद्रा योग सम्पन्न कर सिद्धि-लाभ किया।

राजा अपनी असख्य प्रजाओ के सहित इन्हे देखने आया तो ये बोले कि "मै ब्राह्मण हूँ पर निम्न वर्ण की कन्या के साथ रहता हूँ, जाति या अजाति, पुण्य या पाप मेरे लिए सब समान है।" लोगो ने इन पर सन्देह किया, इनकी निन्दा की किन्तु जब इन्होने अपने दोहे गाये तो राजा अपनी ५ लाख प्रजाओ के साथ वज्रयान मे दीक्षित हो गया।[८३] इस राजा का नाम रत्नपाल बताया गया है यद्यपि दूसरे स्थल पर तारानाथ इन्हे धर्मपाल का समकालीन बताता है। तारानाथ के वर्णन कितने अविश्वसनीय है और पालवश के विषय मे उसका ज्ञान कितना अधूरा है इस पर हम आगे विचार करेंगे।

तजूर मे इनके २१ ग्रन्थ बताये गये है जिनमे से १६ ग्रन्थ अपभ्रंश से भोटिया मे अनुवादित कहे जाते है।[८४] इसके अतिरिक्त सस्कृत मे इनके नाम से दो त्रैलोक्यवशकर की साधनाएँ भी मिलती है।[८५]

शबरपा

शबरपा को तारानाथ ने नव-सरह का नाम भी दिया है। वे सरह की शिष्य-परम्परा मे तीसरे थे। सुम्प म्खन पो के अनुसार वे (भागल या) बङ्गाल देश के शबर थे।[८६] किन्तु तारानाथ उन्हें पूर्वी भारत की किसी नर्तक जाति का बताते हैं।[८७] नागार्जुन से दीक्षा लेकर वे श्रीपर्वत मे साधना करने चले गये थे। उनकी दो महामुद्राएँ थी लोकी और गुनी, और वे दोनो के साथ रहते थे। दोनो बहनें थी और उनका चर्यानाम डाकिनी पद्मावती तथा ज्ञानावती था। तारानाथ के वर्णन से यह भी सकेत मिलता है कि दोनो ही इनकी बहनें थी और उन्ही से महामुद्रा-साधना कर बाह्य रूप से शबरपा पापमय जीवन बिताते थे।

एक अन्य स्थान पर यह भी उल्लेख मिलता है कि इन्होने अद्वयवज्र को शिक्षा दी थी जिसके कारण राहुल जी शबरपा नाम के दो सिद्ध मानते है।[८८] किन्तु हम पहले यह सिद्ध कर चुके है कि अद्वयवज्र ने शबरपा को केवल काल्पनिक ऐन्द्रजालिक रूप मे देखा था, वे उनके समकालीन नही थे। शबरपा के १६ ग्रन्थ तजूर मे प्राप्य है जिनमे से ६ अपभ्रंश से अनूदित है।[८९] शबरपा की एक साधना भी मिलती है, तथा वज्रयोगिनी साधना के वे प्रवर्तक भी बताये गये है।[९०]

लुईपा

लुईपा के विषय मे हम चर्चा कर चुके है। तंजूर में इन्हें भागाली कहा गया है जिसके आधार पर म० हरप्रसाद शास्त्री[६१] तथा डा० विनयतोष भट्टाचार्य[६२] इन्हें राढ देश निवासी बङ्गाली कहते है किन्तु राहुल जी ने भङ्गाला से 'भागलपुर का प्रदेश' का अर्थ लिया है। वे इन्हें मगधवासी कहते है तथा राजा धर्मपाल के दरवार में कायस्थ बताते है।[६३] तारानाथ इन्हे धर्मपाल के बजाय इनका ओडियान के राजा इन्द्रभूति के दरबार मे कायस्थ होना और नाम समन्तशुभ बताता है।[६४] सुम्प म्खन पो के अनुसार ये मछुवे थे[६५] जबकि सस्क्य ब्क बुम् मे इन्हे जाति से भी कायस्थ बताया गया है।[६६] तारानाथ भी इन्हे केवल चर्या मे मछली से सम्बन्धित मानता है। उसके अनुसार शबरीपा से दीक्षा लेकर इन्होने श्मशान-साधना की और वज्रवाराही उपलब्ध की, उसके बाद ये बङ्गाल गये और गगातट पर मछलियो का ढेर देखकर मछलियो का भोजन कर महा-मुद्रा-सिद्धि प्राप्त की।[६७] तारानाथ इन्हे योगिनी-सहचर्या का प्रवर्तक मानता है।[६८] ये उडीसा के राजा दारिकपा के गुरु थे और उनके चर्यापद मे लुईपा का नाम भी मिलता है जिसकी ओर सकेत करते हुए म० हरप्रसाद शास्त्री ने दारिक को लुईपा का शिष्य माना है।[६६]

दारिकपा

दारिकपा के विषय मे तारानाथ ने यह स्पष्ट लिखा है कि लुईपा की दूसरी शिष्य-परम्परा मे दारिक तथा अन्तर आते है। दारिकपा को तारानाथ ने उडीसा का राजा बताया है जो अपने मन्त्री ढेंपीका के साथ लुईपा के शिष्य हो गये थे।[१००] सस्क्य ब्क बुम् से यह भी ज्ञात होता है कि लुईपा ने उडीसा आकर इन्हे दीक्षा दी और कुछ दिनो काचीपुर मे एक गणिका की सेवा कर सिद्धि-लाभ करने का आदेश दिया। तव इनका नाम दारिकपा हुआ। इनके मन्त्री ब्राह्मण थे किन्तु एक शुण्डनी (कलाली) की ढेंकी पर काम करते थे अत. उनका चर्यानाम ढेंकीपा हो गया।[१०१] लुईपा ने इन्हे व्यक्तिगत रूप मे दीक्षा दी थी इसमे सन्देह है क्योकि इनके ग्रन्थो की सूची मे कालचक्र पर भी एक ग्रन्थ है जिससे इनका समय बहुत परवर्ती होना चाहिये। इसलिए यही अधिक उचित जान पडता है कि इन्होने लुईपा का आम्नाय ग्रहण किया था अत वे लुईपा को अपना गुरु मानते थे। इसका समर्थन इस प्रकार भी होता है कि तारानाथ लुईपा की इस

दूसरी शिष्य परम्परा का प्रथम शिष्य तिलोपा को बताते हैं। तिलोपा तथा नारोपा एक परम्परा के थे। नारोपा के समय में कालचक्र-पद्धति स्वीकृति हुई थी जैसा हम वज्रयान के विकास पर विचार करते समय देखेंगे। दारिकपा के १० ग्रन्थों का उल्लेख तंजूर में है[१०२] जिनमे से सम्भवतः ३ अपभ्रंश मे थे।[१०३]

दारिकपा की शिष्या सहजयोगिनी चिन्ता थी जिनके शिष्य डोम्बीपा या डोम्बी हेरुक बताये गये हैं। तारानाथ ने इनकी सिद्धि की एक रोचक कथा दी है।[१०४] ये मगध के राजा थे। विरुपा से उपदेश पाकर

डोम्बीपा

ये महामुद्रा की साधना करने लगे। प्रजा तथा मन्त्रियों ने इन्हे राज्य से निर्वासित कर दिया। बहुत दिनो बाद इनके राज्य में अकाल पडा तब ये अपनी सिंहनी-रूपिणी शक्ति के साथ, जिसका वाहन याक था, अपने राज्य में वापस आये। प्रजा ने इन्हे पहचाना और इनका शिष्यत्व स्वीकार किया। ये वीणापा के समकालीन थे और दूसरे स्थान पर तारानाथ ने यह भी उल्लेख किया है कि इन्होने तथा वीणापा ने सहजयोगिनी चिन्ता को दीक्षा दी थी।[१०५] इस सम्बन्ध मे भी एक कथा है जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे। तारानाथ ने नारोपा के भी एक शिष्य को नव आचार्य डोम्बी बताया है। वे चरवाहे थे।[१०६] इनके एक अनूदित ग्रन्थ "सहज सिद्धि" से यह ज्ञात होता है कि इन्होने कौल-पद्धति का विशेष प्रचार किया था।[१०७] इनके जिन ग्रंथो का भोटिया अनुवाद मिलता है उनके अतिरिक्त ग्रंथ "सहज सिद्धि" भी मिला है जो ओरियण्टल इस्टीट्यूट में सुरक्षित है।[१०८] राहुल जी ने इनका १०वाँ चर्यापद (डोम्बी) बताया है जो वास्तव मे काण्हपा का है।[१०९]

आचार्य कम्बलाम्बरपा डोम्बीपा की समकालीन गुरु (अथवा शिष्य ?) सहजयोगिनी चिन्ता के शिष्य वज्रघण्टा के शिष्य थे। तारानाथ इनकी जन्म-भूमि के विषय मे दो मतो का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि

कम्बलाम्बरपा

कुछ लोग इन्हे उद्यान और कुछ उडीसा का निवासी बताते हैं। ये चक्रसम्बर तन्त्र के अनुयायी थे और इनका कुछ सम्बन्ध तीर्थिक वैष्णवो से भी था। मन्त्रावती नामक एक सिद्ध योगिनी से इनका वैर हो गया और उसने इन पर मारण-मन्त्र का प्रयोग किया। इन्होने एक कम्बल का रूप धारण कर लिया। उसने उस कम्बल का तार-तार अलग

कर दिया और उसकी सखी योगिनियो ने एक एक तार खा लिया । किन्तु ये फिर भी प्रगट हो गये । कहा जाता है कि ये राजपुत्र थे और इन्द्रभूति को भी इन्होने दीक्षा दी थी । ये इन्द्रभूति कौन से इन्द्रभूति थे इसका उल्लेख तारानाथ ने नही किया है । ये जालन्धरपा के गुरु भी बताये गये हैं ।[११०] इनके ११ ग्रन्थो के अनुवाद मिलते है जिनमे से ३ ग्रन्थ अपभ्रंश मे थे ।[१११]

ऊपर जिन सिद्धो का उल्लेख हो चुका है उनके अतिरिक्त पदकर्त्ताओं के नाम 'चर्याचर्य विनिश्चय' के क्रम के अनुसरण मे इस प्रकार हैं, कुक्कुरीपा, विरुपा, गुराडुरीपा; चाटिल्लपा, भुसुकपा, कारहपा, (कृष्णाचार्य, कृष्णवज्र कृष्णपाद आदि) शान्तिपा, महीधरपा, वीणापा, आर्यदेव, भादेपा, ताड़कपा, कंकरणपा, जयनन्दीपा, धामपा ।

कुक्कुरीपा

कुक्कुरीपा राहुल के अनुसार कपिलवस्तु के ब्राह्मण थे ।[११२] तारानाथ ने इनको मीनपा का गुरु तथा चर्पटी का शिष्य बताया है ।[११३] तारानाथ ने यह भी कहा है कि कुक्कुरी या कुक्कुराचार्य नामक एक दूसरा आचार्य था जिसने बहुत से कुत्ते पाल रक्खे थे । सिद्ध कुक्कुरीपा का नाम कुक्कुरीपा इसलिये पडा था कि इन्हें लुम्बिनी बन मे एक ऐसी स्त्री से महामुद्रा-सिद्धि प्राप्त की थी जो पूर्वजन्म में एक कुक्कुरी थी ।[११४] तंजूर मे इनके १६ ग्रंथो का उल्लेख मिलता हैं जिनमे से संभवत ३ अपभ्रंश में थे ।[११५] यदि ये वास्तव मे चर्पटी के शिष्य थे तो इनका समय लगभग १० वी शताब्दी निश्चित हो चुका है ।[११६] अत: उनका तथा मीनपा और उनके शिष्य हाड़ी (जालन्धर) तथा कारहपा का भी यही समय होना चाहिये ।

मीनपा

मीनपा को तारानाथ ने मत्स्येन्द्र का पिता तथा गुरु बताया है और उन्हे कामरूप का मछुवा बताया है । कहा जाता है कि वे एक बार जाल में फँस कर स्वयम् मछली के पेट मे चले गये और उसमे कई वर्ष रहे । मछली के पेट मे ही वे ब्रह्मपुत्र में बहते-बहते उमागिरि के निकट पहुँचे जहाँ उमा तथा शिव मे तन्त्र-सम्बन्धी वार्ता हो रही थी । उन्होने उसे सुनकर तन्त्र के सारे गंभीर रहस्य जान लिये और सिद्धि प्राप्त की । उनके तीन शिष्य हुए, हाली, माली तथा तम्बुली ।[११७] ऐसा ज्ञात होता है कि मीननाथ के समय से ही बौद्ध तथा शैव

तन्त्र साधनाओ मे अत्यधिक मिश्रण प्रारम्भ हुआ। इनका झुकाव सम्भवतः शैवो ही की ओर अधिक था। २१ वें चर्यापद की टीका मे मुनिदत्त ने इनकी ४ अपभ्रंश पंक्तियाँ उद्धृत की है। उन्हे पर-दर्शन से उद्धृत बताया है।[११८] वैसे इनका एक ग्रन्थ तन्जूर मे "बाह्यान्तर-बोधिचित बन्धोपदेश" नाम का प्राप्त होता है। मीनपा-सम्बन्धी शैव दन्तकथाओं का उल्लेख बागची ने कौल-ज्ञान-निर्णय के प्राक्कथन मे किया है।

जालन्धरपा के सम्बन्ध मे भी कई कथाएँ मिलती हैं। सस्क्य ब्क बुम् के अनुसार ये नगर भोग नामक देश के ब्राह्मण थे।[११९] किन्तु तारानाथ ने इन्हे पश्चिम में स्थित सिन्धु देश के ठाठ नगर का निवासी बताया है और शूद्र बताया है। इनका निवास तारानाथ ने ज्वाला-मुखी के पास जालन्धर देश बताया है। इनको ओडियान मे साधना करनी पडी थी जहाँ कन्छपा ने इन्हे बौद्ध तन्त्रो मे दीक्षा दी थी। कुछ दिनो ये नेपाल में भी रहे। पूर्वी बंगाल में इन्होने हाडीपा का रूप ग्रहण किया था और राजा गोविन्दचन्द्र तथा मयनामती की प्रख्यात कथा के अनुसार ये राजा गोपीचन्द्र द्वारा भूमि खोद कर गाड दिये गये थे जहाँ से इनके शिष्य काण्हपा ने इन्हे मुक्त कराया था।[१२०] राहुल जी द्वारा उद्धृत इनके पद मे बौद्ध-तन्त्र-पद्धति ही का वर्णन है किन्तु शैव पद्धतियाँ भी इन्होने अवश्य अपनाई होगी क्योकि नाथ-परम्परा मे इन्हें आदिनाथ माना गया है। इनकी शैव तथा तिब्बती कथाओ पर द्विवेदी जी ने विस्तार से विचार किया है।[१२१] इनके ७ ग्रन्थ तजूर मे उपलब्ध है जिनमे से दो अपभ्रंश मे थे।[१२२] इन्होने सरोरुहपाद के हेवज्र-साधन पर एक टीका भी लिखी थी जिसका नाम 'शुद्धिवज्रप्रदीप' है। इनके शिष्यो मे कृष्णाचार्य, बुद्धज्ञानपा, तन्तिपा, भर्तृहरि, गोपीचन्द्र आदि थे जिनमे से कृष्णा-चार्य अथवा काण्हपा को प्रमुखतम बताया गया है।[१२३]

'चर्याचर्य-विनिश्चय' मे भी काण्हपा के पद सबसे अधिक सख्या में मिलते हैं जिसमे ज्ञात होता है कि ये बहुत महान आचार्य हुए है। राहुल जी भी इन्हें विद्या और कवित्व में सबसे बडा मानते हैं। इनके ८ शिष्य महासिद्ध हुए।[१२४] सस्क्य ब्क बुम् मे इन्हे कर्णाटकवासी ब्राह्मण कहा गया है।[१२५] तारानाथ कई परम्पराओ का उल्लेख करता है। एक मे ये कर्ण देश के निवासी बताये गये है, दूसरी मे ये

उडीसावासी कहे गये है। कई प्रमाणो के द्वारा तारानाथ ने सिद्ध किया है कि उडीसा ही इनका जन्म-स्थान था।[१२६] ये भी शैव सम्प्रदायो के बहुत निकट थे क्योकि तारानाथ ने इन्हे अन्दर से बौद्ध बताया है किन्तु बाहरी जीवन मे शैवो के बहुत निकट थे। इनकी साम्प्रदायिक स्थिति पर बाद मे हमने विस्तार मे विचार किया है।

इनके कई नाम मिलते है, कृष्णाचार्य, काण्हपा, कृष्णवज्र आदि। बाद मे एक कृष्णपाद भी हुए है और सम्भव है इनके तथा उनके पदो मे कुछ मिश्रण हो गया हो। तजूर में इनके ७४ ग्रन्थ मिलते है जिनमे छ अपभ्र श मे थे।[१२७] इनके एक पद मे जालन्धरिपा का नाम भी गुरु रूप में मिलता है।[१२८] द्विवेदी जी ने इन्हे जुलाहा बताया है किन्तु वास्तव मे इनके शिष्य तन्तिपा जुलाहे थे, ये नही।[१२९] सस्क्य ब्क बुम् मे काण्हपा नाम का कारण यह भी बताया गया है कि इनके कान लम्बे थे।[१३०] सम्भव है तारानाथ द्वारा उल्लिखित 'कर्ण' देश-सबधी परम्परा का भी इससे कुछ सम्बन्ध हो। 'योगि सम्प्रदायाविष्कृति' मे इनका जन्म ब्रह्मा के वीर्य का हाथी के कान मे स्थित हो जाने के कारण बताया गया है और इनका नाम कारिणपा बताया है।[१३१] तारानाथ ने एक दूसरे सिद्ध कर्णरीपा का भी उल्लेख किया है जो मेवाड के राजा थे।[१३२] तारानाथ अन्तरपा के एक शिष्य का उल्लेख करते है जो नव-कृष्णाचार्य रूप मे प्रख्यात था।[१३३] इनका एक नाम चोपापा या चर्यापा भी मिला है।[१३४]

इनके शिष्य तन्तिपा थे जिनका पद म० हरप्रसाद शास्त्री वाली पाण्डु-लिपि मे से खो गया है किन्तु डॉ० बागची ने उसका तिब्बती रूपान्तर खोजा है।[१३५] इस पद से परिचित न होने के कारण राहुल जी ने

तन्तिपा

ढेण्ढणपा को ही तन्तिपा मान लिया है जो उचित नही।[१३६] सस्क्य ब्क बुम् के अनुसार ये उज्जैन के तन्तुवाय थे। तंजूर मे इनके एक ही ग्रन्थ का उल्लेख है "चतुर्योग भावना"।[१३७]

काण्हपा के शिष्यो मे महीपा, भद्रपा तथा धम्मपा भी बताये गये है। और तीनो के चर्यापद प्राप्य है। इनमे से प्रथम दो माहिल तथा भदलो के नाम

भद्रपा (?)

से भी प्रसिद्ध थे।[१३८] कुछ लोग भद्रपाद, भदली यथा भद्र को अलग भी मानते है।[१३९] भद्रपाद को गुह्यपा भी

कहते थे।[१४०] सस्क्य ब्कं बुम् में भद्रपा श्रावस्ती का निवासी देवलेखक कुल का वताया गया है।[१४१] किन्तु भद्रपा मणिधर देश के ब्राह्मण थे, और उपर्युक्त सूची में २४वें थे। ३५वाँ चर्यापद भद्रपा का है।

महीधरपा

१६वे चर्यापद के लेखक महीधरपा को यदि महीपा या माहिलपा ही माना जाय तो वे सस्क्य ब्कं बुम् के अनुसार मगध के शूद्र सिद्ध थे तंजूर मे इनके वहुत से ग्रन्थ मिलते है जिनमे से "वायुतत्व दोहा गीतिका" सम्भवत अपभ्रंश मे था।[१४२] इनके अन्य नाम महित्ता, महीन्दा तथा महिश्रा भी मिलते है जो लिपिभेद के कारण प्रतीत होते है।[१४३]

धामपा

४७ वी चर्या के लेखक धामपा या धर्मपा है। म० हरप्रसाद शास्त्री सम्भवत राग गुर्ज्जरी को गुराडुरी समझ कर इनका दूसरा नाम गुराडुरीपा वताते है।[१४४] किन्तु यह भ्रम है, जैसा डॉ० वागची ने तिव्वती अनुवाद की टिप्पणी मे स्पष्ट किया है।[१४५] धर्मपा को राहुल ने विक्रमशिला का ब्राह्मण बताया है।[१४६] डॉ० सुकुमार सेन ने इनको चाटिलपा का शिष्य वताया है किन्तु कोई प्रमाण नही दिया है।[१४७] धामपा के ग्रन्थ तजूर में मिलते हैं जिनमे से सम्भवत एक 'सुगत-दृष्टि-गीतिका' अपभ्रंश में है।[१४८]

चाटिलपा

चाटिलपा का नाम तजूर में नही मिलता और न यह नाम वज्रयानी सिद्धो की ही सूची में है। किन्तु नाथ सिद्धो की सूची मे इनका नाम ६४ वाँ मिलता है।

गुण्डुरीपा

गुण्डुरीपा को सस्क्य ब्कं बुम् में डिसु नगर का बहेलिया वताया गया है और लीलापा का शिष्य वताया गया है।[१४६] लीलापा यदि तारानाथ द्वारा निर्दिष्ट लीलावज्र थे तो मंजु-श्रीज्ञान इनके गुरुभाई थे।[१५०]

ढेण्ढणपा

ढेण्ढणपा का नाम तिव्वती उच्चारण में शास्त्री महोदय ने धेतन वताया है किन्तु इसका कोई प्रमाण नही दिया है।[१५१] वागची के उद्धरणो में धेतन नही वरन् ढेण्ढणपा मिलता है।[१५२] राहुल ने इन्हें तन्तिपा माना है जिसका खण्डन हम कर चुके है। वर्ण रत्नाकर की सूची में ढेण्टस २७ वाँ नाम मिलता है जो इसी का रुपान्तर मालूम होता है।

ताडकपा

ताडकपा का नाम दोनो ही सूचियो में नही मिलता अत राहुल जी का अनुमान है कि यह ताडकपा वास्तव में नाडकपा का बिगडा हुआ रूप है।[१५३] और ताडकपा के स्थान पर उन्होंने नाडपा या नारोपा का विवरण दिया है। किन्तु बागची द्वारा उद्धृत इस चर्यापद के तिब्बती अनुवाद मे भी इनका नाम ताडकपा ही मिलता है नाडपा नही।[१५४] यदि वास्तव मे यह पद नारोपा का ही होता तो तिब्बती रूपान्तर ताडकपा न लिखते, विशेषत इसलिये कि तिब्बती परम्परा मे नारोपा बहुत प्रख्यात थे, दीपकर श्रीज्ञान के गुरु थे। कई बार इनके लिये तिब्बत से आमन्त्रण आया था और प्रख्यात मस्व नामक तिब्बती दुभाषिया इनका शिष्य था। इन्ही कारणो से इन्हे नारोपा मानना उचित नही। ताडकपा के विषय मे और कोई उल्लेख नही मिलता है।

जयनन्दीपा

जयनन्दीपा का नाम तजूर में नही मिलता है किन्तु यदि ये वज्रयानी सिद्धो की सूची मे परिगणित ५८वें सिद्ध जयानन्त थे तो मगधवासी ब्राह्मण रहे होगे।[१५५]

ककणपा

ककणपा का उल्लेख तजूर मे कोकदत्त के रूप मे है और इनका दूसरा नाम ककणपा या कोकणपा भी बताया गया है।[१५६] नाम से ये कोकण देश-वासी प्रतीत होते है किन्तु सस्क्य-विहार की सूची मे इन्हे विष्णुनगर (मगध) का राजपुत्र बताया गया है।[१५७] शास्त्री महोदय ने इन्हें कम्बलपा का शिष्य बताया है किन्तु डॉ० भट्टाचार्य ने संकेत किया है कि कम्बलपा के शिष्य सम्भवत॰ दूसरे ककणपा थे।[१५८]

कर्णरीपा

शास्त्री महोदय के अनुसार आर्यदेव का चर्यानाम कर्णरीपा था और उन्ही को वैरागीनाथ भी कहते थे।[१५९] सस्क्य-सूची के अनुसार इन्हे नालन्दावासी बताया गया है[१६०] तथा तारानाथ ने इन्हें नागार्जुन का शिष्य बताया है।[१६१] किन्तु तारानाथ आर्यदेव तथा कर्ण-रीपा का अलग-अलग उल्लेख करता है और कर्णरीपा को मेवाड का राजा बताता है, जो पिंगला नामक अति सुन्दरी रानी का पति था और बाद मे वैरागीनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[१६२] 'योगि सम्प्रदायाविष्कृति' मे सिद्ध करणारि के भ्रमण-वृत्तान्त का विस्तृत उल्लेख है और यह भी ल्लेख

है कि दक्षिण मे इन्हे सिद्ध कनेरी के नाम से याद किया जाता है।[१६३] तंजूर मे उल्लिखित इनकी कृति 'कानेरी गीतिका' से तो ये दक्षिण मे प्रख्यात सिद्ध कनेरी ही ज्ञात होते है, आर्यदेव नाम के कई वज्रयानी साधक हो गये है जिनमे मे एक की कृति "चित्त विशुद्धि प्रकरण" भी उपलब्ध है। उसके सम्पादक ने उसके रचयिता के सम्बन्ध मे विचार करते समय कई आर्यदेवो का उल्लेख किया है।[१६४] किसी सबल प्रमाण के अभाव मे इनकी ठीक-ठीक पहचान नही हो सकती।

वीणापा

वीणापा डोम्बी हेरुक के समकालीन थे जैसा तारानाथ की कथाओ से ज्ञात होता है। वे आचार्य अश्वपाद के शिष्य बताये गये है।[१६५] शास्त्री महोदय उन्हें निरुपा का शिष्य बताते है।[१६६] राहुल जी ने उन्हे ब्राह्मण सिद्ध भद्रपा का शिष्य बताया है।[१६७] ये गौड देश के क्षत्रिय थे और वीणा बजाकर अपने पदो को गाया करते थे। उनके चर्यापद मे भी वीणा का ही रूपक है और हेरुक पद्धति को मान्यता दी गई है।

विरुपा

विरुपा नाम के कई सिद्ध थे जैसा तारानाथ ने उल्लेख किया है। तारानाथ के ग्रन्थ के एक पूरे अध्याय मे विरुपा के विभिन्न अवतारो तथा चमत्कारो का वर्णन मिलता है। उसके विस्तार मे जाना आवश्यक है। इनके तीन नाम विरुपा, कालविरूप और धर्मपाल भी थे और ये नालन्दा, ओडियान तथा चीन मे भी प्रगट हुए थे।[१६८] साधनमाला मे इनके नाम से एक साधना मिली है जिसमे विरुपाक्ष नाम मिलता है।[१६९] सस्क्य विहार की सूची मे ये त्रिपुर (त्रिपुरा) के निवासी बताये गये है।[१७०] तजूर मे इनके १३ ग्रन्थ मिलते है जिनमे से सम्भवत ८ अपभ्रंश मे थे। किन्तु ये सब ग्रन्थ किसी एक विरुपा के है या विभिन्न व्यक्तियो के, यह नहीं कहा जा सकता।[१७१] तारा-रहस्य नामक ग्रन्थ मे नाथपन्थी मानव-गुरुओ मे भी इनकी गणना है।[१७२]

भुसुकुपा

भुसुकुपा तथा शान्तिपा को कुछ विद्वानो ने एक ही माना है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि इनका दूसरा नाम शान्तिदेव था। किन्तु शान्तिपा वास्तव मे रत्नाकर शान्ति थे, बोधिचर्यावतार आदि के लेखक शान्तिदेव नही। भुसुकुपा बोधिचर्यावतार के ही लेखक थे

या नही यह नही कहा जा सकता। म० हरप्रसाद शास्त्री तो उन्हे ही शास्त्री 'शिक्षा-समुच्चय' तथा 'बोधिचर्यावतार' का लेखक मानते हैं।[१७३] महोदय ने एक १४ वी शती की हस्तलिखित पांडुलिपि के आधार पर उनका जीवन-वृत्त दिया है जिसके विस्तार मे जाना आवश्यक है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने उनके जीवन-वृत्त का समुचित परीक्षण किया है और वे भी इस परिणाम पर पहुँचे है कि भुसुकुपा शान्तिदेव ही थे।[१७४] राहुल भी इस मत का प्रतिपादन करते है।[१७५] 'शिक्षा समुच्चय' के सम्पादक बेंडेल भी इसका विरोध नही करते।[१७६] जाति के भुसुकुपा क्षत्रिय थे इतना तो सस्क्य सूची तथा तारानाथ दोनो ही मानते हैं किन्तु जन्मभूमि के विषय मे दोनो मे मतभेद हैं। राहुल ने इन्हे मगध का निवासी बताया है।[१७७] और तारानाथ ने सौराष्ट्र[१७८] या महाराष्ट्र[१७९] का। म० हरप्रसाद शास्त्री[१८०] इनके पदो की साक्षी पर बगाली मानते हैं किन्तु डॉ० बागची के अनुसार इनके पदो में बंगालियो पर एक स्थान पर व्यग है।[१८१] जाति से वे राजपूत थे इतना तो स्वत उनके चर्यापद मे मिलता है जहाँ उन्होने अपने को 'भुसुकु राउत' कहा है।[१८२] देश के विषय मे यह कहा जा सकता है कि सम्भवत उनका जन्म दक्षिण मे ही हुआ था किन्तु उनका समय पूर्वी देशो मे बीता और वे अराकान तक गये जिसे तारानाथ भी स्वीकार करता है।[१८३] किन्तु यह उल्लेखनीय है कि तारानाथ ने बराबर इनके लिए महासिद्ध शान्तिगुप्त नाम का प्रयोग किया है, शान्तिदेव नही। श्री दे ने इसी आधार पर इन्हे भुसुकुपा से अलग माना है किन्तु तारानाथ के वर्णन से ये शान्तिगुप्त बहुत प्राचीन नही मालूम पड़ते जैसा श्री दे का अनुमान है।[१८४]

शान्तिपा

शान्तिपा प्रख्यात रत्नाकर शान्ति थे जो विक्रम के पश्चिमी द्वार के अधिष्ठाता थे। तारानाथ के अनुसार ये नारोपा के शिष्य थे और दीपकर श्रीज्ञान तथा अद्वय वज्र (अवधूतीपा, मैत्रीगुप्त) के गुरु थे। ये मगध के ब्राह्मण थे। तारानाथ के अनुसार कुछ लोग इन्हे क्षत्रिय भी बताते है। ये उडन्तपुरी, सोमपुरी, मालवा, सिंहल आदि का पर्यटन कर वेद, वेदाग, त्रिपिटक आदि के प्रख्यात विद्वान हो गये थे। सिंहल से लौटकर जब वे वज्रासन बोधगया आये तब राजा महीपाल या उसके सम्बन्धी चाणक्य ने उन्हें विक्रमशिला के पूर्वी द्वार का आचार्य नियुक्त किया। अपने

समय के वे महान पण्डित थे और कलिकाल-सर्वज्ञ कहे जाते थे।[१८५]

तिलोपा

तिल्लोपा रत्नाकर शान्ति के गुरु नारोपा के गुरु थे। एक दूसरी परम्परा के अनुसार ये पद्मवज्र के शिष्य भी बताये गये है जो सम्भवत. पद्मवज्र के आम्नाय के अनुसरण का ही सकेत करता है।[१८६] कई स्थानो पर इन्हे लुईपा का वशधर, इन्द्रभूति का शिष्य तथा विजयपा का शिष्य माना गया है और यह भी अनुमान किया गया है कि विजयपा इन्द्रभूति का ही दूसरा नाम है।[१८७] सस्क्य के अनुसार इनको राजवशी बताया गया है और इनका मूल नाम प्रज्ञाभद्र था, किन्तु सिद्धचर्या मे ये तिल कूटा करते थे।[१८८] तारानाथ का कहना है कि ये ब्राह्मण थे और पूर्वी भारत मे पैदा हुए थे। बौद्ध-मत मे आकर ये भिक्षु हो गये किन्तु अपने क्षेत्र की एक तेलिन योगिनी से समागम कर इन्होने सिद्धि लाभ की। उन्हें सघ से निकाल दिया गया। अन्त मे इन्हे सहज विद्या की अनुभूति हुई।[१८९] कुछ विद्वानो ने यह भी बताया है कि इनका यवनो से घोर विरोध था किन्तु उसका कोई प्रमाण नही दिया है।[१९०]

जिन सिद्धो की कुछ भी अपभ्र श रचनाएँ वज्रयानी दोहो या चर्यापदो के रूप में उपलब्ध हैं उनके जीवन-वृत्त के विषय में उल्लेखनीय तथ्य इतने ही हैं। उसके अतिरिक्त शैव सम्प्रदाय के ग्रन्थो तथा विभिन्न अनुश्रुति-परम्पराओ में इनके जीवन की जो विभिन्न गाथाएँ मिलती हैं उनमे ऐतिहासिक दृष्टि से उल्लेखनीय तथ्य लगभग नही के बराबर हैं।

ग

साधना-केन्द्र तथा राज्याश्रय

सिद्धपीठ

इन सिद्धो की साधना के कुछ विशिष्ट केन्द्र देश के विभिन्न भागो मे थे जिनका अतुल माहात्म्य तान्त्रिक परम्परा मे माना गया है। ऐसे केन्द्रो को सिद्धपीठ कहा गया है। इन पीठो के अतिरिक्त उपपीठ, क्षेत्र तथा सन्देह भी बताये गये है जो साधना के गौण केन्द्र थे। इन सिद्धपीठो की संख्या तथा नामो में कुछ मतभेद है। बागची ने दो परम्पराओ का उल्लेख किया है। एक के अनुसार जालन्धर, ओडियान, अर्वुद तथा पूर्णगिरि और दूसरी के अनुसार जालन्धर, ओडियान, कामरूप तथा पूर्णगिरि ये ४ प्रमुख सिद्धपीठ माने गये है।[1] साधनमाला मे ओडियन, पूर्ण-गिरि, कामाख्या और श्रीहट्ट इन चार पीठो का उल्लेख मिलता है।[2] तान्त्रिक साधना-पद्धति मे इन पीठो की स्थिति शरीर के अन्दर भी परिकल्पित की गई थी और उसी प्रसग में चर्यापदो मे हमे ओडियान तथा कामरूप का उल्लेख मिलता है।[3] इससे ज्ञात होता है कि इनके साधना-केन्द्रो में ओडियान तथा कामरूप का विशेष माहात्म्य था और जालन्धर, पूर्णगिरि, अर्बुद तथा श्रीहट्ट का गौण महत्व था क्योकि पहले दोनो पीठो का महासुख-चक्र माना गया है।[4]

विद्वानो के मतानुसार श्रीहट्ट, आसाम का वर्तमान सिलहट है तथा अर्बुद आबू पर्वत का पुराना नाम है। पूर्णगिरि के विषय मे दो अनुमान है। कुछ लोग उसे महाराष्ट्र का पूना मानते हैं और एक मत यह है कि आसाम प्रान्त मे स्थित पुण्यतीर्थ का ही पुराना नाम है।[5] पूना भी तान्त्रिक परम्परा से

सम्बद्ध रहा है इसके कई प्रमाण मिलते हैं। सरहपा ने महामुद्रा की साधना महाराष्ट्र में ही सम्पन्न की थी अत महाराष्ट्र मे पहले ही से तान्त्रिक परम्परा के अस्तित्व का अनुमान कि[illegible] जा सकता है।[6] नाथ-सम्प्रदाय की परम्परा भी पूने से सम्बद्ध थी और गोरख के शिष्य सक्करनाथ ने अपना केन्द्र पूने मे स्थापित किया था[7] अत पूना तथा महाराष्ट्र, तान्त्रिक और योग साधनाओ के केन्द्र रहे हैं।

जालन्धर निस्सन्देह पजाव मे स्थित था क्योकि तिव्वती अनुश्रुतियो मे उसका जैसा उल्लेख है वह स्पष्ट आधुनिक जालन्धर के निकट ही उसकी स्थिति का प्रमाण प्रस्तुत करता है। वह महान सिद्ध जालन्धरपा की साधना का केन्द्र-स्थल था। जालन्धर सिन्धु प्रदेश के निवासी थे। उन्होने ओडियान मे जाकर महाराजा इन्द्रभूति की साधना-पद्धति अपना कर हेरुक की साधना की थी और फिर आकर जालन्धर मे वस गये थे। उनका वर्णन करते हुए तारानाथ कहता है कि जालन्धर देश मे पर्वतो तथा झरनो से ज्वाला निकलती है। आज की काँगडा मे ज्वालामुखी हैं और वहाँ इसी नाम की तान्त्रिक देवी भी है। ओडियान भी जैसा हम आगे देखेंगे स्वात घाटी मे स्थित एक तन्त्र-प्रधान प्रान्त था। जालन्धर प्रदेश में वसने के कारण उनका नाम जालन्धरपा पड गया था।[8] नाथ-सम्प्रदाय के वारह पन्थो मे से तीन पथो के केन्द्र अवोहर, गुरुदासपुर तथा झेलम मे अव भी पाये जाते हैं। झेलम प्रान्त मे गोरख-टीला योगियो का केन्द्र है। अत वह क्षेत्र भी तन्त्रिको तथा योगियो का केन्द्र रहा है।[9]

कामाख्या या कामरूप वहुत प्राचीन काल से तन्त्र साधनाओ का केन्द्र रहा है। परिणामस्वरूप समस्त भारत की जनश्रुतियो मे कामरूप कामच्छा का जादू भयकर माना गया है। कामरूप आसाम मे गौहाटी के निकट ही स्थित है। युवान च्वाग के यात्रा-विवरण से पता चलता है कि कामरूप मे वौद्ध तन्त्रो का प्रभाव कुछ वाद मे पडा है। ७वी शती मे वहाँ के लोग व्यापक रूप से वौद्ध धर्म से अपरिचित थे। वे देवो की पूजा करते थे। कुछ वौद्ध थे किन्तु वे राजभय से गुह्य साधनाएँ ही करते थे। शालस्तभी वश के राजा (७००-१००० ई०) वौद्ध धर्म को वहुत पसन्द नही करते थे। उनके उपास्य भगवान कामेश्वर तथा महागौरी थे।[10] उनके भी पहले मौर्य राजाओ के वौद्ध होने के कारण वहुत से ब्राह्मण मध्यदेश से आसाम मे आकर वस गये थे और इसी कारण आसाम की भाषा पर भी मध्यदेश का प्रभाव अधिक था। युवान च्वाग ने भी इसकी साक्षी

दी है ।[११] कामाख्या तथा कामरूप मे निस्सन्देह शैव प्रभाव अधिक था और जैसा हम आगे चलकर देखेंगे कि कामरूप वह प्रमुख केन्द्र था जहाँ शैव तथा बौद्ध साधनाएँ बहुत निकट आईं और बौद्ध तन्त्रो ने प्रचुर मात्रा मे शैव प्रभाव ग्रहण किया ।

शैव केन्द्र होते हुए भी बहुत से बौद्ध साधको ने प्रच्छन्न वेश मे वहाँ जाकर तन्त्रो के रहस्यो की शिक्षा ली । तारानाथ ने कुसलीभद्र नामक बौद्ध तन्त्राचार्य की कथा लिखी है जो मेवाड के रहने वाले थे । तीर्थिको से निराश होकर वे गया मे बौद्ध धर्म मे दीक्षित हुए तथा ब्राह्मण का वेश बनाकर कामरूप गये । वहाँ उन्होने सभी गुह्य विद्याएँ सीख ली और वहाँ के किसी कर्ण नामक राजा ने तीर्थिको और बौद्ध भिक्षुको का विवाद कराया तो उन्होने कामरूप की गुह्य विद्या के साथ-साथ बौद्ध धरणियो का प्रयोग कर अबौद्धो को परास्त कर दिया । उसके बाद कामरूप देश मे बौद्धो का प्रभाव बढने लगा ।[१२] बाद मे मीननाथ (?) मत्स्येन्द्रनाथ (?) अथवा लुईपा (?) भी कामरूप मे साधना करते रहे, महीधरपा तथा दारिकपा भी कामरूप के ही बताये गये है । गौहाटी के पास ६वीं शती तक की बौद्ध मृण्मूर्तियाँ तथा प्रस्तर-मूर्तियाँ पाई गई है ।[१३]

अन्तिम तथा सबसे महत्वपूर्ण सिद्धपीठ ओडियान था जिसकी भौगोलिक स्थिति के विषय मे विद्वानो मे काफी मतभेद है । ओडियान का उल्लेख चौथे चर्यापद मे तो है ही, सरहपा का भी सम्बन्ध ओडियान से था, इसका सकेत त्रैलोक्यवशकर लोकेश्वर की साधना मे मिलता है जहाँ इस साधना का प्रवर्तक सरहपा को बताया गया है और इसकी गणना ओडियान क्रम मे की गई है ।[१४] वज्रयान तथा तान्त्रिक साधनाओ का बडा घनिष्ठ सम्बन्ध ओडियान से रहा है ।[१५] ओडियान के राजा इन्द्रभूतिपाद तथा उनकी बहन लक्ष्मीकरा वज्रयान के प्रख्यात आचार्यों मे से थे ।[१६] आगे इनके सिद्धान्तो तथा कृतियो का उल्लेख किया गया है । तिब्बती अनुश्रुतियो मे लुईपा को उद्यान (ओडियान) के राजा को कायस्थ बताया गया है ।[१७] मरुप्रदेश के आचार्य महापद्मवज्र ने भी ओडियान मे जाकर महासिद्धि-लाभ किया था ।[१८] इनके अतिरिक्त अश्वपाद, वज्रघटा कम्बलाम्बरपाद, बुद्ध-श्रीज्ञान, बुद्ध-श्रीशान्ति, ललितवज्र तथा शान्तिगुप्त आदि बौद्ध तन्त्राचार्यो ने या तो ओडियान मे जाकर साधना की थी या वहाँ से बहुत गुह्यतन्त्र और अनुष्ठान लाये थे और पूर्वी देशो मे उनका प्रचार किया था ।[१९] इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ओडियान सिद्धो की साधनाओ का प्रमुख केन्द्र रहा ।

डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य भी तान्त्रिक पद्धतियो का उद्‌गम स्थान ओडियान को ही मानते हैं।[20]

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने ओडियान को उड़ीसा माना है। उन्ही के अनुसरण में श्री राहुल सास्कृत्यायन तथा श्री परशुराम चतुर्वेदी ने भी इन्द्र को उडीसा का राजा माना है।[21] किन्तु तारानाथ ने स्पष्टत उडीसा का पृथक उल्लेख किया है। उसके लिये 'ओडिवीसा' शब्द का प्रयोग किया है।[22] साथ ही साथ उद्यान या ओडियान को तारानाथ ने पश्चिमी प्रान्त बताया है। डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य का विशेष आग्रह ओडियान को बगाल में ही मानने का है और अधिक से अधिक वे उसे आसाम में मान सकते हैं।[23] किन्तु उनके सभी तर्कों का समुचित उत्तर डॉ० बागची ने दिया है और ओडियान के पश्चिमोत्तर प्रदेश मे ही स्थित होने का समर्थन किया है।[24] इसके लिये उन्होने चीनी ग्रन्थो, हेवज्रतन्त्र तथा रोमक सिद्धान्त, कुशान-काल के शिलालेखो के अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत किये है। साथ ही इन्द्रभूति, लक्ष्मीकरा, शान्तिरक्षित तथा पद्मसम्भव के परिवारिक सम्बन्धो पर प्रकाश डालते हुए डॉ० बागची ने शान्तिरक्षित के जन्मस्थान जहोर को भी पाश्चात्य प्रदेश मे बताया है। कहा जाता है कि पद्मसम्भव इन्द्रभूति के पुत्र, लक्ष्मीकरा के भ्रातृ-पुत्र तथा शान्तिरक्षित से भगिनी-पति थे। शान्तिरक्षित जहोर के निवासी थे जहाँ कि लकापुरी नामक धर्मस्थल था जिसे इन्द्रभूति देखने गये थे।[25]

इस लकापुरी का उल्लेख चर्यापदो में भी मिलता है। सरहपा वज्र मार्ग का परित्याग कर सहज पथ ग्रहण करने का उपदेश करते है और समीप ही बोधि प्राप्त करने के बाद लका जाकर साधना करने को व्यर्थ मानते है।[26] यदि यह लका (जहोर) बगाल में ही होता तो सरहपा जिन्होने पूर्वी भारत मे चर्यापद गाये, वे इसका उल्लेख दूरवर्ती स्थान के रूप मे न करते। बाह्य प्रमाण भी ऐसे मिलते हैं कि पश्चिमोत्तर प्रदेश में लका नामक कोई प्रान्त अवश्य था। ह्वेन-साग उसी प्रदेश मे लग-कि-लो नामक प्रदेश का वर्णन करता है जहाँ १०० बौद्ध विहार थे। डेरागाज़ी खाँ मे भी लग नामक उपजाति बसी है जो मूलत जाट माने जाते है। अत. कहा जा सकता है कि चर्यापदो मे उल्लिखित लंका सिंहलद्वीप या बगाल का कोई स्थान न होकर ओडियान के पास पश्चिमोत्तर प्रदेश का कोई भूभाग था। लेवी तथा वैडेल ने भी ओडियान को पश्चिमोत्तर प्रदेश में स्थित माना है।[27] तिब्बती अनुश्रुतियो में ओडियान प्रदेश के दो

भाग माने गये है, एक शम्भल तथा दूसरा लकापुरी। शम्भल का राजा इन्द्रभूति था और लकापुरी का जलेन्द्र। जलेन्द्र के पुत्र से लक्ष्मीकरा का विवाह हुआ था।[२८] बौद्ध तन्त्रो मे शम्भल प्रदेश को सीता नदी के तट पर माना गया है[२९] और तन्त्रो का प्रथम उपदेश भी वही माना गया है।

इन पीठो के अतिरिक्त कही-कही श्रीपर्वत को वज्रयानी साधनाओ का केन्द्र बताया गया है। यह श्रीपर्वत दक्षिण मे था और तारानाथ के अनुसार नागार्जुन ने वहाँ साधनाएँ की थी।[३०] 'मालती माधव' मे भी श्रीशैल को बौद्ध कापालिक साधनाओ का केन्द्र माना गया है। तिब्बत तथा चीन से तो इन सिद्धों का विशेप सम्बन्ध था ही जिस पर बाद मे विचार करेंगे।[३१]

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि यद्यपि इन सिद्धो का मुख्य केन्द्र पूर्वी भारत मे था किन्तु इनके साधना-स्थल समस्त भारत मे फैले हुए थे। एक बात विशेष उल्लेखनीय है। मध्य देश मे इनके किसी प्रमुख साधना-केन्द्र का उल्लेख नही मिलता है। अधिकाश तन्त्रपीठ उन प्रान्तो मे है जो बहिरङ्ग प्रदेश माने जाते है और पूर्वागत आर्य जातियो के निवास-स्थल है। महाराष्ट्र, उत्तर-पश्चिमी भारत, बङ्गाल, आसाम, उडीसा आदि सभी प्रदेश बहिरङ्ग प्रदेश है। यह तथ्य हमे ध्यान मे रखना चाहिए क्योकि तन्त्रो के विकास तथा व्रात्यो और बहिरङ्ग आर्यों, अनार्य अनुष्ठानो और अथर्ववेद का बडा निकट सम्पर्क है, जैसा हम आगे चल कर देखेंगे।

इन पीठो के बाद हम नालन्दा तथा विक्रमशिला पर भी थोडा विचार कर लें क्योकि ये दोनो विद्यापीठ बौद्ध शिक्षा और तन्त्रो के विकास से बहुत सम्बन्धित रहे है। सरहपा, नागार्जुन, मैत्रीगुप्त, विरूपा आदि कितने ही सिद्धाचार्य नालन्दा के आचार्य रहे है।[३२] नालन्दा के विषय मे बहुत खोज हो चुकी है और हमे उसके विस्तार मे जाने की आवश्यकता नही है। यह गौतम तथा महावीर के पहले से विद्या का प्रख्यात केन्द्र था। धर्मपाल, देवपाल आदि पालवशी राजाओ ने इसको सदैव सहायता दी थी। बख्तियार खिलजी ने इसका विनाश किया और बहुत से बौद्ध भिक्षु तिब्बत भाग गये। इसके खण्डहर बिहार प्रान्त मे बिहार शरीफ के निकट पाये गये है।[३३]

नालन्दा विश्वविद्यालय मे सभवत प्रारम्भिक काल मे रूढिवादी पारमितानय का विशेष प्रभाव था और तान्त्रिक पद्धतियो को स्वीकृति नही मिल पाई थी। सरहपा तथा विरूपा के नालन्दा छोडने का भी यही कारण बताया जाता है

किन्तु वाद मे नारोपा के समय में नालन्दा में न केवल गुह्य पद्धतियो और सहज पद्धति का प्रचार हो गया था, वरन् कालचक्र-पद्धति भी नालन्दा मे स्वीकृत हो गई थी ।[३४]

विक्रमशील या विक्रमशिला विहार पाल राजाओ ने ही स्थापित किया था और तन्त्रो की शिक्षा और प्रचार विक्रमशील मे अधिक हुआ है। विक्रमशील की स्थापना धर्मपाल ने की थी ।[३५] मगध मे पर्वत शिखर पर यह विहार था जिसमे एक केन्द्रीय तथा १०० मन्दिर चतुर्दिक् थे और उसमे ११४ आचार्य विभिन्न पद्धतियो की शिक्षा देते थे ।[३६] नेपाली दन्तकथाओ मे विक्रमशील को काशी के निकट वताया गया है ।[३७] किन्तु अनुमान यह किया गया है कि विक्रमशील भागलपुर के निकट पाथरघाटा नामक स्थान मे था किन्तु अभी इसका निर्णय नही हो पाया हैं ।[३८] कालान्तर मे विक्रमशील विहार नालन्दा से भी श्रेष्ठतर हो गया था । दीपङ्कर श्रीज्ञान विक्रमशील विहार के ही छात्र थे । वौद्ध तन्त्रो के तिव्वती अनुवाद का वहुत-सा कार्य यही सम्पन्न हुआ था ।[३६] विक्रमशील के अतिरिक्त सोमपुरी, उदन्तपुरी या ओडन्तपुरी के जीर्णोद्धार, जगद्दल आदि विहारो की स्थापना का भी उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट हैं कि वाद मे वौद्ध तन्त्रो का प्रमुख केन्द्र पूर्वी भारत हो गया था । किमूरा ने भी तन्त्रयान का उद्भव अयोध्या मे माना हैं क्योकि असङ्ग अयोध्या के थे । कुमारगुप्त की माता ने योगाचार को प्रश्रय दिया था और उधर से यह तान्त्रिक वौद्ध धर्म पूर्वी भारत की ओर फैलने लगा। गुप्त वश के शक्रादित्य तथा वुद्धगुप्त के समय ही नालन्दा वौद्ध धर्म का केन्द्र हो गया था और पालवशी राजा महीपाल के समय तक रहा । उसके वाद विक्रमशील की ख्याति वढी और १० वी से १२वी शती तक विक्रमशील वौद्ध तन्त्रो का केन्द्र रहा ।[४०] इस वीच मे राजाश्रय तथा राजधर्म ने सिद्धो की परम्परा तथा वौद्ध तन्त्रो के उद्भव प्रचार तथा ह्रास को विशेषतया प्रभावित किया है अतः पूर्वी भारत की राजनीतिक परिस्थिति पर दृष्टि डालते हुये वौद्ध धर्मावलम्वी पालवश का थोडा-सा परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक हैं जिसने सिद्धो को राजाश्रय प्रदान किया था ।

सिद्धो की समकालीन राजनीतिक परिस्थिति को भलीभाँति समझने के लिए हर्ष और शशाक की प्रतिद्वद्विता का थोडा-सा इतिहास जान लेना अत्यन्त आवश्यक है । इसलिए नही कि वह एक पूर्वीय तथा एक मध्यदेशीय सम्राट की प्रतिद्वद्विता थी, वरन् इसलिये कि उस प्रतिद्वद्विता के मूल मे शैव और वौद्ध

प्रतिद्वद्विता भी थी। महाराजा हर्ष के समकक्ष प्रतिद्वद्वियो मे गौड देश के राजा शशाक का नाम सर्वप्रथम आता है और लगभग सभी इतिहासकार इस विषय में सहमत है कि शशाक का व्यक्तित्व भारतीय इतिहास मे अद्भुत है।

शशाक के प्रारम्भिक जीवन के विषय मे अधिक नही ज्ञात होता। पहले वह सम्भवत. महासामन्त था किन्तु ६०६ ई० के कुछ पूर्व वह सम्राट पद पर आसीन हो चुका था और बगाल, उडीसा तथा मगध उसकी आधीनता मे थे।[४१] कुछ प्रमाण ऐसे भी मिले है कि उसका साम्राज्य पश्चिम में काशी तक फैला हुआ था।[४२] शशाक की मुख्य चिन्ता यह थी कि वह कन्नौज के मौखरी शासको से अपने राज्य की रक्षा करे। मौखरी शासक ग्रहवर्मन ने हर्ष की बहन राज्यश्री से विवाह कर थानेश्वर से भी निकट का सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। उस समय थानेश्वर मे हर्ष के पिता की मृत्यु के उपरान्त उनके बडे भाई राज्यवर्धन सिहासन पर बैठे थे।[४३]

शशाक ने मालवा के शासक देवगुप्त से सन्धि की और जब प्रभाकरवर्द्धन अस्वस्थ थे उसी समय देवगुप्त ने कन्नौज पर आक्रमण कर ग्रहवर्मन की हत्या कर डाली और राज्यश्री को कैद कर लिया। यह समाचार थानेश्वर तक पहुँचा जब प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु के उपरान्त राज्यवर्द्धन ने शासन-सूत्र ग्रहण किया था। राज्यवर्द्धन, हर्ष को शासन-प्रबन्ध सौंप कर स्वत देवगुप्त से प्रतिशोध लेने चला किन्तु शशाक ने उसे धोखा देकर मार डाला।[४४]

यही से शशांक और हर्ष की कटुतम शत्रुता का सूत्रपात होता है। हर्ष एक विशाल सेना लेकर शशाक को पराजित करने चला। राह मे उसे कामरूप के शैव राजा भास्करवर्मन का दूत मिला। भास्करवर्मन से हर्ष से सन्धि हुई और सम्भवत दोनो ने मिल कर शशाक को पराजित किया। किन्तु यह विजय चिर-स्थायी नही रही क्योकि स्वत ह्वेनसाग की साक्षी के अनुसार अपनी मृत्यु के समय शशाक मगध तथा गौड़ का शासक था। उसकी मृत्यु ६३७ या ६३८ ई० के लगभग हुई।[४५]

शशाक बौद्धो का कट्टर शत्रु था। उसने कुशीनगर मे बौद्धो का एक बिहार नष्ट कर दिया था। बुद्ध के पदचिह्नो वाला एक पत्थर गगा मे फिकवा दिया था, बोधिवृक्ष की शाखाएँ कटवा डाली थी और बुद्ध-प्रतिमा को नष्ट कर शिव-प्रतिमा की स्थापना करनी चाही थी।[४६] इस प्रकार शशाक ने बौद्धो पर बहुत अत्याचार किये थे।

शशाक की मृत्यु के उपरान्त कर्णसुवर्ण व गौड को महाराज हर्ष ने अपने साम्राज्य मे मिलाया किन्तु बाद मे उस पर कामरूप के राजा भास्करवर्मन का आधिपत्य हो गया। भास्करवर्मन शैव था। उसके दूत हंसवेग ने हर्ष को जो सन्देश दिया था उससे भी उसकी अटल शिवभक्ति झलकती है।[४७] किन्तु वह शशाक की भाँति अनुदार और सकीर्ण नही था और बौद्धो का आदर करता था।[४८] कहा जाता है भास्करवर्मन के वश का चीन से भी कुछ सम्बन्ध था और उसने एक चीनी यात्री से ताओमत सम्बन्धी कुछ साहित्य भी चीन से मँगवाया था।[४९] इस ताओमत से सहज साधना का भी कुछ सम्बन्ध बताया जाता है जिस पर हम आगे विचार करेंगे। भास्करवर्मन के बाद कामरूप मे सालस्तम्भी वश की स्थापना हुई किन्तु वह बहुत निर्बल वश था। अधिकाश पूर्वी भारत मे उसके बाद किसी भी सबल और सशक्त राजसत्ता का इतिहास नही मिलता। कभी-कभी पश्चिमी या पश्चिमोत्तर प्रदेश के राजा पूर्वी भारत पर आक्रमण करते थे किन्तु वे कुछ दिनो के बाद लौट जाते थे और पूर्ववत् अराजकता फैल जाती थी। ऐसे दिग्विजयी शासको मे कन्नौज के शासक यशोवर्मन तथा काश्मीर का राजा ललितादित्य था।[५०] तारानाथ का कहना है कि पालवश की स्थापना के पहले बगाल मे चन्द्र वश के राजाओ का आधिपत्य था और यशोवर्मन के आक्रमण के समय ललितचन्द्र गौड का राजा था। इस पर हम आगे विचार करेंगे।

किन्तु इस काल मे पूर्वी भारत की सबसे महत्वपूर्ण घटना पालवश की स्थापना है। इसलिये ही नही कि पालवशी राजाओ ने शशाक के भयानक अत्याचार के बाद खुले आम बौद्धो और सहजयानी सिद्धो को प्रश्रय दिया, वरन् इसलिये भी कि वे जनता द्वारा चुने गये थे, निम्न वर्ग से उठे थे और यह तथ्य उस समय की जनता की अतुल शक्ति और प्रभाव का परिचायक है।

उस समय अराजकता फैली हुई थी। गौड तथा वग मे कोई भी राजा नही था। प्रत्येक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने-अपने घर मे राजा थे।[५१] इसी को पालो के एक शिलालेख मे मत्स्य-न्याय की सज्ञा दी गई है जहाँ केवल बलवान को ही समाज मे अनुकूल परिस्थितियाँ मिल पाती थी। ऐसी अवस्था मे एक अद्भुत घटना हुई। जनता ने स्वत एक योद्धा को पूर्वी भारत का शासक चुन लिया ताकि वह इस समस्त अराजकता (मत्स्य-न्याय) को समाप्त कर सके।[५२] गोपाल के पुत्र धर्मपाल के शासन के ३२वें वर्ष में एक ताम्रलेख

पर यह घटना अंकित कराई गई। इसमे स्पष्ट कहा गया है कि मत्स्य-न्याय को समाप्त करने के लिये श्रीगोपाल 'प्रकृतियो' द्वारा शासक चुना गया। प्रकृतियो का अर्थ कुछ विद्वान राज्यकर्मचारी भी लेते हैं किन्तु अब यह सिद्ध किया जा चुका है कि इसका अर्थ यहाँ जनता ही है।[५३] गोपाल वप्पट नामक किसी शूरवीर योद्धा का पुत्र था।

गोपाल की जाति के विषय मे काफी मतभेद है। तारानाथ ने उसे क्षत्रिय बताया है। कुछ प्राचीन उल्लेख उसे सूर्यकुल अथवा समुद्र वश से उद्भूत बताते है, किन्तु यह बाद की कथाएँ जान पडती है।[५४] मंजुश्री-मूल-कल्प मे गोपाल की जाति का स्पष्ट उल्लेख है और उसे 'दास जीविन' बताया गया है।[५५] किन्तु यह पालवश का ही गोपाल है इसमे सन्देह है क्योकि उसी ग्रन्थ मे गोपाल के राज्य मे बौद्ध धर्म का विनाश बताया गया है। अबुल फज्ल ने गोपाल को कायस्थ बताया है।

इसमे चाहे गोपाल की वास्तविक जाति का पता न लगे किन्तु वे किसी उच्च कुल या जाति के भी नही थे इसका आभास अवश्य मिलता है। सम्भवत. इसीलिये उन्होने अपने शासन-काल मे लोकप्रचलित तन्त्रो को प्रश्रय दिया, बौद्ध धर्म को आश्रय दिया, नये लोकहित के नियम बनाए और लोककला को भी प्रश्रय दिया जिस पर हम सामाजिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत विचार करेंगे।

गोपाल के अभिषेक की तिथि लगभग ७५० ई० अनुमानित की गई है। ७७० ई० मे गोपाल का पुत्र धर्मपाल गद्दी पर बैठा।[५६] धर्मपाल का शासन-काल धार्मिक और राजनीतिक दोनो दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। तारानाथ का कहना है[५७] कि धर्मपाल ने अपनी तथा अपनी पत्नी के वजन के बराबर सोना बौद्धो को दान किया, उनके लिये एक नये बौद्ध विहार विक्रमशील की स्थापना की। पुराने विहार सोमपुरी का पुनरुद्धार किया। अन्य कितने ही बौद्ध हित के कार्यों का उल्लेख मिलता है।[५८]

धर्मपाल के समय मे भारत मे दो राज्यशक्तियाँ और बलवती हो उठी थी, एक तो दक्षिण के राष्ट्रकूट तथा उत्तर मे गुर्जर के प्रतिहार। राष्ट्रकूटो ने ७५३ ई० के लगभग चालुक्यो से शक्ति अपहृत कर ली थी और राष्ट्रकूट-वशी ध्रुव (६८०-७९४ ई०) ने कन्नौज पर आक्रमण कर दिया।[५९] गुर्जर के प्रतिहार और पूर्वी भारत के पाल भी आपस मे युद्ध कर रहे थे। प्रतिहार वत्स-राज (७८३-८४६) राजस्थान और मालवा जीत कर पूर्वी भारत की ओर बढा

आ रहा था और पाल राजा भी कन्नौज की ओर बढ रहा था। दोआब मे कहीं दोनो का युद्ध हुआ और धर्मपाल पराजित हुआ। किन्तु उसी के बाद राष्ट्रकूट-वंशी ध्रुव ने प्रतिहारो को हराया और कन्नौज मे एक दर्बार किया। किन्तु बाद मे वह दक्षिण लौट गया। वत्सराज उस समय मरुस्थल मे भटक रहा था, अत. ध्रुव के बाद धर्मपाल ने कन्नौज पर आक्रमण कर उसे जीता और चक्रायुध को वहाँ का सामन्त नियुक्त किया।[६०] खलीमपुर ताम्रलेख से ज्ञात होता है कि उस दर्बार मे भोज, मत्स्य, मद्र, कुरु, यदु, यवन, अवन्ति, गान्धार और कीर के भी सामन्त-प्रतिनिधि उपस्थित थे।[६१]

किन्तु प्रतिहारो ने हार नही मानी थी। वत्सराज के पुत्र नागभट्ट द्वितीय ने फिर कन्नौज पर आक्रमण किया[६२] और सभवत मुगेर के निकट धर्मपाल को बुरी तरह पराजित किया। किन्तु फिर इतिहास ने अपने को दोहराया और दक्षिण से राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय ने उत्तर भारत आकर नागभट्ट को पराजित किया।[६३] चक्रायुध तथा धर्मपाल दोनो ने उसको आत्मसमर्पण किया और उसके उपरान्त गोविन्द तृतीय लौट गया।[६४] किन्तु इससे धर्मपाल का पूर्व भारतीय साम्राज्य यथापूर्व समृद्ध रहा और उसने 'परमेश्वर-परमभट्टारक-महा-राजाधिराज' की उपाधि धारण की।[६५]

धर्मपाल के उपरान्त देवपाल ८१० ई० में गद्दी पर बैठा। उसने अपने समय में कामरूप तथा उत्कल के राजाओ को अपने अधीन कर लिया और कभी-कभी प्रतिहारो से भी मोर्चा लेता रहा। जावा-सुमात्रा के शासक ने उसके दरबार मे अपना दूत भेजा था। देवपाल का शासन-काल (८१०-८५० ई०) पाल-साम्राज्य का स्वर्ण-काल था।[६६]

इसके बाद पालो की प्रतिष्ठा का ह्रास प्रारम्भ हुआ।[६७] प्रतिहारो की शक्ति बढी और भोज ने मगध का पश्चिमी अश तक जीत लिया।[६८] इसमे भोज को गहलोत सामन्तो और कल्चुरि नरेश ने भी सहायता दी थी। भोज के उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल ने समस्त मगध को प्रतिहार साम्राज्य में मिला लिया। बाद मे राज्यपाल ने राष्ट्रकूट कन्या मान्यदेवी से विवाह कर अपनी स्थिति सुदृढ बनाने का प्रयास किया किन्तु उसी समय प्रतिहारो से भी अधिक प्रबल चन्देल वंश का उदय हुआ जिसके प्रख्यात शासक यशोवर्मन ने हिमालय मे मालवा और काश्मीर से बंगाल तक अपना राज्य स्थापित कर लिया। कालिंजर के किले को जीत कर उसने अपनी स्थिति दृढतम बना ली। उसके पुत्र धग

(९५४-१००० ई०) ने तो राढ तथा अग की रानियो को कैद कर लिया था, ऐसा उल्लेख भी मिलता है।[६९]

पाल वश के ह्रास-काल मे एक अन्य राजवश का उल्लेख मिलता है जिसके राजाओ के नाम के आगे चन्द्र जुडा रहता है। तारानाथ तो चन्द्र वशी राजाओ को पालो के पूर्व का बताते है किन्तु इसका कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलता।[७०] किन्तु बर्मा।अराकान प्रदेश मे ७वी शती के कुछ सिक्के मिले है जो किन्ही चन्द्र नाम वाले राजाओ के है। बगाल के चन्द्र राजाओ की वशानुक्रमणी इस प्रकार मिली है पूर्णचन्द्र, सुवर्णचन्द्र, त्रैलोक्यचन्द्र, श्रीचन्द्र।[७१] रामपाल के शिलालेख से ज्ञात होता है कि सुवर्णचन्द्र ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था और उसके बाद अपने को 'परम-सौगत' लिखने लगे थे।[७२] किन्तु ये शासक केवल स्थानीय शासक थे और तारानाथ के चन्द्र राजाओ से इनकी एकता नही सिद्ध की जा सकती। तारानाथ ने उन्हे पालो का पूर्वाधिकारो बताया है और तन्त्रग्रन्थो मे वे शम्भल के राजा कहे गये हैं।[७३]

पूर्वी बंगाल के चन्द्र वश का सम्बन्ध राजा गोपीचन्द्र और मयनामती की प्रख्यात कन्या से जोडा जाता है। राजा गोपीचन्द्र को तारानाथ ने चटगाँव का राजा बताया है।[७४] भर्तृहरि मालवा के राजा बताये गये है और कुछ विद्वान उन्हे यशोवर्मन का निकट सम्बन्धी मानते है।[७५] इनमे से गोपीचन्द्र काण्हपा के शिष्य थे और भर्तृहरि गोरख के। यद्यपि बौद्ध परम्परा तथा शैव परम्पराओं मे इस विषय मे तीव्र मतभेद है जिनके विस्तार में जाना हमें अभीष्ट नही। तारानाथ ने यह भी लिखा है कि भरथरी (भर्तृहरि) की बहन से विमलचन्द्र ने विवाह किया था और गोविन्दचन्द्र भरथरी का भान्जा था। गोविन्दचन्द्र तथा उसके पुत्र ललितचन्द्र ने सिद्धि प्राप्त की थी। ललितचन्द्र को तारानाथ ने चन्द्रवश का अन्तिम राजा बताया है और उसी के बाद बगाल मे अराजकता तथा गोपाल के चुनाव की ओर सकेत किया है।[७६] चन्द्रवशी राजाओ तथा मालवा से उनके सम्बन्धो को सिद्ध करने के लिए ऐतिहासिक सामग्री का सर्वथा अभाव है और तारानाथ पर बहुत विश्वास नही किया जा सकता। किन्तु पूर्वी बगाल मे गोविन्दचन्द्र नामक राजा के अस्तित्व के तो यथेष्ठ ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। जिस समय राजेन्द्र चोल ने पूर्वी भारत पर आक्रमण किया (१०२१ ई०) तब पूर्वी भारत मे महीपाल के अतिरिक्त गोविन्दचन्द्र भी राज्य करता था। तामिल कथाओ मे गोविन्दचन्द्र को घनघोर वर्षा वाले बगाल देश का नृपति

बताया गया है जिसने हाथी पर सवार होकर राजेन्द्र चोल से युद्ध किया और पराजित हुआ।[७७] कुछ शिलालेखो में ऐसा उल्लेख मिलता है कि कल्चुरि राजा कर्ण ने चन्द्र राजा को पराजित कर उनके स्थान पर वज्रवर्मन को प्रतिष्ठित किया और इस सन्धि को चिरस्थायी बनाने के लिये जातवर्मन से अपनी कन्या का विवाह कर दिया। उसके उपरान्त पूर्वी बगाल मे वर्मन वश ने राजसूत्र ग्रहण किया। वर्मन बौद्ध विरोधी थे। यह घटना १०४८ ई० के पहले ही हो चुकी होगी क्योकि उपर्युक्त शिलालेख की तिथि १०४८ ई० है।[७८] इस प्रकार तारानाथ द्वारा वर्णित चन्द्र राजाओ की परम्परा के ऐतिहासिक प्रमाण तो मिलते है किन्तु यह सदिग्ध है कि चन्द्र राजा पालवश के पूर्व हुए थे।

इन राजवशो मे पालवश ही सिद्धो का आश्रयदाता रहा है। धर्मपाल ने बौद्धो के लिये जो किया उसका उल्लेख हम कर चुके है। धर्मपाल का समय सिद्धो के लिये भी उत्कृष्ट रहा है। तारानाथ ने लिखा है कि 'भारत मे पहले सहस्रो ऐसे ग्रन्थ थे जिनमे गुह्य विद्याएँ और तन्त्र छिपे थे किन्तु जब श्री सरहपा आविर्भूत हुए तभी वे गुह्य विद्याएँ प्रकाश मे आई। धर्मपाल की मृत्यु तक कई सिद्ध आविर्भूत हुए अभयकर की मृत्यु तक यह परम्परा चलती रही।[७९] अभयकर को रामपाल का समकालीन माना गया (१०७७ ई०)।

महीपाल के बाद से नालन्दा और विक्रमशील के बौद्ध तन्त्राचार्यो का प्रभाव राजसत्ता पर बहुत बढ रहा था। जब दीपकर श्रीज्ञान स्वर्णदीप और ताम्रद्वीप जावा आदि घूम कर लौटे तो महीपाल ने उन्हें विक्रमशील का अध्यक्ष बनाया। अतिश दीपकर श्रीज्ञान तिब्बत गये और उनका इतना व्यापक प्रभाव उस समय पूर्वी एशिया मे था कि कोचीन, तिब्बत, नेपाल और पूर्वी भारत के राज्य अपने राजनीतिक विग्रहो में भी उनकी मध्यस्थता स्वीकार करते थे। दीपकर ने नयपाल और कर्ण के विग्रह में मध्यस्थता की थी।[८१] नयपाल भी विक्रमशील के अध्यक्ष स्थविर रत्नाकर की मत्रणा से ही सारे काम करता था। दीपंकर को तिब्बत के राजा ने इसीलिए बुला भेजा था कि गुह्य तंत्र विद्या के अनिचारों ने बुद्ध धर्म को विकृत कर डाला है और अतिश उसे आकर सुधारें। नेपाल का महाराजा भी उनका सम्मान करता था। जब तिब्बत का सम्राट् शत्रुओ द्वारा बन्दी बना लिया गया तो उसने दीपकर के पास सदेश भेजा था।[८२]

इस प्रकार हम देखते है कि पूर्वी भारत के दोनो प्रमुख राजवंश चन्द्र और पाल सिद्धो को प्रश्रय देते थे क्योकि दोनो राजवश बौद्ध थे, किन्तु कालान्तर

मे दोनो वशो के विस्थापन के उपरान्त जो नये राजवश स्थापित हुए वे अबौद्ध थे, इतना ही नही, वे दोनो बगाल से बाहर के थे और उन पर पाश्चात्य तथा दाक्षिणात्य प्रभाव होने के नाते हिन्दुत्व की भावना प्रबल थी। वर्मन वश परम वैष्णव था।[८३] पालवश का उत्तराधिकार सेन वश को मिला जो कि कर्णाटक से आये थे और ब्रह्म क्षत्री होने के नाते कट्टर हिन्दू थे। उनका प्रारभिक इतिहास अन्धकार में, है किन्तु अनुमान किया गया है कि वे लोग पाल राजाओ की सेना मे पदाधिकारी थे। पहला प्रख्यात सेन राजा विजयसेन हुआ (१०९५ अथवा ११२५ ई०)। सेन राजाओ की परम्परा १३ वी शती तक चलती रही किन्तु उसी बीच मे मुहम्मद बख्तियार खिलजी के आक्रमण ने पूर्वी भारत मे बौद्ध प्रभाव की रीढ तोड दी। तबकात-ए-नासिरी मे इस आक्रमण का बडा अतिरजित वर्णन मिलता है किन्तु उसका वह अश सर्वथा विश्वसनीय है जिसमे बख्तियार खिलजी ने मगध पर आक्रमण कर नालन्दा को धूल मे मिला दिया, उसके पुस्तकालयो को जला दिया गया और हजारो बौद्ध भिक्षु तिब्बत भाग गये। उसके बाद बख्तियार खिलजी झारखण्ड होते हुए लक्ष्मणसेन की राजधानी नदिया (नवद्वीप) की ओर चला गया।[८४] खिलजी द्वारा नालन्दा तथा अन्य बौद्ध विहारो के ध्वस का समय तिब्बती तथा भारतीय प्रमाणो से १२०२ ई० सिद्ध होता है।[८५]

इन नये तुर्क आक्रमणकारियो से बौद्धो और विशेषतया हमारे सिद्धो का बडा विरोध था इसके काफी प्रमाण मिलते हैं। यद्यपि यह बात बौद्ध परम्परा के थोडा विपरीत अवश्य है। पश्चिमी भारत मे कई बार ऐसी घटनाएँ हुई कि हिन्दू शासको के विरुद्ध बौद्ध प्रजा ने बाहरी तुर्क आक्रमणकारियो को आमत्रण भेज कर सम्प्रदाय के पीछे देश के प्रति विश्वासघात किया। सिन्ध के बौद्धो ने हिन्दू शासको के विरुद्ध विदेशी यवन आक्रमणकारियो की खुली सहायता की थी।[८६] किन्तु तारानाथ ने स्पष्ट लिखा है कि बाद के सिद्धो ने समय-समय पर तुर्कों का विरोध किया और उनकी पराजय मे सहायता पहुँचाई। विरूपा के चमत्कारो मे दो बार म्लेच्छो के विरोध का उल्लेख है। सम्राट रामपाल के समय मे विरूपा ने अपना चरणामृत उनके वन-बादल नामक हाथी को पिला दिया और उसी के कारण वे म्लेच्छो पर विजयी हुए। विरूपा ने एक ताजिक युवराज को स्वप्न में भी ताडना दी।[८७] इसी प्रकार शान्तिगुप्त ने पश्चिमी भारत मे जाकर तुरुष्क, मुहम्मदी और ताजिको को सिद्धियो द्वारा परास्त किया।

उसके उपरान्त वह और भी पश्चिम की ओर गये जहाँ एक पठान ने तमाम ब्राह्मण मन्दिरो और बौद्ध विहारो को जला दिया था। केवल एक खसर्पण लोकेश्वर का बौद्ध मन्दिर अपनी शक्ति के कारण बच गया। जब ये सिद्ध उस देश मे गये तो पठान राजा ने इन्हे कारागार मे डाल दिया। जब जल्लाद इन्हे सूली पर चढाने आया तो इन्होंने मत्रो से अभिषिक्त सरसो उन पर छोड दी जिससे वे पागल हो गये। फिर इन्होने यमान्तक चक्र प्रवर्तन किया जिसके ६ महीने के अन्दर पठान और गगोल पराभूत हो गये और बहुत से तुर्क युद्ध मे मारे गये।[८८]

तारानाथ की इन कथाओ के पीछे इतिहास कम है, लोकवार्ता अधिक, किन्तु इनमे इतना तो स्पष्ट ही है कि पूर्वी भारत के बौद्ध सिद्ध देशद्रोही नही थे। इसी का दड उन्हे बख्तियार खिलजी के हाथो भुगतना पडा। उनकी सिद्धियाँ और चमत्कार यवनो के विरुद्ध व्यर्थ सिद्ध हुए और अन्त मे बौद्ध धर्म और साहित्य को तिब्बत और नेपाल के मठो मे आश्रय लेना पडा।

इस प्रकार पूर्वी भारत की राजनीतिक परिस्थिति का सिद्धो की परम्परा और विकास-क्रम से बहुत निकट का सबध रहा है। सिद्धो का साहित्य चूँकि लौकिक न होकर धार्मिक था अत उसमे समकालीन इतिहास का उल्लेख बिल्कुल नही है किन्तु एक तान्त्रिक अनुष्ठान बडी ही रोचक शैली मे एक तत्कालीन ऐतिहासिक घटना को प्रतिबिम्बित करता है। हम पहले भी देख चुके हैं कि बाहरी स्थानो और नगरो की तान्त्रिक साधना मे देहस्थ मान लिया जाता था। ऐसे ही एक देहस्थ दुर्ग का नाम सिद्धो ने कालिजर बताया है।[८९] यद्यपि इस प्रसग मे सिद्धो के इस अनुष्ठान का अर्थ स्पष्ट नही हो पाता किंतु चौथे चर्यापद की टीका में कालिजर समय (समय के अर्थ यहाँ पद्धति है) को विरजानन्द से सबद्ध माना गया है।[९०]

कालिजर के विषय मे हम पहले उल्लेख कर चुके है कि जनश्रुतियो मे सैनिक दृष्टि से यह अभेद्य दुर्ग माना जाता था और उसी को जीतने के उपरान्त यशोवर्मन ने काश्मीर से बगाल तक अपनी प्रभुता स्थापित की थी और उसके पुत्र ... ने बगाल को उत्पीडित किया था। कालिजर की प्रसिद्धि कई शताब्दियो से फैली हुई थी। सिद्धो ने कालिजर-सबधी लोक-कल्पना का उपयोग अपनी तान्त्रिक साधना शैली मे किया होगा ऐसा अनुमान किया जा सकता है। किस प्रकार सिद्धो ने अपने प्रतीको को तत्कालीन जीवन से चुना था इस पर विस्तृत विचार उनके साहित्य के शैली पक्ष के अध्ययन के अतर्गत किया गया है।

घ
सामाजिक पृष्ठभूमि

इनकी समकालीन राजनीतिक परिस्थिति का विश्लेषण कर लेने के उपरान्त अब वज्रयानी बौद्ध साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण कर लेना अत्यन्त आवश्यक है।

अभी तक तान्त्रिक धर्म-साधनाओ और उससे सम्बद्ध साहित्य का विवेचन करने वाले विद्वानों ने समुचित सामाजिक पृष्ठभूमि मे उसका विवेचन करने का प्रयास नही किया है। या तो उनकी दृष्टि सर्वथा पुनरुत्थानवादी रही है और वे तन्त्रो के सारे वामाचारो को शुद्ध आध्यात्मिक व्याख्याएँ देते रहे है, या उनकी दृष्टि शुद्धतावादी रही है और वे इन गुह्याचारो को दबी हुई प्रवृत्तियो का उच्छृङ्खल और कुत्सित विद्रोह मात्र मानते रहे हैं और उनका विचार है कि वज्राचार्यों ने इन वामाचारो को केवल इसलिये अपनाया कि वे निम्नवर्ग की जनता को अपनी ओर आकर्पित करना चाहते थे। तन्त्र-साहित्य के अध्येताओ मे से अधिकाश का यही मत रहा है। प्रज्ञापारमिताओ के सम्पादक श्री राजेन्द्र लाल मित्र[1] तथा बौद्ध तन्त्रो पर सर्वप्रथम विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करने वाले डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य[2] दोनो ही इन बौद्ध तन्त्राचार्यो की साधनाओ को विकृत, रोगग्रस्त, अस्वस्थ और पतनोन्मुखी बताते है। अरविन्द आदि कुछ विद्वानो ने इन तन्त्रो मे निहित सिद्धान्तो की उदात्तता और गहन आध्यात्मिकता को स्वीकृत करते हुए भी यह कहा है कि "कालान्तर मे इनमे बहुत से ऐसे तत्व आकर जुड गये जिनके कारण अनियन्त्रित वामाचार, असयत सामाजिक व्यभिचार, दुराचार का मानो एक पन्थ चल गया।"[3]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपनी उग्र शुद्धतावादी (प्योरिटन) दृष्टि के लिये

प्रख्यात थे। उन्होंने इन्हीं आचार्यों, विशेषतया भट्टाचार्य महोदय के मत का आश्रय लेते हुए, अपने इतिहास में इन सिद्धों के साहित्य को बौद्ध धर्म की विकृत और अस्वस्थ अवस्था का साहित्य बताया[४] और इन सिद्धों पर यह दोषारोपण किया कि इन्होंने इस बौद्ध वामाचार को अपनी चरम सीमा पर पहुँचा दिया और न केवल स्वतः वे इस पाप-पंक में गिरे वरन् जनता को भी उसमें गिराना चाहा, अतः देशी भाषा में रचना की ताकि जनता पर भी उनका संस्कार पड़ सके।[५]

इस प्रकार के मत की तर्क-शृंखला इस प्रकार है कि ये धर्म-साधनाएँ तथा इनके आचार्य पहले ही विकृत हो जाते हैं और तब वे अपनी विकृतियों को जनसाधारण में फैलाने का प्रयास करते हैं या अपने को लोकप्रिय बनाने के लिये जनसाधारण की विकृत प्रवृत्तियों को उभार कर धर्म के नाम पर उन्हें स्वेच्छाचार की अनुमति दे देते हैं। इस तर्क-शृंखला को अपनाने वाले अधिकांश विद्वानों का यह मत है कि शंकर ने उच्च वर्ग और शिक्षित जनता में से बौद्ध धर्म का उच्छेद कर दिया और तब बौद्ध धर्म ने निम्न वर्ग का आश्रय लेकर जादू-टोने से उसे प्रभावित करना चाहा। किन्तु जैसा हम राजनीतिक परिस्थिति के अन्तर्गत विचार कर चुके हैं, पूर्वी भारत में ये सिद्ध राजदर्बारों में सम्मानित थे, राजाओं के आचार्य थे और राजनीति-निर्धारण में उनका विशेष योग भी रहा करता था। कामरूप, उड़ीसा, ओडियान, मालवा आदि के राजवंश सिद्ध साधना में प्रवृत्त हो चुके और इन्द्रभूति, लक्ष्मीशंकर, दारिकपा तथा अन्य कितने ही वज्रयानी सिद्ध स्वतः राजवंश में आये थे।

वास्तव में इनके सम्यक् निरूपण के लिये हमें यह मान कर चलना होगा कि धर्म-साधनाओं का विकास और उनका रूप-गठन तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था से बहुत अधिक प्रभावित होता है और धर्म-साधनाओं के परीक्षण और विश्लेषण के लिये तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण अनिवार्य है। १९वीं शती के जिन चिन्तकों ने इतिहास के सामाजिक मूल्यांकन की नई कसौटी प्रस्तुत की है उनमें से एंजेल्स का मत अधिक वैज्ञानिक है। उसका कथन है कि मध्ययुग में समाज शास्त्र, दर्शन, न्याय सभी कुछ धर्म-साधना के अंग बन गये थे। अतः प्रत्येक सामाजिक और राजनीतिक जन-आन्दोलन उस समय धर्म-साधना का रूप लेकर आता था और संसार के ऐसे धर्मों में, जो जन-

आन्दोलन की अभिव्यक्ति बन कर आये हैं[६] एंजेल्स ने सर्वाधिक प्रमुखता बौद्ध धर्म को दी है।[७]

इस प्रकार के प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय के विकास की प्रगति द्वन्द्वात्मक होती है। एक तो उसमे परम्परा का सूत्र होता है और उसके अनुसार वह चिन्ताधारा अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारो को ग्रहण करती है और अपने को उन्ही की रूपरेखाओ के अन्तर्गत रखती है। दूसरे वह अपने युग की आवश्यकताओ से प्रभावित होती है, लोकपक्ष के प्रभावो को आत्मसात् करती है। जो चिन्ताधारा जीवित और जागरूक होती है वह लोकपक्ष के प्रभावो को गहनता से आत्मसात् करती है और परम्परागत दर्शन को नयी कल्पनाओ, नयी तर्क-शृखलाओ से लोकमत के अनुरूप बनाने का प्रयास करती है।

लोकमत का प्रभाव

सिद्धो के साहित्य का अध्ययन करते हुये सबसे पहले आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सिद्ध-साहित्य के मूल्याकन मे लोकपक्ष के महत्व की ओर सकेत किया है। वे उन आचार्यों से अपना विरोध प्रकट करते है जो लोकचिन्ता को शास्त्रीय दृष्टिकोण से माप कर यह कहते है कि यदि अमुक सम्प्रदाय लोकप्रियता की ओर बढा तो उसका अध पतन हो गया। वे लोकचिन्ता को मापदड बनाकर उसी पर सम्प्रदायो के विकास और सस्कृति तथा साहित्य की प्रगति का मूल्याकन करना चाहते हैं—'इस प्रकार महायान सम्प्रदाय या यो कहिये कि भारतीय बौद्ध सप्रदाय सन् ईस्वी के आरम्भ से ही लोकमत की प्रधानता स्वीकार करता गया। यहाँ तक कि अन्त मे जाकर लोकमत मे घुलमिल कर लुप्त हो गया। सन् ईस्वी के हजार वर्ष बाद तक यह अवस्था सभी सप्रदायो, शास्त्रो और मतो की हुई। मुसलमानी ससर्ग से उसका कोई सपर्क नही है। हजार वर्ष पहले से वे ज्ञानियो और पडितो के ऊँचे आसन से उतर कर अपनी असली प्रतिष्ठा-भूमि लोकमत की ओर आने लगे थे। उसी की स्वाभाविक परिणति इस रूप मे हुई। उसी स्वाभाविक परिणति का मूर्त प्रतीक हिन्दी साहित्य है। मै इसी रास्ते सोचने का प्रस्ताव करता हूँ। मतो, आचार्यों, सप्रदायो और दार्शनिक चिताओ के मानदड से लोकचिन्ता को नही मापना चाहता बल्कि लोक-चिन्ता की अपेक्षा मे उन्हे देखने की सिफारिश कर रहा हूँ।[८]

वास्तव मे लोकमत की सापेक्षता मे सामान्यतया सम्पूर्ण बौद्धधर्म और

प्रख्यात थे। उन्होने इन्ही आचार्यों, विशेपतया भट्टाचार्य महोदय के मत का आश्रय लेते हुए, अपने इतिहास मे इन सिद्धो के साहित्य को बौद्ध धर्म की विकृत और अस्वस्थ अवस्था का साहित्य बताया[४] और इन सिद्धो पर यह दोपारोपण किया कि उन्होने इस बौद्ध वामाचार को अपनी चरम सीमा पर पहुँचा दिया और न केवल स्वत वे इस पाप-पक मे गिरे वरन जनता को भी उसमे गिराना चाहा, अत देशी भाषा मे रचना की ताकि जनता पर भी उनका सस्कार पड सके।[५]

इस प्रकार के मत की तर्क-शृखला इस प्रकार है कि ये धर्म-साधनाएँ तथा इनके आचार्य पहले ही विकृत हो जाते है और तब वे अपनी विकृतियो को जनसाधारण मे फैलाने का प्रयास करते है या अपने को लोकप्रिय बनाने के लिये जनसाधारण की विकृत प्रवृत्तियो को उभार कर धर्म के नाम पर उन्हे स्वेच्छाचार की अनुमति दे देते है। इस तर्क-शृखला को अपनाने वाले अधिकाश विद्वानो का यह मत है कि शकर ने उच्च वर्ग और शिक्षित जनता मे से बौद्ध धर्म का उच्छेद कर दिया और तव बौद्ध धर्म ने निम्न वर्ग का आश्रय लेकर जादू-टोने से उसे प्रभावित करना चाहा। किन्तु जैसा हम राजनीतिक परिस्थिति के अन्तर्गत विचार कर चुके हैं, पूर्वी भारत मे ये सिद्ध राजदर्बारो मे सम्मानित थे, राजाओ के आचार्य थे और राजनीति-निर्धारण मे उनका विशेष योग भी रहा करता था। कामरूप, उडीसा, ओडियान, मालवा आदि के राजवश सिद्ध साधना मे प्रवृत्त हो चुके और इन्द्रभूति, लक्ष्मीशकर, दारिकपा तथा अन्य कितने ही वज्रयानी सिद्ध स्वत राजवश से आये थे।

वास्तव मे इसके सम्यक् निरूपण के लिये हमे यह मान कर चलना होगा कि धर्म-साधनाओ का विकास और उनका रूप-गठन तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था से बहुत अधिक प्रभावित होता है और धर्म-साधनाओ के परीक्षण और विश्लेपण के लिये तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण अनिवार्य है। १९वी शती के जिन चिन्तको ने इतिहास के सामाजिक मूल्याकन की नई कसौटी प्रस्तुत की है उनमे से एजेल्स का मत अधिक वैज्ञानिक है। उसका कथन है कि मध्ययुग मे समाज-शास्त्र, दर्शन, न्याय सभी कुछ धर्म-साधना के अंग बन चुके थे। अत प्रत्येक सामाजिक और राजनीतिक जन-आन्दोलन उस समय धर्म-साधना का रूप लेकर आता था और ससार के ऐसे धर्मो मे, जो जन-

आन्दोलन की अभिव्यक्ति बन कर आये है[6] एजेल्स ने सर्वाधिक प्रमुखता बौद्ध धर्म को दी है।[7]

इस प्रकार के प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय के विकास की प्रगति द्वन्द्वात्मक होती है। एक तो उसमे परम्परा का सूत्र होता है और उसके अनुसार वह चिन्ताधारा अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के विचारो को ग्रहण करती है और अपने को उन्ही की रूपरेखाओ के अन्तर्गत रखती है। दूसरे वह अपने युग की आवश्यकताओ से प्रभावित होती है, लोकपक्ष के प्रभावो को आत्मसात् करती है। जो चिन्ताधारा जीवित और जागरूक होती है वह लोकपक्ष के प्रभावो को गहनता से आत्मसात् करती है और परम्परागत दर्शन को नयी कल्पनाओ, नयी तर्क-शृखलाओ से लोकमत के अनुरूप बनाने का प्रयास करती है।

लोकमत का प्रभाव

सिद्धो के साहित्य का अध्ययन करते हुये सबसे पहले आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सिद्ध-साहित्य के मूल्याकन मे लोकपक्ष के महत्व की ओर सकेत किया है। वे उन आचार्यो से अपना विरोध प्रकट करते है जो लोकचिन्ता को शास्त्रीय दृष्टिकोण से माप कर यह कहते है कि यदि अमुक सम्प्रदाय लोकप्रियता की ओर बढा तो उसका अध पतन हो गया। वे लोकचिन्ता को मापदड बनाकर उसी पर सम्प्रदायो के विकास और सस्कृति तथा साहित्य की प्रगति का मूल्याकन करना चाहते हैं—'इस प्रकार महायान सम्प्रदाय या यो कहिये कि भारतीय बौद्ध सप्रदाय सन् ईस्वी के आरम्भ से ही लोकमत की प्रधानता स्वीकार करता गया। यहाँ तक कि अन्त मे जाकर लोकमत मे घुलमिल कर लुप्त हो गया। सन् ईस्वी के हजार वर्ष बाद तक यह अवस्था सभी सप्रदायो, शास्त्रो और मतो की हुई। मुसलमानी ससर्ग से उसका कोई सपर्क नही है। हजार वर्ष पहले से वे ज्ञानियो और पडितो के ऊँचे आसन से उतर कर अपनी असली प्रतिष्ठा-भूमि लोकमत की ओर आने लगे थे। उसी की स्वाभाविक परिणति इस रूप मे हुई। उसी स्वाभाविक परिणति का मूर्त प्रतीक हिन्दी साहित्य है। मै इसी रास्ते सोचने का प्रस्ताव करता हूँ। मतो, आचार्यों, सप्रदायो और दार्शनिक चिंताओ के मानदड से लोकचिन्ता को नही मापना चाहता बल्कि लोक-चिन्ता की अपेक्षा मे उन्हे देखने की सिफारिश कर रहा हूँ।[8]

वास्तव मे लोकमत की सापेक्षता मे सामान्यतया सम्पूर्ण बौद्धधर्म और

विशेषतया सिद्धो की चिन्तना का विश्लेषण करने का डॉ० द्विवेदी का आग्रह सर्वथा वैज्ञानिक है लगभग सभी इतिहासकार इस बात को स्वीकार कर चुके है। भारतीय इतिहास की प्रगति में भी एक द्वन्द्वात्मकता रही है और उच्चवर्गीय पाडित्यपूर्ण विचार-परम्परा के विरुद्ध समय-समय पर व्यापक लोक-जीवन विद्रोह करता रहा है और नये धार्मिक विचारो के रूप मे अपने को प्रतिष्ठित करता रहा है। सम-कालीन अंग्रेज इतिहासकारो के इण्डालोजिस्ट ग्रुप के प्रमुख सदस्य जान इर्विन का मत है कि भारतीय इतिहास मे ऐसे समय आते रहे है जब आर्य लोग अपनी आत्मसात् कर लेने की प्रवृत्ति को खो देते रहे हैं और परिणाम यह होता था कि ब्राह्मणो की सत्ता निर्ममता से जन-साधारण पर लाद दी जाती थी। जनता पहिले से अधिक दमन की शिकार होती थी। ऐसी परिस्थितियो मे सङ्कट आना अनि-वार्य था। दलित जनशक्तियाँ परम्परागत रूढियो के स्तर के नीचे ही नीचे वेग से सङ्गठित होने लगती थी और एक खुले विद्रोह की भूमिका प्रस्तुत करने लगती थी। बौद्ध धर्म का भी प्रारम्भिक इतिहास यही था। ब्राह्मण कर्मकाड के विरुद्ध उसने जनव्यापी विद्रोह का रूप ग्रहण किया और विगत सामूहिक जीवन की प्रत्यागत स्मृति का आश्रय ग्रहण कर सारे भारत मे फैल गया।[६]

बौद्ध धर्म तथा लोकमत

इसी दृष्टि से सिद्धो के साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि का मूल्याकन आवश्यक है और यह देखना है कि उस समय लोकमत प्रबल था अथवा दुर्बल और उसने सिद्ध-साहित्य मे अपने को प्रगतियुक्त विद्रोह के रूप मे अभिव्यक्त किया है या दुर्बल ह्रासोन्मुखता के रूप मे। हिन्दी मे सिद्ध-साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि की ओर सर्वप्रथम ध्यान आकर्पित करने का श्रेय श्री राहुल साकृत्यायन को दिया जाना चाहिये। "हिन्दी काव्यधारा" की भूमिका (१९४५ ई०) में राहुल जी ने विस्तार के सिद्धो तथा उनके समसामयिक कवियो की रचनाओ पर सामाजिक पृष्ठभूमि के प्रभाव का विश्लेषण किया। उस समय तक श्री राहुल साकृत्यायन मार्क्सवादी विचार-पद्धति को पूर्णतया स्वीकार कर चुके थे अत: उनका विश्लेपण बहुत कुछ वर्ग-सङ्घर्ष के सिद्धान्तो पर आधारित था। ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रत्येक युग का समाज शोषक और शोपित वर्गो मे विभाजित रहता है[१०] और उस युग का प्रधान साहित्य और दर्शन, वर्गों की

राहुल जी का मत

सापेक्ष स्थिति का प्रतिफलन मात्र करता है।[११] अतः उसी सिद्धांत के अनुसार राहुलजी ने भारतीय इतिहास के उस काल (६०० से १२०० ई०) को सामतवादी युग स्वीकार किया और समाज को दो वर्गों मे विभाजित मान कर उन्ही वर्गों के पारस्परिक द्वद्व के आधार पर सिद्धो तथा अन्य समकालीन कवियो की चिंतन-धारा का विश्लेषण किया। चूँकि राहुल जी का यह प्रयास सिद्ध-साहित्य के अध्ययन की समाजशास्त्रीय दिशा मे प्रथम और महत्वपूर्ण प्रयास है अत राहुल जी के मत की विस्तृत रूपरेखा देते हुये फिर उनकी स्थापनाओ का ऐतिहासिक प्रमाणो की कसौटी पर विश्लेषण कर लेना अत्यन्त आवश्यक है।

राहुल जी ने इस युग के सामन्ती गठन को इतना महत्व दिया है कि उसका नामकरण ही उन्होने सिद्ध-सामन्त-समाज किया है। सिद्ध-सामन्त-काल की रचनाओ की सामाजिक पृष्ठिभूमि के महत्व की ओर सकेत करते हुए वे कहते है, 'सिद्ध-सामन्त-युग की कविताओ की सृष्टि आकाश मे नही हुई है। वे हमारे देश की ठोस धरती की उपज है। कवियो ने जो खास-खास शैली भाव को लेकर कविताएँ की, वह देश की तत्कालीन परिस्थितियो के कारण ही।'[१२] फिर वे देश की आर्थिक सम्पन्नता का विवरण देते है, 'उस समय भारत बहुत सम्पन्न था। अकेला रोम अपने यहाँ से हर साल ढाई लाख तोला सोना (साडे पॉच लाख सेस्तर्स, पौने दो करोड रुपये) कपडो और दूसरी चीजो को खरीदने के लिये भारत भेजा करता था. .... .भारत उन पाँच शताब्दियो मे शिल्प, व्यवसाय और वाणिज्य मे दुनिया का सबसे समृद्ध देश था।'[१३] भारत की इस समृद्धि का विवरण देते हुए फिर वे समाज के वर्ग-विभाजन की ओर सकेत करते है और शोषक वर्ग की तीन शाखाओ को इस अतुल सम्पत्ति के अपव्यय का उत्तरदायी ठहराते है। 'कौन भोगने वाला था आइये इसे देखें .इस सम्पत्ति के सबसे अधिक भाग को सामन्त राजा अपनी मौज और आराम के लिये कितना खर्च करते थे इसकी वहाँ कोई सीमा नही थी प्रजा की मेहनत की कमाई से उपार्जित ये महार्घ वस्तुएँ चार-पाँच दिन मे ही खतम हो जाने वाली थी। इनके अतिरिक्त भी सामन्तो के भारी खर्च थे। नये-नये महल, क्रीडा-उपवन, सिंहासन, राजपलँग, मोरछल, चमर और लाखो के हीरा मोती, महार्घ रत्नो के आभूषण, राजमहलो की सजावट, चित्रकला, क्रीडामृग, सोने के पीजडो मे बन्द शुक-सारिका, लोहे के पीजडो मे बन्द केसरी ..फिर सामन्त या राजा अकेले ही उस सम्पत्ति को स्वाहा नही करते थे। उस समय के राजाओ के आदर्श थे कृष्ण और दशरथ तथा

उनकी सोलह हजार रानियाँ। इन हजारों रानियो और उसी के अनुसार उनके पुत्रों, पुत्रियो, बहुओ, दामादो का खर्च भी देश की उसी सम्पत्ति के मत्थे था.. पुरोहित और महत लोगो का भी खर्च राजसी ठाठ के साथ होता था। उनके पास भी महल, दास और कमकर थे उसी के अनुकूल उसका भी खर्च था .. इसके बाद देश की सम्पत्ति के भारी हिस्से के मालिक थे। वह श्रेष्ठी, सार्थवाह, कारवो के अध्यक्ष जिनकी कोठियो के जाल देश के भीतर ही नही, विदेशो तक मे बिछे हुए थे और जिनके जहाज उस समय की सभ्य दुनिया मे सभी जगह पहुँचते थे. वस्तुत तत्कालीन भारत की अपार सम्पत्ति के मुख्य भोगने वाले थे यही सामन्त, पुरोहित और सेठ तथा उनके दरबारी खुशामदी।'[१४] इस प्रकार राहुल जी के मतानुसार देश में आने वाली अतुल सम्पत्ति का अधिकाश भाग इन्ही दस प्रतिशत सामन्तो, सेठो, पुरोहितो तथा दरबारियो के अधिकार मे रहता था और शेष नब्बे प्रतिशत जनता निर्धन और शोषित थी।[१५] वैसे राहुल जी यह स्वीकार करते है कि कृषि उस समय उन्नतावस्था मे थी, आर्थिक हीनता के साथ कुछ सुभीते जरूर थे, लोगो के पास अधिक खेत, खेत बनाने के लिये अधिक जगल, जगलो की जरूरत के लिये अधिक शिकार थे। साथ ही यह भी अच्छा था कि अमीरो की शौकीनी की प्राय सभी चीजें देश के भीतर तैयार होती थी। लेकिन फिर भी 'इतना होने पर भी अकाल, बाढ, युद्ध और महामारी मे जनता को साधारण कीडे-मकोडो की तरह मरने से बचाया नही जा सकता था।' इन सत्तर प्रतिशत किसानो और कारीगरो को सिर्फ 'जीने और ब्याने भर का अधिकार था।' इतना ही नही उस समय भारत में दास-प्रथा वर्तमान थी और यदि 'दस प्रतिशत मौज वाले लोगो के लिये व्यक्ति के पीछे दो-दो दास-दासी रखे जाते थे तो भारत की जनसख्या का बीस प्रतिशत या हर पाँच आदमी मे एक आदमी दास था। दास आदमी नही थे यद्यपि उनकी शकल-सूरत आदमी की तरह होती थी। वह ढोरो की तरह अपने मालिक की जगम सम्पत्ति थे जिन्हें मालिक जब चाहे बेंच और खरीद सकते थे।' इन परिस्थितियो के कारण जनता में आत्मसम्मान की भावना बिल्कुल नही रह गई थी। 'ऊपरी वर्ग के सामने बिलकुल शून्य' परम भट्टारक परमेश्वर महाराजाधिराज के सामने सम्मान-प्रदर्शन करने के लिये जब दूसरे राजाओ और सामन्तो को अपने मुकुट उनके चरणो पर रखने पडते थे तो साधारण जनता को किस प्रकार जुहार करनी पड़ती होगी इसे आप खुद समझ सकते है। और दूसरी बेबसियाँ ? सत्तर प्रतिशत

जनता को शरीर से मजबूत अपने तरुण पुत्रो को सामन्तो के युद्ध के लिये भेंट करना पडता था सत्तर प्रतिशत जनता को अपनी सुन्दर लडकियो को वैध या अवैध रूप से रनिवास मे भेजने के लिए भी तैयार रहना पडता था। कितनी ही जगह तो नवविवाहिता की प्रथम रात भी सामन्त के लिये रिजर्व थी उस वक्त साधारण जनता के आत्मसम्मान की बात करना ही फिजूल है।'[१६]

इस प्रकार आर्थिक अवस्था का विश्लेषण करने के उपरान्त राहुल जी तत्कालीन राजनीतिक अवस्था पर दृष्टिपात करते है। उनकी मार्क्सवादी धारणा राज्यसत्ता के विषय मे इस प्रकार है कि 'राजनीति कहते ही है आर्थिक ढाँचे, आर्थिक स्वार्थो की रक्षा के लिये तैयार किये गये फौलादी शिकजे को।' उनकी दृष्टि मे राजा 'सर्वशक्तिमान् परमेश्वर बन गया। उसकी निरकुशता को रोकने का कोई उपाय बहुसख्यक जनता के पास नही था।' ग्रामो मे स्थानीय जनतन्त्र अवश्य थे पर वे एक दूसरे से 'सर्वथा असम्बद्ध' शक्ति का मुकाबला नही कर सकते थे। साथ ही पुरोहितो ने राजा को पृथ्वी पर विष्णु का अशावतार घोपित कर दिया था और भोग-विलास तथा दरिद्रता को पिछले कर्मों का फलाफल बता दिया था।[१७]

सिद्ध-साहित्य का प्रभाव

इसका तत्कालीन धार्मिक चिन्तन और साहित्य पर भी प्रभाव पडा। विशेषतया बौद्ध चिन्तन और सिद्ध साहित्य पर इन परिस्थितियो का प्रभाव दिखाते हुए राहुल जी कहते है, 'बौद्ध अब भारत को किसी सामाजिक समस्या का कोई हल अपने पास नही रखते थे। अब उन्हे अपनी पुरानी कमाई को बैठ कर खाना था. बौद्ध कभी-कभी दिङनाग तथा धर्मकीर्ति के प्रौढ दर्शन को सामने रखकर लोगो की आँखो मे चकाचौध पैदा करना चाहते थे, कभी योग, समाधि, तन्तर-मन्तर, डाकिनी-साकिनी के चमत्कार से लोगो को अपनी ओर खीचना चाहते थे और कभी सिद्धो के विचित्र जीवन और लोकभापा की कविताओ को भी इस काम के लिये इस्तेमाल करते, मगर यह सब हवा मे तीर चलाना था बौद्धो के मस्तिष्क और हथियार कुठित हो चुके थे।'[१८]

इन समस्त परिस्थितियो के बीच भी सिद्धो ने पहले अपनी कविताओ मे विद्रोह का स्वर गुजित किया। यह राहुल जी भी स्वीकार करते है। पर उनके मतानुसार सिद्धो की चिन्तना को भी सामन्तवादी प्रभाव स्वीकार करना पडा और

उनके नाम पर 'मन्त्र-तन्त्र और पाखण्ड चल पडे।' गुरु की महिमा को भी इतना अनावश्यक महत्व दिया कि पीछे वही 'अन्धेर गरदी' का एक भारी साधन बन गया। उनकी सीधी-सादी भाषा को लोगो ने खीच-खाँच कर 'सन्ध्या-भाषा बना डाला।'[१६]

यदि राहुल जी की इस तर्कशृंखला को हम बहुत सूक्ष्म रूप में रक्खें तो वह इस प्रकार होगी।

१. देश की जनता दो वर्गों मे विभाजित थी, १० प्रतिशत सामन्त, सेठ और पुरोहित आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न थे, ७० प्रतिशत किसान और कारीगर तथा २० प्रतिशत दासो का जीवन पशुओ से भी गया-बीता था।

२ राजनीतिक सत्ता निरकुश थी और ग्रामो की जनता का उस पर कोई नियन्त्रण नही था।

३ सभी धार्मिक आचार्य राज्य-सत्ता के समर्थक थे और जन-जीवन से उनकी कोई सहानुभूति नही थी।

४ जनता इतनी पददलित थी कि उसमें आत्मसम्मान और विद्रोह की सभी भावनाएँ मर चुकी थी।

५ इन परिस्थितियो मे केवल सरहपा तथा अन्य कुछ सिद्धो ने रूढियो तथा परम्पराओ के विरुद्ध विद्रोह किया किन्तु बाद मे सामन्तवाद के आगे वे लोग भी पराजित हो गये।

किन्तु वैज्ञानिक रीति से इस मत का परीक्षण करने पर हम राहुल जी के कथन मे सबसे बडा अभाव ऐतिहासिक प्रमाणो को पाते है। उन्होने अपने मत की पुष्टि के लिये बहुत कम ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किये है और यदि किये भी है तो वे केवल एकागी है। दूसरी कठिनाई यह है कि स्वत उनकी भूमिका मे बहुत-सी पारस्परिक विरोधी बातें पाई जाती है। वे स्वीकार करते है कि दशा बहुत उन्नत थी, फिर भी वे किसानो को निर्धन बताते है। वे स्वीकार करते है कि अमीरो के भोगविलास की अधिकाश सामग्री देश के कारीगर बनाते थे फिर भी वे कहते है कि कारीगरो की दशा पशुवत् थी। एक स्थान पर वे ग्राम-प्रजातन्त्रो का जिक्र करते है और स्पष्ट बताते है कि उनमे 'कोउ नृप होय हमें का हानी' की मनोवृत्ति विकसित कर गई थी और दूसरी ओर वे बताते है

राहुल जी के मत का विवेचन

कि उनमे से प्रत्येक को अपना तरुण पुत्र सेना मे भर्ती करना पडता था। जहाँ तक सिद्धो का सम्बन्ध है, वे एक ओर तो यह कहते है कि सिद्धो की कविता मे अधिकतर रहस्यवाद ही मिलता है जिसकी आवश्यकता सामन्त समाज को शृगार और वीर रस की अपेक्षा कम पडती और लगभग सभी कवि जनता की यातना पर इसलिये चुप रहते थे क्योकि उन्हे सदा क्रूर राजदण्ड, छिपकर हत्या, भयानक यातना, सीधे शूली, देश और समाज से निष्कासन और अपमान का भय[20] लगा रहता था। दूसरी ओर वे यह कहते है कि राजा सिद्धो की पूजा-अर्चा मे सबसे आगे रहना चाहते थे। शान्तिपा या रत्नाकर शान्ति को गौड़ नरेश उसी तरह आँखो पर रखने के लिये तैयार थे जैसे मालव दरबार या सिंहलेश्वर।[21] इसी तरह उन्होने यह भी नही स्पष्ट किया कि सरहपा तथा अन्य सिद्धो का यह विद्रोह केवल उनका वैयक्तिक विद्रोह था या वे किसी ऐसे लोक-मत का प्रतिनिधित्व कर रहे थे जो इर्विन के पूर्व कथनानुसार परम्परागत रूढियो के स्तर के नीचे ही नीचे ऐसे सकट-काल में वेग से सगठित होने लगता है। स्वत मार्क्सवादी दृष्टिकोण इस बात पर स्पष्ट जोर देता है कि प्रत्येक चिन्तन-धारा सामाजिक शक्तियो का प्रतिफलन होती है, अत सरहपा का सहजयान सरहपा की मौलिक उपज नही हो सकती, वह किसी न किसी रूप मे सरहपा के युग के लोकमत की अभिव्यक्ति होनी चाहिये। इस विषय मे प्रख्याता मार्क्सीय इतिहास-शास्त्री प्लेखनाव स्पष्ट कहता है, 'यह देखा गया है कि महान् प्रतिभाएँ वही प्रगट होती है जहाँ उनके विकास की अनुकूल सामाजिक परिस्थितियाँ होती है प्रत्येक महान् प्रतिभा जो वास्तव मे समाज मे एक प्रभावशाली शक्ति बन जाती है तत्कालीन सामाजिक सम्बन्धो की उपज होती है . वे स्वत उन प्रवृत्तियो की निर्माण होती है।'[22] यदि ऐसा कोई लोकमत था तो उसका राहुल जी कोई उल्लेख नही करते हैं। इसका शायद प्रमुख कारण यह है कि जनता की जैसी दलित अवस्था का अतिरजित चित्रण उन्होने किया है, जिसमे जनता को केवल जीने और ब्याने का अधिकार था और जिसमें सामन्तो का विरोध करने वालो को 'राजदण्ड, सूली और भयंकर शारीरिक यातना' देने का विधान था, जिसमे जनता के आत्म-सम्मान की बात करना ही फिजूल था, ऐसी व्यवस्था मे लोकमत का क्या प्रभाव हो सकता था? किन्तु फिर ये सिद्ध इतने निर्भीक क्यो थे, क्यो गौड नरेश, सिंह सम्राट् या मालव नरेश सभी इनमे डरते थे, क्यो इन्होने परम्परागत धर्म के विरुद्ध आवाज बुलन्द

की, इन्हे किसका बल प्राप्त था, और क्यो इनकी वाणी मे निराशावाद नहीं था इसका कोई भी समाधान श्री राहुल साकृत्यायन नही दे पाये है और न वे अपने मत मे मार्क्सवादी तर्क-शृखला का ही उचित निर्वाह कर पाये है।

भारतीय समाज गठन की निजी विशेषता

ध्यान से निरीक्षण करने पर इस उलझन का मुख्य कारण यह जान पडता है कि श्री राहुल साकृत्यायन ने तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थिति का सम्यक् विवेचन किये बिना ही मध्यकालीन यूरोपीय सामन्ती समाज के वर्ग-सघर्ष और उसकी धार्मिक और सामाजिक प्रतिक्रिया को ज्यो का त्यो तान्त्रिक काल के भारतीय समाज और उसके अन्तर्गत रचित सिद्ध-साहित्य पर घटाने का प्रयास किया है। इस यात्रिक, अवैज्ञानिक और सकीर्ण चिन्तन-प्रणाली के कारण वे न तो मार्क्सवादी विचार-पद्धति के साथ ही न्याय कर पाये है और न सिद्ध-साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि के ही साथ। जिस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था और सामन्ती शोषण उन्होंने मध्यकालीन भारत मे परिकल्पित किया है वह वास्तव मे इस रूप मे भारत मे कभी था ही नही। इसे न केवल भारतीय इतिहासज्ञो और विशिष्ट विदेशी विद्वानो ने ही स्वीकार किया है, वरन् गम्भीर मार्क्सवादी चिन्तको ने भी स्थान-स्थान पर इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है कि भारत के इतिहास मे वर्ग-सघर्ष का रूप बहुत कुछ भारतीय समाज की कृषि-प्रधान आर्थिक व्यवस्था, ग्राम-जनतन्त्र और भूमि पर जनता के अधिकार के कारण सशोधित रहा है। अत मार्क्स ने न केवल भारत वरन् अधिकाश एशिया मे ग्रामो की आर्थिक स्वाधीनता और भूमि पर जनता के अधिकार की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए लिखा था—

'वास्तव मे समस्त पूर्वी देशो को समझने की कुञ्जी है भूमि पर स्वत्वाधिकार का अभाव। इसी मे उसका राजनीतिक और धार्मिक इतिहास निहित है। लेकिन यह हुआ कैसे कि एशियायी लोग सामन्त-काल मे भी भूमि को राजसत्ता के अधिकार मे जाने से बचा ले गये ?' उसी पत्र मे वह आगे पूर्वीय समाज-व्यवस्था की इस विशिष्टता के दो कारण बताता है। पहला तो यह कि भारत मे जनहित के समस्त कार्यों का उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार के हाथ मे रहता था और दूसरे ग्राम जनतन्त्र अपने मे सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता होते थे जिन पर राज-शक्ति का कुछ वश नही चल पाता था। इसी मत का समर्थन प्रख्यात

सोवियत भारतवेत्ता डी० ए० सुलेकिन करता है और वह भी इस बात को स्वीकार करता है[२८] कि भारत मे दास-प्रथा का विकास और सामन्ती शोषण इस कारण आगे नही बढा कि ग्राम पचायतो के अन्दर दास और दासो पर अधिकार रखने वाले सामन्तो को पारस्परिक सहयोग और नियन्त्रण मे रहना पडता था। इसी कारण यहाँ कभी सामन्ती सत्ता उतनी निरकुश नही हो पाई।

भारतीय आर्थिक व्यवस्था की इसी विशेषता की उपेक्षा कर जाने के कारण यूरोपीय सामन्ती व्यवस्था को ही भारतीय परिभाषाओ मे अनुवादित कर देने की शीघ्रता के कारण राहुल जी उस लोकमत और उसकी शक्ति की ओर समुचित सकेत नही कर पाये जिसकी ओर आचार्य द्विवेदी ने सकेत किया है। उनके तर्को के अन्तर्विरोध का भी मूल कारण यही है।[२५] वास्तविकता यह है कि भारतीय आर्थिक व्यवस्था के कारण यहाँ की जनशक्ति कभी भी उतनी पद्-दलित नही रही जितना राहुल जी ने चित्रित किया है, चिन्ता-स्वातन्त्र्य उतना दण्डनीय नही था जितना उन्होने बताया है और विशेषतया पूर्वी भारत में उस काल मे लोकमत अपने प्रभाव को क्रियात्मक रूप से प्रत्येक सास्कृतिक दिशा में प्रतिष्ठित कर रहा था। इसके बारे मे जान इर्विन स्पष्ट रूप मे लिखता है—

"भारतीय लोकपरम्परा का ऐतिहासिक महत्व अत्यन्त स्पष्ट रूप से बगाल मे परिलक्षित होता है जहाँ उसकी जडे अब भी मजबूती से लोक-जीवन मे है। यहाँ यह परम्परा ८वी से १०वी शताब्दी के काल से प्रारम्भ होती है जब पाल वंश के अन्तर्गत पहली बार समस्त प्रान्त का एकीकरण हुआ था और इस परम्परा का पूर्ण विकास १४वी और १८वी शती के मध्य मे हुआ। यह विकास वैष्णव और शाक्त जैसे लोकप्रिय सम्प्रदायो के विकास का समकालीन था। ये सम्प्रदाय ब्राह्मण धर्म की अनुदारता के विरुद्ध व्यापक जन-विद्रोह के रूप में जनता द्वारा उत्साह से अपनाये गये। ये साम्प्रदायिक आन्दोलन रहस्यवादी प्रकृति के थे और जाति तथा अन्य सकीर्ण परम्पराओ के विरुद्ध व्यक्ति को पूर्णता-प्राप्ति की वैयक्तिक निजी स्वतन्त्रता देकर ब्राह्मण कर्मकाडियो को खुली चुनौती दे रहे थे। इस प्रकार जन-सस्कृति मुख्य वाहन बन गई जिसके द्वारा ये धार्मिक विद्रोह जनता मे फैल गये और कुछ दिनो मे इन्ही साम्प्रदायिक आन्दोलनो की भाँति जन-जीवन भी उच्चवर्गीय जीवन-पद्धति के विरोध का माध्यम वन गया। उसका परिधान सदैव सशक्त मानवतावाद रहा जिसमें जीवन को यथावत्

स्वीकार करना और उसका उपभोग करना उचित माना गया। यह धारणा पुराने कट्टरपन्थी तप और वैराग्य की सर्वथा विरोधिनी थी।" [२६]

जान इर्विन बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदायो और सिद्ध-सम्प्रदाय का उल्लेख नही करता है किन्तु वह इस लोकमत के उद्भव और शक्तिशाली होने का उद्गम-काल वही निर्णीत करता है जो सिद्ध साहित्य का प्रारम्भिक काल है अर्थात् पाल-वश। हम पहले ही देख चुके हैं कि सिद्ध-साहित्य का सृजन प्रमुखत पाल-वश के सरक्षण मे हुआ है और उसका विकास भी मगध, बगाल, कामरूप तथा उडीसा मे हुआ है और इन्ही क्षेत्रो मे लोकमत की प्रबलता बताई गई है। इस प्रकार सिद्ध-साहित्य बहुत अशो तक लोकमत का वाहक रहा हो इसकी सम्भावना बढ जाती है।

हमें यह देखना चाहिये कि मध्यकालीन आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति मे वे कौन से तत्व थे जिनके कारण उस समय लोकशक्ति इतनी प्रबल हो गई थी।

मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था का विश्लेषण करने मे एक विशेष कठिनाई इसलिये उपस्थित होती है कि मध्यकाल मे और विशेषतया हर्ष के बाद आने वाले, प्रस्तुत प्रबन्ध के विवेचन-काल मे किसी एक केन्द्रीय सत्ता के न होने के कारण सभी प्रान्तो और प्रदेशो मे विभिन्न रूप मे सामाजिक तथा आर्थिक विकास हो रहा था। इसीलिये इस निरूपण मे यह अधिक वैज्ञानिक होगा कि मध्यकालीन भारतीय समाज की सामान्य अवस्था का चित्रण करते हुए हम विशेष ध्यान पूर्वी भारत की तत्कालीन अवस्था पर दें क्योंकि वही सिद्ध-साहित्य का विकास हुआ था।

तत्कालीन सामाजिक अवस्था

जहाँ तक आर्थिक व्यवस्था का प्रश्न था लगभग समस्त भारत की आर्थिक व्यवस्था में ग्रामो का ही प्रमुखतम महत्व था। पूर्वी भारत मे भी दूर-दूर तक फैली हुई शस्य-श्यामला भूमि मे ग्राम बसे हुए थे। ये ग्राम देश के सारे प्रबन्ध, राजनीति, व्यवसाय और सस्कृति की इकाइयाँ थे। जहाँ तक इन ग्रामो के भौगोलिक गठन का प्रश्न है, भारतीय ग्राम कुछ पाश्चात्य देशो की भाँति खलिहानो मे अलग-अलग नही बसे होते थे। कुछ पाश्चात्य देशो मे कृषि की अपेक्षा

चरागाहो पर पशु तथा कृषक दोनो ही अधिक निर्भर होते है। अत वे सब अपने-अपने खलिहानो और चरागाहो मे अलग-अलग घर बना कर रहते है। पूर्वी भारत और लगभग समस्त भारत मे ग्राम-भूमि ३ भागो मे बँटी रहती थी गोचर भूमि, क्षेत्र भूमि तथा वस्तु। गोचर भूमि चरागाहो को कहते थे, क्षेत्र भूमि मे खेत रहते थे और वस्तु ग्राम का वह भूमिभाग होता था जिसमे सभी रहा करते थे। इनके बीच-बीच गर्त, पोखर और सूखे गड्ढे वाले प्राकृतिक नाले और कृत्रिम नहरें तथा गोपथ हुआ करते थे।[२७] ग्रामो के इस गठन का सद्य प्रभाव यह हुआ था कि लोग एक साथ रहते थे अत उनकी सामाजिक सवेदना अधिक विकसित थी, एक दूसरे के सुख-दुख मे सहभागी हुआ करते थे, उनके उत्सव, पर्व, सस्कार और धार्मिक अनुष्ठान भी केवल वैयक्तिक या कौटुम्बिक मात्र न होकर समस्त ग्राम की जनता से सम्बद्ध होते थे। इसी कारण जनशक्ति कभी भी बिखर नही पाई थी।

जनता के जीविकोपार्जन का मुख्य आधार कृषि थी। कृषि का महत्व कितना अधिक था यह इससे भी प्रतीत होता है कि उस समय की राजसत्ता कृषि के विकास मे सदैव तत्पर रहती थी। नहरो, तालाबो और कुओ द्वारा सिंचाई कराने का प्रबन्ध सरकार द्वारा होता था। बहुत से तालाब और बाँध मौर्यकाल मे ही बनवाये गये थे और तत्कालीन सरकारें उनकी मरम्मत करवाया करती थी।[२८] नहरें आदि निकालने का शिल्प हमारे यहाँ पहले ही बहुत उन्नत हो चुका था। कल्हण की 'राजतरगिणी' मे इस प्रकार के एक कुशल शिल्पी सूर्य का उल्लेख मिलता है। काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मन ने सकट-काल मे सूर्य को बुलवा भेजा। सूर्य ने वितस्ता के पानी को नहरो मे काट कर बाढ द्वारा आये हुए सकट का निराकरण कर दिया। यही नही उसने प्रत्येक ग्राम की भूमि का परीक्षण कर उसकी आवश्यकता के अनुमान से जल वहाँ पहुँचाया। कल्हण के शब्दो में नदियो को इस तरह नचाया जैसे 'सपेरा साँपो को नचाता है।'[२९]

इस प्रकार हम देखते है कि कृषि को सदैव राजकीय सरक्षण प्राप्त रहता था। केन्द्रीय सरकार का यह प्रमुख कर्त्तव्य होता था कि वह कृषि की उन्नति करती चले। इसके अतिरिक्त तत्कालीन वाङ्मय मे भी हमे कृषि-कला तथा उससे सम्बद्ध प्रसगो पर इतनी कृतियाँ मिलती है कि उनसे ज्ञात होता है कि कृषि मे कृषक रुचि लेते थे, वे केवल दास नही थे और उसे कला मानते थे। 'पादप विवक्ष', 'वृक्ष दोहद', 'वृक्षायुर्वेद', 'शस्यानन्द', 'कृषि-पद्धति' और 'कृषि-सग्रह'

आदि ग्रन्थो के अतिरिक्त पशुपालन तथा पशुओं की नस्ल और जाति के सबध में भी काफी साहित्य मिलता है।[30] यहाँ तक कि लोक-जीवन के पर्व और विशेष समारोह भी कृषि से ही सम्बद्ध थे और अधिकाश देवता जो उन पर्वो के अधिष्ठाता थे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कृषि से ही सम्बद्ध थे। ये पर्व ऐसे थे जो हिन्दू, बौद्ध तथा सभी धर्मावलम्बियो द्वारा सामान रूप से मनाये जाते थे। इस प्रकार के पर्वो मे शक्रोत्थान का विशेष महत्व है जिसमें इन्द्र की पूजा होती थी। इसी प्रकार का उत्सव शबरोत्सव था जो निस्सन्देह आदिवासी शबरो का उत्सव रहा होगा। उसमे जनसाधारण पत्तो के वेश-परिधान ग्रहण कर उन्मत्त होकर आनन्द मनाते थे। कुछ उत्सव फसलो और ऋतुओ से भी सम्बद्ध होते थे जैसे चैत्र का काम-महोत्सव या होली और कुछ उत्सव फसल के बाद बिक्री से आने वाली वार्षिक आय के स्वागत मे होते थे, जैसे कार्तिक की द्यूत प्रतिपदा जिसमे आने वाली लक्ष्मी का उपयोग द्यूत-क्रीडा मे होता था।[30]

जनता को भूमि पर जैसे अधिकार यहाँ प्राप्त थे वैसे सामती युग मे यूरोपीय देशो मे नही थे। अन्ततोगत्वा राजसत्ता ही भूमि की स्वामिनी मानी जाती थी किन्तु भूमि के विषय मे जो परम्पराएँ प्रचलित थी उनसे राजसत्ता कभी भी निरकुश नही हो सकती थी। ताम्रलेखो से यह भी ज्ञात होता है कि कुछ केवल बेदखल और कुछ केवल कर्मी कृषक भी होते थे। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि अक्सर कुछ वर्ष तक कर न देने पर भूमि किसान से छीन ली जाती थी और फिर नीलाम कर दी जाती थी। किन्तु ऐसे अवसरो पर भूमि का हस्तान्तरण, बेदखली, पुनर्विक्रय आदि राज्य के अधिकारी नही वरन् स्थानीय ग्राम-सभाएँ करती थी जो स्वत प्रजातान्त्रिक सभाएँ होती थी।[32] वैसे राज्य भूमि आदि दान कर सकता था किन्तु वह कभी भी कृषको से छीन कर भूमि दान नही करता था। एक ताम्रपत्र जो लगभग ७वी शती का है ऐसी दानभूमि का मनोरजक उल्लेख करते हुए बताता है कि जो भूमि अप्रदा (बसने के अयोग्य), अप्रहता (कृषि के अयोग्य) तथा खिल (बजर) है, ऐसी भूमि बौद्ध सघ को दान की गई।[3]

सिद्धान्त रूप से भूमि का स्वामी कोई भी क्यो न माना जाय, किन्तु आर्थिक स्थिति को वास्तविक रूप से लगान-व्यवस्था प्रभावित करती है। भूमिकर प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार अधिकृत भूमि के क्षेत्रफल के अनुपात से न लिया जाकर उपज के अनुपात से लिया जाता था। वैसे इन करो के अलावा चाट तथा भट कर कृषको को देने पडते थे जिनमे से प्रथम तो राजागमन के

समय लगता था और द्वितीय ग्राम के निकट से किसी सेना के गुजरने पर। किन्तु इनके अतिरिक्त सेनाओ अथवा राज्याधिकारी को ग्रामीण जनता के साधारण जीवन मे हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही था। दान की हुई भूमि तो 'अभट-चाट-प्रवेश्य' मानी जाती थी। वैसे ये भट कभी-कभी ग्राम-निवासियो को सताने का भी प्रयास करते थे तो ग्राम निवासी इनकी निरकुशता का बराबर सामना करते थे।[३४]

विशेषतया हमारे विवेच्य काल मे पूर्वी भारत मे पाल-वश ने भूमि-व्यवस्था मे कई सुधार किये थे। इन्होने घोषित किया था कि भूमि 'सादशापचारा परिहत सर्वपीडा अकिचित् प्रग्रह्या भूमिच्छिन्द्र न्यायेन प्राचन्द्रार्कक्षित समकालम्' है, अर्थात् 'जब तक सूर्य और चन्द्र है तब तक यह भूमि दस प्रकार के अतिचारो से मुक्त है, पीडाओ से मुक्त है, अदेय करो से मुक्त है।' इस नये निविधर्म के बाद जनता की आर्थिक अवस्था और भी सुधर गई। इसके अतिरिक्त उन्होने अक्षय निविधर्म अथवा अप्रदा धर्म की भी घोषणा की जिसके अनुसार जिसको भूमि दी जाये वह जब तक चाहे उसका उपभोग कर सकता है किन्तु उसका विक्रय नही कर सकता या उसे रेहन भी नही रख सकता। यह नही कहा जा सकता कि यह धर्म (भूमि-व्यवस्था) केवल राज्य द्वारा प्रदत्त भूमि पर ही लागू होता था या समस्त भूमि पर, किन्तु इतना स्पष्ट है कि पाल-वशी राजाओ ने कृषक की भूमि को और भी सुरक्षित बना दिया। कृषक मे अपनी भूमि, उसके उत्पादन तथा उसके उपभोग के प्रति एक स्वस्थ ममता तथा अभिमान जाग गया।[३५]

इस प्रकार हम देखते है कि कृषि की समुन्नत अवस्था तथा कर-व्यवस्था दोनो ही इस प्रकार की थी कि जनशक्ति को बहुत बल प्राप्त हो गया था, तीसरी वस्तु जिसने जनशक्ति को बहुत बलशाली बना रक्खा था वे थी भारत की ग्राम-सभाएँ। ये ग्राम-सभाएँ ही वास्तव मे वास्तविक शासक हुआ करती थी और ये केन्द्रीय सत्ता से सर्वथा स्वतन्त्र सस्थाएँ होती थी। किन्तु इनका चुनाव प्रजातान्त्रिक रूप से होता था, यहाँ तक कि घडो मे ठीकरियाँ डाल कर गुप्त मतदान की प्रथा भी उस समय प्रचलित थी।[३७]

ग्राम-संगठन

जातियो की सापेक्ष स्थिति की दृष्टि से अगर हम देखें तो स्थूल तौर पर

अपभ्रंश-काल मे हमारे समाज-गठन में बहुत-सी नई जातियो का समावेश हुआ है, बहुत सी जातियो के सामाजिक स्तर बदले हैं, बहुत-सी निम्न वर्ग तथा पुरानी जातियो का सम्मिश्रण हुआ है और कुल मिला कर निम्न जातियाँ अन्य कालो की अपेक्षा इस काल मे कुछ दिनो के लिये बहुत-सी ऐसी जातियो का आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व रहा है जो ब्राह्मणो द्वारा तिरस्कृत और हेय समझी जाती रही है ।

इसका प्रमुख आर्थिक कारण यह प्रतीत होता है कि ज्यो-ज्यो नगरो का विकास होता गया और विदेशो से व्यवसाय की वृद्धि होती गई त्यो-त्यो वैश्य कृषि तथा शिल्प छोडते गये, त्यो-त्यो शूद्र उन्हे अपनाते गये यहाँ तक कि ह्वेनसाग उन्हें कृपक ही कहता है । ये निम्न जातियाँ समाज के आर्थिक उत्पादन मे विशेप योग देते हुए उन ब्राह्मणो को हेय दृष्टि से देखती होगी जो स्वत कोई भी उत्पादन-श्रम न करते हुए केवल दानवृत्ति पर जीवित रहते थे ।

ब्राह्मण उस समय चिन्तक न रहकर राज्याश्रित कर्मकाण्डी पुरोहित मात्र रह गया था । वह दान की भूमि का उपयोग करता था । वह लोभी और कायर हो गया था । स्वयम् बाण ने हर्षचरित मे कहा है निरभिमानी राजा और लोभरहित ब्राह्मण मिलना कठिन है [२८] और युद्ध के समय ब्राह्मण की वीरता का तो बाण ने अद्भुत चित्रण किया है । जिस समय हर्ष शत्रु पर आक्रमण करने के लिए अपनी सेनासहित प्रस्थान कर रहा था उस समय वृक्षो की चोटियो पर खडे होकर काँपते और चीखते हुये योद्धा वीर ब्राह्मण को कचुकी डण्डे द्वारा उतारने का प्रयास कर रहा था । [२६]

किन्तु यह विद्रोह केवल तत्कालीन आर्थिक कारणो से ही नही था । इस के पीछे एक पुरानी विरोध-परम्परा चली आ रही थी, ऐसा लगता है । पूर्वीय प्रदेश के मगध, विदेह आदि प्रान्त के निवासी बाद मे वैदिक सस्कृति के प्रभाव मे आये थे और उन्होने कभी भी पूर्णतया अपने को समर्पित नही किया था । विशेषतया उनकी अब्राह्मण जातियाँ बहुत पहले से ब्राह्मण-विरोधी रही हैं और ब्राह्मणो की सत्ता उस रूप मे नही स्वीकार कर पाई । बौद्ध-साहित्य मे स्थान-स्थान पर इस भावना की प्रतिच्छाया दीख पडती है । उद्दालक जातक मे जन्म से वर्ण का निपेध किया गया है । मधुरा सुत्त, मज्झिम निकाय में मधुरा अवन्ति-पुत्र समण काच्चाअन से पूछता है, 'ब्राह्मण अपने को श्रेष्ठ कहते है । अपने को गौर अन्य को श्याम वर्ण कहते है । तुम्हारा क्या मत है ?' तो समण जातिगत

श्रेष्ठता का निषेध करते हैं।[४०] दीघ निकाय से तो यहाँ तक ज्ञात होता है कि कोशलराज जब ब्राह्मण प्रजा से मिलते थे तो उनका मुँह तक नही देखते थे। बीच मे पर्दा डलवा दिया जाता था।[४१]

कही-कही इन जातियो का ब्राह्मण-विरोध दूसरे रूप मे प्रगट होता था। वे स्वत अपने को ब्राह्मण कहने लगती थी। आचार्य क्षितिमोहन सेन का मत है कि उस समय इतनी रूढ जाति-व्यवस्था नही थी। बहुत-सी जातियो का पद उठता-गिरता रहता था। बहुत-सी नीची जातियाँ ब्राह्मण बन गई थी। इन जातियो मे बहुत से कृषक भी थे।[४२] डोम और चमार भी अक्सर अपने पूर्वजो के ब्राह्मण होने का दावा करते थे। यद्यपि यह कथाएँ पजाब मे मिलती हैं किन्तु नृतत्व की दृष्टि से बगाल के ब्राह्मणो की निकटता पजाब के ब्राह्मणो से बहुत अधिक है।[४३] बहुत से ब्राह्मण ऐसे भी थे जो अपने को ब्राह्मण कहते थे किन्तु अन्य ब्राह्मण उन्हे ब्राह्मण नही स्वीकार करते थे। ऐसे ब्राह्मणो को अक्सर अनार्यों का ब्राह्मण कहा गया है। ऐसे ही ब्राह्मण बाद मे भी तान्त्रिक तथा तथा-कथित वेद-बाह्य साधनाओ और अनुष्ठानो को संरक्षण प्रदान करते रहे।[४४]

तन्त्रो मे अक्सर ऐसे ब्राह्मणो के विषय मे मनोरजक बातें मिलती है। पहले वे लोग वामाचार मे कम भाग लेते थे, इस सीमा तक वे निम्न वर्ग से अपने को अलग रखना चाहते थे। इसी कारण से तन्त्रो की दो पद्धतियाँ स्वीकार की गई थी, दक्षिण-वाम जिनमे से दक्षिण-सात्विकी पद्धति थी और ब्राह्मणो द्वारा ग्रहणीय थी। बाद मे यह भेद भी हटा दिया गया और यह सिद्धान्त निकाला गया कि भैरवी चक्र मे प्रवृत्ति होते समय कोई वर्ण नही रह जाता, निवृत्त होने के बाद पुन वर्ण की सार्थकता हो जाती है।

किन्तु तन्त्रो मे अधिकाश ब्राह्मण ऐसे थे जो रूढिवादी ब्राह्मणो द्वारा तिरस्कृत थे क्योकि तन्त्रो मे ऐसे ब्राह्मणो को भुक्ति और मुक्ति दोनो की आशा दिलाई गई है जो शापनिर्दग्ध और ब्रह्म-कर्म-विवर्जित थे। ब्रह्म-कर्म से उन्ही ब्राह्मणो को विवर्जित किया गया था जो रूढिवादी दृष्टिकोण से आधार-भ्रष्ट थे अथवा आर्थिक पेशे और सामाजिक दृष्टि से निम्न वर्ग के साथ थे।

तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था मे विभिन्न वर्णो मे जीविकाओ का विपर्यय प्रचलित हो गया था। इसके बहुत उल्लेख मिलते है कि ब्राह्मण तैलकार, व्याध आदि का पेशा अपना लेते थे। यह रीति बहुत दिनो से प्रचलित थी और ऐसे ब्राह्मणो को शुद्ध कर्मकाण्डी ब्राह्मण अच्छी दृष्टि से नही देखते थे और उन्हें

अपने समकक्ष नही मानते थे। मनुस्मृति मे कहा गया है कि श्राद्ध मे ऐसे ब्राह्मणो को न बुलावें जो कितव, मासविक्रयी, पशुपाल और तैलिक हो।[४५] इसी प्रकार कुसीद-जीवी, पशुपालक, तैलकार, धनुष-वाण बनाने वाला, पक्षी पालने वाला, नहर आदि का निर्माण करने वाला तथा सोमविक्रेता, इन व्यवसायो वाले ब्राह्मणो को भी श्राद्ध भोजन मे निषिद्ध ठहराया गया है।[४६] इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणो का वहुत वडा भाग शुद्ध कर्मकाण्ड और पौरोहित्य छोडकर कृषि और अन्य व्यवसायो को अपना चुका था और अनुदार उच्च वर्गीय ब्राह्मण उन्हे हेय दृष्टि से देखता रहा होगा। पूर्वीय प्रान्तो मे यह व्यवसाय-विपर्यय और शीघ्रता से हुआ होगा क्योकि पूर्वीय क्षेत्रो के लोगो ने पहले ही पश्चिमी अनुदार और कर्मकाण्डी ब्राह्मणो के नियम नही स्वीकार किये थे और इसी कारण उन्हे बरावर व्रात्यो की सज्ञा मिलती रही। वहुत से विद्रोही, उदार-मना ब्राह्मण इन नयी और सशक्त जातियो से अधिक निकटता अनुभव करते थे, उनका जीवन, उनकी चिंतना सभी उन्हे अनुदार ब्राह्मण कर्मकाण्ड से अधिक मानवीय स्वस्थ और सहज लगती थी और स्पष्ट है कि सरहपा आदि उसी प्रकार के लोक-जीवन के साथ चलने वाले विद्रोही ब्राह्मण थे। उनके अतिरिक्त भी वहुत से सिद्ध या तो इन्ही जातियो मे उत्पन्न हुए थे या उन्होने उन्ही का रहन-सहन और व्यवसाय भी अपना लिये थे। इस विषय में डॉ० बागची का एक मत है जिस पर विचार कर लेना आवश्यक है। उनका यह कहना है कि इन अधि-काश सिद्धो का नाम चर्या का नाम था और ये चर्याएँ केवल योगचर्याओ का सकेत करती थी अत यह आवश्यक नही कि ये सिद्ध उन निम्न जातियो के हो जिनका सकेत उनके नामो से मिलता है।[४७] किन्तु जैसा कि हम पहले विचार कर चुके है कि सस्क्य सूची मे अधिकाश सिद्ध जन्मना शूद्र, या क्षत्रिय बताये गये है और कुछ सिद्धो ने निम्न वर्ग की स्त्रियो से विवाह कर उनकी आजीविका अपना ली थी। सरहपा अपनी महामुद्रा साधना विवाह के उपरान्त तिल कूटने लगे थे। इस प्रकार रोटी (या रोजी) और बेटी दोनो ही दृष्टि से ये सिद्ध इन श्रमजीवी जातियो के साथ थे और आचार्य सेन ने रोटी और बेटी इन्ही दो तत्वो को भारतीय जातिभेद का आधार माना है।[४८]

ये जातियाँ न केवल आर्थिक दृष्टि से अधिक पुष्ट थी, वरन् राजनीतिक सत्ता भी उस समय इन्ही के हाथ मे आ रही थी। पाल-वश अब्राह्मण वश था और 'मजुश्री मूलकल्प' के अनुसार 'दासजीवी' था, इस पर हम विचार कर चुके

हैं । कामरूप मे भी १०वी शती में ब्रह्मपाल नामक शासक जनता द्वारा चुना गया जो भगदत्त का वशोद्भव था और भगदत्त की परम्परा निस्सन्देह अवैदिक और अभारतीय बताई गई है ।[४६] इन राजवशो ने भारतीय सहिष्णुता की परम्परा निबाहते हुए ब्राह्मणो का भी आदर किया और प्रख्यात सम्राट् धर्मपाल का मन्त्री ब्राह्मण ही था किन्तु इन्होने जन-सस्कृति, जन-कला और जन-भाषा को भी प्रश्रय दिया । धर्मपाल के समय मे जिस सोमपुरी विहार के उद्धार का उल्लेख पीछे किया जा चुका है वह बङ्गाल के पहाडपुर के निकट था । पहाडपुर के पुराने मन्दिरो तथा बिहारो मे जो कला उपलब्ध है वह निस्सन्देह लोक-कला है । उसके विषय मे प्रख्यात कलाविद् नीहाररजन राय का मत है कि 'पहाडपुर मे प्राप्त ८वी शताब्दी की स्थापत्य-कला का मूल स्वभाव लोकपरक है और उसकी प्रमुख प्रेरणा सीधी-सादी ग्राम-निवासी जनता की मनोवृत्ति और कल्पना से उद्भूत हुई है ।[५०] वास्तव मे राजसत्ता जनशक्ति से प्रभावित होने के कारण लोकाश्रयी हो गई थी लोकपीडक नही, और लोकमत इससे प्रोत्साहन पाकर धर्मसाधना और धार्मिक साहित्य पर गहरा प्रभाव डाल रहा था । समाज-पद्धति और उनके नियमो की ओर भी वे जागरूक थी । इन निम्न वर्ग की जातियो मे जो अपनी विचित्र गाथाएँ और किम्वदन्तियाँ प्रचलित थी उनमे कभी कुछ बडे ही विचित्र तत्व ऐसे मिल जाते है जो इस ओर सकेत करते है कि ये जातियाँ मनु द्वारा निर्धारित नियमो से असन्तुष्ट हैं और एक ऐसी जीवन-पद्धति के प्रति उनका विशेष आग्रह है जो प्रवृत्तिमूलक हो । परवर्ती सहजिया कथाओ मे से एक कथा के अनुसार ब्रह्मा के दो पुत्र थे—मनु और प्रख्यात योगी जडभरत । मनु ने मनुस्मृति लिख कर वर्णाश्रम और बाह्याचारो का विधान किया । भरत रेवातट पर एक गुफा मे ध्यान करने गये । वहाँ उन्होने एक चरवाहे को अपनी प्रेमिका के साथ सहज प्रणय-केलि मे तल्लीन देखा । उन्हे बडा आश्चर्य हुआ । वे नारायण के पास गये तो नारायण भी उन्हे अपनी शक्ति के साथ मिले । तब वे लौट कर आये और उन्होने इस रागात्मक सहज जीवन-पद्धति का प्रचार किया ।[५१] इस कथा मे मनु द्वारा निर्धारित जीवन-पद्धति के प्रति असन्तोष को सुन्दर ढग से रक्खा गया है ।

आगे के अध्यायो मे सिद्ध-साहित्य के सिद्धान्त-पक्ष तथा काव्य-पक्ष का विवेचन करते समय हमने उन तत्वो की ओर विशेष सकेत कर दिया है जो लोक-धर्म के प्रभाव से आये है । महायान का सारा आन्दोलन लोकपरक था, तन्त्रो

की पद्धतियो मे कैसे निम्न वर्ग तथा विद्रोही ब्राह्मणो ने अवैदिक देवताओ और अनार्य पद्धतियो को वेदिक देवताओ और ब्राह्मण कर्मकाण्ड की समकक्षता मे प्रतिष्ठित कर दिया, वज्रयान में कैसे शून्य की नकारात्मक भावना की अपेक्षा विज्ञानवाद की तथ्यता को प्रथम स्थान मिला, मन के मारण की साधना मे कैसे अभावात्मक शून्य की अपेक्षा भावात्मक महाराग को प्रश्रय मिला, कैसे साधना पद्धति मे आर्थिक जीविकाएँ भी आध्यात्मिक चर्या के रूप में स्वीकृत हुईं, उपलब्धि मे नकारात्मक निर्वाण की अपेक्षा देह को समस्त तीर्थों का आलय माना जाने लगा और किस प्रकार उनकी यह साधना केवल भोगवादी साधना न होकर राग द्वारा राग की अनासक्ति की साधना थी, इसका विस्तृत विवेचन आगे के अध्यायो मे है।

कुछ तत्व अवश्य ऐसे है जो लोकपरक व्याख्या को सीमाबद्ध कर देते हैं—उनकी ओर प्रारम्भ मे ही सकेत कर देना आवश्यक है। उनमें से प्रथम है सिद्धो की साधना-पद्धति मे व्यक्ति का महत्व। लोकपक्ष का प्रभाव होते हुए भी व्यक्ति इतना महत्वपूर्ण क्यो हो गया था इसका कारण भी तत्कालीन समाज पद्धति से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है।

लोकमत की अभिव्यक्ति के रूप

ब्रिटिश इण्डोलोजिस्ट ग्रुप जो भारतीय सामाजिक इतिहास का अध्ययन कर रहा था उसके प्रमुख सदस्य जान इर्विन का कथन है कि सामन्ती समाज मे लोक-सस्कृति को प्रमुखता तभी मिलती है जब कि देश की आर्थिक व्यवस्था सुगठित और स्वाधीन हो, कृषि और शिल्प का निकटतम सम्बन्ध हो और समाज छोटे-छोटे स्वाधीन गणो मे विभाजित हो। ऐसी परिस्थितियो में उच्चवर्गीय सत्ताओ और लोक-प्रचलित सास्कृतिक शैलियो मे स्पष्ट विभाजन-रेखा दीख पडती है, किन्तु उसके लिये आवश्यक है कि जनता को इतनी स्वाधीनता हो कि वह उच्चवर्गीय अनुदार मान्यताओ का विरोध कर सके।[५२] ऐसी परिस्थितियो में लोक-सस्कृति उच्चवर्गीय निराशावादी जीवन एवं विमुख दृष्टिकोण को त्याग कर, जीवन के स्वस्थ उपभोग का सन्देश देती है, मानवतावादी दृष्टिकोण अपना कर, तप, कष्ट-साध्य साधनाएँ और वैराग्य का निषेध कर प्रवृत्ति मार्ग ग्रहण करती है।[५३] किन्तु इन सभी मध्यकालीन लोकपरक साधनाओ में वैयक्तिक साधना पर जोर दिया गया है, व्यक्ति प्रमुख है इसका भी सम्भवत यही

कारण है कि उत्पादन के उस रूप मे अधिकाश शिल्पी स्वत शिल्प की पूरी प्रणाली स्वय सम्पन्न करते थे और स्वयम् विक्रेता भी थे। इसी कारण धर्म-साधना मे भी व्यक्ति को ही महत्व मिला हुआ था क्योकि उस जीवन-प्रणाली मे प्रत्येक व्यक्ति अपने मे कमोवेश एक पूर्ण इकाई बन गया था।[५४] यद्यपि वह वैयक्तिकता की अवस्था समाज-विरोधी वैयक्तिकता नही थी क्योकि सामाजिक उत्पादन मे वह व्यक्ति एक महत्वपूर्ण इकाई था। अत. मध्यकाल मे धर्म व्यक्ति को केन्द्र बनाकर चलता था और लोकपक्ष को अभिव्यक्ति देने वाला धर्म जाति-व्यवस्था, नैतिक मर्यादा, सामाजिक अनुशासन सभी को व्यक्ति के आगे गौण मानने लगता है। व्यक्ति को यही अन्यतम महत्ता सिद्ध पुरुषो, नाथो, यतियो या सन्तो की अलौकिक चमत्कार-शक्तियुक्त कल्पना के रूप मे लोकमानस मे प्रतिष्ठित हुई है जहाँ व्यक्तिगत साधक को वज्रसत्व या आदिनाथ, या स्वत हरि के समकक्ष माना गया है। किन्तु इसका परिणाम यह भी होता रहा है कि मूल सामाजिक लक्ष्य को भूल कर व्यक्ति की महत्ता उच्छृंखलता, असामाजिकता, अनैतिकता और अनुशासनहीनता की ओर ले जाती रही है, और राग द्वारा राग का परिशमन अन्त मे वासनाओ की अदम्य और वीभत्स क्रीड़ाओ मे परिणत होता रहा है।

दूसरा तत्व जो इनकी गति को सीमाबद्ध करता रहा है वह है सम्प्रदाय। सभी लोकतत्व अपने को धर्म के माध्यम से व्यक्त करते रहे है और इसके लिये वे किसी न किसी पूर्वागत धर्म-परम्परा मे आश्रय लेते रहे है और जितना प्रवल विद्रोह हुआ है, परम्परा मे अपनी जडें गहरी जमाने के लिये कभी-कभी वह उतना ही 'साम्प्रदायिक' भी हो गया है। सिद्धो ने सभी सम्प्रदायो के बाह्याचार का खण्डन करते हुए भी वज्रयानी अनुष्ठानो को अपनाया। गोरख ने जब तान्त्रिक गुह्याचारो का विरोध किया तो एक नया सम्प्रदाय सगठित किया। यहाँ तक की कबीर जैसे स्वतन्त्रचेता महापुरुष के पीछे भी एक सम्प्रदाय चल पडा जिसने उनकी लोक परक चिन्तनाओ को छोड कर साम्प्रदायिक सकीर्णताओ को प्रश्रय दिया।

तीसरी और सबसे विचित्र सीमा रही है अत्यधिक लोक-सम्पर्क। तत्कालीन लोकमानस ब्राह्मणो की निवृत्तिमूलक जीवन-पद्धति के विरुद्ध तो अवश्य था किन्तु उसमे उस सस्कार, और परिशोधन का अभाव था जो सत् और असत्, शिव और अशिव के बीच की रेखा बन जाते है। उच्चवर्गीय विद्वानो ने

ज्योतिष, भाषाविज्ञान, गणित, ओषधि-विज्ञान, शरीर-शास्त्र आदि ने अभूतपूर्व उन्नति की थी। उसके स्थान पर निम्न वर्ग की जनता मे टोना-टोटका, भूत-प्रेत, अन्धविश्वास, रहस्यमयी परम्पराएँ, बलि-प्रथा आदि का बाहुल्य था जो उनके आदिम सस्कारो और बर्बर काल की अवशेष प्रवृत्तियो का द्योतक था। जब लोक-पक्ष ने अपने को तत्कालीन धर्मसाधनाओ में प्रतिष्ठित किया तो यह असस्कृत अश भी उभर आया और ज्योतिष-विज्ञान की राशियाँ और नक्षत्र, गणित-विज्ञान के रेखाचक्र, यन्त्र आदि, ओषधिविज्ञान की रस और रसायन कल्पनाएँ भी उन रहस्यमयी साधनाओ मे तान्त्रिक अनुष्ठानो के रूप मे अन्तर्भुक्त हो गई[५५] और बाद मे भी उन विज्ञानो का विकास इन्ही सीमाओ में होता रहा और उनका शुद्ध भौतिक रूप या वैज्ञानिक रूप गौण हो गया। धर्म-साधनाओ मे भी मन की साधना, चित्त की विशुद्धि गौण हो गई और लोक-साधारण मे अनुष्ठान तथा ये असस्कृत गुह्य साधनाएँ ही प्रचलित रही यद्यपि सरहपा से लेकर कबीर तक अपनी-अपनी शैली मे मन की साधना को प्रमुख बताते रहे। किन्तु लोकपक्ष का वह अश जितना शिव था, कल्याणकारी था, यह उतना ही अशिव, और यह इतना प्रबल था कि परवर्ती कबीरपन्थ तक मे सुअरो की बलि आदि की प्रथा अपनाई गई।[५६] विशेष जातियो मे खान-पान, विवाह, स्थानीय देवी-देवता, पुरानी गाथाएँ पहले से प्रचलित थी और जब किसी विशेष धर्म साधना का प्रवेश उनमे हुआ तो उन्होने अपनी सुविधानुसार उस धर्म-साधना का रूप वैसा ही बदल लिया।

यही मुख्य दिशाएँ है जिनके आधार पर हम वज्रयान के विकास का अध्ययन करते हुए लोकतत्व की भी व्याख्या करते चलेंगे। बौद्ध धर्म इस लोकतत्व को प्रारम्भ से ही प्रश्रय देता रहा है। उसी के अन्तर्गत वज्रयानी सिद्धो ने सहज पद्धति का भी विकास किया।

द्वितीय अध्याय

वज्रयान की परम्परा

क

महायान का विकास

ये चौरासी सिद्ध जिस वज्रयान सम्प्रदाय के अनुयायी थे, वह कोई अलग सम्प्रदाय न होकर बौद्ध धर्म की महायान शाखा का ही विकसित रूप था। इसके कई प्रमाण मिलते हैं। सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि सर्वमान्य वज्रयानी सिद्धान्त-ग्रन्थो मे कई स्थानो पर महायान का उल्लेख है। त्रिसमय राज की साधना मे 'अनया मन्त्री महायान्न परिह्रीयते', ऐसा उल्लेख मिलता है।[1] इसी प्रकार भगवती वज्रतारा की साधना में भी महायान का उल्लेख मिलता है जिसमें त्रिरत्नो मे से धर्म को समग्र महायान का वाचक बताया गया है और उसी के प्रसंग मे वज्रयान का भी उल्लेख है।[2] इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'बौद्ध तन्त्र साधना महायान की ही शाखा थी और वज्रयान महायान का पूर्वाधिकार स्वीकार करता है।'[3] वज्रयान का, महायान के ही परिणत रूप होने का एक और भी स्पष्ट अन्तरंग प्रमाण 'वज्र-गर्भ-तन्त्र-राजसूत्र' में मिलता है।[4] इस ग्रन्थ मे दक्षिण भारत के किसी सम्राट् वीर्यदत्त का उल्लेख है 'जो श्रद्धायुक्त तथा गहन विश्वासी प्रकृति का था। उसने प्रसन्नता से अनुत्तर धर्म की शिक्षा ली और वज्र महायान मे दीक्षित हो गया।'[5] इस उद्धरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वज्रयान वास्तव मे महायान की ही वह परवर्ती प्रणाली थी जिसमे तान्त्रिक प्रवृत्तियाँ प्रविष्ट हो गई थी। महायान का विकास बौद्ध धर्म के अन्तर्गत ईसा की पहली शताब्दी के लगभग माना जाता है। वैडेल[6] तथा कीथ[7] दोनो ने महायान के प्रथम विकास का यही समय स्वीकार किया है। यदि भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि ४८६ ई० पू० मे मानी जाय[8] तो भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के लग-

भग ४०० वर्ष बाद महायान अंकुरित हुआ। बुद्ध ने अपने समय में ही अन्ध धार्मिक विश्वास को प्रोत्साहन न देकर तर्क-परम्परा और विचारशीलता का समर्थन किया था। तत्व-सग्राम में भगवान बुद्ध ने कहा था—'परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यम् मद्वचो न तु गौरवात्।'[९] भिक्षुओ को स्वत परीक्षा करने के उपरान्त मेरे वचनो को ग्रहण करना चाहिये, केवल मेरे गौरव से आतंकित होकर नही।' जिस धर्म मे इतना विचार-स्वातन्त्र्य हो उसमे विभिन्न सम्प्रदायो तथा साधनाओं और विचार-पद्धतियो का विकसित होना सर्वथा स्वाभाविक है।

महायान के विकास की मूल प्रेरणा

महायान की विचार तथा साधना-पद्धति की मूल प्रेरणा यह थी कि बौद्ध धर्म की कठिन और दुस्साध्य जीवन-पद्धति को अधिक लोकपरक और सहज बनाया जाय।[१०] इस प्रवृत्तिमूलक साधना-पद्धति पर उनका इतना आग्रह होने का प्रमुख कारण यह था कि उनकी चिन्तना का केन्द्र केवल व्यक्ति तथा उसका निर्वाण नही था, वे लोकहित तथा समस्त लोक की मुक्ति के लिये उत्तरदायित्व का अनुभव करते थे।

इस सम्बन्ध मे अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की कथा बडी रोचक तथा महत्वपूर्ण है। जब अवलोकितेश्वर ने निर्वाण प्राप्त कर लिया और वह अनन्त शून्य मे लीन होने जा रहा था तभी उसने सुमेरु पर्वत के शिखर से कोई दूरागत क्रन्दन का स्वर सुना और वह बहुत उदास हो गया। वह गहन चिन्तना मे लीन हो गया और तब उसे यह ज्ञान हुआ कि यह क्रन्दन और कुछ नही है महाकरुणामय बोधिसत्व अवलोकितेश्वर के अन्तर्ध्यान होने पर लोक-साधारण का परिताप है। अवलोकितेश्वर जो उनके भौतिक दु खो तथा पीडाओ मे एक मात्र सहारा था, उसको खो देने की आशका से वे निस्सहायावस्था में गगन-भेदी क्रन्दन कर रहे थे। यह जान कर उसका हृदय विचलित हो गया और उसने निश्चय किया कि वह अपने सुकृत पुण्यो द्वारा अर्जित निर्वाण को तब तक स्वीकार नही करेगा जब तक भूमि पर एक भी व्यक्ति भवजाल मे बँधा रहता है।[११] इसी प्रकार बोधिसत्व लोक-हित के लिये प्रार्थना करते हुए कहता है, "मैं प्रत्येक दिशा के सभी सम्बुद्धो से बद्ध करो से प्रार्थना करता हूँ कि जो ममता-बन्धन के कारण दु खजाल मे आबद्ध हैं उनके लिये धर्म का दीपक प्रज्ज्वलित करें। मैं सभी आत्मनिग्रही सम्बुद्धो से आग्रह करता हूँ जो महानिर्वाण प्राप्त करने को

सन्नद्ध हैं कि वे असंख्य युगो तक रुके रहें, (ताकि उनके अभाव मे) यह संसार तमाच्छादित न हो जाय। मैंने अपनी साधनाओ से जितने भी पुण्य अर्जित किये है उनसे सभी प्राणियो के सभी क्लेशो तथा तापो का परिशमन हो... . .. .. तीनो भुवनो मे व्याप्त अपने सम्पूर्ण सत्व, अपने सम्पूर्ण आनन्द और अपने सम्पूर्ण पुण्यो का मै निस्सग परित्याग करता हूँ ताकि सभी प्राणियो की कामनाएँ पूर्ण हो।"[१२] इसी कारण से लोक-साधारण भी अन्त मे स्वत साधना के कठिन पथ पर विशेष ध्यान न देकर बोधिसत्व की ही महत्करुणा के आकाक्षी हो रहे थे।[१३] वे लोग जो पूर्ण विकसित नही थे उनके लिये भी निर्वाण का तथा क्लेश-शमन का एक सरल मार्ग निर्दिष्ट कर दिया गया था और उस दृष्टि से बौद्ध धर्म को धीरे-धीरे साधना और अनुशासन की दृष्टि से अधिक लोकपरक बनाया जाने लगा। यहाँ तक कि अन्त मे तो यह कहा जाने लगा कि यदि कोई प्रभुतारत्न बुद्ध का नाममात्र ही स्मरण कर ले तो उसे सम्यक् सम्बोधि प्राप्त हो जाती है या जो सुखावती प्रणिधान मात्र करता है वह उसी को प्राप्त हो जाता है।

ऐसा नही है कि महायानी आचार्य वैयक्तिक पूर्णत्व या वैयक्तिक साधना-परक हीनयान का सर्वथा निषेध करते हो किन्तु वे उसे हीनकोटि की साधना मानते है क्योकि उसमें करुणा का अभाव होता है।[१४] वज्रयानी ग्रन्थो मे साधनाओ की दृष्टि से तीन यान स्वीकार किये गये थे, श्रावकयान, प्रत्येकयान तथा महायान।[१५] इनमे से प्रथम दो केवल शून्यता को प्राप्त होते हैं। करुणा केवल महायान की थाती है।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि महायान के विकास की मूल प्रेरणा बौद्ध-धर्म को लोक-जीवन के निकट पहुँचाने और ऐसे पथ का विकास करने की थी जिसमे केवल सम्बुद्ध व्यक्ति ही नही वरन् समस्त लोक का कल्याण हो सके। यह प्रवृत्ति बुद्ध के बाद से ही किस प्रकार धीरे-धीरे अंकुरित हुई, अन्त मे केवल महायान के विशाल, बहुशाखाओ से समन्वित वटवृक्ष मे परिणत हो गयी इसके लिये महायान के क्रमिक विकास पर सक्षेप मे विचार कर लेना उचित होगा।

जैसा पहले ही सकेत किया जा चुका है कि भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों

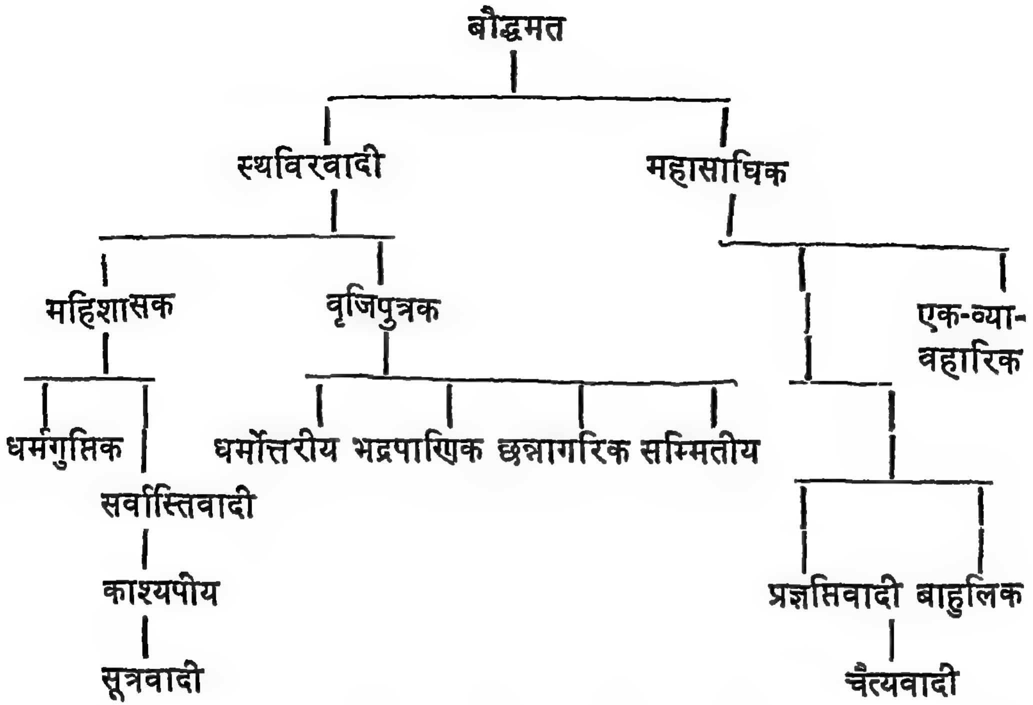
को इस बात की स्वतन्त्रता दी थी कि उनके वचनो को भी केवल उनके गौरव के आतंक से न ग्रहण करें वरन् उनकी सम्यक् परीक्षा करें। उनके कुछ शिष्य उनके विभिन्न उपदेशो की अपनी वैयक्तिक व्याख्याएँ करने लगे। अत उनकी मृत्यु के उपरान्त ही इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि उनके उपदेशो को ठीक रूप से वर्गीकृत और सग्रहीत किया जाय ताकि उनका रूप विकृत न हो। कहा जाता है कि महास्थविर काश्यप ने किसी सुभद्र नामक भिक्षु को बुद्ध भगवान के नाम पर विचित्र से सिद्धान्तो का प्रचार करते हुये देखा। अत उन्होने इस बात की आवश्यकता समझी कि सभी अर्हतो को बुलाकर प्रवर्तक के उपदेशो को सग्रहीत कर लिया जाय। महाराज बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु ने उसकी सरक्षता ग्रहण की और राजगृह के निकट की पर्वत-शृखलाओ मे सत्पन्नी की गुफा मे ४९९ अर्हतो की प्रथम 'सगीति' बैठी। उस सगीति मे भगवान बुद्ध के सभी उपदेशो का गायन हुआ तथा बुद्ध-कथित विनय के १० नियम उपलि द्वारा, अभिधम्म भाग काश्यप द्वारा और सुत्त भाग आनन्द द्वारा उपस्थित किया गया और क्रमश उन्ही को विनय-पिटक, अभिधम्म-पिटक तथा सुत्त-पिटक के नाम से संग्रहीत किया गया।[१६]

महायान का विकास-क्रम

इसके बाद बौद्ध धर्म मे सहसा बुद्ध द्वारा प्रवर्तित कठोर श्रमण-आचारों के विरुद्ध विद्रोह की एक लहर आई। कहा जाता है कि बुद्ध के समय मे ही इन कठोर नियमो का उल्लंघन प्रारम्भ हो गया था। बहुत से स्थानो में ऐसे बौद्ध भिक्षु थे जो संघो के नियम का उल्लघन कर पत्नियो, कन्याओ, तरुणियो और तरुण दासियो को पुष्पोपहार भेजते थे। उनके साथ आसन पर बैठते थे, मद्य पीते थे, नृत्य करते थे, गीत गाते थे और वाद्य-यत्रो का प्रयोग करते थे। भगवान बुद्ध को जब यह ज्ञात हुआ तो वे बहुत दु खी हुए।[१७] ऐसे भिक्षुओ को लोग आदर की दृष्टि से नही देखते थे। किन्तु स्वयम् सघ के अन्दर बहुत से लोग ऐसे थे जो अनुभव करते थे कि सघ के नैतिक अनुशासन-सम्वन्धी नियमो को और उदार बनाना चाहिये। विद्रोह का सूत्रपात वैशाली के वज्जि भिक्षुओ द्वारा हुआ और उन्होने १० नियमो के स्थान पर १० ऐसे सिद्धान्तों का प्रचार करना प्रारम्भ किया जिनमें भिक्षुओ द्वारा सोना-चाँदी आदि ग्रहण करने की व्यवस्था और कभी-कभी रस आदि भी ग्रहण करने की स्वतन्त्रता थी। स्थविर यश नामक एक पश्चिम-देशीय वृद्ध भिक्खु उस समय वैशाली में ही

था। इन वज्जि भिक्खुओ के विषय मे सुन कर वह स्वतः कौशाम्बी गया और वहाँ जाकर उसने इनकी जीवन-पद्धति को स्वत देखा। वह बहुत संत्रस्त हुआ और उसने तत्काल कुछ दूतो को भेज कर मथुरा और अवन्ति से बौद्ध प्रतिनिधि बुलवा भेजे। उसी के आमन्त्रण पर लगभग ३८६ ई० पू० मे वैशाली मे द्वितीय सगीति हुई। इसमे लगभग ७०० भिक्षु सम्मिलित हुए और ८ प्रतिनिधियो का मडल एक-एक कर दसो नियमो पर विस्तार से विचार करता रहा, किन्तु लगभग ८ महीने तक विचार होने के उपरान्त वे दसो नियम गर्हित माने गये, महास्थविरो की जीत हो गई। उन्होने इनको अधर्मवादी और 'पापभिक्षु' के नाम से पुकारा। किन्तु फिर भी पूर्वीय भिक्षुओ की सख्या बहुत अधिक थी। वे महास्थविरो के निर्णय के आगे झुकने के लिये भी प्रस्तुत नही थे अत उन्होने स्थविरवादियो के केन्द्र श्रावस्ती से अलग अपना केन्द्र मगध मे स्थापित किया और अपने दल का नामकरण 'महासाघिक दल' किया।[१८]

इस संगीति के बाद से बौद्धो में पूर्वी और पश्चिमी दो स्पष्ट दल हो गये और पश्चिमी दल स्थविरवादी या थेरवादी और पूर्वीय दल महासाघिक दल कहलाने लगा। धीरे-धीरे इनके अन्तर्गत भी विभिन्न मार्ग विकसित हो रहे थे। उसी बीच मे मौर्य सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकृत कर लिया था। उन्होने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र मे सन् २४२ ई० पू० के लगभग तृतीय सगीति राज पुत्र तिस्स मोग्गलि की अध्यक्षता मे आमन्त्रित की जिसमे प्राय १००० भिक्षु सम्मिलित हुए। यह सभा लगभग ८, १० महीने तक कार्य करती रही और इसमें दो विशेष कार्य सम्पन्न हुए। विनय, अभिधम्म तथा सुत्त को अन्तिम रूप दिया गया और त्रिपिटक रूप मे सगृहीत किया गया।[१९] इसके अतिरिक्त कथावस्तु नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया गया जिसमे बौद्ध-मत के तत्कालीन १८ निकायो का उल्लेख है। इन अट्ठारह निकायो का विभाजन बुद्धघोष तथा दीपवश के अनुसार इस प्रकार था।[२०]



अशोक के मृत्यु के पश्चात् ही १८२ ई० पू० में पुष्परथ नामक एक सैनिक आमात्य ने वृहद्रथ की हत्या कर शुग वंश की स्थापना की। इस वंश ने बौद्ध धर्म का निर्ममता से दमन किया और पुष्पमित्र ने तो कितने ही सघाराम जलवा दिये, भिक्खुओ की हत्या करा दी और फलस्वरूप महासाघिक बौद्ध उत्तर भारत से भाग कर दक्षिण मे आन्ध्र देश और पश्चिमोत्तर में मिलिन्द के आश्रय मे चले गये।

अन्धक सम्प्रदाय तथा महायान का उद्भव

आन्ध्र देश मे अशोक के समय में ही महादेव नामक भिक्षु ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। महादेव ने आन्ध्र देश मे चैत्यशिला अथवा चैत्यवादी सम्प्रदाय की स्थापना की थी जो महासाघिक दल की ही प्रशाखा थी।[२१] यह शाखा धान्यकटक महाचैत्य के नाम पर प्रख्यात थी। उस नगर के दोनो ओर पहाड थे और पूर्व और पश्चिम के पर्वतो पर भिक्षुओ के दो दल रहा करते थे जिनके आधार पर यही चैत्यवादी शाखा पूर्व-शैलीय तथा अपर-शैलीय उपशाखाओ मे विभाजित हो गई। धीरे-धीरे उनमे राजगिरक तथा सिद्धार्थक दो और भी प्रभेद हो गये और ये चार प्रशाखाएँ अन्धक निकाय के नाम से प्रख्यात हुई।[२२] बुद्धघोष इनके अतिरिक्त हेमवातिक और वाजिरीय शाखाओ का भी उल्लेख करता है।[२३] इन सम्प्रदायो में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो का मूल रूप बहुत कुछ

बदल चुका था यहाँ तक कि वैपुल्यवादियो ने तीन ऐसे सिद्धान्त प्रचलित किये जो क्रान्तिकारी थे। उनका पहला सिद्धान्त था कि 'सघ न दान ग्रहण करता है, न उसका परिशोधन करता है। न उसे दान देने मे महत्व है।' उनका दूसरा सिद्धान्त था कि 'न बुद्ध ने अवतार लिया, न वे लोक मे ठहरे, न उन्होने उपदेश दिया।' उनका तीसरा सिद्धान्त था कि 'विशेष परिस्थितियो मे मैथुन सर्वथा उचित है।'[२४] इसी वैपुल्यवादी तथा उसके आधारभूत निकाय अन्धक निकाय से महायान का जन्म हुआ और इस प्रकार के विभिन्न उदार सम्प्रदायो के बौद्ध अपने को महायानी और दूसरो को हीनयानी कहने लगे।

ठीक-ठीक कब महायान नामकरण हुआ इसका तो कोई निर्णय विद्वान लोग नही कर पाये है किन्तु अनुमान यह किया जा सकता है कि ईसा की पहली शताब्दी मे ही महायान शब्द का व्यवहार होने लगा होगा। महासाघिको ने स्थविरो द्वारा प्रयुक्त 'अधर्मवादी' और 'पापभिक्षु' के ही प्रतिशोध मे उनके मार्ग को हीनयान के नाम से पुकारना प्रारम्भ किया।[२५]

कनिष्क के समय मे १४० ई० के लगभग ५०० भिक्षुओ की एक चतुर्थ सङ्गीति हुई और कहा यह जाता है कि इसमे बहुत से ऐसे भिक्खु सम्मिलित हुये थे जो अपने को महायान-धर्मी कहते थे।[२६]

महायान तथा हीनयान का एक और नामकरण है जो उसके एक महत्वपूर्ण पक्ष पर प्रकाश डालता है। महायान को गुह्योयान तथा हीनयान को व्यक्तोयान भी कहते है। इसका कारण यह था कि थेरवादियो द्वारा आयोजित तीनो सङ्गीतियो के विरोध मे महायानी कहते थे कि कुछ गुप्त सङ्गीतियाँ स्वत भगवान बुद्ध ने आयोजित की थी जिनमे वे अपने अलौकिक रूप मे विराजमान थे। अधिकाश महायान सूत्रो का उपदेश ऐसी ही लोकोत्तर सङ्गीतियो मे हुआ जो गुह्य थी।[२७] अत इन सूत्रो पर आधारित मार्ग का नाम गुह्योयान भी पड गया। महायान को ही एकयान, श्रेष्ठयान, अग्रयान, बुद्धयान, परमार्थयान, भद्रयान, बोद्धिसत्वयान नाम से भी अभिहित किया जाता है।[२८]

बौद्ध धर्म के इस नये लोकपरक स्वरूप के लिये इसके आचार्यो के मन मे बडा उत्साह था और वे इसके पुराने स्थविरवादी बौद्धधर्म की तुलना मे

महायान की विशेष प्रवृत्तियाँ

महायान या बडी नौका कहा करते थे। उनका कथन था कि भवसागर पार जाने के लिये पुराना बौद्ध-मत हीन प्रकार की नौका है, जर्जर है किन्तु महायान श्रेष्ठ है। महायान को

हीनयान से श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये उन्होने आशय, उपदेश, प्रयोग, -उपस्तम्भ तथा काल की श्रेष्ठता महायान में सिद्ध की थी। वैसे तो महायान में आगे चल कर कई सम्प्रदायो का विकास हुआ और बहुत-सी नई साधनाओ ने प्रवेश किया किंतु कुछ ऐसे तत्व है जो पूरे महायान धर्म मे सामान्य रूप से पाये जाते है।[२६] वे तत्व निम्नलिखित है—

१ बोधिसत्वो मे आस्था और प्रत्येक व्यक्ति मे निहित उस सामर्थ्य पर आस्था जिससे वह बोधिसत्व की स्थिति तक पहुँच सकता है। २ लोकहित की भावना। ३ बुद्ध की लोकोत्तर सत्ता मे विश्वास। ४ विभिन्न दार्शनिक प्रणालियो का प्रचार जो बुद्ध-तत्व तथा निर्माण की लगभग वैसी ही व्याख्या देते थे जैसी ब्राह्मण वेदातो मे प्राप्त होती है। ५ महायानियो का साहित्य अधिकतर सस्कृत मे है और पाली धर्म-ग्रन्थो के बाद का है। ६ प्रतिमाओ की पूजा और पूजा-विधियो तथा अनुष्ठानो का विस्तार। ७ अमिताभ बुद्ध मे केवल आस्था मात्र रखने से ही निर्वाण-प्राप्ति का विधान और इसी लक्ष्य से उसका नाम-जप।

महायान का दर्शन-पक्ष

उस समय तक पिछले समस्त सम्प्रदाय चार मुख्य दार्शनिक सम्प्रदाय मे अन्तर्भुक्त हो गये थे, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, माध्यमिक तथा विज्ञानवाद (योगाचार)।[३०] ह्वेनसाग भी इन्ही चारो का उल्लेख करता है। इनमे से पहले दो हीनयानी तथा अतिम दो महायानी सम्प्रदाय थे।[३१] इन्ही के आधार पर अक्सर महायान की दो शाखायें भी मानी जाती हैं, शून्यवादी तथा विज्ञानवादी[३२]। लगभग द्वितीय शताब्दी ईस्वी के अतिम चरण मे नागार्जुन ने अपनी 'माध्यमिक-कारिका' लिख कर शून्यवाद के सिद्धात को विस्तृत, तर्कसगत एव दार्शनिक रूप दिया और उनके लगभग एक शताब्दी बाद ही मैत्रेय के 'अभिसमयालङ्कार-कारिका' का प्रणयन माना जाता है।'[३३]

शून्यवाद

शून्यवाद के सबसे प्रबल प्रतिपादक आचार्य नागार्जुन थे जो दूसरी शताब्दी तथा तीसरी शताब्दी के मध्य मे हुए थे।[३४] उनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'माध्यमिक शास्त्र' है। अपनी कारिकाओ मे नागार्जुन ने उत्पत्ति, गति, दु:ख, बन्धन, मोक्ष आदि सभी धारणाओ की तर्कसहित परीक्षा कर यह सिद्ध किया है कि सभी मे विरोधी धर्मो की उपस्थिति है अत: सभी शून्य हैं।

नागार्जुन ने इस माध्यमिक मत के प्रचार का मुख्य लक्ष्य यह बताया है कि सभी जिनो को सही दृष्टि प्राप्त हो, किन्तु साथ ही वह इससे भी अवगत है कि यही सिद्धान्त सही दृष्टि की उपलब्धि मे बाधक भी हो सकता है अत वह स्पष्ट कह देता है कि जो केवल इसी सिद्धान्त मे सीमित हो जाते है उनके भ्रम का निवारण होना कठिन है।[३५] आर्यदेव इसी की व्याख्या करते हुए लिखते है कि जो रोगी है वह ओषधि द्वारा स्वस्थ हो सकता है पर ओषधि ही जिसका रोग बन जाय उसकी आशा त्याग देनी चाहिये।[३६] अपने इसी शून्य सिद्धान्त के द्वारा सभी वस्तुओ के विरोधी स्वभावो का निरूपण करते हुए नागार्जुन ने प्रख्यात अष्टनिषेधो का सिद्धान्त विकसित किया था जिसमे उन्होने प्रत्येक वस्तु को अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थी, अनार्थी, अनागमी, अनिर्गमी बताया था[३७] और प्रथम अध्याय की प्रथम कारिका मे ही इन आठ निषेधात्मक स्वभावो का उल्लेख करते हुए उन्होने कहा था कि जो इन आठ निषेधो से परिचित हो जाता है वह कभी भी अतिवादो का आश्रय नही लेता है और सदा मध्यम-पथ ग्रहण करता है।

इसी माध्यमिक पथ की ओर साधको को प्रेरित करने के लिये आचार्य नागार्जुन ने शून्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था और उसे सृष्टि का मूल सिद्धान्त बताया था।[३८] किन्तु इस शून्य का अर्थ हिन्दू दार्शनिक 'सत्ता का अभाव' लेते है जो भ्रमपूर्ण है। शून्यता को शून्यवादी आचार्य इस अर्थ मे नही ग्रहण करते। वे वस्तुओ को नितान्त अतात्विक या सत्ता-शून्य नही मानते, जैसे कि शशशृंग या आकाश-कुसुम होते है।[३९] किन्तु वे नितात तात्विक नही है क्योकि वे कारणो पर निर्भर होती है और अनित्य होती है।[४०] यही शून्यता है। संसार मे कोई वस्तु नही जो कारणो पर निर्भर न हो, कोई धर्म नही जो हेतुओ पर आधारित न हो। अत कोई वस्तु या धर्म स्वतत्र नही, सभी परतत्र है, अतः उनका कोई भी स्वभाव नही, अत वे स्वभाव-शून्य है।[४१]

इस शून्य सिद्धान्त का प्रतिपादन उसने 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धान्त द्वारा किया। शून्यता वह है जो 'प्रतीत्य समुत्पाद' द्वारा सिद्ध की जा सके।[४२] 'प्रतीत्य समुत्पाद' के अर्थ है वह सिद्धान्त जो प्रत्येक वस्तु को कारणो, हेतुओ द्वारा उत्पन्न मानता है। चूँकि सभी वस्तुएँ हेतु पर आधारित है अत. उनका स्वत. कोई धर्म नही कोई स्वभाव नही। अत वे स्वभाव-शून्य है। इस प्रकार वस्तुओ और धर्मों के स्वभाव तथा निरपेक्षता का खडन करने के उपरान्त

आचार्य नागार्जुन कार्य-कारण-सम्बन्ध का भी विरोध दिखाते है। उनका तर्क है कि यदि कारण से कार्य भिन्न है तो इसके अर्थ यह है कि उस कारण के बिना भी कार्य सम्भव था। जिससे परिणाम यह निकला कि किसी भी कार्य के लिये किसी भी कारण की आवश्यकता अनिवार्य नही है। बिना कारण के भी कार्य हो सकते है। यदि कारण और कार्य में कोई भिन्नता नही तो एक ही वस्तु को दो नाम देना और उनकी पृथक् सत्ता मानना असंगत है।[४३] इसी प्रकार वस्तुएँ दूसरी वस्तुओ से भी उत्पन्न नही हो सकती क्योकि जब वस्तुओ का कोई अपना निरपेक्ष स्वभाव नही हैं तो दूसरी वस्तु जैसी कोई कल्पना भी असगत है, इसी प्रकार तथागत से कोई वस्तु नही उत्पन्न की जा सकती क्योकि जिस तथागत के पंचस्कन्ध है वह भी शून्यता से ग्रस्त होगा और जो पचस्कन्धो से रहित हो वह तो शून्य है ही।[४४]

इसी प्रकार नागार्जुन संसार की सभी वस्तुओ को शून्य मानता है। उनकी उत्पत्ति, उनके स्वभाव तथा धर्म सब कुछ अकथनीय है। अत वे शून्य है[४५] और केवल एक अनन्त शून्यता की धारा मे प्रवाहित होते चले जा रहे हैं।

किन्तु फिर प्रश्न उठता है कि निर्वाण क्या है, क्यो प्राप्त किया जाय, कैसे प्राप्त किया जाय? यदि कोई भी वस्तु समुत्पन्न नही होती और उसका विनाश भी नही होता। तो वह क्या है जिसके निषेध अथवा विरोध से हमे निर्वाण प्राप्त होता है। और तब निर्वाण की इस कल्पना का निषेध करते हुए नागार्जुन कहते है कि 'न निर्वाण ससार से परे कोई वस्तु है, न ससार निर्वाण से।'[४६] फिर निर्वाण की निषेधात्मक व्याख्या देने के उपरान्त नागार्जुन कहते है कि भाव तथा अभाव के परामर्श के क्षय को निर्वाण कहते है।[४७] इसके लिये कहा गया है कि 'आकाशेन कृतो ग्रन्थिराकाशेनैव मोचिता' अर्थात् शून्य (आकाश) द्वारा उलझी हुई गाँठ अन्त मे शून्य द्वारा ही खुल जाती है।

विज्ञानवाद

आचार्य नागार्जुन की प्रखर तर्कशक्ति के आगे नतमस्तक होते हुए भी उनका दर्शन इतना निषेधात्मक है कि वह अन्ततोगत्वा हमे निष्क्रियता और बौद्धिक उलझन की ओर ले जाता है। स्वत उनका निषेधात्मक तर्क उनकी बुद्ध के प्रति आस्था से सन्तुलित नही हो पाता और अन्ततोगत्वा उसे तथागत को निःस्वभाव मानना पड़ता है। यद्यपि उन्ही की तर्क-परम्परा का आलम्बन ग्रहण कर यह कहा जा

सकता है कि जो नि स्वभाव है वह सर्वोपरि कैसे हो सकता है। उनके दर्शन को यह अन्धवृत्त मे सीमित निषेधात्मकता का अनुभव जिन चिन्तको को हुआ उन्होने योगाचार सम्प्रदाय के नाम से महायान के अन्तर्गत ही एक नई चिन्तना-प्रणाली का प्रचार किया जो विज्ञानवाद या भूततथतावाद के नाम से भी प्रख्यात है।

अश्वघोष, वसुबन्धु, असग तथा मैत्रेय योगाचार के प्रथम आचार्य माने जाते है। कहा जाता है कि नागार्जुन के लगभग १ शताब्दी बाद मैत्रेयनाथ ने 'अभिसमयालकार-कारिका' लिख कर विज्ञानवाद की चिन्तना-प्रणाली को एक विशेष रूप दिया।[४८] इसके बाद यह परम्परा चलती रही और अन्त मे असग ने ५वी शती मे विज्ञानवाद को एक निश्चित रूप दिया।[४९] माध्यमिक सब पदार्थों को शून्य घोषित करता है किन्तु विज्ञानवादियो के अनुसार द्रष्टा के अनुभव, चित्त या विज्ञान-परम्परा को शून्य नही कहा जा सकता। उसका अस्तित्व मानना ही पडेगा। यदि मानसिक दशाएँ और क्रियाएँ भी सत्य नही है, तो माध्यमिक के तर्कों का भी कोई महत्व नही रहेगा। अत. विज्ञानवाद मनोमय जगत का अस्तित्व मानता है। लेकिन वह केवल मनोमय जगत या विज्ञान की सत्ता मानता है और बाह्य विश्व का पूर्ण निषेध करता है। उसका कहना है कि बाह्य विश्व की सत्ता केवल हमारी अनुभूतियो और चेतनाओ मे है। वस्तुएँ मन के बाहर दीखती है किन्तु है वे मन मे ही। अत विश्व केवल विज्ञानो, चेतनाओ और प्रत्ययो की शृङ्खलामात्र है।[५०]

इस प्रकार यह समस्त ससार केवल विज्ञान-प्रवाह मात्र है जिसका अन्तिम लय 'आलयविज्ञान' या 'विज्ञप्तिमात्रता' मे है।[५१] इस आलयविज्ञान के प्रवाह मे एक क्षणिक विज्ञान दूसरे विज्ञान को कार्यकारण-शृङ्खला से उत्पन्न करता जाता है। इसी आलयविज्ञान को चित्त भी कहते है।[५२]

परमार्थ को विज्ञानवादी भी भाव और अभाव से परे मानते है। न वह पैदा होता है, न उसका अवसान होता है, न घटता है, न बढता है, न शुद्ध होता है और न अशुद्ध।[५३] इसी को अश्वघोष ने 'भूततथता' भी माना है। यही निर्वाह है और यही विज्ञप्तिमात्रता है।

जब समस्त अस्तित्व और परम तत्व ही चित्त है, तब इस विज्ञानवाद की साधना भी चित्त के निरोध के अतिरिक्त और क्या हो सकती थी ? इसी लिये इस मत के अनुयायियो ने साधना के क्षेत्र मे योग अपनाया जिसे चित्त-वृत्ति का निरोध कहा गया है, जैसा हम आगे देखेंगे कि इसी सम्प्रदाय ने सिद्धो

के दर्शन पर बहुत बडा प्रभाव डाला था और वज्रयान भी इसी पर मूलत: आधारित था। उस समय भी योगाचार सम्प्रदाय का शून्यवाद से अधिक प्रचलन था। उल्लेख मिलता है कि ह्वेनसाग भी योगाचार सम्प्रदाय का था और हर्ष ने भी इसी सम्प्रदाय मे दीक्षा ली थी।[५४]

महायान के दोनो प्रमुख सम्प्रदायो के दार्शनिक तथा तात्विक विवेचन पर दृष्टिपात कर लेने के पश्चात् अब उनके व्यावहारिक धर्म-पक्ष से थोड़ा परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। इस दिशा मे सबसे पहले बुद्ध-काया की कल्पना पर विचार करना चाहिये। महायानी स्तुतियो मे बुद्ध-काया के तीन रूप बताये गये हैं[५५] जो परम सत्ता के तीन पक्षो के हैं—१. धर्म-काया, २. सम्भोग-काया, ३ निर्माण-काया।

महायान का धर्म-पक्ष

त्रिकाया का यह सिद्धान्त शून्यवाद तथा विज्ञानवाद दोनो के द्वारा मान्य था।[५६] यह धर्म-काया तीनो लोको मे अपने को अभिव्यक्त करते हुए भी सभी आवासो, क्लेशो और सस्कारो से मुक्त अनादि, अनन्त, अजर-अमर, अपरिवर्तन-शील होती है।[५७] सम्भोग-काया मे आनन्द अथवा करुणा की प्रधानता होती है, यह काया बोधिसत्व के रूप मे होती है। निर्माण-काया वह काया है जिसमे वे मानुषी रूप धारण कर ससार के अनुरूप जीवन-यापन करते है। शाक्य सिंह केवल एक निर्माण-काया है। उसके अतिरिक्त भी बौद्ध धर्म के कई आचार्यो को अशरूप मे मानुषी बुद्ध परिकल्पित किया गया है, जैसे दीपकर, काश्यप, मैत्रेय आदि।[५८]

धर्म और साधना पथ मे त्रिकाया-सिद्धान्त के उपरान्त दूसरी महत्वपूर्ण वस्तु है बोधिचित्त।[५९] बोधिचित्त, विज्ञान अथवा चित्त की उस अवस्था को कहते हैं जब वह धर्म-साधना के लिये उद्बुद्ध होता है। बोधिचित्त की बोधि-अवस्था ज्ञान और धर्म-साधना मे निरत अवस्था है जिसमें दो प्रमुख तत्व होते हैं शून्यता-ज्ञान और करुणा।

इस बोधिचित्त को उत्पन्न करने के लिये ६ पारमिताओ की साधना करनी होती है।[६०] यही पारमिताएँ बोधिचित्त को पार ले जाती है।[६१] पारमिताएँ इस प्रकार है—दान, शील, क्षांति (सहनशीलता), वीर्य (आध्यात्मिक शक्ति), ध्यान तथा प्रज्ञा अथवा परमार्थ ज्ञान। इनमे से प्रज्ञा अन्तिम है और

सबसे महत्वपूर्ण है। इसकी साधना के वाद ही बोधिचित्तोत्पाद होता है और उसमे शून्यता-ज्ञान तथा करुणाय समन्वित हो जाती है। इसके उपरान्त यह बोधिचित्त ऊपर की ओर उद्बुद्ध होता है और दस बोधिसत्व-भूमियो को पार करता है। वे भूमियाँ हैं—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकारी, अर्चिस्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरगमा, अचला, साधुमती और अन्त मे मेघमयी भूमि आती है—धर्ममेघ। तब वह प्रज्ञा या परमार्थ ज्ञान का स्वामी हो जाता है। उसमे अनन्त करुणा का उदय होता है और वह पूर्ण बोधिसत्व होता है।[६२]

यह समस्त प्रणाली चर्या कहलाती और चूँकि बोधिचित्त के शून्यता-ज्ञान तथा करुणा से समन्वित होने के उपरान्त यह चर्या समन्वित होती है अत इसे बोधिचर्या कहा गया। इस बोधिचर्या के मूल मे करुणा और अशरण अनाथो को सुख और निर्वाण की प्राप्ति का लक्ष्य है। इसी बोधिचर्या को सम्पन्न कर साधक कल्पना-बन्धन से मुक्त अनूत्तर बोधि को प्राप्त कर लोक का बन्धु और रक्षक हो जाता है।[६३]

किन्तु यह चर्या जनसुलभ नही है अत· जनसाधारण के लिये प्रज्ञा-पारमिताओ मे कुछ सरल मार्ग भी बताये गये है। यह मार्ग बोधिसत्वो की शरण में जाना था। इस शरणागति के साथ-साथ पूजा-अर्चा का भी सम्यक् विधान मिलता है। यह पूजा न केवल मैत्रेय, वैरोचन अथवा अमिताभ की होनी चाहिए, वरन् जहाँ-जहाँ वे गये है, आये है, धर्मचक्र-प्रवर्त्तन किया है। वे सभी ग्राम, नगर, राष्ट्र, राजधानी पुष्प-समर्पण के योग्य है।[६४] उनके द्वारा उपदिष्ट ये प्रज्ञापारमिताएँ भी महिमामयी है और पूजनीय है।[६५] शत साहस्त्रिकी प्रज्ञापारमिता के बीसवें परिवर्त मे चैत्यो मे बुद्ध के अवशेषो की पूजा का माहात्म्य बताया गया है। इस प्रकार की पूजा न केवल निर्वाण वरन् भौतिक सिद्धियाँ भी प्रदान करती थी।[६६]

कालातर मे साधको की सुविधा के लिये तथा जनसाधारण को महायान मे समाविष्ट करने के लिये पारमिताशास्त्र को सक्षेप मे लिखा जाने लगा। शत-साहस्त्रिका को दश साहस्त्रिका, अष्ठ साहस्त्रिका, शतश्लोकी, और अन्त मे केवल एक हृदयसूत्र मात्र मे उसे सक्षिप्त कर दिया गया।[६७] उन मत्रो के साथ विभिन्न ध्यानी बुद्धो का भी महत्व जुड गया और इस प्रकार महायान के साधना-पक्ष के दो रूप हो गये—

पारमितानयः मत्रनय

पारमितानय तथा मंत्रनय। धीरे-धीरे मन्त्रनय मे तान्त्रिक साधनाओ का विकास हुआ, त्रिकाया मे वज्रकाया भी जोड दी गई, शून्यता तथा विज्ञान के साथ महा-सुख का सिद्धात विकसित हुआ। बोद्धिसत्वो की दशभूमि तथा पारमिताओ की साधना के बजाय प्रज्ञोपाय-साधना का विकास हुआ। देव-शृङ्खलाओ में अगणित देवताओ की वृद्धि हुई और हर देवता की एक शक्ति देवी-रूप मे परिकल्पित हुई, गुह्य साधनाओ का विकास हुआ और महायान का रूप तान्त्रिक हो गया और उसे वज्रयान के नाम से अभिहित किया जाने लगा। उसमे सिद्धियो का भी विकास हुआ और अन्त में दर्शन की अपेक्षा क्रिया, चर्या, अभ्यास, अनुष्ठान एव रहस्य-साधनाओ का प्रचार हो गया। उन्ही मे निष्णात आचार्यों को वज्रयानी सिद्धो के नाम से अभिहित किया गया।[६८]

इस प्रकार महायान की लोकपरक साधना ने ही मन्त्रनय और वज्रयानी तान्त्रिक साधनाओ मे परिणति पाई।[६९] यह भाग्य उस समय की लगभग सभी भारतीय धर्म-साधनाओ का हुआ क्योकि एक अदम्य तान्त्रिक लहर उस समय आई थी जिसने हमारी समस्त सस्कृति को अभिभूत कर लिया। बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन सभी उससे प्रभावित हुए और सभी ने एक दूसरे पर कुछ न कुछ प्रभाव छोडा। वज्रयान का स्वरूप समझने के लिये उस तान्त्रिक धारा के उद्भव का विशेष परिचय पाना आवश्यक है।

मत्रनय से वज्रयान

ख

समकालीन बौद्धेतर तान्त्रिक-धर्म-साधनाएँ

लगभग ४०० ईस्वी सन् तक महायान के देवतापरक, पूजा-प्रधान, मन्त्र विधान से युक्त परवर्ती रूप का विकास हो चुका था। इसके बाद ६ठी शताब्दी के लगभग बौद्ध धर्म मे सहसा तान्त्रिक प्रवृत्तियो का प्रवेश होता है और इतनी शीघ्रता से बौद्ध धर्म का रूप परिवर्तित होता है, दो या तीन सौ वर्षों के ही अन्दर वज्रयानी साधनाएँ इतनी प्रचलित हो जाती है, बौद्ध देवताओ की संख्या इतनी अपरिमित, उनके रूप इतने विविध, उनकी शक्ति देवियाँ इतनी अगणित हो जाती है, उनके मन्त्र-तन्त्र-अभिचार, सिद्धियो और क्रियाओ का इतना प्रचार हो जाता है कि उसके मूल रूप का कही पता भी नही लगता।

तान्त्रिक-काल

वास्तव मे ६०० से १२०० ई० तक का काल ही ऐसा रहा है कि भारतीय धार्मिक सस्कृति मे सहसा तान्त्रिक साधनाओ का प्रादुर्भाव होता है और वे इतनी व्यापक हो जाती है कि सभी सम्प्रदाय चाहे वे वैदिक हो या अवैदिक, चाहे वे वैष्णव हो या शैव, चाहे वे बौद्ध हो या जैन सभी तान्त्रिक सृष्टि-तत्व, तान्त्रिक देवमडल, तान्त्रिक तान्त्रिक यन्त्रविधान, तान्त्रिक मन्त्र साधना, तान्त्रिक आचार-विधान तथा हठयोगी साधनाओ को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से आश्रय देने लगते है। इसी कारण इस समस्त काल को ही विद्वानो ने तान्त्रिक काल के नाम से अभिहित किया है।[1]

वैसे इस काल मे सामान्य सास्कृतिक मूल्याकन के विषय मे मतभेद है। कुछ विद्वान इसे ह्रास और पतन का काल कहते हैं, जब चिन्ता-पारतन्त्र्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था, कला मे भी सजावट और पच्चीकारी की ओर अधिक दृष्टि थी।[२] किन्तु कुछ विद्वान इसे 'भारतीय मानीषा की जागरूकता, कर्मण्यता और प्रतिभागत उत्कर्ष का काल' मानते है।[३] वास्तव मे इसका रूप बहुत कुछ इस प्रकार है कि पुराने ग्रन्थो पर टीकाओ की परपरा ज्यादा बढ जाती है और उनमे पुराने सिद्धान्तो के नये और कभी-कभी योगपरक या तन्त्र-परक अर्थ भी दिये जाने लगते है। कभी-कभी लोकधर्म के नये आचार पुराने सम्प्रदायो मे प्रवेश कर जाते है और छोटे-छोटे सम्प्रदायो मे यद्यपि उस एक ही तान्त्रिक प्रभाव की वृद्धि होती है किन्तु उनका पारस्परिक प्रभाव और विग्रह दोनो ही चरमसीमा पर पहुँच जाते है। दूसरी ओर भारतीय धर्म प्रचारको की पहुँच सुदूर जापान तक होती है और भारतीय चिन्तना का विदेशो से जितना आदान-प्रदान इस काल में होता है उतना पहले कभी भी नही हुआ था।

अगणित नये आचार-प्रवण सम्प्रदाय

इस काल में छोटे-छोटे अगणित सम्प्रदायो का उद्भव हुआ जिनका मुख्य आधारदण्ड किसी विशेष देवता की प्रधानता या किसी विशेष आचार-पद्धति की प्रधानता थी। कभी न कभी आचार के छोटे-से-छोटे सिद्धात पर नया सम्प्रदाय उठ खडा होता था। जैनियो मे तो इस प्रकार के अगणित सम्प्रदायो का उल्लेख मिलता था। हत्थी-तावस जो हाथी का शिकार करते थे, बल-तावस जो केवल पेड से गिरी पत्तियो का भक्षण करते थे, कण्डप्पिय जो वाजीगरी के कौतुक कर जीवन-यापन करते थे, उत्तर कूलग जो गगा के केवल उत्तरी तट पर रहते थे, दाहिण कूलग जो केवल दक्षिणी तट पर रहते थे आदि आदि थे[४]। छोटे-छोटे सम्प्रदाय मुख्यतया अपनी वृत्ति और अपने रहन-सहन की विलक्षणता पर बन जाते थे और धीरे-धीरे इनका वाह्याचार इनके धर्म का प्रमुख प्रतीक मान लिया जाता था। इससे प्रतीत होता है कि उस समय की धर्म साधना मे तत्व-चिन्तना गौण थी, वाह्याचार की अनुगामिनी थी और उस समय का धार्मिक वातावरण विशेषतया अनुष्ठान और क्रिया-परक था।

आज उनमें से अधिकाश सम्प्रदाय विलुप्त हो गये हैं। वे अधिकाश निम्न वर्ग के लोक-परक सम्प्रदाय थे अत उनकी भाषा लोकभाषा ही रही

होगी[५]। इसी कारण उनका उल्लेख सस्कृत ग्रन्थो में भी कम ही मिलता है। किन्तु वे सभी सम्प्रदाय न जाने कितने आचार और कितने स्थानीय देवी देवताओ और उनके पूजन की जाने कितनी विधिया छोड गये है जो अब भी उन बडे तान्त्रिक सम्प्रदायो और ग्रन्थो मे पाई जाती है जिनमे वे अन्तर्भुक्त हो गये है। उस समय समसामयिक साधना पद्धतियो ने एक दूसरे को बहुत प्रभावित किया है[६]। और इस दृष्टि से बौद्ध-धर्म के तान्त्रिक रूप वज्रयान और उसके लोक-भाषा मे लिखे गये साहित्य चर्यापद तथा दोहो के अध्ययन के लिये उस समय की धार्मिक साधनाओ से सूक्ष्म परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है क्योकि जैसा हम आगे चल कर देखेंगे कि मूल बौद्ध धर्म और तन्त्रो मे कही कोई समानता ही नही है और यह किसी प्रकार भी सभव नही है कि बौद्ध धर्म ने इसे अपनी ही परम्परा मे, अपने ही क्षेत्र के अन्दर विकसित किया हो। उसने तत्कालीन प्रचलित साधनाओ को महायान के विकास के उत्तरार्द्ध मे अपना कर उन्हे बौद्ध शब्दावली प्रदान कर दी थी। वास्तविकता तो यह है कि बाद का वज्रयानी चिन्तन उन्ही साधनाओ पर आधारित है। उन साधनाओ को पचाने के लिये, उनका औचित्य सिद्ध करने के लिये वज्रयानी आचार्यों ने त्रिकाया, बोधिचित्त, करुणा, शून्य आदि के तान्त्रिक अर्थ दे दिये है।

तन्त्र की व्याख्या

जैसा कहा जा चुका है कि अपनी समस्त विविधता के आवरण मे भी इस तान्त्रिक काल मे प्रचलित छोटे बडे सम्प्रदायो मे एकसूत्रता यह थी कि इन सबो मे तत्व-चिन्तन की अपेक्षा साधनापद्धति की प्रधानता थी। किसी एक देवता या शक्ति को सृष्टि का मूल-तत्व मानना, उपासना की पद्धति की प्रचुर प्रसार और विस्तार से व्याख्या करना, मन्त्रो का महत्व, देवताओ के प्रतीक बीजाक्षरो और वर्णो का विधान, भूतसिद्धि, कुण्डलिनी-योग, रहस्यमयी साधनाएँ, बाहर से मर्यादा-विरुद्ध दीखने वाले गुह्य वामाचार, दीक्षाए और गुरु का महत्व, ये सभी तत्व इनमे एक समान है। उनमे इतनी अधिक समानता है कि शैवो ने यदि उसे शैव परिभाषा दी है, बौद्धो ने बौद्ध, तो इससे कुछ भी अन्तर नही पडता। मूल स्वर उन सबो का एक है। वे सभी तान्त्रिक मत है। तन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि तत्व-मन्त्रो से समन्वित जो विपुल अर्थो का विस्तार करता है और त्राण भी करता है उसे तन्त्र कहते है[७]। इस साधनापरक धर्मपद्धति को

तन्त्र क्यो कहते थे, इसके विषय मे कहा जाता है कि 'तन्त्र' की व्युत्पत्ति 'तन्' धातु से हुई है 'तन्यते विस्तारयते ज्ञानम् अनेन इति तन्त्रम्' के अनुसार किसी भी ज्ञान को जो विस्तार प्रदान करता है, उसका सागोपाग विवरण देता है उसे तन्त्र कहते हैं। इसी के अनुसार हमे न्यायतन्त्र, चिकित्सातन्त्र आदि शब्द मिलते है।[८] ज्ञात यह है कि धर्म साधनाओ मे जिन नई पूजाओ, मन्त्र-पद्धतियो, देवी देवताओ, अनुष्ठानो, यन्त्रो, योगसाधनाओ का प्रवेश हो रहा था उन्हें पूर्ण रूप से एक ज्ञान या एक चिन्तनापद्धति के अन्दर समन्वित कर एक नियम अथवा एक अनुशासन मे सुयोजित कर देने वाली प्रणाली का नाम तन्त्र पड गया।[९]

तन्त्र का उद्गम

एक विचारणीय प्रश्न यह है कि यह तन्त्राचार आया कहाँ से। क्या यह पहले से ही हमारे देश मे प्रचलित था ? यदि ऐसा था तो क्यो इसी शती में उसका इतना प्रभाव मिलता है। या इन्ही दिनो या इसके कुछ पहले यह किसी विदेशी जाति के साथ आया और कुछ ही शतियो मे समस्त देश की धर्म-योजना मे इतना गहरा पैठ गया कि हमारी समस्त चिन्तना का रूप बदल गया। कई विद्वानो ने तन्त्रो के विदेशी उद्गम का उल्लेख किया है। महामहोपाध्याय डा० हरप्रसाद शास्त्री ने तन्त्रो का भारत मे आगमन शको के मग पुरोहितो के साथ बताया है।[१०] यद्यपि इसके साथ उन्होने कोई विशेष प्रमाण नही दिये थे किन्तु उनके इसी मत के आधार पर डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने इस सम्भावना की कल्पना की कि योगाचार मत का प्रमुख आचार्य और वज्रयान मत में तन्त्रो के प्रथम उपदेश के लिये प्रख्यात असग गान्धार देश का निवासी था और सभव है वह मग पुरोहितो की तान्त्रिक साधना-पद्धति से परिचित हो।[११] किन्तु इसके अन्य कई प्रमाण मिलते है जो अधिक प्रबल है। पहला तो यह है कि प्राचीन वाड्मय मे कभी-कभी तन्त्रो की साधनापद्धति को अद्भुत बताया गया है और उसे अवैदिक भी कहा गया है।[१२] दूसरे स्वत तन्त्र-ग्रन्थो मे भी कभी-कभी ऐसे उल्लेख मिलते है कि तन्त्रो का प्रचार करने के लिये देवता बाहर से आये और फिर लौट गये।[१३]

इसमें कोई सदेह नही कि तन्त्रो में समय-समय पर विदेशी साधनाओ का भी प्रवेश हुआ है। चीनागम तथा चीनाचार तो स्पष्ट विदेशों से आया

है। कालान्तर मे तन्त्रो के दो भेद माने गये। एक परंपरागत आगम, यमल इत्यादि और दूसरे नवीन तन्त्र जिनमे बौद्ध तथा वामाचार, कौलाचार के अन्तर्गत आने वाली तान्त्रिक साधनाए है।[१४] इन पर किस प्रकार विदेशी प्रभाव पडा और उनमे से एक विशेष विदेशी सम्प्रदाय 'ताओ' ने कहाँ तक सहजयानी दर्शन को प्रभावित किया[१५] इस पर बाद मे विचार किया जायगा।

जहाँ तक पुराने तन्त्रो का प्रश्न है उनका नाम 'आगम' भी यह सूचित करता है कि व सम्भवत वैदिक परम्परा के नही थे।[१६] हमे मध्यकालीन धार्मिक साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि प्रारम्भ मे इन्हे अवैदिक कहा जाता रहा और अन्त मे जो मत लोक-प्रचलित हो गया उसे ब्राह्मण परम्परा द्वारा ग्रहण कर लिया गया। जो अपेक्षाकृत नवीन पुराण[१७] है उनमे भी अक्सर ऐसे बहुत से नवोदित सम्प्रदायो का उल्लेख मिलता है जिन्हे रूढिवादी चिन्तक वर्ग अवैदिक मानता था। 'कूर्म पुराण' मे लाकुल, वाम, पूर्व, पाचरात्र, भैरव कापालिक आदि मतो को अवैदिक बताया गया है। अधिक रोचक अश यह है कि विष्णु तथा रुद्र इन दो देवताओ को इन मतो का मूल प्रवर्तक बताया जाता है और यह भी कहा जाता है कि इन्होने इन मतो का प्रचार कुछ ऐसे ब्राह्मणो से कराया जो वेद पढने का अधिकार खो चुके थे।[१८] किन्तु कूर्म पुराण मे ही अन्त मे ग्यारहवें तथा बारहवें अध्याय मे शिव का शक्ति और शक्तिमान इन दो तत्वो मे विभाजित होने का वर्णन तथा हिमालय द्वारा तपस्या कर अपने कुल मे शक्ति का पुत्री रूप मे अवतरित होने के वरदान पाने का वर्णन है और अन्त मे देवी स्वत कहती है कि 'ये कुशास्त्राभियोगेन मोहयन्तीह मानवाम्, मया सृष्टाणि शास्त्राणि मोहायेषाम् भवान्तरे'। इससे स्पष्ट होता है कि सम्भवत यह अश किसी शाक्त चिन्तक द्वारा प्रणीत है जिसने अपने मत को वैदिक सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस प्रकार कितने ही नये मत प्रारम्भ मे अवैदिक कहकर त्याज्य रहे और बाद मे वे हिन्दू धर्म परम्परा मे अन्तर्भुक्त होते गये।[१९]

कूर्मपुराण से कम से कम एक बात बहुत महत्वपूर्ण ज्ञात होती है कि ये तान्त्रिक सम्प्रदाय ऐसे ब्राह्मणो द्वारा प्रवर्तित थे जो रूढिवादी ब्राह्मणो द्वारा नीची निगाह से देखे जाते थे और जिन्होने अपना द्विजसुलभ वेदपाठन का अधिकार खो दिया था।

दूसरी ओर भारतीय वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से हमे यह ज्ञात होता है कि अथर्ववेद मे मारण, मोहन, उच्चाटन, मन्त्र, रक्षा, सिद्ध, गुह्य साधनाओ का

प्रचुर उल्लेख मिलता है। उस समय भी अथर्ववेद को आर्य परम्परा मे नहीं गिना जाता था। ऐसी विश्वास किया जाता है कि अथर्ववेद की गुह्य साधनाएँ भारत के अनार्य आदिवासियो की थी जिन्हे पूर्वागत आर्यों ने अपना लिया था। इसी कारण वाद मे आनेवाले अन्तरङ्ग आर्य उन्हे 'व्रात्य' कहा करते थे। इन व्रात्यो का आचार-विचार वहुत कुछ अनार्य जातियो से प्रभावित रहता था। पहले तो अन्तरङ्ग आर्यों ने अनार्यो की भाँति उन्हें भी बहिष्कृत रक्खा किन्तु बाद मे वे अक्सर 'व्रात्यस्तोम' नामक यज्ञ समारोहो मे उन्हे शुद्ध कर अपनी सामाजिक परिधि मे वापस ले लेते थे।[२०] इन व्रात्यो के साथ साथ बहुत-सी भारत के मूलनिवासियो की आदिम प्रवृत्तियाँ, अन्धविश्वास, यन्त्र-मन्त्र और जादू टोना आ गया होगा। इसके अतिरिक्त कई स्थानो पर आर्यों ने इन मूलनिवासियो की रूपवती कन्याओ से विवाह सम्बन्ध स्थापित किया था।[२१] इस प्रकार धीरे-धीरे आर्यों की विचार परम्परा मे आर्येतर साधनाएँ और देवी देवता भी प्रवेश पाने लगे। प्रारम्भ मे अन्तरङ्ग आर्यों ने उनका स्वागत नही किया, वे केवल गौण देवता रहे किन्तु धीरे-धीरे प्रमुखता पाते गये। शिव इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।[२२] ब्राह्मणो का विरोध होते हुए भी जनसाधारण मे यह सभी जादू टोने की सिद्धियाँ प्रचलित रही और रहस्य-साधनाएँ चलती रही। निस्सदेह बहिरग आर्यों मे आसाम, उडीसा, महाराष्ट्र, काठियावाड, गान्धार, भोटान्त, बगाल, मगध आदि देशो मे इनका प्राधान्य रहा होगा। ये व्रात्य जातियाँ रूढिवादी ब्राह्मणो के आचार-विचार और जाति-व्यवस्था की भी विरोधी थी और उनकी कडी आलोचना करती थी। अधिकाश विद्रोही चिन्तक, महावीर, गौतम आदि इन्ही प्रदेशो के थे। तन्त्रो का सम्बन्ध निस्सदेह इन रूढिगत आचार के विरोधी, जाति-व्यवस्था को उतनी कडाई से न मानने वाले, आदिम आर्येतर सस्कारो और साधनाओ से युक्त बहिरग आर्यों से रहा होगा। तन्त्रो के अधिकाश केन्द्र इन्ही बहिरग क्षेत्रो मे थे।[२३] अथर्ववेद इनका मूल ग्रन्थ था इसे भी तान्त्रिक विचारक भूले नही थे।[२४]

लोक-धर्म

कालान्तर मे ये साधनाएँ लोक साधारण मे व्याप्त हो गईं। उच्चवर्गीय ब्राह्मण धर्म के अतिरिक्त एक लोक प्रचलित धर्म भी था जिसमे ऐसे साधको के प्रति आदर या भय रहा होगा। लोक साधारण में उस समय कुल-देवियो और स्थानीय ग्रामीण देवी देवताओ का भी

पूजन प्रचलित था जिनको प्रसन्न करने के लिये टोना-टोटका भी होता था। ऐसी एक देवी थी जिसका मुख बिल्ली के समान होता था और बच्चो से घिरी होती थी।[२५] तन्त्र परम्परा का सम्बन्ध लोक साधारण मे पूजित कुल देवियो से अवश्य था इसके कई महत्वपूर्ण प्रमाण मिलते है। 'अक्षर विधान' मे ईश्वर अपनी शक्ति से कहता है कि 'तुम प्रयाग के समीप कर्णवीर नामक महाग्राम मे मेघदत्त के शुभ गृह मे उत्पन्न हुई और तेरह वर्ष तक मेरी पूजा कर तुमने सिद्धि प्राप्त की'।[२६] इनमे अक्सर निम्न-वर्ग की कुलदेवियाँ भी होती थी।[२७] कुब्जिकातन्त्र मे कुब्जिका देवी कुम्भकार के यहाँ उत्पन्न हुई थी और उनकी पूजा का विधान भी कुम्भकार के ही यहाँ और उससे सम्बन्धित समस्त आचार प्रणाली को ही कालिकाम्नाय' नाम दिया गया है।[२८]

बहुत सभव है कि प्रारम्भ मे इन पूजोपचारो के लिये कुलीन ब्राह्मण न प्रस्तुत होते हो अत बहुत से ब्राह्मण जो निम्नवृत्ति अपनाने के कारण या आचारभ्रष्ट हो जाने के कारण रूढिवादियो द्वारा तिरस्कृत कर दिये गये हो या जो स्वयम् उनके प्रति विद्रोही हो और लोकधर्म और लोकाचार को ग्रहण कर चुके हो, वे इन जातियो और उनकी पूजाओ के पुरोहित बन गये हो। ऐसे उल्लेख हमे अक्सर मिलते हैं कि कुछ विशेष जातियो के विशेष पुरोहित रहे है,[२९] या विशेष अभिचारो के लिये लिये विशेष ब्राह्मण ही बुलाये जाते रहे हैं। इसी प्रकार के ब्राह्मणो ने तन्त्रो का तथा तान्त्रिक मतो का प्रचार किया होगा। और तभी कूर्म्म-पुराण मे ऐसे सम्प्रदायो के प्रचारको को वेदच्युत ब्रह्मण कह गया है।[३०]

इस प्रकार तन्त्र वास्तव मे उन अगणित लोकाचारो, लोक मे पूजित देवियो, तथा लोक प्रचालित रहस्यमय अनुष्ठानो का परिणत रूप है जो आदि निवासियो ने सृष्टि से सग्राम करते समय अपना लिये थे और जो सदैव हमारे देश से निम्न-वर्ग मे प्रचलित रहे। तान्त्रिक काल मे यह लोकधर्म उभर कर ऊपर आ गया और इसको ग्रहण करने के लिये कितने ही सम्प्रदाय प्रत्येक धर्म मे वन गये जिनमे साधना प्रधान थी और उसी साधना के अनुरूप उन्होने अपने देवी देवताओ का स्वरूप, उनके रारस्परिक सम्वन्ध, उनकी चर्या, क्रिया, अफि-चार, मन्त्र आदि परिकल्पित कर लिये। इसीलिये तन्त्रो का आगम नाम सर्वथा उपयुक्त है। वे लोक प्रचलित, आदिम परम्पराओ पर आधारित अनुष्ठान उच्च-वर्गीय चिन्तना मे 'आये,' वे शुद्ध वैदिक दृष्टि से 'बाहरी' तत्व थे और कालान्तर

में विदेशी साधनाएँ भी उनमे समाहित होती रही (इस लोकधर्म के उभर कर ऊपर आने का कारण निश्चित रूप से वह सामाजिक पृष्ठभूमि थी जिसका आभास हम पिछले अध्याय मे दे चुके हैं) तान्त्रिक आचार्यों ने तो घोषणा यह तक की कि श्रुतियो, स्मृतियो तथा पुराणो का युग बीत गया और अब केवल तन्त्रो का युग है।[३१] और धीरे-धीरे तन्त्र साहित्य का महत्व इतना बढा कि वह भी वैदिक श्रुतियो के समक्ष गिना जाने लगा।[३२]

तन्त्रो मे जो कि वैष्णव-शक्ति लक्ष्मी की पूजा का विधान करते है वे संहिता, शैव-तन्त्र आगम तथा शक्ति-तन्त्र तन्त्र कहलाते थे।[३३] इनमे से पाचरात्र संहिताओ की परम्परा बहुत प्राचीन है और उनके सम्पादक डा० श्रेडर का कहना है कि कुछ सहिताएँ ईस्वी शती के पहले भी वर्तमान थी। शेप संहिताएँ या तो तान्त्रिक काल तक बन चुकी थी या बन रही थी।

तान्त्रिक सम्प्रदाय : पाचरात्र

कहा यह जाता है कि इनके पहले भी वैखानस संहिताएँ दक्षिण भारत के मन्दिरो मे व्यवहृत की जाती थी। किन्तु रामानुज ने वैखानस संहिताओ का विरोध किया और उनके स्थान पर पाचरात्र संहिताओ का प्रचलन किया।[३४]

इन पाचरात्र सहिताओ की विषयवस्तु चारपाद मे विभाजित थी। ज्ञानपाद, योगपाद, क्रियापाद, चर्यापाद। इनमे से ज्ञान तत्व-दर्शन, योग चित्तवृत्ति-साधना, क्रिया मन्दिरो तथा प्रतिमाताओ की स्थापना उसके पूजा अर्पण आदि का विधान और चर्या मन्त्र-तंत्र की साधना की व्याख्या करते थे।[३५] तंत्रो की सामान्य प्रकृति के अनुसार इसमे साधना पर विशेष आग्रह था क्योंकि पद्मतत्र मे ४५ पृष्ठो मे ज्ञानपद, ११ पृष्ठो मे योगपाद, २१५ पृष्ठो मे क्रियापाद तथा ३७६ पृष्ठो मे चर्यापाद के विधानो का वर्णन है। क्रिया तथा चर्या प्रमुख विषयवस्तु हैं और ज्ञान तथा योग तो केवल पाठिका या सन्दर्भ रूप मे दे दिये गये हैं।[३६]

साधना पक्ष मे इन संहिताओ मे मन्त्र-शक्ति तथा मन्त्रो का विशेष वर्णन किया गया है।[३७] वाणी नारायण से उद्भूत हुई है। यह वाणी प्रारंभ में एक घंटे की गूढ ध्वनि बिन्दु या अनुस्वार मे परिणत हो जाती है जिसके दो रूप हैं शब्द-ब्रह्म या तत्व का बोध कराने वाला शब्द, और भूति या वास्तविक तत्व। बिन्दु दो रूप ग्रहण करता है। स्वर तथा व्यजन। फिर परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी[३८] के सिद्धांत के अनुसार ये प्रसुप्त स्वर कुण्डलिनी के साथ उर्ध्व-

गामी होकर चक्रो का भेदन करते हुए कण्ठ तक पहुँचते है जहाँ सबसे पहले ध्वनि उत्पन्न होती है, इसी कारण है विसर्ग की व्याख्या सृजन-शक्ति या सृष्टि के रूप मे गई है और उसी का पूरक अनुस्वार सहार का प्रतीक माना गया है। अनुस्वार को सूर्य माना गया है तथा अ, इ, ऋ, उ, लृ, ए, ओ को सूर्य किरण समूह माना गया है। विसर्ग को चन्द्रमा माना गया है तथा दीर्घ स्वरो को आ, ई, ॠ, लॄ, ऊ, ऐ, औ, को चन्द्रकिरण समूह। इनमे से अनुस्वर समूह दिन से सम्बद्ध है, पिंगला नाडी से सम्बद्ध है और विसर्ग समूह रात्रि से सम्बद्ध है, इडा से सबंधित है।[३९]

पुनश्च वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर के त्रिविध रूप बताये गये है — १ वैष्णव, २ शैव तथा ३ शाक्त।[४०]

यंत्र भी इन्ही मंत्रो के ही अविभाज्य अग थे। इन यंत्रो का स्वरूप रेखागणित के षटकोणादि के रूप मे था जो वास्तव मे सुदर्शन पुरुप और उसके अंतगर्त १२ व्यूहो के रेखा-रूप थे। जब इनमे से रूप हठ जाता था तव वे केवल वाणी रूप मे अधिष्ठित होकर मंत्र का रूप ग्रहण कर लेते थे।[४१]

इन मंत्रो को अस्त्रो तथा चक्रो के अभिचार रूप मे भी प्रयुक्त किया जाता था।[४२] अस्त्र अदृश्य होते थे पर समय पडने पर वे भयकर रूप वाले प्राणियो का शरीर धारण कर लेते थे, उनके विकराल दाँत तथा अग्निजिह्वाएँ होती थी और कोई दाहक सूर्य के वर्ण का, कोई लोहित वर्ण का, कोई श्वेत वर्ण का होता था और लौह-फल जैसे घातक शस्त्र उनके हाथो मे रहते थे।[४३]

पाचरात्र सहिताए न केवल बौद्ध धर्म से परिचित थी वरन् वे बौद्ध धर्म को अपना दूसरा प्रतिरूप ही मानती थी। बौद्धो के शून्यवाद की गिनती उस समय के प्रमुख सम्प्रदायो मे थी। पद्म तत्र मे[४४] प्रलय के उपरात वटपत्र पर शायी विष्णु को शून्य नाम से अभिहित किया गया है[४५]। शुदर्शन चक्र को काल चक्र का प्रतीक माना गया है जो बौद्धो को बुद्ध रूप दृष्टिगोचर होता है।[४६]

इन वैष्णव सहिताओ के समान शैवागमो की परम्परा भी बहुत प्राचीन है। ये शैवागम शिव के पाँच मुखो द्वारा लोक मे प्रकट किये गये थे।[४७] इन पाँच मुखो से प्रकट आगमो की सख्या २८ मानी जाती है।[४८]

शैवागम

इनको शैव सिद्धात के नाम से भी पुकारते हैं। इनमे तीन पदार्थों की सत्ता मानी जाती हैं। प्रथम पति अथवा शिव।

द्वितीय पदार्थ पशु है अर्थात् वह शिवरूप जो मलादि से युक्त हो गया है । तृतीय पदार्थ पाश है जिसके चार रूप हैं मल, कर्म, माया, तथा रोधशक्ति । मुक्ति का परम साधन शिल का अनुग्रह माना गया है जिसमे आचार्य रूप से शिव पशु को "दीक्षा" देते है । यह "दीक्षा" ही अनुग्रह है ।[४९]

इन आगमो के आधार पर पद्म-तंत्र (१ १. ५०) मे शिव को तीन प्रमुख सम्प्रदायो का प्रवर्तक बताया गया है । पाशुपत, शुद्ध शैव तथा कपाल ।[५०] तान्त्रिक शैव मतो मे पाशुपत मत सम्भवतः सबसे प्राचीन है और अवान्तर उपनिपत्काल मे ही इसका विकास होने लगा था । इसके ऐतिहासिक सस्थापक का नाम लकुलीश या नकुलीश था । इनकी मूर्तियाँ अब भी गुर्जर, राजस्थान, मालवा तथा गौड देश मे प्राप्त है जिनमे वे एक हाथ लकुटी धारण किये है । अत उनका नाम लकुटीश पडा । लकुटीश का समय मथुरा शैव स्तम्भ के शिलालेख के आधार पर डा० भण्डारकर ने द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना है । इसी समय कुशानवशी हुविष्क की मुद्राओ पर लकुटीधारी शिव की मूर्तिया मिलती है ।

पाशुपत मत

पाशुपत तीन के स्थान पर पाच पदार्थ मानते हैं कारण, काया, योग, विधि तथा दुखान्त । कारण साक्षात् शिव है । कारण द्वारा निर्मित पदार्थ कार्य कहलाता है जो परतन्त्र होता है और तीन प्रकार का होता है विद्या, कला, पशु । विद्या पशु का गुण है जो दो प्रकार की है बोधात्मिका तथा आबोधत्मिका । बोधात्मिका के भी दो भेद है विवेकजनक, अविवेकात्मिका । अबोध अधर्म की जननी है । कला मे चेतन के भी वश मे होने वाले द्रव्यो की गणना है और पशु स्वम् जीव है । पशु दो प्रकार का बताया गया है, शरीरेन्द्रियधारी पशु साजन और उससे मुक्त पशु निरजन । तीसरा पदार्थ है योग जो चित्त की क्रिया है उसी से आत्मा व ईश्वर का सयोग होता है "चित्तद्वारेण आत्मेश्वर सयोगो योग " । चतुर्थ पदार्थ विधि है जो वाह्याचार का द्योतक है । इस पर तन्त्रो का स्पष्ट प्रभाव है ।[५१]

विधि के दो भेद है, व्रत तथा द्वार । व्रत पाँच प्रकार के होते है । भस्मस्नान, भस्मशयन, उपहार, जप तथा प्रदक्षिणा ।

दुखान्त मोक्ष को कहते है । यह भी दो प्रकार का है । अनात्मक अर्थात

जिसमे केवल त्रिविध दुखो की निवृत्ति होती है। सात्मक मे उसे सिद्धियाँ भी मिलती है।[५२]

काश्मीरी शैवमत

शुद्ध शैवमत के दो रूप हो गये थे। उत्तर मे काश्मीर मे स्पन्द-शास्त्र, त्रिक्दर्शन या प्रत्यभिज्ञादर्शन जो कि अद्वैतवाद से प्रभावित था और दक्षिण मे वीरशैव जो विशिष्टाद्वैतवाद से प्रभावित था। अनुश्रुति यह है कि भगवान शकर ने इस मत के आदि प्रवर्तक वसुगुप्त (९ वी शती प्रारम्भ) को स्वप्न दिया कि वे महादेव गिरि मे किसी गुहा मे उत्कीर्ण शिवसूत्रो का उद्धार करें जिनके आधार पर उन्होने बाद मे 'स्पन्दकारिका' लिखी। उनके दो शिष्य थे, कल्लट तथा सोमानन्द। कल्लट ने त्रिक्दर्शन[५३] और सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञादर्शन लिखा। इन्ही के शिष्य उत्पल तथा उत्पल के शिष्य अभिनवगुप्त हुए थे। पूर्वी देशो के शाक्त मतो का घनिष्ठ सम्बन्ध इस शैवमत से अवश्य था, चाहे हम यह स्वीकार करें या न करें कि शाक्त मत इन्ही की एक शाखा थी। जहाँ तक सिद्धान्तो का प्रश्न है मुख्य सिद्धान्तो पर कल्लट तथा सोमानन्द मे कोई अन्तर नही है। इन्होने आगमो के ही सिद्धान्तो को अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार व्यवस्थित कर दिया है। स्पन्द-शास्त्र के अनुसार केवल शिव सत्य है। वह पूर्ण स्वतन्त्र और सर्वशक्तिमान है। जीव मूल रूप मे शिव है केवल अणु, माया तथा कर्म इन तीन मलावरणो के कारण अपने को अलग मानता है। इन मलो का मूलकारण शब्द है। यह शब्द अथवा नाद शिव की शक्ति का स्त्री रूप है। इसको शिव मे लीन करने का साधन माया है। परम साक्षात्कार को भैरव कहते है।

प्रत्यभिज्ञा मे इसी परम साक्षात्कार का एक नया रूप है। लौकिक प्रयोग मे 'यह वही व्यक्ति है,' इस ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते है। ईश्वर से साक्षात्कार होने पर 'मै वही ईश्वर हूँ' यह ज्ञान ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा है। ईश्वर को पाँच शक्तियो से सम्पन्न बताया गया है। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। अद्वैतवाद के समस्त सिद्धान्तो को लेते हुए भी इसमे ईश्वर को इच्छा-सम्पन्न बताया गया है।[५४]

दक्षिण मे शैवमतो की दूसरी तान्त्रिक साधना विकसित हुई जिसे वीर

वीर शैवमत

शैवमत या लिंगायत सम्प्रदाय या शक्ति विशिष्टाद्वैत के नाम से अभिहित किया जाता है। अनुश्रुति के अनुधार इसका प्रचार रेणुकाचार्य, दारुकाचार्य घण्टाकर्ण, धेनुकर्ण तथा विश्वकर्म द्वारा हुआ था। ये आचार्य इतिहास तथा दिशा और काल की सीमाओ से परे माने जाते हैं। कलि मे इनका नाम रेवणसिद्ध, मरुलसिद्ध, एकोरामाराध्य तथा विश्वाराध्य होगा।[५५] कलचुरि नरेश बिजुल के मन्त्री बसव ने तथा एकान्त रामय्या ने भी जैनो का उच्छेद कर वीरशैव मत का प्रचार किया था।[५६]

इसका मूल सिद्धान्त यह है कि जीव तथा ब्रह्म दोनो ही एक निहित शक्ति से समन्वित रहते है। इसी विशिष्टता से समन्वित होने के कारण दोनो का पारस्परिक लाभ होता है अत इसे शक्ति-विशिष्टाद्वैत का नाम दिया गया है। शिव की इच्छा से समन्वित इस शक्ति के निर्माणकारी रूप को विमर्श कहा जाता है[५७] जो ससार रचती है। समस्त ससार के मूल मे शिव हैं और यह ससार पत्र, शाखादि के रूप मे स्थित हैं।[५८]

इस मत मे साधना के उपरान्त जिस आनन्द की प्राप्ति होती है उसे समरस और उस अवस्था को सामरस्य कहा जाता है। यह समरस लिंग तथा अग के ऐक्य से प्राप्त होता है। लिंग तथा अंग उसी परशिव के दो रूप है जिसे 'स्थल' कहा जाता है क्योकि उसी मे चराचर जगत की स्थिति तथा लय है।[५९] उसके सक्रिय अश को लिंग भी इसलिये कहा जाता है उसमे ससार का लय और गमन है।[६०] साधना के वाद महालिंग घन मे लीन हो जाता है और उसके लिये सिद्धान्त-शिखामणि मे रेणुकाचार्य कहते

जले जलमिव न्यस्तम् वन्हौवन्हिरिवार्पित
परे ब्रह्मणि लीनात्मा विभागेन न दृश्यते...(परिच्छेद २०, २)

कालमुख

वीरशैव मत तथा काश्मीर शैव सम्प्रदाय दोनो ही से अपेक्षाकृत पुराने कालमुख के विपय मे उल्लेख मिलते है जिसका प्रभावक्षेत्र दक्षिण ही था। शकर-दिग्विजय के प्रणेता तथा रामानुजाचार्य ने कालमुखों का जो वर्णन किया है उससे ज्ञात होता है कि वे कपाल मे भोजन करते थे, अंग मे चिता भस्म का लेपन करते थे, भस्म भक्षण करते थे, गदा धारण करते थे। मद्यपात्र रखते थे और उसी में भगवान को आसीन मानते थे, किन्तु भण्डारकर का मत है कि इस वर्णनो में

कालमुख के भ्रम के कापालिक मत के लक्षण मिलते हैं।[६१] नान्दीमठ का भी मत है कि कालमुख कापालिक मत से अलग था। उसका राजदर्बारो और पुरवासियो मे प्रचुर सम्मान था। उसकी साधनाएँ इतनी विकृति और गुह्य नही थी। उसके कई मठ और विद्यापीठ थे! कालान्तर मे उनके मठो को वीरशैवो ने उत्तराधिकार रूप में प्राप्त किया और फिर वे मठ वीरशैवो के साम्प्रदायिक केन्द्र बन गये।[६२]

कापालिक सम्प्रदाय इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि उसमे इन गुह्य तान्त्रिक सिद्धान्तो का विकास अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया और अत्यन्त गुह्य रूप से उसकी साधनाएँ बहुत दिनो तक चलती रही।

कापालिक शबरतन्त्र मे जो २४ कापालिको की सूची मिलती है[६३] उसमे कई कापालिक ऐसे हैं जो वज्रयानी सिद्ध थे तथा कई कापालिक नाथो की सूची मे भी पाये जाते हैं।[६४]

ये कापालिक माहेश्वर के उपासक थे इसका उल्लेख असग के मध्यान्तानुगम शास्त्र मे मिलता है।[६५] कालान्तर मे नाथ सम्प्रदाय मे इन्हे श्रीनाथ द्वारा भेजे गये वीर दूतो के रूप परिकल्पित किया गया है। उस समय तक विष्णु चौबीस अवतार ग्रहण कर चुके थे। बारह प्रमुख और बारह गौण। जब उन्होने कुर्मादि जलचरो और पशुओ की-सी क्रीडाएँ की और कृष्ण का-सा व्यभिचारी रूप ग्रहण किया तो श्रीनाथ ने चौबीस कापालिको को भेजा और उन्होने आकर चौबीस अवतारो से तुमुल युद्ध किया और उनके कपाल काट लिये और उन्हे धारण करने लगे। तभी से ये कापालिक कहलाये।[६६] किन्तु यह अन्तर्कथा गोरक्ष-सिद्धान्त-सग्रह की है जो अपेक्षाकृत अत्यधिक नवीन है और सम्भव है यह कथा वैष्णव द्वेष के कारण गढ दी गई हो।

इनकी साधनाएँ सम्भवत इन सभी सम्प्रदायो मे सर्वाधिक गुप्त और विकराल है। ये उपरोक्त वर्णित कालमुखो की ६ साधनाओ के अतिरिक्त ६ चिन्ह्-श्री धारण करडे थे। जिनमे एक यज्ञोपवीत भी होता था और एक कर्णकुण्डल। इन छ चिन्हो का धारण करने वाला आवागमन से मुक्ति पा जाता है। इनके यहाँ सभवत दीक्षा को 'व्रत' कहते थे। ये सोम मद्य पीते थे जिससे इनका चित्त जाग्रत होता था, मास (कभी कभी शव) भक्षण करते थे। कपालीशक्ति का आलिंगन करते थे और शमशानो ने योग साधना करते थे। तान्त्रिक

अनुष्ठान करते थे और भैरव शक्तियाँ जगाते थे, नरबलि देते थे और शिव के भैरव रूप और अघोर मुख के उपासक थे।[६७]

भवभूति के मालतीमाधव में बताया गया है कि श्रीशैल कापालिको का केन्द्र था। उनकी एक योगिनी कपालकुण्डला की माला पहना करती थी वह राजमहल से मालती को उठा ले जाती है और अपने गुरु अघोरघण्ट की आज्ञा से उसे देवी करालचामुण्डा की मूर्ति के आगे बलि देना चाहती थी। हर्ष-चरित में कापालिक यति भैरवाचार्य का वर्णन मिलता है जिसने राजा पुष्यभूति के साथ श्मशान में जाकर महाकाल-हृदय नामक महामन्त्र का एक करोड बार जप किया था। अन्त में काले वस्त्र पहन कर, काली नकाब डाल, काला चूर्ण शरीर में मल कर शव पर बैठ कर कृष्णचतुर्दशी की बेताल-साधना की थी।[६८]

इनकी इन घृणित साधनाओ के कारण तथा इनकी रहस्यमयी सिद्धियो के कारण जन साधारण इनसे भय खाता था। इनकी गणना वेदवाह्य मतो में की गई है।[६९] ये जाति पाँति का बन्धन नही मानते थे। थोडी-सी विधि सम्पन्न होने से ही साधक ब्राह्मण हो जाता था और कपाल-व्रत लेने पर तो वह सिद्ध हो जाता था।[७०]

इनकी साधनाओ के पीछे सोम सिद्धात की दार्शनिक पीठिका बताई जाती है। कहा यह जाता है कि नर-कपाल में पिये जाने वाले मद्य को ये सोम कहा करते थे और सोम की व्युत्पत्ति स + उमा इस प्रकार बताते थे। इस सोम मे शक्तियुक्त शिव का वास है। इसके समर्थन मे टुची ने प्रबोध-चन्द्रोदय की तीन टीकाएँ उद्धृत की है जो नेपाल के राजगुरु हेमराज शर्मा ने उनके पास भेजी थी।[७१] प्रबोध चन्द्रोदय मे सोमसिद्धात का प्रवेश कापालिक वेश मे कराया गया है और कहा गया है कि इस पवित्र अमृत को पीने से पशु-पाश का उच्छेदन होता है और भैरव जाग्रत होते है। यह भाव-भेषज रूप है।[७२] इस सोम की व्युत्पत्ति रुचिकर टीका मे इस प्रकार है कि सह + माया के कारण इसे सोम सिद्धात कहा जाता है, प्रकाश टीका मे कहा गया है कि कपाल मे जहाँ ब्रह्म-रन्ध्र, उपलक्षित हो जाता है उसे ब्रह्म-कपाल कहते है। उसमे तत्वो द्वारा कल्पित चन्द्रमा से झरने वाला सोम या अमृत है। पारणा व्रत की समाप्ति पर उसे पीना चाहिये। चन्द्रिका नाम्नी टीका मे यह कहा गया कि जैसे कैलाश पर स्थित उमा सहित शिव आनद प्राप्त करते है उसी प्रकार ईश्वर-वेषधारी रुद्र-रूपधारी साधक कान्ता के सहित

कैलाश पर आनन्द भोग करता है। इसी से उमा सिद्धात को सोम सिद्धात कहते है।[७२]

इस सोम-सिद्धान्त का उल्लेख बहुत से परवर्ती ग्रन्थों में मिलता है। डा० बागची द्वारा टुची को प्रदत्त अकुलवीर तन्त्र की हस्तलिखित प्रति मे 'सोम सिद्धात वादिन' का उल्लेख मिलता है तथा न्यायदर्शन मे वाह्य सिद्धान्तो की गणना मे सोम सिद्धान्त भी परिगणित है।[७३]

रसेश्वर सम्प्रदाय

इस सोम सिद्धात के अतिरिक्त रसेश्वर सम्प्रदाय का भी उल्लेख मिलता है। यह सम्प्रदाय भी शैव था। इस सम्प्रदाय में शरीर साधना पर और अमरत्व की उपलब्धि पर विशेष बल दिया जाता था। वे कहते थे कि छहो दर्शनो मे मृत्यु के उपरान्त मुक्ति की उपलब्धि बताई गई है किन्तु जब हमारी मृत्यु हो जाती है, तब मुक्ति की क्या सार्थकता, अत हमे 'रस' के द्वारा अमर रहने का प्रयास करना चाहिये। यह कहा जा सकता है कि काया तो नाशवान है अत अमरत्व की साधना कैसे हो। इसके उत्तर मे यह कहा गया है कि आत्मा के छ आवरणो वाला यह तन नाशवान है पर पारद और अभ्रक के योग से हर और गौरी द्वारा निर्मित काया अमर होती है। क्योकि महेश्वर ने स्वयम् कहा है कि 'पारा मेरा वीर्य है और अभ्रक तुम्हारा रज। दोनो के सयोग से हे भगवती दारिद्र्य और मृत्यु का सदा के लिये विनाश हो जाता है'।[७४]

रसेश्वर सिद्धान्त मे कहा गया है कि जाने कितने देवता महेश, शुक्रादि दैत्य, मुनिगण, बालखिल्यादि, सोमेश्वरादि, सम्राट, गोविन्द भागवत, गोविन्द नायक, कपाली, व्याली, आदि इस रस साधना द्वारा दिव्य शरीर प्राप्त कर चुके हैं।[७५]

इसकी विधि इस प्रकार बताई गई है कि पहले रस (पारे) का परिशोधन करना चाहिये। पारा मूर्छित और बद्ध दो प्रकार का होता है। जिसमे आर्द्रता प्रगाढता और चमक होती है वह पारा मृत होता है। मूर्छित पारे के परिशोधन की अट्ठारह विधियाँ गोविन्द भागवत तथा सर्वज्ञ रसेश्वर द्वारा बताई गई है। इस विधि मे पारा और वायु-तत्व प्राण का व्यवहार होता है। दोनो का उचित मिश्रण रोगो का शमन करता है मृत्यु का अवरोध करता है। बद्ध पारा प्राण मे विद्ध होने पर उड्डयन या उडने की सिद्धि प्रदान करता है।[७६]

इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ कब से हुआ इसका स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। सर्वदर्शन-सग्रह मे इसका विवरण है, जो चौदहवी शती का ग्र थ है। इससे विष्णुस्वामी के नृसिहावतार के दिव्य शरीर को भी उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किया गया है इससे भी अर्वाचीनता प्रमाणित होती से। सभव है यह परम्परा और पुरानी हो और बौद्धो तथा शैवो दोनो ही ने उसे एक ही उद्गम से ग्रहण किया हो।[७७]

इन पूर्वी प्रदेशो में सबसे प्रचलित तान्त्रिक मत शाक्त-मत था जो आज भी पूर्वी भारत का एक जीवित सम्प्रदाय है। बारहवी शती के बाद बहुत से

शाक्त-मत

शाक्त तन्त्रो पर बौद्ध साधनाओ का विशेष प्रभाव है। कुछ तो शाक्त और बौद्ध तन्त्रो के नाम तक एक ही है अम्बर जल, शम्बर, कालचक्र, महाकाल।[७८] लगभग उपरोक्त सभी मत ऐसे है जिनमे परम तत्व चाहे वह विष्णु का रूपान्तर हो या रुद्र का, उनकी एक शक्ति की कल्पना की गई है जो सृष्टि की जननी है।[७९] यह शक्ति चित्रू-पिणी है, माता रूप है।[८०] उसमे विमर्श और सकोचिनी शक्ति है और उसका शिव के साथ जो अनन्त विलास चलता रहता है उसी का प्रतिफल न इस शरीर मे, उसकी नाडियो मे भी चलता है।[८१] कुण्डलिनी उसी अनन्त शक्ति के प्रतीक के रूप मे मूलाधार मे प्रसुप्त है और उद्बुद्ध होकर षटचक्रो का भेदन कर वह ब्रह्मरन्ध्र मे पहुँचती है जहाँ शिव का वास है।

तान्त्रिक साधनाओ के आम्नाय के अनुसार कई भेद है। स्थूल रूप से ये समस्त आचार दो वर्गो मे बटे है, दक्षिण तथा वाम।[८२] दक्षिणाचार्य मे प्रभात मे सध्या, मध्यान्ह मे जप, उनके आसन पर बैठना दूध शर्करा का पान, रुद्राक्ष की माला धारण करना तथा अपनी पत्नी से सम्भोग करना यह विहित था। वामाचार इसका प्रतिकूल था। नृदन्त की माला, कपाल का पात्र, छोटी कच्ची मछलियो का चर्वण, मास भक्षण, और सभी जातियो की परस्त्रियो समान रूप से मैथुन यह वामाचार था।[८३] वाडवानलीय मे यह कहा गया है कि दक्षिण मार्ग ब्राह्मण के लिये तथा वाम मार्ग शूद्रो वा अन्य वर्णों के लिये विहित है।[८४] उपासना ३ प्रकार की है। सात्विकी, राजसी, तामसी। मेरुतन्त्र मे सात्विकी उपासना को मानसी जप, स्मृति, रासी को प्रतिमा पूजन और तामसी को पशुवलि और वाममार्गी आचारो से समन्वित माना गया है।[८५] साधनाओ

मे गुरु ही दीक्षा का उचित मुहूर्त तथा उचित भूमि का विचार करता है।[८६] गुरु द्वारा प्रदत्त रहस्यात्मक मन्त्रो की बडी शक्ति है। उनसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती है। ये विभिन्न बीजाक्षरो के समूह होते है।[८७]

वामाचार मे पाँच मकारो का विधान है 'मद्यैर्मांसैस्तथा मत्स्यै मुद्राभि मैथुनैरपि'। इनके आधार पर भैरवी चक्रो की नियोजना होती थी। उन चक्रो मे स्त्री साधिकाएँ तथा साधक मिलते थे और मद्यपान के उपरान्त 'मनोरथ सुखो की परस्पर पूर्ति' होती थी। इस प्रकार के चक्रो मे वर्ण और जाति का कोई भेद नही रहता था। 'प्रवृत्ते भैरवी चक्रे सर्वे वर्णा द्विजातय' जैसे गगा मे मिल कर बाहरी जल, या दूध मे मिल कर जल फिर एकात्म हो जाता है उसी प्रकार भैरवी-चक्र मे सब उच्च वर्ण के होते है।[८८] इन चक्रो के तीन भेद होते है, वीर, राज और देव। राजचक्र मे यामिनी, योगिनी, रजकी, श्वपची, कैवर्तक-नारी, ये पाँच शक्ति रूप मे व्यवहृत होती है। देवचक्र मे राजवेश्या, नागरी, गुप्त-वेश्या, देव-वेश्या तथा ब्रह्म-वेश्या ये पाँच शक्तियाँ सम्मिलित होती है। नागरी मे कोई भी रजस्वला कन्या परिगणित है।[८९]

आगमसार मे इन पच-मकारो के साकेतिक अर्थ दिये गये है

मद्य सोमधारा क्षरेद् पातु ब्रह्मरन्ध्रात् वरानने
पीत्वानन्दमयीम् ता य. स एव मद्यसाधक
मास मा शब्दात् रसना ज्ञेया तदशान् रसना प्रिये
सदा यो भक्षयेद्देवि स एव मास-साधक
मत्स्य गगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरत सदा
तौ मत्स्यौ भक्ष्येद् यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधक
मुद्रा सहस्रारे महापद्मे कर्णिका मुद्रिका चरेत्
आत्मा तत्रैव देवेशि केवलम् पारदोपमम्
अतीव कमनीयम् च महाकुण्डलिनी युतम्
यत्र ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रा साधक उच्यते
मैथुन मैथुनम् परमतत्व सृष्टि स्थित्यन्त कारणम्
मैथुनात् जायते सिद्धि ब्रह्मज्ञानम् सुदुर्लभम्

इससे ज्ञात होता है कि इन साधनाओ के साकेतिक अर्थ भी थे। इसी-लिये इसे खड्ग-धार-सा सूक्ष्म पथ बताया गया है और कहा गया है कि यदि केवल मद्यपान करने से व्यक्ति सिद्ध हो जाता तो सभी मद्यपियो को सिद्धि मिल

जाती, यदि स्त्री-सम्भोग से मुक्ति मिलती होती तो कौन बचता। वास्तव में यह पथ वाघ के कान पकडने या खड्ग की धार पर चलने से भी ज्यादा कठिन है। [९०]

जैन सम्प्रदाय

इन मतो के अतिरिक्त जैनो में भी शाक्त-दर्शन और तान्त्रिक साधनाओ का विकास हुआ था किन्तु वह साहित्य अभी तक प्रकाश मे नही आया है। एक जैन तान्त्रिक सम्प्रदाय का उल्लेख कित्सग ने अवश्य किया है। असग के मध्यान्तानुगम शास्त्र के चीनी अनुवाद मे जिस न-य-सि-मो सम्प्रदाय का उल्लेख हुआ है, उसे प्रोफेसर उई ने न्याय शास्त्र बताया है किन्तु कित्सग उससे किसी जैनी तान्त्रिक सम्प्रदाय का अर्थ लेता है जो निर्ग्रन्थ [९१] जैनियो की एक शाखा थी। उसकी दो प्रकार की साधनायें थी, आठ साधनायें जो श्रुतज्ञान से आई थी ज्योतिप, गणित, ओषधि, मन्त्र, श्रक, यजु, साम तथा अथर्व तथा आठ साधनायें अनुभवजनित। प्रथम नक्षत्र, देवता, ग्रह की पूजा, द्वितीय ऋषि-सुलभ तपस्या और षटकर्म जो गुह्य थे और तान्त्रिक थे। [९२]

मूलभूत एकता

बौद्ध तन्त्र-सम्प्रदाय, मन्त्रयान, तन्त्रयान, वज्रयान (या सहजयान) आदि भी इसी विराट तान्त्रिक वातावरण से ही उद्भूत थे जो सारे भारत पर छाया हुआ था। वह महायान के अतर्गत था अत उसने इन इन सम्प्रदायो की तान्त्रिक साधनाओ की व्याख्या और विश्लेषण महायानीय शब्दावली मे किये अन्यथा मूलत इन सभी तान्त्रिक सिद्धान्तो में एकसूत्रता थी। और उसे ये भी पहचानते और मानते थे तथा एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय की प्रमुख साधनाएँ गौण रूप में और कभी-कभी गौण साधनाएँ प्रमुख रूप मे अपना भी लेते थे। इनकी साधनाओ, देवी देवताओ, अभिचारो तथा पौराणिक सिद्ध पुरुषो मे तथा सिद्धान्तो मे मुक्त विनिमय हो रहा था। इसीलिये महायान ने बहुत कुछ अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन तन्त्रो से ग्रहण किया जैसा हम अगले अध्याय मे देखेंगे और साथ ही लुप्त होते हुए सहजयान ने भी अपनी आगामी परम्परा पर अक्षुण्ण प्रभाव छोडा। कुछ विद्वानो का कथन है कि वज्रयान तथा हिन्दू तान्त्रिक साधनाओ में वहुत-सी पद्धतियाँ साथ-साथ और समानान्तर ही विकसित हुई है। [९३] रसेश्वर सम्प्रदाय का अमर शरीर और वज्रयान की वज्र-काया, कापालिको का सोम और

सिद्धो की वारुणी, लिगाग का सामरस्य और सिद्धो का प्रज्ञोपाय युगनद्ध, सिद्धों की सहज साधना और विष्णु पुराण की सहजासिद्धि[६४] लगभग एक ही काल में ८वी से १२वी शती हिन्दू तथा बौद्ध दोनो ही सम्प्रदायो मे मिलती है। उसमे समय का अन्तर कम है और इतनी कम सामग्री प्रकाश मे आई है कि कौन पहले विकसित हुआ यह निर्णय नही दिया जा सकता।

इस मूलभूत एकता को दक्षिणपन्थी ब्राह्मण तथा हीनयानी बौद्धो के बजाय तान्त्रिक बौद्ध और तान्त्रिक हिन्दू अधिक मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते थे। पद्म तन्त्र मे पूर्वोक्त उल्लेखो के अतिरिक्त यह भी उल्लेख मिलता है कि भगवान ने विष्णु रूप मे सहिताओ का उपदेश करने के अतिरिक्त ब्रह्म रूप में योग, कपिल रूप मे साख्य, बुद्ध रूप मे शून्यवाद तथा ऋषभ रूप मे अर्हत् शास्त्र का भी उपदेश किया था।[६५] बाद मे कौलावली निर्णय मे भी इनकी एकता प्रतिपादित की गई।[६६] हनुमन्नाटक की वन्दना मे भी शिव, ब्रह्म, अर्हत् तथा बुद्ध को एक माना गया।[६७] वास्तव मे परवर्ती वैष्णव परम्परा मे बुद्ध को अवतार मान लिया गया इसका सूत्र यही तान्त्रिक भावना थी जिसमे साधना प्रमुख थी और देवता गौण तथा साधना की एकता और सारूप्यता के कारण देवताओ की विभिन्नता पर ध्यान नही दिया गया।

बौद्धो ने भी हिन्दू देवता अपनाये। गणेश, सरस्वती, कभी-कभी विष्णु भी उनके तन्त्रो मे मिलते हैं। करण्ड-व्यूह मे बोधिसत्व अवलोकितेश्वर यह कहते है कि वे शिव, विष्णु, गणेश, राजा और माता-पिता का भी रूप धारण करेंगे और लोक का त्राण करेंगे।[६८] इस प्रकार उसी समय हिन्दू और बौद्ध तान्त्रिक मे एकसूत्रता की जागरूक चेतना थी किन्तु अपने-अपने देवताओ और मन्त्रो तथा तत्वदर्शन के प्रति सभी सम्प्रदायो मे उत्साह था और वे किसी से पीछे नही रहना चाहते थे। इस उत्साह के होते हुए भी वे सदैव दूसरे सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता दिखाते हो ऐसा चित्रण सर्वथा अनैतिहासिक होगा। किन्तु यदि उन सम्प्रदायो की साधना-पद्धति लगभग समान हो तो धार्मिक विद्वेष उतना प्रबल नही होता था। उदाहरण के लिये बौद्ध साधनाओ मे शिव का काल रूप वेशान्तर मे कालचक्र मे प्रविष्ट हुआ है। कापालिको की सावना को काण्हपा ने बौद्ध रूप मे अपनाया है और नाथ रूप मे बुद्ध की भी प्रतिष्ठा की गई। शैव तथा शाक्त मत बौद्ध तान्त्रिको द्वारा उतने उपेक्षणीय नही रहे जितना

वैष्णव मत और कालान्तर मे कौल सम्प्रदाय तो बौद्ध तथा शैव तन्त्रों के सम्मिश्रण से ही बना।

किन्तु लगता है बाद में कुछ साम्प्रदायिक विद्वेष अधिक बढ गया और विष्णु को तथा ब्रह्म को स्थान-स्थान पर बौद्ध तन्त्रो मे अपमानित करने का प्रयास किया गया है। 'हरि हरि हरि वाहनोद्भव साधन' मे विष्णु को बौद्ध देवता का वाहन बताया गया है। इसी प्रकार वज्रज्वालानलार्क को लक्ष्मी सहित विष्णु को कुचलते हुए चित्रित किया गया है। ज्ञात होता है कि कालान्तर मे बौद्धो तथा हिन्दू सम्प्रदायो मे साम्प्रदायिक विद्वेष अधिक बढा और अपने देवताओ को ऊँचा सिद्ध करने के लिये ऐसी कथाए और प्रतिमाएँ कल्पित की गई। विष्णु पर विशेष आक्रोश का कारण सम्भवत वैष्णव धर्म की बढती हुई शक्ति थी। किन्तु यथास्थान ब्रह्म, शिव, कन्दर्प, कुबेर को भी छोडा नही गया है।[६६]

देवताओ के विषय मे मतभेद होते हुए भी साधनापद्धति मे आदान-प्रदान कभी भी बन्द नही हुआ जैसा हम अगले अध्याय मे देखेंगे कि थोड़े नाम-भेद से हिन्दू तन्त्रो के सभी सिद्धान्त वज्रयान मे तथा उसकी विकसित शाखाओ मे मिलते हैं।

इन सभी तान्त्रिक सम्प्रदायो की सामान्य प्रवृत्तियो को हम इस प्रकार अंकित कर सकते हैं।

सामान्य प्रवृत्तियाँ

१. प्रत्येक सम्प्रदाय के देवता, मन्त्र और तत्व-दर्शन की शब्दावली अलग होते हुए भी साधनापद्धति की सामान्यता थी। नई साधना-पद्धतियो का एक से दूसरे सम्प्रदाय मे उन्मुक्त आदान-प्रदान होता था।

२ तत्वदर्शन गौण था, साधना, क्रिया और चर्या प्रमुख थी। साधना मे गुरु का अत्यधिक महत्व था और यह साधना शिव-शक्ति, लिंग-भग, रस-अभ्रक, प्रज्ञा और उपाय आदि किन्ही दो पुरुष तथा स्त्री प्रतीको के अद्वय की साधना थी।

३ लगभग सभी सम्प्रदायो मे इस साधना की मिथुन-परक व्याख्या मिलती है और उसके साथ गुह्य आचारो का भी विधान मिलता है।

४. इस साधना में जाति-पाति वर्ण का कोई भेद नही था।

५. इस साधना मे शक्ति प्रधान होने का कारण स्त्री का विशेष महत्व था।

६ ब्रह्माण्ड मे जो शिव तथा शक्ति थे वे ही शरीर मे कुण्डलिनी और सहस्रार, या कमल और कुलिश के रूप मे विद्यमान थे अत योगसाधनाओं का विधान था और देह को बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता था।

७ मिथुन-साधना तथा योग के कारण निरूपण शैली प्रतीकात्मक है।

८. लोक-देवताओ और उनके पूजन की असस्कृत विधियो का सम्मान और उन्हें वैदिक देवताओ से भी बडा सिद्ध करने की चेष्टा होती थी।

६ वेदो का असम्मान या उनकी समकक्षता प्राप्त करने का प्रयास और ब्राह्मणो (रूढिवादी) की उपेक्षा होती थी।

१० मरणोपरान्त मुक्ति अथवा निर्वाण की अपेक्षा साधना के द्वारा जीवनकाल में ही विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर सिद्ध बनना, रसेश्वर, कापालिक, शाक्त तथा वज्रयानी, सभी पद्धतियो मे सिद्ध मान्य है।

किस प्रकार बुद्ध द्वारा प्रवर्त्तित बौद्ध धर्म-साधना की परिधि का विस्तार हो रहा था और किस प्रकार महायान ने उसको सर्वथा नये स्तर पर प्रतिष्ठित कर दिया था इस पर हम विचार कर चुके है। तन्त्रो की इन सामान्य प्रवृत्तियो को बौद्धो ने भी उत्साह पूर्वक ग्रहण किया और उन्ही से समन्वित शाखा वज्रयान के नाम से अभिहित हुई। विचारणीय यह है कि ये तान्त्रिक प्रवृत्तियाँ बौद्ध धर्म मे कब से समाविष्ट होने लगी।

ग

बौद्ध धर्म में तांत्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश तथा वज्रयान का विकास

बौद्ध-धर्म मे वैयक्तिक निर्वाण के स्थान पर महत्करुणा और लोकहित की जो भावना प्रबल हो रही थी क्या उसका कोई सम्बन्ध बौद्ध-धर्म मे तान्त्रिक प्रवृत्तियो के प्रवेश से है या नही ? इसमे कोई सन्देह नही कि धीरे-धीरे बौद्ध धर्म में महायान की पारमिता पद्धति की अपेक्षा मन्त्रनय पद्धति को इसीलिये अधिक महत्व दिया जाने लगा कि वह अपेक्षाकृत सरल और लोक-तारण के लक्ष्य के अधिक अनुरूप है।[१] कालान्तर मे वे चाहे जितनी विकृत हो गई हों किन्तु उनके मूल मे लोक-कल्याण की भावना अवश्य थी इसके बहुत से स्पष्ट प्रमाण मिलते है। आर्यदेव जिनका समय लगभग ८वी शती (यदि वे सिद्ध आर्यदेव नही है तो।) माना गया है,[२] स्पष्ट लिखते है कि बोधिचित्त का समुत्पाद जगत के उद्धरण के आशय से ही किया जाना समुचित है।[३] 'डाकार्णव' नामक अपभ्रंश के तन्त्र ग्रन्थ मे भी साधक को सकल त्रिभुवन का उत्तारक बनने का उपदेश दिया गया है।[४] 'सेकोद्देश टीका' मे भी यही लक्ष्य मिलता है।[५] कालान्तर मे मन्त्रनय को पारमितानय से उत्कृष्ट सिद्ध करने के पक्ष मे यह भी तर्क दिया जाने लगा कि यह सर्वोपसेव्य नही है और केवल तीक्ष्ण बुद्धि वाले इसे ग्रहण कर पाते हैं[६] किन्तु भी मन्त्रनय लोक-कल्याण और व्यापक प्रभाव के ही हेतु विकसित हुआ था इसका प्रमाण यह भी है कि पारमितानय की अधिकाश कृतियाँ सस्कृत मे रही है जब कि मन्त्रनय मे देशी भापा को भी समकक्षता

दी गई है[७] और यहाँ तक कि मन्त्रनय (वज्रयान) के संस्कृत ग्रन्थो मे और टीकाओ में यथास्थान अपभ्रंश के पद प्रमाण रूप मे उद्धृत किये गये हैं ।[८] लोक-कल्याण के हित प्रवर्तित वज्रयान में लोकभाषा को प्रमुखता मिलना स्वाभाविक है ।

किन्तु यह सारी तान्त्रिक साधनाए और उनके मैथुन-परक रूप केवल लोक-कल्याण मात्र के लिये थे, ऐसा विचार एकागी होगा । उसके पीछे बौद्ध सघ का संयम और शुद्धतावाद के प्रति आचारगत विद्रोह भी था और कही-कही उसकी अतिशयतागत विकृति भी, किन्तु, उसके लोकपक्ष का भी महत्व कम नही है । अब यह प्रश्न आता है कि बौद्ध धर्म मे पहली बार इन साधनाओ का प्रवेश कब और किसके द्वारा हुआ । बौद्ध धर्म अपने मूल रूप मे तो बुद्धि और तर्क-प्रधान धर्म था । उसमे योग-साधना का विशेष महत्व नही था[९] और उसके मर्यादित नियमानुशासित रूप मे वज्रयान गुह्य मिथुन साधनाओ की कल्पना भी नही की जा सकती थी । ये प्रवृत्तियाँ पुरातन काल से भारतीय जनता मे प्रचलित थी और बुद्ध के समय में भी इनका उल्लेख मिलता है । कुछ विद्वानो का मत है कि छठी शती ई० पू० मे दार्शनिक और धार्मिक स्तर पर इतने वादविवाद, तर्क और वितर्क चल रहे थे कि सामान्य जनता मे अन्धविश्वास और जादू टोने की अभिवृद्धि अनिवार्य थी ।[१०] प्रारंभिक बौद्ध साहित्य मे भी इस प्रकार की सिद्धियो अथवा इद्धियो का उल्लेख मिलता है । विनयापिटक में भद्दीयनगर के मेण्डक नामक एक सद्गृहस्थ का उल्लेख मिलता है जिसका सम्पूर्ण परिवार इस प्रकार के सिद्धिगत चमत्कार कर सकता था और मगध के महराज सेनीय बिम्बिसार ने अपने प्रतिनिधियो को इन चमत्कारो की वास्तविकता का पता चलाने भेजा था ।[११] इसी प्रकार ब्रह्मजाल सुत्त मे भी बहुत-सी ऐसी चमत्कारपूर्ण विद्याओ का उल्लेख है जो बुद्ध द्वारा 'तिरच्छान' समझी जाती थी ।[१२]

बुद्ध के समय मे चमत्कार

इस प्रकार की इद्धियो का प्रचलन स्वत बुद्ध के शिष्यो मे भी था । अगुत्तरनिकाय मे सारिपुत्त के पश्चात् सर्वप्रमुख शिष्य मोग्गलायन को इन इद्धियो में सिद्ध माना गया है ।[१३] पिण्डोल भारद्वाज की कथा बहुत मनोरजन है । राजगृह के किसी सेट्ठी ने एक चन्दन पात्र बाँसो के सहारे अधर मे टँगवा कर घोषणा की कि जो ब्राह्मण या श्रमण इद्धियो को सिद्ध कर चुका हो वह इसे

उतार ले। पूर्ण कास्यप, मक्खलिगोसाल, अजित केश कम्बली, पाडुक काच्चायन, सजय वेलट्ठिपुत्त और निगन्थ नातपुत्त ये सभी बुद्ध के प्रतिद्वन्द्वी असफल होकर लौट आये तव मोग्गल्यायन और पिण्डोल भारद्वाज भी एक वार चमत्कार दिखाने के लिये गये और भारद्वाज ने ऊपर उडकर वह पात्र उतार लिया और तीन बार राजगृह पर उडे। समस्त पुरवासी आश्चर्य और आह्लाद से विभोर हो गये।[१४] स्वत बुद्ध ने दस्यु अगुलिमाल के सम्मुख एक ऐसा स्वरूप धारण कर लिया था जो अपराजेय था।[१५] इसके आधार पर डा० विनयतोष भट्टाचार्य का यह मत है कि स्वत बुद्ध भी इस जादू टोने मे विश्वास करते थे और अपने मत के कुशल प्रचारक और नियामक के रूप में उन्होने इन प्रवृत्तियो को प्रमुख स्थान दिया था ताकि उनका मत लोकप्रिय बन सके। यद्यपि स्वत वे इन इद्धियो की सार्थकता मे विश्वास करते थे या नही इसमे सन्देह है।[१६] सर चार्ल्स ईलियट का भी झुकाव इसी मत की ओर है।[१७]

किन्तु उपरोक्त विद्वानो का यह मत प्रामाणिक नही ठहरता। इसका प्रथम कारण यह है कि बुद्ध ने स्थान-स्थान पर स्पष्ट शब्दो मे इस प्रकार के चमत्कारो को निन्दनीय ठहराया है। पिण्डोल भारद्वाज के चमत्कार की कथा सुनने के उपरान्त उन्होने पिण्डोल भारद्वाज की भर्त्सना की और नियम बना दिया कि जो भिक्षु इस प्रकार के चमत्कार प्रदर्शित करे उसे दड दिया जाय।[१८] दीघनिकाय मे उन्होने स्पष्ट कहा है कि "इन इद्धियो और चमत्कारो के प्रदर्शन मे अमगल के चिह्न देखता हूँ, अत मै इनसे घृणा करता हूँ और इन पर मुझे ग्लानि होती है"।[१९] उन्होने यह भी कहा कि इद्धियो के स्वामी तो बुरे लोग भी हो सकते है। कहा जाता है कि देवदत्त भी इद्धियो को सिद्ध कर चुका था अत उन्होने चार इद्धिपादो का उपदेश किया जो भौतिक चमत्कार की अपेक्षा चित्त-निग्रह और ज्ञानोपलब्धि मे सहायक थे।[२०] प्रतीत यह होता है कि बुद्ध की दृष्टि मे इन चमत्कारो के प्रति जो उपेक्षा थी वह उनके शिष्यो मे नही थी क्योकि उनकी मृत्यु के कुछ ही दिनों वाद उन्होने ऐसी कथाओ का यथास्थान समावेश कर दिया जिनमे बुद्ध भी इन चमत्कारो का उपदेश देते है। इसी प्रकार का एक उपदेश दीघनिकाय का आटानाटीय सूत्र है जिसमे गृध्रकूट पर तथागत की उपस्थिति मे उनकी सहमति से वैश्रवण ने आटानाटीय रक्षा पटी और यह कहा कि अमनुष्यो के सकट से यह रक्षा करेगी। राहुल जी के मत मे यह सूत्र प्रक्षित है और जब यह पिटक लका मे लिपिवद्ध किया गया

उस समय इसका समावेश कर दिया गया।[२२] स्थविरिपिटक तो लिखे जा चुके थे अत उनमे ऐसे प्रक्षेप अधिक नही आ सके किन्तु महायान सूत्रो मे बाद में ऐसी प्रवृत्तियाँ अधिकाधिक आती गई और उनका प्रचार बढता गया और कालातर मे उन्होने महायान का पूरा रूप ही बदल दिया।[२२] वज्रयान तथा कालचक्रयान के ग्रथो मे तो स्वत भगवान तथागत को ही तत्रो का उपदेष्टा मान लिया गया और उनके दीपंकर रूप की कल्पना की गई जिसमे उन्होने तन्त्रो का उपदेश किया था।[२३] किन्तु यह सभी बाद मे तन्त्राचार्यों द्वारा की गई कल्पनाएँ थी ताकि वे तंत्रमार्ग को बुद्ध द्वारा सम्मत सिद्ध कर सकें।

योगाचार और तन्त्र

बौद्ध अनुश्रुतियो मे योगाचार सम्प्रदाय से तात्रिक साधनाओ का उद्भव स्वीकार किया गया है। कहा यह जाता है कि योगाचार के प्रथम आचार्य असग (४००-५०० ई०) को तुषित नामक स्वर्ग मे मैत्रेय नामक बुद्ध ने इन तन्त्राचारो मे प्रथम दीक्षा दी थी।[२४] वैडेल की धारणा है कि योगाचार सम्प्रदाय मे लगभग ७०० ई० सन् में इद्धियो, धरणियो तथा तन्त्राचारो का समावेश हुआ।[२५] वैडेल का मत सम्भवत विएटरनीत्ज[२६] और कर्न[२७] के मतो पर अवलम्बित है। योगाचार से मन्त्रयान का घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह तो साधन-माला से स्पष्ट है जहाँ एकाधिक बार योगाचार को स्मरण किया गया है।[२८] टुची का मत है कि ७०० ई० से पहले ही तन्त्रो का विकास हो चुका था क्योकि महामयूरी, विद्या-रजनी तथा सुवर्णप्रभा सूत्र आदि कई तान्त्रिक बौद्ध ग्रन्थो का अनुवाद पाँचवी शती मे ही हो चीनी भाषा मे हो चुका था। इतना ही नही, वे तो मैत्रेय को भी केवल अलौकिक व्यक्तित्व न मान कर लौकिक मानुषी आचार्य मानते है। इस पक्ष मे उन्होने जापानी बौद्ध विद्वान प्रोफेसर उई का मत प्रस्तुत किया है। 'मध्यान्त-विभाग' पर स्थिरमति की टीका मे तथा हरिभद्र के अभिसमया-लकारालोक' मे भी उन्होने मैत्रेय के मानुषी रूप की ओर सकेत किया है।[२९] यद्यपि इतना प्रमाण असग के ही समय मे तन्त्राचारो के समावेश को स्वीकार करने के लिये यथेष्ठ नही है किन्तु स्वत असंग के 'महायान-सूत्रालकार' मे तन्त्रो की मैथुनपरक साधना के कुछ स्पष्ट उल्लेख मिलते है। तथागत के विभुत्व के भेदो का निदर्शन करते हुए उसने परावृत्ति शब्द का प्रयोग किया है[३०] पचेन्द्रियपरावृत्ति, मानसपरावृत्ति, सार्थग्रहपरावृत्ति, विकल्पपरावृत्ति और

अन्ततोगत्वा मैथुनपरावृत्ति के कारण उनमे पाँच प्रकार की विभुताएँ समाश्रित हैं। प्रो० लेवी ने 'मैथुनस्यपरावृत्ति' का अर्थ 'मैथुनक्रिया मे परावृत्ति' इस प्रकार किया है और स्पष्टत उसे तान्त्रिक सकेतो से पूर्ण बताया है।[३१] विण्टर-नित्ज का इससे मतभेद है और गुह्यसमाजतन्त्र की समीक्षा करते हुए उन्होने इसे 'मैथुन का तिरस्कार' इस अर्थ मे लिया है।[३२] किन्तु बागची ने परावृत्ति को दश धर्म भूमियो मे आठवी अचला से सम्बन्धित करते हुए उसका अर्थ यह लिया है कि बुद्ध इसी प्रकार का आनन्द चित्तवृत्तियो के माध्यम से उपलब्ध करते थे जैसा मैथुन मे प्राप्त होता है। डा० बागची का अर्थ अधिक प्रामाणिक ज्ञात होता है[३३] और इस प्रकार हम देखते हैं कि असग द्वारा तान्त्रिक पद्धति अशत ग्रहण कर ली गई थी यद्यपि वह इतनी प्रमुख नही थी।

माध्यमिक सप्रदाय और तन्त्र

कुछ बौद्ध अनुश्रुतियाँ असग के भी पूर्व नागार्जुन को तन्त्रो का प्रथम प्रवर्तक बताती हैं। उनके अनुसार दक्षिण भारत मे लौहस्तूप मे भगवान वैरोचन ने वज्रसत्व नामक बोधिसत्व के माध्यम से नागार्जुन को तान्त्रिक दीक्षा दी थी।[३४] किन्तु किसी समर्थ प्रमाण के अभाव मे इसे स्वीकार करना कठिन है। यह आवश्यक है कि सिद्ध काल मे कई वज्रयानी आचार्यों ने, विशेषत अवधूतीपा अद्वयवज्र ने अपने कई ग्रन्थो मे माध्यमिक सम्प्रदाय को योगाचार की तुलना मे विशिष्ट बताया है।[३५] किन्तु अद्वयवज्र की विशेप स्थिति थी जिस पर हम बाद मे विचार करेंगे।[३६]

मन्त्र, यन्त्र तथा देव श्रृंखला का विकास

जब तक कि मैत्रेय के अस्तित्व का कोई पुष्ट प्रमाण न मिले तब तक यही स्वीकार करना होगा कि बौद्ध धर्म मे तान्त्रिक प्रवृत्तियो का सर्वप्रथम प्रयोग मन्त्रो के रूप मे हुआ। आटानाटीय सूत्र की प्रक्षिप्त कथा से भी यही ज्ञात होता है। यद्यपि स्थान-स्थान पर वज्र-यानी ग्रन्थो मे हमें इन मन्त्रो के प्रथम उपदेष्टा के रूप में बुद्ध का उल्लेख मिलता है।[३७] किन्तु जैसा हम पहले देख चुके हैं कि यह बाद की कल्पनाएँ हैं। किन्तु इसमे कोई सदेह नही कि महायान के पूर्ण विकास के पहले स्थविरवादियो में ही ये मन्त्र धरणियो के रूप मे प्रविष्ट हो चुके थे और उन्होने धरणियो को अपने साहित्य मे स्थान देना प्रारम्भ कर दिया था।[३८] ये धरणियाँ सूत्रो के सक्षिप्तीकरण थे और जो साधक कि सभी

सूत्रो को नही समझ सकते थे उनकी सुविधा के लिये छोटी-छोटी धरणियाँ रची गईं।[39] बहुत पहले ही पूर्वोक्त १८ बौद्ध सम्प्रदायो में लम्बे-लम्बे सूत्र लिखे गये थे। बाद मे ईस्वी शती के लगभग उन सबो का धरणी रूप मे संक्षिप्तीकरण किया गया और उनके पहले ओम् और बाद में स्वाहा लगाकर उन्हें सिद्धि, रक्षा, उपासना और सुख का साधन मान लिया गया।[40] कालान्तर मे यही धरणियाँ तान्त्रिक प्रभाव मे मन्त्र और बीजाक्षर रूप मे परिवर्तित हो गई। इसका एक उदाहरण डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने दिया है। प्रख्यात अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता का सभी साधको द्वारा पढा जाना कठिन था। किन्तु उसके पाठ का बहुत बडा फल बताया गया है। अत उसे पहले शतश्लोकी प्रज्ञापारमिता और बाद मे प्रज्ञापारमिता हृदयसूत्र मे सक्षिप्त किया गया। उसे भी दुस्तर जानकर प्रज्ञापारमिता धरणी बनी और अन्त मे वह धरणी मन्त्र रूप मे परिवर्तित हो गई। फिर उस मन्त्र को भी 'प्र' नामक बीजाक्षर मे घनी-भूत कर दिया गया। यह बीजाक्षर स्वत समस्त प्रज्ञापारमिता साहित्य की पुजी-भूत ध्वनि है और इसके जप से शून्य स्वत प्रज्ञापारमिता देवी के रूप मे प्रकट हो सकता है।[41] इस प्रकार के बहुत से बीजाक्षरो की कल्पना मिलती है। वैरोचन का 'अ', अक्षोभ्य का 'य', रत्नसभव का 'र', अमिताभ का 'भ', अमोघसिद्धि का बीजाक्षर 'ल' था।[42] इन अक्षरो मे देवताओ की कल्पना के पीछे मीमासको का शब्द-सिद्धान्त था[43], जिसमे कहा गया है कि शब्द शाश्वत है, अक्षर रूप मे वर्णमाला मे सदैव विद्यमान रहता है। अर्थ की स्थिति शब्द में है, ज्ञाता में नही, अर्थ शब्द की ही विवृति है और इसीलिये तन्त्रो मे लगातार शब्द-ब्रह्म की कल्पना मिलती है जिससे समस्त मानवो और देवो की सृष्टि हुई है।[44]

इन मन्त्रो के साथ-साथ इनकी रेखात्मक अभिव्यक्तियाँ यन्त्र और कवच रूप मे वज्रयान मे प्रचलित हो चुकी थी। ये मन्त्र भी देवताओ की अभिव्यक्तियाँ होते थे और धातु, या कागज या भोजपत्र पर अकित किये जाते थे।[45] इनके साथ-साथ मुद्रा की भावना भी विकसित हो चुकी थी और मुद्रा अगुलि-निर्देश के साथ मन्त्र कहने से समाधि की अवस्था प्राप्त होती थी।[46] कालान्तर मे मुद्रा या महामुद्रा प्रज्ञा तथा उसकी अभिव्यक्ति नारी शक्ति मात्र को कहा जाने लगा जिनके समागम से सिद्धि मिलती थी, पर मन्त्रो से सम्बद्ध मुद्राएँ अवलोकितेश्वर द्वारा ग्रहीत पद्म, शख, वज्र आदि को धारण करने वाली उँगलियो की मुद्राएँ थी।[47]

इन मन्त्रो को किसी न किसी देवता से सम्बद्ध माना गया था और जैसे ये मन्त्र वस्तुओ के धर्मों की शून्यता की ओर सकेत करते थे, वैसे ही वे देवता भी शून्य के प्रतिबिम्ब थे।[४८] इसके लिये अद्वयवज्र ने ४ अवस्थाओ का सकेत किया है। शून्यता-ज्ञान से बीज, बीज से बिम्ब, बिम्ब से न्यास-विन्यास और न्यास-विन्यास से देवता का वाह्य रूप परिकल्पित होता है।[४९] मन्त्रयान मे देवताओ के विभिन्न रूपो का विस्तृत विधान मिलता है। महायानी सम्प्रदायो मे पाँच स्कन्ध, रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान माने गये है। ये वस्तुओ के समान धर्मों के पुज है। किन्तु है वे सब शून्य। शून्य धर्मों के इन पाँच स्कन्धो के आधार पर पाँच ध्यानी बुद्धो की परिकल्पना विकसित हुई।[५०] ये पाँच ध्यानी बुद्ध थे वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि और अक्षोभ्य। तान्त्रिक पद्धति के अनुसार इनकी पाँच भार्याओ या शक्तियो की भी कल्पना की गई—मोहरति, ईर्ष्यारति, रागरति, वज्ररति, द्वेषरति। ये पंच भार्याएँ या रतियाँ पच कुलो को उत्पन्न करती थी मोह, ईर्ष्या, राग, वज्र और द्वेष। न्यास-विन्यास के अनुरूप इनके रग, चिह्न, वर्ण, अक्षर, भूत और शक्तियो के भी चिह्न परिकल्पित किये गये।[५१] इसके पूर्व भी त्रिकाया के अनुसार वैरोचन, ध्यानी-बोधिसत्व और शाक्य-मुनि का रूप विकसित हो चुका था और उनके समवेत स्वरूप तथागत या अमिताभ का रूप परम-रूप था और वे अपने परम-रूप मे सुखावती नामक लोक मे पश्चिम दिशा मे निवास करते थे।[५२] इन समस्त ध्यानी बुद्धो की जो मूर्तियाँ मिलती है उनमे विशेष समाधि और मुद्रा भी रहती है। कालान्तर मे इनकी युगनद्ध मूर्तियाँ भी बनने लगी जिनमे वे अपनी शक्तियो के साथ सम्भोग करते हुए प्रदर्शित किये गये।[५३] इनके कुल के देवता जो इनसे उद्भूत होते है उनके किरीट पर अपने कुल-पिता ध्यानी-बुद्ध की छोटी-सी मूर्ति बनी रहती है।[५४] इस प्रकार समस्त वज्रयानी देवशृखला इन्ही ध्यानी बुद्धो से उद्भूत हुई है।

डा० भट्टाचार्य ने इस मन्त्रयान को वज्रयान की एक प्रशाखा माना है और वज्रयान को सहजयान आदि से अलग माना है जो नितान्त भ्रमात्मक है।[५५] जैसा हम देख चुके है कि समस्त बौद्ध तान्त्रिक पद्धतियो को मन्त्रयान के समवेत नाम से पुकारा जाता रहा है और उसे पारमितानय से अलग माना

वज्र की कल्पना और वज्रयान का नामकरण

गया ।[५६] सहज-साधना और कालचक्र पद्धति के विकसित होने के बाद भी मन्त्रयान सज्ञा का तिरस्कार नही हुआ और अद्वयवज्र तथा सिद्ध लोग भी मन्त्रयान नाम को स्वीकृत करते ।[५७] किन्तु कुछ ही दिनो मे हम देखते है कि मन्त्रयान का यद्यपि तिरस्कार तो नही होता पर वज्र की एक सर्वव्यापी कल्पना बौद्ध-तन्त्रो मे विकसित होने लगती है और वह देव-कल्पना, बोधिचित्त-साधना, समाधि सभी पर आच्छादित हो जाती है। पहले प्रज्ञापारमिताओ मे वज्रोपम समाधि[५८] वज्री[५९] आदि का उल्लेख है और उसके बाद तो स्वत शून्य को वज्र की सज्ञा मिल जाती है। फिर वज्रसत्व, देवता का वज्रस्वभाव, शून्यज्ञान को वज्रयान, उपाय को वज्र, योग को वज्रयोग, मन्त्रो को वज्रवर्ण, और शक्तियो को वज्रवाराही, वज्ररूपिणी, वज्रमोहिनी कहा जाने लगता है और उनकी उपासना मे तिल, यव, आसन, ध्वज, पात्र, अक्षत, अजलि, पचामृत सभी वज्र-सिक्त होने चाहिये ।[६०] कालान्तर मे यह वज्र-कल्पना इतनी प्रमुख हो गई कि उसने मन्त्र, देवता, साधना सभी पर अपनी छाप डाल दी और इसका नया वज्र-समन्वित नाम वज्रयान पड गया। वज्रयान मन्त्रयान का उत्तराधिकारी कोई नवीन तान्त्रिक सम्प्रदाय नही था। केवल वज्र की नवीन कल्पना के आधार पर मन्त्रयान का नया नामकरण था और उसमे उसने कई नवीन तत्व जोड दिये थे जिनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध वज्र से था।

किन्तु इस वज्र का प्रयोग सिद्ध लोग शून्य के अर्थ मे करते थे। दृढता, अच्छेद्यता, अभेद्यता आदि वज्र के लक्षण शून्यता मे है अत वही वज्र है[६१] इसी शून्यता या नैरात्म्य दर्शन को वज्रयानियो ने वज्रयान की सज्ञा दी ? और उसी को प्राप्त कराने वाले मार्ग को वज्रयान कहा। किन्तु वज्रयान महायान या मन्त्रयान से अलग नही था केवल अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त करने का वज्र-प्रधान मार्ग था ।[६२]

वज्रयान की इस केन्द्रीय कल्पना वज्र के शून्य स्वभाव को समझ लेने के उपरान्त अब यह प्रश्न उठता है कि वज्र की यह कल्पना आई कैसे ? वज्र इन्द्र का आयुध है और अश्म तया मणि के अर्थ मे भी प्रयोग होता है किन्तु हिन्दू देवता का अस्त्र बौद्धो की कल्पना मे इतना प्रधान कैसे हो गया ? और क्या इसका सम्बन्ध वज्र की परम्परागत वैदिक कल्पना से भी है ?

अथर्ववेद मे वज्र के स्वामी इन्द्र का अर्थ, इन्+द्र, शत्रुओ का नाशक

है और उससे प्रार्थना की गई है कि 'इन्द्र' वज्रेण शीर्षाणि वृश्चतु।' अर्थात् वह वज्र से शत्रुओ का शिरच्छेद करे।[६३] वह शची-पति या शक्ति का पति है।[६४] वज्र का दूसरा अर्थ मणि भी है और मणियो को अथर्ववेद मे सुख, समृद्धि, रक्षा आदि का साधन बताया है।[६५] और अमीवर्त नामक मणि का उल्लेख मिलता है जिसे धारण करने से इन्द्र दिग्विजयी हुआ था।[६६] वज्र को अश्म भी कहते है और अथर्ववेद मे अश्मतनु की कामना की गई है।[६७]

वज्रयान मे वज्र के इन सभी धर्मों का उल्लेख मिलता है। बोधिचर्यावतार में बोधिसत्व को वज्री[६८] या वज्रधारण करने वाला बताया गया है जिसके भय से यमदूतादिक पराजित हो कर भागते है। तिब्बती बौद्ध-धर्म मे गुरु के पास वज्र (दॉर + जे) का अस्तित्व बताया गया है जिससे भूत-प्रेत-पिशाचादि डर कर भागते है।[६९] दूसरी ओर बौद्ध साधनाओ मे वज्र का वैभवदाता मणि के रूप मे भी उल्लेख मिलता है।[७०] इनसे स्पष्ट है कि बौद्धो का वज्र मूल रूप मे इन्द्र का ही वज्र है। बाद मे उसे शून्यता का दार्शनिक परिधान अवश्य पहना दिया गया है। पर कही-कही ऐसे उल्लेख हैं कि उसकी इन्द्र के वज्र से एकात्मकता स्पष्ट हो जाती है। एक स्थान पर वज्र को स्पष्ट त्रिदन्त बताया गया है और धर्म बुद्ध और सघ को उसकी तीन अस्थियाँ बताया गया है।[७१] इससे इन्द्र के वज्र मे और इनके वज्र के मूल रूप मे किसी सन्देह का स्थान नही रह जाता।

इन्द्र का इतिहास देखने पर ज्ञात होता है कि पौराणिक काल मे इन्द्र की ब्राह्मणो द्वारा बहुत उपेक्षा हुई है और नये अवतार पुरुषो के आगे उनका महत्व बिलकुल लुप्त-प्राय हो जाता है। उसके बाद सहसा प्रज्ञापारमिताओ मे इन्द्र के नये रूप के दर्शन होते हैं।[७२] सगीतियो मे इन्द्र भगवान बुद्ध के महायानी उपदेशो मे श्रोता रूप मे सम्मिलित होते है।[७३] ज्ञात यह होता है कि ब्राह्मणो द्वारा उनकी उपेक्षा देख कर बौद्धो ने शक्र को अपनी मण्डली मे सम्मिलित कर लिया है और कालान्तर मे सम्भवत गुरुदक्षिणा स्वरूप उन्होने अपना अस्त्र बोधिसत्वो को सौंप दिया और वे उससे इतने अभिभूत हुए कि उसे शून्यता का ही प्रतिरूप मान बैठे। एक वैदिक देवता को शिष्य बनाने की भावना, अपने विरोधियो से रक्षा के लिये अमोघ अस्त्र की प्राप्ति, मणि रूप मे वैभव और सिद्धियो की उपलब्धि, अश्म-रूप मे अमर काया की प्राप्ति इन सबो ने वज्र की कल्पना को इतना सर्वाच्छादनकारी बना दिया, कि पाँच ध्यानी बुद्धो के अधिष्ठाता परम दैवत् के रूप मे वज्रयानी और चिन्तको ने वज्रसत्व नामक एक छठे बुद्ध

की कल्पना की जो प्रज्ञापारमिता रूपी शक्ति के पति है, जिनका अस्त्र अमोधवज्र है और जो युगनद्ध रूप मे सदैव अपनी शक्ति से समन्वित रहते है।

वज्रयान की रूपरेखा

तिब्बती अनुश्रुतियो मे यह कहा गया है कि वज्रयान की यह तान्त्रिक परम्परा असग के ही समय मे प्रारम्भ हो गई थी किन्तु असग से लेकर आचार्य धर्मकीर्ति (लगभग ६वी या ७वी शती) तक यह गुप्त रूप से गुरु परम्परा से चलती रही। प्रथम बार इन पद्धतियो को नियमित रूप देकर प्रचारित करने का श्रेय सरहपा को दिया जाता है। इसके उपरान्त सातवी शती से दशवी शती तक इतने आचार्य हुए और उन्होने इतनी प्रकार की चिन्ताएँ और पद्धतियो का प्रचार किया, इस बीच मे वज्रयान का सम्पर्क भोट, चीन, जापान, गान्धार और इतने सुदूर देशो से हुआ, इतनी सस्कृतियो से हुआ, इतने नये देवी देवता शैवो, शाक्तो, वैष्णवो, बोनपा आदि रो ग्रहण किये गये, इतने मन्त्र बने, बुद्ध के कुलों का इतना विकास हुआ कि वज्रयान का एक शृखलाबद्ध चित्र प्रस्तुत कर सकना असम्भव है। इतना स्पष्ट है कि चिन्तना, साधना, मन्त्र, देवता, तन्त्र, योग, आचार, भापा और जीवनदर्शन इन सभी दिशाओ मे बौद्ध धर्म इतना सर्वग्राही कभी नही रहा जितना सिद्ध-काल मे। एक ओर समस्त सासारिक बन्धनो और भवजाल से मुक्त होकर केवल अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि की साधना ही को श्रेयस्कर बताया गया है[७४] तो दूसरी ओर शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण[७५] आदि पटकर्मो ६ अभिचारो का भी विस्तृत विधान है। एक ओर हठयोग और उनके चार चक्रो का विधान है तो दूसरी ओर केवल सहज मन की साधना है। एक ओर पारमितादर्शन भी मिलता है तो दूसरी ओर समस्त आचारो को त्याग कर सर्वथा उच्छृखल असामाजिक अनैतिक आचारो का भी विधान मिलता है।[७६] इसका कारण यह है कि बहुत-सी प्रवृत्तियाँ महायान की चली आ रही थी जिन्हे वज्रयानी आचार्यो ने नया रूप दे दिया था।[७७] बहुत-सी नई पद्धतियाँ उन्होने प्रचलित की थी और वे सबकी सब स्वीकृत होती चली गईं। अन्त मे इतनी विभिन्नताओ मे एकसूत्रता स्थापित करने के लिये यह तरीका अपनाया गया कि वज्रयान के अन्तर्गत कई आम्नाय मान लिये गये[७८] और साधक को स्वतन्त्रता दी गई कि वह अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उन आम्नायो की (जिन्हे बाद मे यान कहा गया) साधना करे। इसके अतिरिक्त साधको के

मानसिक स्तर के अनुरूप इन पद्धतियो का विधान किया गया और पहले क्रिया, फिर चर्या, फिर योग, फिर अनुत्तर की साधना का विधान किया गया। कही-कही ये सभी पद्धतियाँ एक बडी साधना-प्रणाली की विभिन्न अवस्थाओ मे ग्रहणीय बताई गई। लगभग प्रत्येक आचार्य की प्रवृत्ति यह मालूम होती है कि वह दूसरी पद्धतियो का तिरस्कार नही करता है, किन्तु उसकी अपनी एक विशेष प्रिय पद्धति होती है जिसे वह दूसरो से श्रेष्ठ बताता है और यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि यह बडा गुह्य भेद है। अन्य पद्धतियो को तो साधारण लोग भी जान सकते है किन्तु यह केवल कुछ ही प्रज्ञावानो के लिये है। फिर अपनी-अपनी पद्धतियो के अनुसार वे वज्रयान की व्याख्या करते हैं।[७९] किन्तु इस विषय मे लगभग सब एकमत है कि वज्रयान ही भवसागर से पार उतारने मे समर्थ है।[८०]

शून्य नही वज्र, निवृत्ति नही प्रवृत्ति

इसके पहले कि इन विभिन्न पद्धतियो के कारण वज्रयान की विभिन्न शाखाओ पर हम विचार करें, हमे यह देखना चाहिये कि वज्रयान ने परम्परागत तत्वो की क्या नई व्याख्या की या उसमें कौन से नये तत्व जोडे। सबसे पहले वज्रयानी आचार्यों ने शून्य को वज्र मे बदल दिया। माध्यमिको ने जगत को शून्यता-स्वभाव का बताया था। इन्होने शून्य को नकारात्मक और रहस्यात्मक न रखकर उसकी वज्रपरक व्याख्या की, वज्र जो दृढ है, अच्छेद्य है, अभेद्य है, सुखदायक है।[८१] अत उसकी साधना केवल नकारात्मक साधना न रहकर सक्रिय, भोगमयी, सब प्रवृत्तियो को सन्तुष्ट कर चलने वाली साधना हो गई। इस प्रकार शून्य को वज्र मे बदल कर इन्होने अपने धर्म को केवल त्याग और सयम-परक न बनाकर भोग और सुख से समन्वित कर दिया, निवृत्तिमूलक धर्म न रहकर वज्रयान मे बौद्ध धर्म प्रवृत्तिमूलक बन गया।[८२]

यह वज्र चूँकि शून्यता का प्रतीक है और शून्यता जगत का स्वभाव होने के नाते तथागत का भी स्वभाव है अत तथागत भी वज्रसत्व है। वज्रसत्व की व्याख्या अवधूतीपा ने इस प्रकार की है कि 'वज्र के अर्थ शून्यता हैं और सत्व विज्ञप्ति-मात्रता का प्रतीक है दोनो का तादात्म्य सिद्ध होने से वज्रसत्व कहा जाता है।'[८३]

चूँकि यह वज्रसत्व शून्यता स्वभाव का है और शून्यता ही चरम धर्म है जिसकी प्रतीक धर्मकाया थी अत. वज्रयान मे धर्मकाया के स्थान पर वज्रकाया की

प्रतिष्ठा हुई,[८४] और कालान्तर मे उसी को सहजकाया कहने लगे। तीन कायाओ से पृथक् चौथी काया के रूप मे उसकी गणना होने लगी।[८५]

इस वज्रसत्व तथा इसी के अनुरूप समस्त ससार की वस्तुओ का मूल स्वभाव नैरात्म्य का है। इसी नैरात्म्य को पहचान लेना ही वज्रज्ञान बताया गया है।[८६] इसी वज्रज्ञान को प्राप्त करने के लिए साधक बोधिचित्त को उद्भूत करता है। इसी बोधिचित्त के द्वारा वह वज्रयान प्राप्त कर सकता है क्योकि बोधिचित्त ही वज्रचित्त है या बोधिवज्र है।[८७]

वज्रसत्व तथा उसको प्राप्त कराने वाले बोधिचित्त का स्वभाव पूर्ववर्ती ग्रथो मे बहुत गहन चित्रित किया गया है। वह नैरात्म्य स्वरूप है, निस्वभाव है, निरालम्ब है, प्रज्ञापारमिता रूप है, प्रकृति शुद्ध है, अद्रव्य है, अग्राह्य है।[८८] किन्तु वज्रयान मे विशेषता यह थी कि इसे दो तत्वो के अद्वय के रूप मे प्रधानता दी गई। पहले भी महायान मे शून्य तथा करुणा दोनो ही को बोधिचित्त मे परिकल्पित किया गया था, इसमे शून्य तथा करुणा को प्रज्ञा तथा उपाय के रूप मे परिकल्पित किया गया।[८९] अत वज्रज्ञान वास्तव मे प्रज्ञोपाय का ज्ञान है और उसी के जल रूपी ज्ञान से चित्त रूपी रत्न पर जमा हुआ अनादिवासना का पक धुल जाता है।[९०]

अपने को देवता ही समझ लेना वज्रयानी साधना मे अहकार नाम से अभिहित होता है।[९१] इस साधना मे साधक लगातार इन मन्त्रो का पाठ करता है, 'ओ सर्वतथागतात्मकोऽहम्' या 'ओ शून्यताज्ञान वज्रस्वभावत्मकोऽहम्'[९२] और उसके बाद तथागत की ही भाँति आचरण करता है। जब साधक स्वत तथागत है तो उसकी मुद्रा भी प्रज्ञापारमिता होगी।[९३]

अहकार

इस अहकार पद्धति मे मन्त्र जप के उपरान्त साधक मे आवेश जाग्रत होता है जो स्वत देवता के स्वभाव के अनुरूप होता है। उसे आवेश मे देवता उसके माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करने लगता है और वह उसी के अनुरूप कार्य करता है। काम, क्रोध आदि अनेक आवेश 'अहकार' पद्धति मे आते है जिनके उपशमन के बाद साधक मण्डल मे प्रवेश करता है।[९४] इसी प्रकार कामावेश मे उसका उपशमन मुद्राओ द्वारा होता है किन्तु वे मुद्राएँ प्रज्ञा की अभिव्यक्तियाँ होती है इसीलिए इस मुद्रायोग को 'गुह्यप्रज्ञागसग' भी कहा गया है।[९५]

इस प्रकार हम देखते है कि वज्रयान वास्तव मे तान्त्रिक पद्धति का बौद्ध सस्करण मात्र है। तन्त्रो के जिन दस सामान्य तत्वो की ओर हम सकेत कर आये है वे सभी वज्रयान मे विकसित हो चुके थे। देह, गुरु का महत्व, मन्त्र, तन्त्र, हठयोग, जाति-पाँति का तिरस्कार, मैथुन तथा गुह्य साधनाएँ, सिद्धियाँ, मण्डल चक्रादि, अनुष्ठान, सभी ज्यो के त्यो वज्रयान मे मिलते है। लिगाग-सामरस्य, मुक्ति की अपेक्षा सिद्धियो के प्रति आग्रह, रसरसायन आदि की कल्पना, अमर शरीर तथा गुह्याचार आदि सभी प्रवृत्तियाँ वज्रयानियो मे पाई जाती हैं, किन्तु उन सबो को स्वीकृत कर बौद्ध अर्थ दे दिये गये है। इसमे अपनी साम्प्रदायिक विशिष्टता भी है जिस पर हम उनके सिद्धान्तो का विवेचन करते समय विचार करेंगे।

इन सभी वाह्य अनुष्ठानो से बिल्कुल ऊपर उठ कर अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि की भी साधना थी जिसका विकास सहजपद्धति मे हुआ। वास्तव मे ये साधनाएँ एक दूसरे की विरोधिनी न होकर पूरक मान ली गई थी। साधको की चित्तवृत्तियो के अनुरूप, उसके मानसिक विकास के अनुरूप साधनाओ का विधान था। कभी-कभी एक साधना पद्धति तथा दूसरी साधना पद्धति एक ही प्रणाली मे विभिन्न अवस्थाओ मे विहित बताई जाती थी।[९६] कभी-कभी कुछ आचार्य किसी एक विशेप देवता की प्रतिष्ठापना करते थे, फिर उसकी पूजा, उसके न्यास-विन्यास उसकी साधना, मन्त्र, यन्त्र आदि के पूरे साधन का विवरण देते थे,[९७] और किसी एक साधना को इतना महत्वपूर्ण बताते थे कि उसके आगे अन्य सभी साधनाएँ हेय है। इससे यह अर्थ कदापि नही लेना चाहिये कि उनका सम्प्रदाय या मत वज्रयान से अलग कोई स्वतन्त्र सम्प्रदाय है, जैसा वहुत से लोगो ने सहजयान या कालचक्रयान को मानने की भूल की है।[९८] वास्तव में वे सभी साधना पद्धतियो को स्वीकार करते हैं किन्तु अपनी विशेप पद्धति को सर्वोपरि रखते है और उसके महत्व को प्रचारित करने के लिये अन्य सभी साधनाओ को 'उसकी तुलना में' हेय समझते हैं।

साधक की अवस्थानुसार साधना पद्धति अपनाने की दृष्टि से चार पद्धतियाँ प्रमुख थी और उन्ही के नाम पर वज्रयान के चार तन्त्र हो गये। क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र, अनुत्तरतन्त्र।[९९] ये चारो विभाग वैष्णव तन्त्रो, सहिताओ तथा अधिकाश तन्त्रो मे निर्दिष्ट ज्ञान योग क्रिया तथा चर्यापद के ही आधार पर वने थे।[१००] इन्ही तन्त्रो मे कुछ की और भी प्रशाखाएँ हो गई थी। चूंकि

सहज और कालचक्र दोनो पद्धतियो का विकाम इसी प्रकार हुआ था और सिद्धो मे दोनो का प्रतिपादन मिलता है अत वज्रयान की शाखाओ के वर्गीकरण पर भी एक विहगम दृष्टि डाल लेनी आवश्यक है।

शाखाएँ या पद्धतियाँ

आचार्य अवधूतीपा ने 'कुदृष्टिनिर्घातक्रम' मे दो प्रकार के साधक बताये है शैक्ष तथा अशैक्ष (इह द्विधा सत्वा शैक्षा अशैक्षाश्च)। इनमे आदि कर्म, प्रारम्भिक क्रियाएँ तथा चर्याएँ केवल शैक्षो के लिये आवश्यक है क्योकि वे अविकसित मन वाले होते है। अशैक्षो के लिये आदि-कर्म की विशेष आवश्यकता नही।[१०१] शैक्षो को आधार के सभी नियम पालन करने पडते है किन्तु अशैक्षो को आचारगत स्वतन्त्रता प्राप्त है।[१०२] उसी मे साधक की तीन अवस्थाएँ बताई गई है, हेत्ववस्था, फलावस्था, सत्वार्थ-क्रियावस्था। हेतु के भी आशय, प्रयोग तथा वसित वर्ग है। वसित भी पच-विध है-क्लेश, उपपत्ति, कर्म, उपाय, सत्व-परिपाक। इन विभिन्न अवस्थाओ मे साधना की विभिन्न पद्धतियाँ बताई गई है।[१०३] और इसी कारण वज्रयान के विभेदो को शाखाएँ न कहकर पद्धतियाँ कहना अधिक उचित होगा।

काजी दावासमदुप ने[१०४] वज्रयान के छ प्रमुख भेद बताये है—

१ क्रियातन्त्रयान

२ चर्यातन्त्रयान अथवा उपाय तन्त्रयान

३ योगतन्त्रयान

इनमे से योगतन्त्रयान के भी तीन भेद मिलते है ४ महायोग तन्त्रयान ५. अनुत्तर योगतन्त्रयान तथा ६ अतियोग तन्त्रयान। इन छ भेदो का विस्तृत विवरण उन्होने नही दिया है किन्तु उनके तिब्बती नामो से ज्ञात होता है कि तिब्बती बौद्ध तन्त्रो मे ये छ साधना पद्धतियाँ रही होगी। इनमे से महायोग तन्त्रयान मे सम्भवत पुरुषयान से बोधिचित्त की भावना थी, अनुत्तर मे स्त्री भाव से और अतियोगतन्त्र मे अद्वैत भाव से। किन्तु इसका भी कोई विशेष प्रमाण नही मिलता है।[१०५] भारतीय बौद्ध तन्त्रो मे केवल चार शाखाएँ परिगणित है क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र तथा अनुत्तर तन्त्र।[१०६] इनमे से प्रथम दो तन्त्र प्रारम्भिक अवस्था के शैक्षो के लिये है और तृतीय तथा चतुर्थ अशैक्षो के लिये है।[१०७] क्रियातन्त्र सम्भवत उसी आदिकर्म-प्रधान पद्धति का

कारण अभी तक यह वताया जाता रहा है कि उन्होने गुह्याचारो से भिन्न केवल सहज स्वाभाविक जीवन का उपदेश किया। जहाँ तक आचार का प्रश्न है महायान स्वत हीनयान से अधिक उदार है और उतने कठोर 'विनय' और संयम को नही स्वीकार करता इसलिये महायान के विभिन्न नामो मे से चीनी वौद्ध धर्म मे एक नाम सहजयान और हीनयान के लिये कठिनयान भी प्रचलित है।[११४] इसमे भी कोई सन्देह नही कि इनका झुकाव सहज स्वाभाविक की ओर भी था इसीलिये इन्होने वज्रकाया को सहजकाया अथवा स्वभावकाया कहा, किन्तु चूँकि प्रज्ञोपाय साधना ही इनकी प्रमुख साधना थी अत इन्होंने सहज का अर्थ लिया था 'जो सहगमन से उद्‌भूत हो' और चूँकि विना उपाय के प्रज्ञा और विना प्रज्ञा के उपाय बन्धन का कारण है अत जो इन दोनो के अद्वय अनुत्तर को सिद्ध कर सामरस्य का अनुभव करता है और महासुख की प्राप्ति करता है वही सहज-सिद्ध है।[११५] इस विपय मे एक विचारणीय प्रश्न यह है कि इस मत को सहजयान नाम कव और कैसे दिया गया। जहाँ तक मैंने सामग्री देखी है वज्रयान, मन्त्रयान, तन्त्रयान आदि नामो का तो वौद्ध तान्त्रिक ग्रथो मे प्रचुर प्रयोग है, किन्तु एक विशेप सम्प्रदाय के रूप मे सहजयान नाम का प्रयोग नही मिलता। यदि हम चीनी साक्ष्य पर विचार करें तो वहाँ भी यह नाम महायान के लिये हीनयान की साधनापद्धति की कठोरता का विरोध दिखाने के लिये प्रयुक्त हुआ है, वज्रयान के वाद किसी नवविकसित साधनापद्धति के लिये नही। प्रतीत यह होता है कि विद्वानो ने सिद्धो के साहित्य मे सहज का इतना अधिक प्रयोग देख कर उसे अन्य 'यानो' की तुलना मे 'सहजयान' कहना उचित समझा।

स्वत सिद्धो के दोहो या चर्यापदो मे इस नाम का कही प्रयोग नही है। इन्द्रभूति, अनगवज्र, अद्वयवज्र, आर्यदेव आदि के अव तक प्रकाशित ग्रथो मे भी सहजयान का ऐसा प्रयोग मुझे नही मिला। गुह्य-समाज-तन्त्र मे भी इस नाम का प्रयोग नही है। अद्वयवज्र ने सरहपा के दोहो की टीका करते हुए उसे 'सहजाम्नाय पजिका' नाम दिया है। यह नामकरण महत्वपूर्ण है। वास्तव में सहज एक आम्नाय या पद्धति थी जिसमे हठयोग द्वारा प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य स्थापित कर अनुत्तर ज्ञान, महासुख अनुभूति और सहज स्वभाव सिद्ध कर, महामुद्रा के साथ रहते हुए समस्त वाह्य अनुष्ठानो से मुक्त होने पर विशेप वल दिया जाता था। यद्यपि अनुष्ठानो का सर्वथा वहिष्कार नही था क्योकि स्वत महामुद्रा की साधना मे हठयोग के वहुत ही सूक्ष्म और गहन मार्ग का विधान

नाम है जिसमे प्रज्ञापारमिताओं के नियम पालन का विधान है। दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा का सेवन होना चाहिये।[१०८]

शरीर-दान के उपरान्त चर्या होती है।[१०९] यह चर्या उपाय-प्रधान है अर्थात् बोधिचित्त मे उपाय तथा करुणा जाग्रत करने के लिये है।[११०] उसके पहले ही उसकी दीक्षा या पोपध का अनुष्ठान होता है।[१११] इस क्रिया तथा चर्या-पद्धति के माध्यम से भी साधक को सहज सिद्धि प्राप्त होती है। इस क्रिया तथा चर्या का भी उद्देश्य प्रज्ञा तथा उपाय का अद्वय ही है।[११२] विधि, देवी, देवता, उनकी साधनाएँ, दीक्षा, अभिषेक, मण्डल, आवेश आदि क्रियाओ और चर्याओ के ही अन्तर्गत आते है।

योग तथा अनुत्तर उच्च स्तर की अधिक सूक्ष्म साधनाएँ थी, जिनका अधिकार केवल ऐसे साधको को था जो स्वभावत निस्वभाव हो गये हो या जिन्होने सहज स्वभाव या वज्रात्मक स्वभाव को पूर्णतया आत्मसात् कर लिया हो। ऐसे योगियो के लिये किसी भी आचार का कोई बन्धन नही था और यह विश्वास किया जाता था कि जिन आचारो के कारण लोक नरक-बन्धन मे पड जाता है योगी उन्ही से सिद्धि प्राप्त करता है।[११३]

अनुत्तर मे आस्था रखने वाले सिद्ध अन्य पद्धतियो का तिरस्कार नहीं करते थे केवल वे सहज स्वभाव की साधना को लेने वाले के लिये मन्त्र-तन्त्र आदि का कोई महत्व नही मानते थे। इसलिए वे सहज पर अधिक बल देते थे। वैसे ये सभी वज्रयानी थे और अनुत्तर सिद्धि के अतिरिक्त भी इन्हे अगणित भौतिक और गुह्य सिद्धियाँ प्राप्त थी जिनका प्रयोग वे 'जगदुद्धारणाशय' से किया करते थे।

सहजयान

इस प्रकार सहजयान को वज्रयान से अलग कोई शाखा मानना अथवा सहजयान को वज्रयान के अन्तर्गत कोई स्वतन्त्र शाखा मानना अथवा सहज साधना मे देवता, मत्र, तन्त्र, योग, मैथुन तथा अतिचारो का अभाव मानना युक्तिसगत नही है। हाँ यह अवश्य है कि सरह आदि कुछ आचार्य ऐसे हुए जिन्होने उच्चकोटि के अनुत्तर साधको के लिये तन्त्र मन्त्र का निषेध कर केवल सहज मे भावाभाव से विनिर्मुक्त होकर महासुख की साधना का विधान किया है। किन्तु वे भी तान्त्रिक थे, वज्राचार्य थे, उनकी चिन्तना को सहजयान क्यो पुकारा गया इसका प्रमुख

था जिसमें कभी-कभी प्रारम्भ मे मण्डल-चक्र, अभिषेक आदि वाह्य अनुष्ठानो को सम्पन्न करना पडता था। साधना के उपरान्त समस्त अनुष्ठानो से मुक्त होने का विधान था।

चर्यापदो की टीका मे एक स्थान पर सहजयान शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु वह केवल एक काव्यात्मक अभिव्यक्ति मात्र है। १४वी चर्या की टीका मे डोम्बी रूपिणी भगवती नैरात्मा को सहजयान (सहजनौका) की खेवनहार कहा गया है।[११६] सहज नौका कोई विशेष सम्प्रदाय न होकर ललना और रसना रूपी गंगा और यमुना अथवा प्रज्ञा और उपाय का वर्जन कर प्रज्ञोपाय के अद्वय-रूपी अवधूती के मध्य मे स्थित शुक्र नाडी ही है। उसी नाडी के माध्यम से बोधिचित्त उष्णीष कमल तक पहुँचता है अत उसे नौका कहा गया है, जो सहजरूपिणी है। नौका रूप मे कभी करुणा, कभी अवधूती का वर्णन चर्यापदो मे मिलता है किन्तु इसी के आधार पर सहजयान नाम पूरे सम्प्रदाय को देना उचित नहीं कहा जा सकता। इस 'सहज' को आम्नाय या पद्धति ही मानना उचित है।

सहज और चीनी ताओमत

इस सहज की कल्पना का मूल उद्गम कहाँ है इसके विषय मे डा० प्रबोधचन्द्र वागची का एक विचारणीय मत है। वे इस सहज को प्राचीन चीनी धर्म का प्रभाव मानते है और सहज को उनके मूल सिद्धान्त 'ताओ' का संस्कृत अनुवाद मात्र। वास्तव में ताओ धर्म चीनी जनता का बहुत पुराना धर्म है जिसका मूल प्रवर्तक लाओत्से लगभग ६०० ई० पू० मे हुआ था और उसका प्रमुख प्रचारक च्वागत्से लगभग ४०० ई० पू०।[११७] इसमे कोई सन्देह नहीं है कि लाओत्से की ताओ भावना अपनी रूपरेखाओ मे उपनिषदीय ब्रह्म से इतनी मिलती-जुलती है कि बहुत दिनो तक विद्वान उस पर भारतीय प्रभाव का सूत्र ढूँढने का प्रयास करते रहे।[११८] किन्तु वह इतना पुराना धर्म है कि भारतीय चीन सास्कृतिक सम्बन्ध स्थापित होने के पहले ही उसका समुचित विकास हो चुका था।[११९]

ताओमत का जीवन-दर्शन वास्तव मे सहज जीवन-दर्शन था। वह मनुष्य के सहज शुद्ध स्वभाव मे विश्वास करते थे और उनका सहज कभी-कभी तो निष्क्रिय कर्मशून्यता के स्तर तक चला जाता था। उनका मूल तत्व ताओ पूर्ण भी है और शून्य भी। वह सज्ञाहीन है, स्वभावहीन है, रूपहीन है, नैरात्म्य-रूप

है। यहाँ तक कि वह ज्ञान से भी परे है और तर्क उसे नही पा सकता। वह ताओ शून्य है, सर्वसत्वमय है और उसे समस्त ससार की जननी कहा जा सकता है, वह नारी रूप है। उसकी सृष्टि मे त्रितत्वो का महत्व है। कहा जाता है कि प्रारम्भ मे केवल शून्य था, फिर उससे एक की सृष्टि हुई, फिर एक मे दो हुए, दो ने तीन का सृजन किया और तीन से समस्त ससार हुआ।[१२०]

ताओ साधना मे निष्क्रियता और उसके माध्यम से अपनी शक्ति क अपव्यय रोक कर अमरता प्राप्ति का विधान है। च्वागत्से ने एक स्थान पर नौ वर्ष मे अमरता प्राप्ति का मार्ग बताया है। च्वागत्से ने ही एक चीनी स्त्री की कथा लिखी है जो अमर थी और जिसके रूप का कुछ भी क्षय नही हुआ था। उससे किसी ने पूछा कि तुम्हे यह अमरत्व का रहस्य कहाँ से मिला तो उसने कहा 'पुस्तको से। और पुस्तको ने इसे समवेत ज्ञान मे ग्रहण किया और ज्ञान ने खोज से और खोज ने समन्वय बुद्धि से और समन्वय बुद्धि ने अभ्यास से और अभ्यास ने जिज्ञासा से और जिज्ञासा ने ज्ञानोपरि (अनुत्तर) से और ज्ञानोपरि ने महाशून्य से और महाशून्य ने ताओ से और ताओ ने अनन्त से।'

इनकी यह शून्योद्भूत साधना इन्हे विचित्र भौतिक सिद्धियाँ भी देती थी। सिद्ध पुरुष ठोस तत्वो मे से गुजर सकता था, वह अग्नि से बिना जले गुजर सकता था, उड सकता था, पवन पर सवार हो सकता था और नाना रूप धारण कर सकता था।

ताओ के इस वर्णन मे वास्तव मे यह ज्ञात होता है कि तन्त्रो से इस मत की बहुत समानता थी। इस मत का प्रमुख प्रचारक च्वागत्से था और बहुत सी प्राचीन चीनी किम्वदन्तियो मे ऐसी कथा मिलती है कि चीन मे ताओ का उपदेश देने के बाद आचार्य च्वागत्से भारत की ओर चले गये और शेष जीवन उन्होने भारत मे बिताया।[१२१] च्वागत्से का समय लगभग ४०० ई० माना जाता है, अत सभव है ३०० वर्ष मे यह सिद्धान्त विकसित होकर सहज मत के रूप मे आया हो।

तान्त्रिक काल मे भारत का सम्बन्ध एशियाई देशो से बहुत घनिष्ठ था और सास्कृतिक दृष्टि से कितने ही देशो को तो एक ही समझा जाता था जिसमे मध्य तथा पूर्वी एशिया के लगभग सभी देश थे। तन्त्रो के प्रभाव मे तीन क्रान्ताएँ थी जिनमे बहुत विदेशी राष्ट्र आते थे।[१२२] तन्त्रो के पाँच प्रमुख पीठो मे से कई ऐसे पथो पर थे जो मध्यदेश को गान्धार, चीन, मगोलिया, भोट, ब्रह्मा

आदि से सम्बद्ध करते थे।[१२३] उस समय भारत और इन देशो में इतनी उदारतापूर्वक सास्कृतिक आदान-प्रदान चल रहा था कि भारतीय आचार्य चीन और भोट के देवी देवताओ की पूजा भारत मे प्रचलित करते थे।[१२४] उग्रतारा, तारा, एकजटा, महानील सरस्वती ये बौद्धो तथा हिन्दू तान्त्रिको द्वारा पूजित देवियाँ तिब्बती या चीनी है।[१२५]

इन परिस्थितियो मे सम्भव है कि सहज सिद्धान्त ताओ से ग्रहण किया गया हो किन्तु केवल किम्वदन्तियो के आधार पर इसे मान लेना कठिन है। डा० वागची के अनुसार कामरूप के राजा भास्करवर्मन ने लगभग ६०० ई० मे कुछ चीनी दूतो से प्रार्थना की थी कि वे वापस जाकर ताओ की धर्म पुस्तक का एक सस्कृत अनुवाद तथा लाओत्से का चित्र अवश्य भेजे। कहा जाता है कि लाओ का सस्कृत अनुवाद कराया गया जिसमे ह्वेनसाग से सहायता भी मागी गई। ह्वेनसाग ने उसका अनुवाद मार्ग किया था। और अन्य विद्वान वोधि कर रहे थे। कुछ दिनो तक उस पर विवाद भी चला और अन्त मे ह्वेनसाग का अनुवाद स्वीकृत हुआ। वह अनुवाद भारत आया या नही इसका कोई उल्लेख नही मिलता हैं किन्तु इसका उल्लेख मिलता है कि भारतीय विद्वान कुमारजीव ने ताओ की पुस्तक पर टीका लिखी थी। डा० बागची का अनुमान है कि बाद मे ताओ का अनुवाद 'सहज' प्रचलित हुआ क्योकि स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप मे सहज का प्रयोग अन्य किसी सम्प्रदाय मे नही मिलता है।[१२६]

उपर्युक्त मत वहुत रोचक और आकर्पक होते हुए भी वैज्ञानिक दृष्टि से प्रमाण-सम्मत नही है। जहाँ तक लाओत्से के भारत आने की बात है, वह केवल किम्वदन्ती है जो सम्भवत वाद मे ताओ मत और चीनी बुद्धमत के बहुत निकट आने पर गढी गई है। ऐसी उर्वर कल्पना मध्यकाल की अपनी विशेषता रही है। भास्करवर्मन वाला अनुवाद यदि भारत आया भी होगा तो ७०० ई० तक आया होगा। किन्तु सरहपा ने इतने शीघ्र सहजमत का इतना प्रचार कर दिया और उसकी वौद्ध एक व्याख्या भी कर डाली, यह सम्भव नही प्रतीत होता। यदि सरहपा या अन्य किसी आचार्य ने इसका समावेश बौद्ध परम्परा मे किया भी होता तो उसका उल्लेख अनुश्रुतिया मे अवश्य होता। तारानाथ ने लगभग सभी सिद्धो द्वारा प्रथम प्रवर्तित तन्त्रो का उल्लेख किया है।[१२७]

एक दूसरा सूत्र मिलता है जिसमे सहज शब्द लगभग इसी अर्थ मे

प्रयुक्त हुआ है और सिद्धो से कई शताब्दियो पूर्व प्रयुक्त हुआ है, वह है विष्णु-पुराण। विष्णु-पुराण का समय फर्कुहर ने लगभग ४०० ई० माना है और उसका निर्माण जिस सामग्री पर हुआ है वह और भी पुरानी है।[१२८] विष्णु-पुराण मे कहा गया है—

सहज और विष्णु पुराण

तता सा सहजासिद्धिस्तासाम्नातीवजायते
रसोल्लासादयश्चान्या सिद्धियोऽष्टौ भवन्ति या[१२९]

और इसी को स्वाभाविक सिद्धि के रूप मे भी प्रस्तुत किया गया है —

तेपाम् स्वाभाविकी सिद्धि सुखप्राया ह्ययत्नत।[१३०]

इस प्रकार हम देखते है कि स्वाभाविक मार्ग के अर्थ मे हमे विष्णु पुराण मे ही सहज सिद्धि का उल्लेख मिलता है। किन्तु केवल इतने ही से यह नही प्रमाणित किया जा सकता कि सहज की कल्पना चीन से नही आई। यह हो सकता है कि सिद्धो ने इसे विष्णु-पुराण या उसी समय की अन्य किसी भारतीय चिन्तना धारा से लिया हो, किन्तु चीनी जनश्रुतियो की भाँति कुछ भारतीय जन-श्रुतियाँ भी ऐसी मिलती है कि ईसा के पूर्व ही कोई चीनी ताओवादी आचार्य भग या भोग भारत आया था और देह की अमरता का उपदेश करता था। कुछ विद्वानो का यह भी अनुमान है कि भोग अगस्त्य का समकालीन था और उसने दक्षिण भारत के शैवागम तथा शाक्तागम सम्प्रदाय के कुछ अनुयायियो को शुद्ध मार्ग की दीक्षा दी थी। उसका निवास तिनेवेली के सिद्धकूट पर्वत पर था। पूर्वी भारत मे भी कोई चीनी धर्म बहुत पहले से प्रचलित था क्योकि ईत्सिग ने लिखा है कि नालन्दा से ४० योजन पूर्व महाराज श्रीगुप्त ने चीनी पुरोहितो के लिये एक चीनी मन्दिर बनवाया था और उसको २४ गाँव दान मे दिये थे।[१३१] यद्यपि केवल इतने प्रमाण ही सहज भावना का चीनी उद्गम सिद्ध कर देने के लिये यथेष्ठ नही है किन्तु यह अनुमान किया जा सकता है कि विष्णु-पुराण मे भी यह सहज' कही बाहर से आया हो।

ओपधियो द्वारा सिद्धि का उल्लेख पतजलि मे भी मिलता है जिनका समय २०० से ६०० ई० तक कही भी अनुमानित किया जा सकता है। विष्णु-पुराण मे सहज की कल्पना स्वाभाविक जीवन के रूप में है। इस कल्पना को जो

सहज रागात्मक प्रवृत्तिमूलक स्वाभाविक जीवन के रूप मे थी, भारतीय चिन्तना पद्धति मे सर्वथा भुला नही दिया गया था। १२वी शती मे वल्लभदेव के कामरूप के एक शिलालेख मे 'सहज' का प्रयोग इसी स्वाभाविक जीवन के अर्थ मे प्राप्त होता है,[१३२] जिससे ज्ञात होता है कि बौद्धो के अतिरिक्त भी कोई सहज चिन्तना पद्धति बराबर चली आ रही थी जिसका वैष्णव परम्परा से अधिक सम्बन्ध था, जो केवल भाव साधना पर बल देती थी। सन्तो के 'सहज' की समीक्षा करते समय हम इस पर विस्तृत विचार करेंगे। सिद्धो ने उसी सहज मे बौद्ध प्रज्ञोपाय के अश को भी सम्मिलित कर लिया है। किन्तु सिद्ध और रसायन की कल्पना को वे भूले नही है। उनका 'अमिश्र रस' और 'समरस' उसी कल्पना का तान्त्रिक रूप है। किस प्रकार उन्होने इस रसायन और अमरत्व भावना को प्रज्ञोपाय परक रूप दिया था और सहज को प्रज्ञा तथा उपाय के युगनद्ध का रूप दिया था, इस पर हम आगे विचार करेंगे। उनकी यह व्याख्या, विष्णु-पुराण, ताम्रोवाद तथा रसायन मत या रसेश्वर सिद्धो से कुछ पृथक् थी।

कालचक्रयान

सहजमत के अलावा एक दूसरी वज्रयानी पद्धति थी जिसका परवर्ती सिद्ध-साहित्य से वहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह है कालचक्रयान। उसके विषय मे विद्वानो मे वहुत भ्रम और मतभेद रहे है जिनके विस्तार मे जा सकना यहाँ सम्भव नही है। कालचक्र के विषय मे वैडेल ने दो सर्वथा विरोधी मत दिये है। एक स्थान पर वह कहता है कि कालचक्रयान का उद्भव १०वी शती मे हुआ, उसने मन्त्रयान की पद्धति ग्रहण की और अपने को वज्रयान कहना प्रारम्भ किया और उसके अनुयायी वज्राचार्य कहलाते थे। दूसरे स्थान पर वह कहता है कि तन्त्रयान का चरम विकास कालचक्रयान मे हुआ जिसमे आदिबुद्ध के सिद्धान्त का विकास हुआ जो काली से समागम करता है। वे तथा अन्य वुद्ध रक्त-पिपासु, भयकर और कुरूप थे। उनकी पूजा वलिदानो और तन्त्र मन्त्र से होती थी।[१३३] महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री ने काल को समय, काल और विध्वस का देवता माना है। कालचक्र के अर्थ है ध्वस का चक्र और कालचक्रयान वह यान है जो उससे रक्षा करे।[१३४] सर चार्ल्स ईलियट तिव्वती अनुश्रुतियो के अनुसार इसका प्रारम्भ शम्भल नामक देश मे वताते है जिसकी स्थिति का कुछ पता नही चलता। उनका अनुमान है कि शम्भल चीनी तुर्किस्तान के निकट कोई देश है जहाँ के राजा कुलिक कहलाते

थे, जहाँ बारह पशुओ के सकेतो से समय चक्र का प्रचार है, अतिश दीपंकर ने नये तिब्बती सवत मे जिसका उपयोग किया था। कहा जाता है कि उसी शम्भल के राजा सुचन्द्र (दूसरे स्थान पर मंजु-श्रीकीर्ति नाम मिलता है) ने प्रथम वार कालचक्र का प्रवर्तन किया। ईलियट इसे वैष्णव-धर्म से प्रभावित सम्प्रदाय मानते है जो १०वी शती के मध्य मे प्रचलित हुआ था, जिसमे विष्णु के चक्र की कल्पना भी समाविष्ट हो गई थी।[१३५]

इधर कालचक्रयान के दो तीन ग्रन्थ मिल जाने से कुछ उसका स्वरूप सम्मुख आया है। कुछ तिब्बती ग्रन्थो का साराश प्रकाशित हुआ।[१३६] पद्म कारपो (जिसका समय १६वी शती था) ने अपने ग्रन्थ मे लिखा है कि कालचक्र का उद्‌भव पहले हो चुका था। पितो नामक सिद्ध नालन्दा मे आया और नालन्दा विहार के द्वार पर दश दिग्पालो का चित्र बनाकर उसने कालचक्र का सिद्धान्त लिख दिया।[१३७] उस समय विहार के अध्यक्ष सिद्ध नारोतपा (नरोत्तम या नडपाद, नारोपा) थे। वे अपने ५०० शिष्यो के साथ आये और उन्होंने शास्त्रार्थ किया। अन्त मे पितो (?) ने उन्हे निरुत्तर कर दिया तव उन्होने पितो से दीक्षा ली और उनसे कालचक्र का सन्देश सुना।

सम्भवत ये नरोत्तपा पूर्वोक्त सिद्ध नारोपा थे जिनका 'सेकोद्देश टीका' नामक ग्रन्थ मिलता है। यह ग्रन्थ 'कालचक्र तन्त्र' के सेक विभाग पर टीका है। मूल कालचक्र-तन्त्र की भी पाण्डुलिपि प्राप्त हो गई है। डा० शशिभूषण दास गुप्त ने उसका प्रचुर उल्लेख किया है।[१३८] इन दोनो सूत्रो से कालचक्रयान का जो रूप हमारे सम्मुख आता है वह इस प्रकार है—

कालचक्रयान वास्तव मे योग मार्ग है और उसमे योगसाधना की विशद व्याख्या है। यह साधना शम्भल के राजा सुचन्द्र (जो सीता नदी के तट पर राज्य करते है,) की प्रेरणा से भगवान तथागत ने धान्यकटक मे प्रगट की थी।[१३९] इसमे काल की व्याख्या इस प्रकार दी गई है—धर्म, धातु और आकाश के लक्षण वाले परम अक्षर और अच्युत क्षण को काल कहते है। वही काल वज्रयान है। वह सर्वाकार है, सर्वेन्द्रिय है, विश्वरूप है, विन्दुरूप है। वही देह-रूप है। वह प्रज्ञा और उपाय से समन्वित है।[१४०] वही आदिबुद्ध कालचक्र है। आदि शब्द के अर्थ है, आदि तथा अन्त से रहित। वह करुणा तथा शून्य रूप है और कालरूपी सम्वृत्ति शक्ति उसकी शून्यता-चक्र है। उसके नाम के

अक्षरो का अर्थ इस प्रकार है। क के अर्थ है 'कारण', ल के अर्थ हैं लय, च के अर्थ है चलचित्त, क्र के अर्थ है क्रम-बन्धन।[१४१]

जहाँ तक साधना का प्रश्न है कालचक्र तत्व मे इसकी साधना को केवल देह और उसके चक्रो और नाडी-जाल मे ही सीमित बताया गया है। समय या काल की भी स्थिति देह में ही है और वह प्राण वायु की गति के रूप में है। अधिकाश रोगो का शमन प्राण और अपान के वशीकरण मे बताया गया है। डा० शशिभूषण दास गुप्त का मत है कि तन्त्रालोक (११वी शती) मे वर्णित काल और प्राणवायु साधना शब्दश कालचक्र की योग साधना से मिलती है।[१४२]

इस प्रकार वैशाली की प्रथम सगीत से लेकर मत्रयान के विकास, भारतीय धर्म साधना मे तन्त्रो का आकस्मिक उदय और प्रभुत्व, महायान मे तान्त्रिक प्रवृत्तियो का प्रवेश और उसका वज्रयान तथा उसकी सहज और कालचक्र पद्धतियो मे परिणति एक समुचित पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है, जिसमे हम सिद्ध-साहित्य की दार्शनिक चिन्तना का सम्यक् आकलन कर सकते है। जैसा हम आगे देखेंगे कि सिद्धो ने वास्तव मे जो विचार रक्खे हैं वे उपरोक्त सभी विचार सरणियो को प्रतिबिंबित करते है और वज्रयान के विकास मे तो सिद्धो का भाग सर्वोपरि रहा है। अगले अध्याय मे हम चर्यापदो और दोहाकोप मे प्राप्त सिद्धो की चिन्तना प्रणाली का विवेचन करेंगे।

तृतीय अध्याय

सिद्धान्त-पक्ष

क

तत्व चिन्तन

सिद्धो के समस्त तत्व-दर्शन की मूल पीठिका विज्ञानवाद का वह परमार्थ सिद्धान्त है जिसे अनिर्वचनीय वताया गया है क्योकि वह अद्वय[1] है और उसमे शून्य तथा अशून्य, अभाव तथा भाव का अद्वय हो जाता है।

तत्वदर्शन की मूल भित्ति जगतानुबोध

इस अद्वय की सिद्धि विज्ञानवादियो ने शून्यवादियो की भाँति चित्त का भी अनस्तित्व और अनुत्पाद मान कर नही की थी। जैसा हम देख चुके है कि वे चित्त की सत्ता स्वीकार करते थे और ससार को चित्त की ही भ्रान्ति मानते थे। उनकी दृष्टि मे ससार का अस्तित्व वाह्य न होकर चित्तगत ही था। जिस समय चित्त इस भ्रान्ति से मुक्त होकर जगत के वास्तविक स्वभाव का अनुबोध कर लेता है उसी समय वह सदेह निर्वाण प्राप्त कर लेता है। अत विज्ञानवाद मे जगतानुबोध को तत्वदर्शन की मूल भित्ति माना गया है।[2]

सिद्धो ने भी स्थान-स्थान पर जगत को चित्तगत वताकर आभ्यन्तर और वाह्य की दृश्यमान भिन्नता को भ्रान्ति वताकर दोनो की एकता का प्रतिपादन किया है। तिलोपा ने स्पष्ट कहा है कि 'निर्मल चित्त स्वभाव से देखने पर यही परिभावना होती है कि जो आत्मा है वही जगत है.. पर तथा आत्म का भेद केवल भ्रान्ति मात्र है।[3] सरहपा भी दोनो की द्वयता को छोड़कर दोनो को एक ही समझने का आग्रह करते हुए कहते है 'उसे एक ही करके जानो, दो नही। उसमे भेद न करो क्योकि जो आभ्यन्तर है वही वाहर है, एक ही तत्व है जो १४ भुवनो मे निरन्तर स्थित है। और वह तत्व है चित्त जो कि निरालम्ब स्थित

है। उसे अन्य किसी रूप मे देखना भ्रान्ति है।[४] डाकार्णव मे भी पार उतरने का साधन जगत के इसी चित्त-गत स्वभाव का परिदर्शन माना गया है।[५]

समस्त जगत कतिपय धर्म-समूहो का स्वप्न या माया-निर्माण है। वे सभी धर्म अन्ततोगत्वा नैरात्म्य-स्वभाव के हैं किन्तु मोहजाल के रूप मे वे चित्त को भ्रान्त कर देते है। उनका अस्तित्व बाह्य जगत मे नही है, चित्त मे ही है।[६] सरहपा चित्त को जहाँ निरालम्ब कहते है वहाँ उनका यही तात्पर्य है कि स्कन्ध आयतन, धातु आदि सभी चित्त की उत्पत्तियाँ है जैसा हम आगे देखेंगे।

जगत के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए सिद्धो ने स्थान-स्थान पर इन आयतन, स्कन्ध, भूत तथा इन्द्रियो की ओर सकेत किया है जो विज्ञानवाद द्वारा मान्य थे। इन्ही की चेतना एक नदी प्रवाह की भाँति बहती रहती है, एक अवि-रल स्रोत की भाँति जिसे भव नदी कहा जा सकता है और इसलिये इसे पार करने के लिये पारमिताओ का विधान है। सिद्ध चाटिल्लपाद अपने चर्यापद मे इसी का उल्लेख करते हुए कहते है कि भव रूपी नदी गहन गम्भीर वेग से बहती है। दोनो तटो पर पक के कारण स्थान नही मिलता।[७]

सिद्ध तिल्लोपा इस ससार को स्कन्ध, भूत आयतन और इन्द्रियो द्वारा निर्मित मानते है जो सहज स्वभाव से बाँधे जा सकते है।[८] इसी प्रकार सरहपा भी क्षिति जल पवन हुताशन आदि पच महाभूत तथा

स्कन्ध, भूत, इन्द्रिय विषयो से मुक्त चित्त को पंच जिनो अथवा ध्यानी आयतन इन्द्रिय बुद्धो मे आबद्ध करने का आदेश देते है।[९] इन्ही विषयपरक इन्द्रियो को उन्होने जन्म तथा मरण-रूपी ससार का कारण माना है[१०] तथा उसमे प्रवेश करने का निषेध किया है,[११] क्योकि यह जगत-प्रवाह अबोध को बहा ले जाता है और उसमे बालक अबोध, अज्ञानी अपने मुक्त स्वभाव को नही पहचान पाते।[१२] इसी को भवमुद्रा भी कहते है जो कल्मष से युक्त है और तत्व से, परमार्थ से वञ्चित है।[१३] उसी के कारण काम लोभ आदि की उत्पत्ति होती है तथा मन्त्र और तन्त्रादिक भी उसी के कारण मलिन हो जाते है।[१४] अत इन्द्रियो का विलयन आवश्यक है क्योकि वे ही ससार की विधायिका है।[१५] इन्द्रिय-मय यह ससार तो मृगतृष्णा है, आकाश-जल मात्र है जिसमें तत्व नही है[१६] क्योकि यह तो स्कन्ध, धातु, भूत, आयतन तथा इन्द्रियो के विषय और विकल्प से रचित विनम्र मात्र है और सरहपा कहते हैं कि 'दोहो—

में, नये-नये दोहो मे मै बार-बार इस तत्व की ओर सकेत कर रहा हूँ। मै यह भेद उद्घाटित कर रहा हूँ, इसमे कुछ भी नही छिपा रहा हूँ।[१७] रूपादि पच स्कन्ध तथा धातुओ से यह भ्रान्तिरूप ससार निर्मित है यह कारणहपा ने भी कहा है। वे पच महाभूतो को बीज मानते है जिससे समग्र भूतो की उत्पत्ति होती है, उसी से समस्त सुरासुर उत्पन्न होते है।[१८] इन्ही पच महाभूतो की महत्ता को हेवज्र-तन्त्र मे भी बताया गया है।[१९] चर्यापद भी ससार के मूल मे इन्ही रूपादि स्कन्ध धातु और आयतन का उल्लेख करते है। लुईपा कायारूपी तरुवर को पाँच शाखाओ का पुञ्ज मानते है जिसमे चचल चित्त कालाच्छादित होकर भ्रमता रहता है।[२०] टीकाकार ने इस तरुवर के रूपक को और भी विस्तृत करते हुए रूपादि पाँच स्कन्धो को शाखा माना है और षडेन्द्रिय, आयतन, धातु आदि को ग्राह्य ग्राहक और ग्रहण भाव से उपलक्षित पल्लवादि माना है। सिद्ध कम्बलाम्बरपाद भी अपनी करुणा नौका के सम्बन्ध मे इन रूपादि स्कन्धो का सकेत सधा भाषा मे करते है।[२१] इन पाँच स्कन्धो, इन्द्रिय विषयादि का स्पष्ट विवेचन करना सिद्धो ने इसलिये आवश्यक समझा है कि अशुद्ध चित्त इन्ही मे भ्रमण करता रहा है, यद्यपि यह केवल सम्वृत्ति-सत्य है। इसलिए सरहपा बडे साहस और बलपूर्वक कहते है कि पडित लोग जो इस ज्ञान को यत्नपूर्वक छिपाकर रखते है, मुझे क्षमा करें क्यो कि मै इसमे विकल्प नही करूँगा, मै कृत सकल्प हूँ कि नये-नये दोहा छन्दो मे इस ज्ञान को, जगत-बोध को विकीर्ण करूँ, यह जगत जो स्कन्ध, भूत, आयतन, इन्द्रिय आदि के विषय-विचार का ही माया-जाल है। मेरे गुरु ने यह ज्ञान मुझे दिया है तो मै इसे गोप्य क्यो रखूँ। क्योकि इसी अज्ञान के कारण असावधान जीव विषयतृष्णा मे भटक-भटक कर प्यासे मर जाते है, जैसे मीन, पतग, करी, भ्रमर और हरिण।[२२]

इन सिद्धो ने लोक-कल्याण के लिये जिस 'जगतानुबोध' का उपदेश दिया है उस पर थोडा विस्तार मे विचार करना उचित है। हम देख चुके है कि स्थान-स्थान पर इन्होने स्कन्ध, भूत, आयतन तथा इन्द्रियो से इस ससार की रचना मानी है। इनमे से सबसे पहले हम भूत (तत्व) की विवेचना करेंगे।

कारणहपा ने पच महाभूतो का उल्लेख करते हुए पृथ्वी, आप, तेज, गन्धवह वायु तथा गगन की गणना की है और उन्हे इस समस्त

पच महाभूत

ससार का बीज रूप माना है। मनुष्य, सुर-असुर आदि यह समस्त देहधारी सृष्टि इन्ही पच महाभूतो से निर्मित

है।[२३] किन्तु अन्य स्थानो में हमे भूतो की गणना में गगन का उल्लेख नही मिलता है केवल क्षिति, जल, वायु तथा हुताशन की गणना मिलती है। सरहपा ने केवल उपर्युक्त ४ महाभूतो, उनकी इन्द्रियो तथा उनके विषयो का उल्लेख किया है और गगन की गणना नही की है।[२४] किन्तु ऐसा नही है कि सरहपा ने गगन भूत को विस्मृत कर दिया हो। वास्तव में सरहपा तथा कारहपा मे भूतो की सख्या के विपय मे इस भिन्नता का एक कारण है और वह बौद्ध चिन्तना की विकास परम्परा से सम्बन्ध रखता है। सरहपा द्वारा कथित ये ४ भूत ही मूलत बौद्धो द्वारा माननीय थे। आचार्य वसुवन्धु अपने अभिधर्म कोष मे केवल ४ महाभूतो की गणना करते है। पृथ्वी जिसकी प्रकृति स्थैर्य है, आप जिसकी प्रकृति सम्पिण्डन है, तेज जिसको प्रकृति उष्ण है तथा वायु जिसकी प्रकृति चलनशीला है।[२५] इन महाभूतो मे गगन की कही भी गणना नही है। योगाचार मे गगन-तत्व को स्वीकार कर लिया गया था और भाण साधना में गगन-तत्व का निरन्तर उल्लेख मिलता है।[२६] फिर सरहपा द्वारा गगन-तत्व के उल्लेख न होने का क्या कारण हो सकता है। प्रतीत यह होता है कि गगन-तत्व को नैरात्म्य या सभी धर्मों में व्याप्त मान कर इन्होंने उसकी गिनती पच महाभूतो मे न कर अलग, समस्त विश्व में व्याप्त शून्यता रूप में की है। जहाँ इन्होने ४ महाभूतो का उल्लेख किया उसके दो ही पक्ति पहले वे सकल आकारो को गगन (शून्य) रूप ही बता चुके है।[२७] अत फिर महाभूतो मे गगन की गणना सरहपा ने नही की। गगन को पचम तत्व के रूप मे शून्यता अथवा सर्वव्यापी नैरात्म्य का महत्त्व दिया जाता था। इसका सकेत हमे हेवज्र में उद्धृत एक दोहे से भी मिलता है जहाँ क्षिति, जल, पवन, हुताशन तथा शून्य की गिनती करने के पश्चात यह कहा गया है कि इस पचम गगन-तत्व का भेद कोई भी नही जानता।[२८] अत. सरहपा द्वारा गगन-तत्व का विस्मरण नही है या सर्वास्तिवादियो के चार महाभूतो के सिद्धान्त का अनुसरण नही है। वे भी गगन-तत्व को स्वीकार करते है पर उसे विशिष्ट नैरात्म्य रूप मे ग्रहण करते है, शेष चार भूतो को साधारण मानते है। कारहपा यह अन्तर न कर प्रचलित परम्परा के अनुसार पाँचो महाभूतो की गणना करते है। इन महाभूतो को कारहपा ने ससार का बीज माना है।[२९] आचार्य वसुबन्धु भी इनकी व्याख्या करते हुए कहते है कि भूत की सज्ञा इन्हे इसलिये मिली है कि ये 'भव' के आधार है। प्रत्येक अणु का निर्माण इनके

मेल से हुआ है और अणुओ से समस्त संसार का निर्माण हुआ है। 'महा' इन्हें इसलिये कहा जाता है कि ये सर्वत्र व्याप्त है।[३०] इसीलिये काण्हपा इन्हे बीज रूप कहते है।

इन्द्रियाँ तथा उनके विपय जिनकी ओर सिद्धो ने सकेत किया है वे भी इन्ही पच महाभूतो के आश्रित है। इसीलिये सिद्धो ने जहाँ-जहाँ महाभूतो का उल्लेख किया है उनके साथ-साथ इन्द्रियो और उनके विषयो का भी उल्लेख किया है, किन्तु महाभूतो की भाँति इन्द्रियो और विषयो की पृथक गणना और विवरण उन्होने देने की आवश्यकता नही समझी है। काण्हपा के उपरोक्त दोहे की टीका में इन इन्द्रियो और विपयो का विवरण मिलता है। उसके अनुमार क्षिति अथवा पृथ्वी का विषय है गन्ध और उसे ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ है—नासिका, जल का विपय है रस-स्वाद और उसकी ग्राहक इन्द्रिय है—रसना, तेजस् का विषय है रूप और उसको ग्रहण करने वाली इन्द्रिय है चक्षु। वायु की इन्द्रिय है त्वचा और उसके द्वारा स्पर्श का ग्रहण होता है। आकाश का विषय है शब्द और शब्द को श्रोत्र ग्रहण करते है। सिद्ध नरोपा भी इन पाँच इन्द्रियो और उनके पाँच विषयो का उल्लेख करते है।[३१]

इन्द्रिय, विषय

किन्तु चर्यापदो मे पाँच इन्द्रियो के बजाय षडेन्द्रियो का उल्लेख है।[३२] और 'रुपादय पच स्कन्धा' का उल्लेख है। इन्द्रियो की सख्या छ बताई गई है। यहाँ पर पुन सर्वास्तिवादी और विज्ञानवादी चिंतन-धारा का प्रभाव प्रतीत होता है। इन्द्रिय की व्याख्या करते हुए आचार्य वसुबन्धु ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दिखाई है। इन्द्रिय की मूल धातु है 'इदि' जिसका अर्थ होता है अध्यक्षता जिससे इन्द्राणी बनता है। जो विज्ञानो की अधिष्ठात्री है, जिससे हम ज्ञान प्राप्त करते है वह है इन्द्रिय अर्थात् जो विज्ञान की अधिष्ठात्री है। विज्ञान ५ प्रकार के है चाक्षुष, श्रोत्रिय, घ्राण, रसना तथा काया (त्वचा) और इन्ही की अधिष्ठात्रियो को पचेंद्रिय कहा गया है।[३३] किन्तु विज्ञानवाद मे इन पाँच इन्द्रियो मे एक इन्द्रिय मन भी जोड दी गई क्योकि वह मनोविज्ञान की अधिष्ठात्री है।[३४] अत बाद मे षडेन्द्रियो की कल्पना प्रमुख हो गई, अर्थात् पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन और चर्यापदो मे इन्ही षडेन्द्रियो का उल्लेख है।

छठी इन्द्रिय मन

इन्द्रियो के साथ-साथ आयतनो का भी उल्लेख है और उनकी भी सख्या ६ गिनी जाती है। आयतन के अर्थ होते हैं निवास अथवा गृह। इसके लिये हम एक उदाहरण लें। यदि हम एक सुन्दर पुष्प को देखते है तो पुष्प का दर्शन यह चाक्षुष विज्ञान है। इसके आधार-स्थल दो है, पुष्प तथा चक्षु। चक्षु, इस चाक्षुप विज्ञान का इन्द्रिय-आयतन हुआ और पुष्प विपय-आयतन अथवा रूप-आयतन। यदि फूल सूघें तो नासिका इस घ्राण-विज्ञान की या गन्ध-विज्ञान की इन्द्रिय-आयतन होगी और पुष्प गन्ध-आयतन। इस प्रकार मनोविज्ञान को सम्मिलित कर छ विज्ञानो के १२ आयतन होते है। जिनमे कभी-कभी इन्द्रिय आयतनो को अलग गिना जाता है और उन्हे पडेन्द्रिय कहते है। दोहाकोषो तथा चर्यापदो मे आयतनो की सख्या तथा विज्ञानो की सख्या का अलग उल्लेख नही है। किन्तु सिद्ध नारोपा ने ६ ज्ञानो, विज्ञानो तथा बारह आयतनो की सख्या विस्तार मे दी है।[३५] इस प्रकार ६ ज्ञान, ६ इन्द्रिय-आयतन तथा ६ विपय-आयतनो की समवेत सख्या १८ होती है और यही १८ धातुएँ है जिनका उल्लेख १३वी चर्या की टीका मे है।[३६] इन्हे धातु इसीलिये कहा जाता है कि वे ही जगत को धारण करती है।[३७]

आयतन

सर्वास्तिवादियो ने समस्त ससार या जगत का विभाजन दो दृष्टियो से किया था। चित्तगत दृष्टिकोण से सारा ससार उपरोक्त ६ विज्ञानो और उनके १२ आयतनो और इनकी १८ धातुओ मे विभाजित है, तथा वस्तुगत दृष्टिकोण से वस्तुओ के असस्कृत व सस्कृत धर्मों मे विभाजित है।[३८] शून्यवाद ने इन सभी धर्मों को प्रतीत्य समुत्पाद के तर्क से शून्य या नैरात्म्य सिद्ध कर दिया तथा विज्ञानवाद ने इन्हें चित्तगत ही माना, वस्तुगत नही। इन धर्मो मे पाँच प्रकार के साम्य माने गये है, रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार तथा विज्ञान। अत समस्त धर्मों को इन्ही पाँच स्कन्धो मे वर्गीकृत कर दिया गया है। इन पाँचो स्कन्धो का स्पष्ट उल्लेख और पूरी सख्या दोहो और चर्यापदो की टीकाओ मे मिलती है।[३९] इन पाँच स्कन्धो का भी विस्तार विज्ञानवादी आचार्यो ने किया था।[४०] किन्तु सिद्धो ने उतने विस्तार मे जाने की आवश्यकता नही समझी है। इस प्रकार सरहपा ने 'कन्ध भूअ आअत्तण, इन्दी विषअ विआरु' जगत को जो व्याख्या दी है वह उसकी

स्कन्ध

पूर्ण व्याख्या है।[४१] रूप, वेदना, सस्कार, सज्ञा तथा विज्ञानादि पाँच स्कन्ध, पृथ्वी आप, तेज, वायु गगनादि पाँच महाभूत, चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण, त्वकु, काया व मन, इनके १२ इन्द्रिय आयतन और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द (नाद) ये विषय, इनके अन्तर्गत समस्त ससार अथवा मायाजाल आ जाता है।

जैसा हम देख चुके है कि सिद्धो ने निरन्तर इस ससार की आभ्यन्तरिक प्रकृति पर जोर दिया है और बार-बार उन्होने चेतावनी दी है कि इस ससार को अपने आन्तरिक चित्त से अलग करके मत देखो, दोनो वास्तव मे एक है, ससार और मन मे कोई भेद नही है। इसका कारण यह है कि सिद्ध लोग वास्तव मे ससार का बीज विज्ञानवाद के अनुसार चित्त को मानते थे और इसकी ओर बार-बार उन्होने सकेत किया है। विज्ञानवाद मे अन्तिम तथ्य विज्ञान की तीन स्थितियाँ मानी गई है चित्त, मन और विज्ञान। चित्त वह है जो कर्मो का चयन करता है, मन उसका विधान करता है और विज्ञान उन्हे जानता है, उनकी सवेदना प्राप्त करता है।[४२] अत वास्तव मे चित्त रूप मे विज्ञान चचल होकर बाह्य दृश्यो की कल्पना करता है और उनके जाल मे उलझता रहता है। इसीलिये लुईपा ने इसे 'चचल चित्त' कहा है।[४३]

चित्त, मन, विज्ञान

सरहपा ने इसी चित्त को भव तथा निर्वाण दोनो का बीज कहा है। इसी से भव-बन्धन की भी प्राप्ति होती है और इसी के द्वारा निर्वाण की भी।[४४] यह समस्त अविद्या का बीज है और भव निर्वाण दोनो की स्थिति इसी मे है।[४५] वास्तव मे यह निरालम्ब है।[४६] कण्हपा ने मन रूप में इसी को तरुवर कहा है और इसकी पाँच स्कन्ध रूपी शाखाएँ है अपनी शाखाएँ फैलाये हुए यही मन ससार रूपी वृक्ष है।[४७] यह ससार उसी का विस्तार है, आच्छादन है, सम्वृत्ति है। आशा के बढते ही उसके पत्र-फल आदि बढने लगते है। केवल सद्‌गुरु के उपदेश द्वारा वज्र-कुठार से, ज्ञानरूपी कुठार से इसका उच्छेदन होता है।

ससार की सापेक्षता मे इस चित्त के दो रूप है। बद्ध तथा मुक्त। जब अपने ही सकल्पो द्वारा निर्मित इस ससाररूपी मोहजाल मे मन आबद्ध रहता है तब तक उसे परमार्थ ज्ञान की प्राप्ति नही होती क्योकि वह अपने स्वभाव को भूला रहता है। सरहपा कहते है कि मन कर्मो के द्वारा बँध जाता है और प्रज्ञा द्वारा

चित्त के दो रूप बद्ध ' मुक्त

कर्म करने से उन्ही के द्वारा मुक्त भी होता है, स्वत बँधने से वह बँध जाता है और मुक्त होने से मुक्त हो जाता है और जिस प्रकार ऊँट बँधने पर इधर-उधर भागता है, किन्तु मुक्त होने पर निश्चल खडा हो जाता है उसी प्रकार चित्त भी भव-बन्धन तथा विषयासक्ति मे आबद्ध होने पर इधर-उधर भागता है किन्तु मुक्त होने पर निश्चल खडा हो जाता है।[४८] इसी मन की निश्चलता पर सरहपा का विशेष आग्रह है और वे कहते है कि निश्चल होने पर मन भव-प्रभाव से मुक्त हो जाता है।[४९] इसी बद्ध मन को अपने स्वभाव का ज्ञान नही होता अत पाशुपतो की ही भाँति सरहपा इस बद्ध आत्मस्वरूप से अचेत मन को पशु कहते है क्योकि वह पशु इव निर्बोध है।[५०] विषयासक्त होने पर उसकी दशा मीन (स्वादासक्त) पतंग (रूपासक्त), करी (विषयासक्त), भ्रमर (गन्धासक्त), तथा हरिण (नादासक्त) की-सी होती हैं।[५१] इसीलिए काण्हपा अपने मन को बाँध कर उसे आत्मस्वभाव मे स्थित करने का उपदेश देते है।[५२] सरहा भी स्थान-स्थान पर निज स्वभाव को पहचानने का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं कि 'हे मूर्ख अपने को जान, ध्येय, धारण जप से क्या होता है।[५३] जब तक तू अपने और पर (ससार) मे भेद मानता है तब तक तुझे अनुत्तर की प्राप्ति भला कैसे होगी। तू अपने चित्त के द्वारा ही अपने को जान।[५४] निज स्वभाव को तो कोई जानता ही नही और ध्यानादि के पीछे लोग भागे जाते है।'[५५]

वास्तव मे यह ससार तो उन्ही की सम्वृत्ति है और लोग उसी मे बँध गये है। सम्वृत्ति उन्ही के हृदय मे प्रविष्ट हो जाती है[५६] और उन्हे भ्रमजाल मे डाल देती है। अत स्वत निर्मित स्व-सम्वृत्ति मे भ्रमण नही करना चाहिये।[५७] यहाँ पर इस सम्वृत्ति का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। यह सम्वृत्ति जगत का या सृष्टि का स्त्रोत है। चित्त मे यह अविद्या तथा राग रूप मे वास करती हैं, किन्तु वज्रसत्व मे शक्ति रूप मे। सेकोद्देश टीका मे सिद्ध नारोपा ने इसे चित्तगत होने पर अनन्त भाव-सम्वृत्ति को मायाजाल के रूप मे वर्णित किया है। करुणा-शून्यता मूर्ति के साथ-साथ यह सम्वृत्ति काल रूप में भी निवास करती है।[५८] इसी के अनुसार सत्य को भी विज्ञानवादियो तथा शून्यवादियो ने दो प्रकार का माना है। एक तो सासारिक, दूसरा पारमार्थिक। पहले को सम्वृत्ति सत्य कहते है दूसरे को पारमार्थिक। सम्वृत्ति मे सासारिक ज्ञान होता है किन्तु पारमार्थिक सत्य में चित्त को शून्यता ज्ञान होता है।[५९] सिद्धो ने भी

निरन्तर विषय सुख छोड कर शून्य मे विहार करने का उपदेश दिया है।[60] इसी शून्य मे प्रवेश करते ही इन्द्रिय विषय मात्र अदृश्य हो जाते है।[61]

इस शून्य स्वभाव मे व्याप्त चित्त को निर्मल चित्त कहा गया है क्योकि वह वेदनाओ, क्लेशो वासनाओ के आवरण से मुक्त हो जाता है। वह स्वभावत शुद्ध होता है।[62] स्वसम्वृत्ति के प्रति मोह टूट जाने पर रात में खिले चाँद की तरह निर्मल होता है।[63] चचल चित्त लोकाचार मे लीन रहता है किन्तु निश्चल निर्मल चित्त शून्य निरजन मे वास करता है। बद्ध चित्त के लिये यही लोक मोह जाल है, मायजाल है, मुक्त निर्मल चित्त के लिये यही भव परमज्ञान-रूप निर्वाण मे परिवर्तित हो जाता है। इस वासनामुक्त निर्मल चित्त का वडा ही मनोरम वर्णन काण्हपा के २५ वें चर्यापद मे है। यह पद मूल रूप मे नही प्राप्य है किन्तु डा० बागची ने इसका तिब्बती रूपान्तर प्रकाशित किया है। उसकी छाया इस प्रकार होगी 'निर्मल होने पर चित्तराज उस प्रकार सुशोभित होता है जैसे नवोदित चन्द्रमा। गुरु के उपदेश से मोहमल छिन्न होकर सभी आयतन इन्द्रियादि गगन शून्य मे समाविष्ट हो जाती है। इस प्रकार चित्त जो खसम का वीज है खसम मे लीन हो जाता है। आत्म-वृक्ष से त्रिभुवन मे छाया विस्तार होता है। जैसे सूर्य के उदय होते ही रात्रि चली जाती है उसी प्रकार भव-समुद्र से मोह-तिमिर दूर हो जाता है। काण्हपा कहते है कि जैसे हस क्षीर मे से जल विलग कर उसका पान करता है उसी प्रकार भव को भोग करना चाहिये।'[64]

वही भव, वही निर्वाण

अत सिद्धो ने स्थान-स्थान पर भव और निर्वाण के अभेद की ओर जो सकेत किया है वह इसीलिये कि वास्तव मे ये दोनो चित्तवृत्तियो की ही दो स्थितियो के भेद है। सरहपा ने २०वें चर्यापद मे स्पष्ट कहा है कि

अपणे रचि-रचि भव निव्वाणा, मिछें लोअ वँधावए अपणा

अर्थात् अपनी चित्तवृत्तियो के अनुसार भव निर्माण की रचना कर लोग अपने को भव-वद्ध रखते है। चित्त का सकल्प और विकल्प, राग ओर विराग, मोह और ज्ञान ही भव और निर्वाण के नाम से प्रख्यात है। सरहपा इसीलिये कहते है कि जो भव है वही निर्वाण है, उसको

अन्यथा नही मानना चाहिये ।[६५] आर्य नागार्जुनपा भी युगनद्ध-क्रम में भवनिर्वाण की एकता का प्रतिपादन करते है ।[६६]

वास्तव मे भव का परिज्ञान ही निर्वाण है । कारहपा की चर्या की टीका[६७] तथा सरहपा के दोहो की टीका[६८] मे आगमो का यह वचन उद्धृत है कि 'परिज्ञानम् भवस्यैव निर्वाणमिति कथ्यते ।' कारहपा की १२ वी चर्या की टीका मे भी चित्त के वैराग्य विकल्प ज्ञान को निर्वाण बताया गया है । उसके अतिरिक्त निर्वाण और कुछ भी नही है ।[६९] प्रज्ञोपाय-विनिश्चय सिद्ध मे ससार और निर्वाण का यह स्वभाव बडे ही स्पष्ट ढग से निरूपित किया गया है । अनगवज्र कहते है कि वज्री, अर्थात् वज्रज्ञानी या वज्र-साधक चित्त की उस स्थिति को ससार कहते है जिसमे वह अगणित सकल्पो के तम से आच्छादित होता है । उन्मत्त प्रभजन मे चककती हुई विद्युत की भाँति चचल होता है, रागादि के दुर्निवार मलिन पक से लिप्त होता है । निर्वाण उसे कहते है जो इस प्रकार की कल्पनाओ से विमुक्त, ज्योतिर्मय, रागादि मलो से शुद्धनिर्लिप्त ग्राह्य तथा ग्राहक भाव से परे, नित्य होता है ।[७०]

यह भव चूंकि सकल्पो से निर्मित, चित्त का ही प्रक्षेपण मात्र है अत इसे माया कहा गया है और चूँकि यह चित्त के निर्मल, सहज स्वभाव को आच्छादित कर लेता है अत इसे मोहजाल भी कहते है ।

ससार, माया-संकल्प निर्मित मोहजाल

सरहपा ने इसे मोहजाल कहा है जो ज्ञान प्राप्त होते ही टूट जाता है ।[७१] और इस मायाजाल को अपने अकस्थ करने का निषेध किया है ।[७२] महायान-विशक मे आर्य नागार्जुनपाद ने इस ससार को स्वाँकित चित्र के समान बताया है तथा चर्यापदो की टीका मे (पद २) महायान-विशक के इस श्लोक का प्रमाण दिया गया है । नागार्जुनपा कहते है कि जैसे कोई चित्रकार किसी अति भयकर यक्ष का चित्र स्वत आलेखित कर उससे भयभीत होने लगे उसी प्रकार अपनी कल्पना से निर्मित इस ससार से चित्त भयभीत होने लगता है ।[७३] आर्यदेव (जो सम्भवत सिद्ध आर्यदेव से पृथक नही है) जगत के मायामय स्वरूप का विवेचन करते हुए कहते है कि यह जगत माया-मारीचिका है, गन्धर्वनगर के समान केवल भ्रान्ति है, स्वप्नवत है ।[७४] वास्तव मे चित इन कल्पनाओ से रजित हो जाता है जैसे स्वच्छ वर्णहीन स्फटिक दूसरे के रग की आभा ग्रहण कर

ले ।[७५] नैरात्म्यपरिपृच्छा में भी ससार को मृगमरीचिका तथा केवल प्रतिविम्ब-मात्र बताया है ।[७६] सूत्रालकार मे असग[७७] ने तथा ज्ञानसिद्धि[७८] मे इन्द्र-भूतिपाद ने भी इसे मायाजाल बताया है । साधनमाला मे भी स्थान-स्थान[७९] पर जगत के मायोपम रूप की ओर सकेत है । वाक्साधनम् मे ससार को जल मे चन्द्र की परछाई-सा बताया गया है ।[८०]

भूसुकुपा अपने एक पद मे कहते है —

'इस जगत का आदि अन्त नही है अत इसे भ्रान्ति जानो । जो रस्सी मे साप देखकर डरता है, उसे यह भव खा जाता है । इसे हाथ मे स्थित लवण वत जानकर आश्चर्य मत करो । यदि इसी प्रकार इस जगत को जान लोगे तो तुम्हारी वासना का क्षय हो जायगा । यह ससार मरुमरीचिका है, गन्धर्वनगरी है । दर्पण मे पडने वाले प्रतिबिम्ब के समान है वन्ध्यासुत जैसे क्रीडा करे वैसे ही यह ससार है, बालुका से निसृत तेल की भाँति, शशशृंग की भाँति, आकाशपुष्प की भाँति '[८१]

इस भ्रान्ति और मोहजाल से छुटकारा पाकर, अपने निर्लिप्त स्वभाव को जानकर मोक्ष पा लेना ही निर्वाण है । सरहपा इसीलिये कहते है कि जिन सकल्पयुक्त मोहलिप्त रागबद्ध कर्मों से जन्तु बँधते है उनके परित्याग से ही मन-मोक्ष प्राप्त होता है । इसी मनमोक्ष से वह परमनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है ।[८२] यह निर्वाण वास्तव मे भव के अनित्य स्वरूप का ही ज्ञान है इसी को जानने वाला मोहजाल को तोड पाता है, तभी कहा गया है कि 'सिफिट्टइ मोहजाल जइ जाणसि' ।[८३] इसी ज्ञान के द्वारा चित्त का हनन होता है अर्थात् उसके संकल्पा-भिनिविष्ट स्वरूप का विनाश होता है ।[८४] और ज्यो ही मन अस्त होता है[८५] त्यो ही बन्धनो का विनाश होता है, इसीलिये काण्हपा ने कुठार द्वारा इस चित्त के आच्छादन तरु को समूल उत्पाटित करने का व्रत लिया था । वे कहते है 'मन रूपी तरुवर मे पाँच इन्द्रियो की विषयासक्ति रूपी शाखाएँ निकल आई है । आशादिक के बढने से उसमे पत्ते और फल बढते ही जा रहे है । गुरु-वचन (नैरात्म्यज्ञान) रूपी कुठार लेकर मै उसे इस प्रकार काटूँगा कि वह फिर कभी न उगे । वह शुभाशुभ, सम्वृत्तिजन्य पुण्यापुण्य-रूपी पानी से बढाता है । विद्वान उसे गुरु के समर्थन से काट देते है । जो इस सकल्पात्मक अज्ञान और विषयासक्ति से लिप्त बद्ध-चित्तरूपी तरुवर के उत्पाटन की रीति नही जानते वे ही इसे (भव-को) मान्यता देते है ।'[८६] इस निर्वाण के कारण साधक अपने स्वभाव को पहचान

लेता है। वह स्वभाव (निज स्वभाव) ही कल्याणकारी है, उसी कारण वाछनीय है, ऐसा सिद्धो ने बराबर बताया है। इस निज स्वभाव की व्याख्या सरहपा ने ३२ वें चर्यापद मे इस प्रकार की है। 'नाद, विन्दु, रवि मण्डल, शशिमण्डल सब गौण है। चित्तराज तो स्वभावत मुक्त है। ऋजु पथ को छोडकर कुटिल पथ ग्रहण करने की क्या आवश्यकता। पास ही आत्मस्थ होकर बोधि मिलती हो दूर तो जाने से क्या लाभ है। हाथ के कगन में ही अपने को देख सकते तो आरसी का क्या होगा। अपने आप अपने स्वभाव को जानने का प्रयास करो।'[८७] उस 'निज स्वभाव' को जानते ही वह जग को अपने से अलग नही मानता। अपने को ही जग, बुद्ध और निरजन, शून्य मानने लगता है। वह अमनसिकार हो जाता है और भव का भजन कर देता है, अर्थात जिस परिकल्पित मोहजाल ने उसे आवद्ध कर रखा था उसे छिन्न-भिन्न कर देता है।[८८] 'मै ही जगत हूँ, तीनो भुवन मुझसे ही उत्पन्न हुए है, सभी दृश्यमान जगत मे मै ही व्याप्त हूँ' ऐसा जानने वाला योगी निश्चय ही सिद्ध हो जाता है।[८९]

शून्यवाद मे निर्वाण

इस प्रकार हम देखते है कि चित्त के ही सकल्प और विकल्प, कल्पना और ज्ञान के रूप मे भव निर्वाण की स्थिति मान कर सिद्धो ने भव और निर्वाण की एकता प्रतिपादित की है। नागार्जुन ने भी शून्यवाद का प्रतिपादन करते हुए ससार और निर्वाण को एक ही माना है।[९०] वे निर्वाण की स्थिति सुखावती मे नही मानते।[९१] केवल सर्वज्ञान के विनाश मे मानते हैं, लेकिन जब प्रतीत्य-समुत्पाद के अनुसार न कुछ उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है, न कुछ स्थित है, न अनस्थित तो विनाश किस वस्तु का ? इसीलिये वे निर्माण की निषेधात्मक व्याख्या करते हैं न उसमे कुछ खोता है, न सम्प्राप्त होता है, न कुछ उच्छिन्न होता है, न कुछ शाश्वतता को प्राप्त होता है, न कुछ निरुद्ध होता है, न कुछ उत्पन्न होता है[९२] वह तो केवल आकाश (शून्य) द्वारा बँधी हुई गाँठ है जो खुल जाती है।[९३]

किन्तु विज्ञानवाद ने निर्वाण का केवल निषेधात्मक रूप नही लिया था। 'लकावतार सूत्र' में यह कहा गया है कि शून्य तो वस्तुओ के धर्म का स्वभाव है,

दृश्यमान जगत चाहे शून्य स्वभाव हो, किन्तु चित्त का तो अस्तित्व है ही।

विज्ञानवाद मे भव और निर्वाण

अत निर्वाण मे भव का विनाश होने पर भी चित्तमात्र-व्यवस्था का अभाव नही होता।[९४] इसी को अश्वघोष ने महायान-श्रद्धोत्पाद-सूत्र मे तथता तथा आलय-विज्ञान के सिद्धात से समझाया है।[९५] वे ससार की परिकल्पना करने वाले चित्त को आलय-विज्ञान की सज्ञा देते है। चित्त अपनी स्मृतियो, अज्ञानजन्य कल्पनाओ को एक ऐसे विज्ञान मे सग्रहीत करता जाता है जो आलय है, भण्डार है।[९६] उसी का पुज ससार कहलाता है। बाह्य ससार मिथ्या है। किन्तु उस स्मृतियो के विनाश से भी चित्त का विनाश तो नही होता। इसका उदाहरण अश्वघोष ने जल और तरगो से दिया है। अविद्यारूपी वायु के झोके से जल मे तरगें उठती है। उसके शात होने पर तरगें नष्ट हो जाती है, किन्तु जल का शात धरातल बना रहता है। वही परमार्थ है, सत्य है, वही 'तथता' है। उसका कभी विनाश नही होता। निर्वाण मे हम उसी तथता-स्वभाव को प्राप्त करते है।[९७] यही तथता-स्वभाव सम-[९८] तथा अद्वय-स्वभाव है, यही परमार्थ है।[९९]

सिद्धो का निर्वाण शून्यतावादियो की अपेक्षा विज्ञानवादियो के निर्वाण अधिक निकट है। काण्हपा ने निर्वाण मे चित्त का अनस्तित्व नही बताया है, वे कहते है कि जो चित्तस्थिति निश्चल है, निर्विकल्प है, निर्विकार है, उदयास्त-रहित है, ऐसी स्थिति को निर्वाण कहते है, जिसमे चित्त कुछ भी नही करता[१००]। इसकी व्याख्या करते हुए मेखला टीका मे कहा गया है कि निश्चल इसलिये है क्योंकि इसमे मन सभी सकल्प-अविद्यारूपी वायु आघातो मे भी अचल रहता है, निर्विकल्प इसलिये कहा गया कि वह भवमुद्रा से रहित होता है, इन्द्रियजन्य विषयो की आशक्ति से मुक्त होता है। अत वह निर्विकार है, उत्पत्ति तथा मन मे रहित होता है। जाडे के निर्मल मध्यान्ह के निरभ्र आकाश की भाँति यह निर्वाण है। इसमे चित्त मन की चौबीस प्रकृतियो के द्वारा भी कुछ नही करता।[१०१]

उपरोक्त व्याख्या मे हम देखते है कि चित्त का अनस्तित्व नही स्वीकार किया गया है, यही नही भावाच्छादितावस्था मे मन की २४ प्रकृतियो का भी उल्लेख है। ये २४ प्रकृतियाँ विज्ञानवाद द्वारा निर्दिष्ट विप्रयुक्त सस्कार-धर्म है जो अचैत्त है तथा अरूप है, वे चित्त तथा रूप के प्रतिघात से उदित होती है, केवल विज्ञान, मनोविज्ञान द्वारा ग्राह्य है और अशाश्वत है तथा प्रभास्वर ज्ञानो-

दय के क्षण मे इनका विनाश हो जाता है। ये अधिकाश विप्रयुक्त सस्कार-धर्म आलय-विज्ञान मे सचित रहते है।[१०२] इस 'आलय-विज्ञान' का उल्लेख सरहपा के दोहाकोष की टीका मे एक स्थान पर आया है जहाँ गन्धर्व-सत्वात्मकता के कारण आलय-विज्ञान मे प्रवृत्ति बताई गई है अत देवपूजा भी मिथ्या घोपित की गई है।[१०३] इससे स्पष्ट है कि सासारिक वासनाओ[१०४] का आश्रय सिद्धो के टीकाकारो ने आलय-विज्ञान माना है। वही ससार है, उसके परिशोधन के बिना ससार से निस्तार नही है।[१०५] ससार के निस्तार पाने के लिये तथता-ज्ञान आवश्यक है इसका सकेत चर्यापदो मे मिलता है। जयनन्दीपा ने अपने चर्यापद में तथता-स्वभाव द्वारा चित्त के विशोधन का विवरण दिया है। वे कहते है 'जिस प्रकार स्वप्न मे प्रतिबिंब दीख पडता है, उसी प्रकार यह समस्त भव अन्तराल मे, मन मे, आलय-विज्ञान मे प्रतिभासित है। यदि मन उसके मोह से विनिर्मुक्त हो जाय तो गमनागमन का बन्धन टूट जाता है। तब न उसे अग्नि व्यापती है, न जल और न उस पर शस्त्रो का प्रभाव पडता है। यह देखते हुए भी लोग मोह मे आबद्ध है। पचद्वय भाव अभाव आदि के कारण नाना विज्ञानो की उत्पत्ति होती है, उसी से छाया, माया, काया आदि सासारिक वस्तुओ का अस्तित्व है। जयनन्दीप स्पष्ट कहते है कि ऐसे चित्त का तथता स्वभाव से ही विशोधन करना चाहिये, अन्यथा नही।[१०६] इसकी टीका मे कहा गया है जो मोह-विमुक्त हो जाता है वही परमार्थ को जान लेता है। इसके लिये चित्त का विशोधन आवश्यक है जो तथता-स्वभाव से मिलता है, अन्यथा नही।[१०७] नवी चर्या मे काण्हपा कहते है कि जहाँ-जहाँ चित्तारूपी महाकरी, शून्यतारूपी करिणी पर आसक्त होता है, वही वही 'तथता' रूपी मदजल की वर्षा होती है।[१०८]

कोकणपाद भी अपने चर्यापद मे तथता-स्वभाव का महत्व प्रतिपादित करते हुए उसकी योगपरक व्याख्या करते है और उसे नाद के रूप मे परिकल्पित करते है।[१०९] और टीकाकार कहता है कि बालयोगी उस साकार निराकार, भाव अभाव को तथता रूपी कलकल नाद से मग्न कर देते है, आगमसूत्रो मे इसी को शून्यता सिंहनाद कहा गया है जिससे शत्रु भी भयतीत हो जाते है।[११०] काण्हपा इसी चित्त-साधना को द्यूतक्रीडा शतरज के रूपक मे प्रस्तुत करते है जिसमे वे कमल-कुलिश साधना से बोधचित्त को जाग्रत कर निर्माण चक्र के ८४ खानो को जीतना चाहते है।[१११] उसी मे वे तथता-रूपी चित्त गजेन्द्र मे पचेन्द्रियो को जीतते है।[११२]

इस प्रकार हम देखते है कि सिद्धो द्वारा मान्य भव और निर्वाण की परिकल्पना का मुख्य आधार विज्ञानवाद है और अपने तत्व-दर्शन के मूल सिद्धान्त उन्होने विज्ञानवाद से लिये है। सिद्धो का तत्व-दर्शन चित्त-परक ह, वाह्य जगत की सत्ता अस्वीकार करता है किन्तु वह शून्यवाद की भाँति शुद्ध निपेधात्मक नही है।

किन्तु फिर प्रश्न उठता है कि अपने भव और निर्वाण का विवेचन करते समय उन्होने सव को शून्य स्वभाव क्यो वताया है। काण्हपा के टीकाकार ने निर्वाण प्राप्त चित्त को ख×सम (शून्य) के समान वताया है।[113] निर्वाण से चित्त का हनन करने के वाद त्रिभुवन शून्य-निरजन मे प्रवेश करना चाहिये।[114] चित्त जव

शून्य

शून्यात्मक हो जाता है तव इन्द्रिय विषयो का लोप हो जाता है।[115] मन को ध्यान करना चाहिये कि मै शून्य हूँ, जग शून्य है, त्रिभुवन शून्य है,[116] शून्य से सगम की सम्भावना धारण करनी चाहिये।[117] इन सभी उपदेशो से ज्ञात होता है कि वे शून्य को अत्यधिक महत्व देते थे। योगाचार तथा विज्ञानवाद के अनुयायी होते हुए भी वे शून्य को इतना महत्व क्यो देते थे इसका एकमात्र कारण यह है कि विज्ञानवादियो ने तथता ज्ञान को भी शून्यता ज्ञान माना था, वे तथता को शून्य मानते थे। शून्य को उन्होने शून्यवाद से भी विस्तृत अर्थ मे ग्रहण किया था और क्योकि शून्यवाद मे तो प्रतीत्य-समुत्पाद के द्वारा केवल धर्म और पुग्दल का अभाव प्रतिपादित कर उनके भाव का निपेध किया गया था, तथतावाद मे धर्म और पुग्दल नैरात्म्य को स्वीकार कर भाव की शून्यता तो वताई ही गई थी किन्तु तथता तथा चित्त-विज्ञप्ति-व्यवस्था स्वीकार कर अभाव की भी शून्यता मान ली गई। अत वे इस तथता को शून्यता कहते थे।[118]

सिद्धो ने अपने शून्य के सम्वन्ध मे जो कुछ कहा है सभी विज्ञानवाद मे तथता के लिए कहा जा चुका है और अत मे वे तथता को ही शून्य कहने लगे थे। यह तथता शून्य-तत्व रूप मे धर्म और पुद्गल के नैरात्म्य रूप मे विद्यमान थी, और इसी को परमार्थ कहते थे। भावाभाव, ग्राह्यग्राहक आदि की द्वयता से विवर्जित परिनिष्पन्न ज्ञान के रूप मे यह तथता थी। अत इसे परिनिष्पन्न ज्ञान, अद्वय, या सम कहते थे और जव यही साधक की प्रवृत्ति मे प्रवेश कर जाती थी तो यही शून्य स्वभाव वन जाती थी। तत्व रूप मे वह 'तथता' परमार्थ कहलाती

थी। इसका उल्लेख हम कर चुके हैं।[११९] सिद्ध लोग भी इस परमार्थ का बार-बार इसी अर्थ में प्रयोग करते हैं। सरहपा तो इसको परम तत्व मान कर बडे बल से कहते हैं, 'मैं सरहा तुझसे कहता हूँ कि इस प्रकार तू विमति को प्राप्त होगा ओ मूर्ख, परमार्थ को बूझ।[१२०] तिलोपा इसी को तत्व फल बताते हैं जिसका आस्वादन उन्होने किया है, किन्तु उसे प्रकट कैसे करें क्योकि वह मन-गोचर नही हैं।[१२१] वह गुण दोष से भी रहित है।[१२२] सरहपा उसी परमार्थ को पथ और महासुख मानते हैं।[१२३] सरह के टीकाकार ने अपने गुरु की साक्षी देते हुए इसी परमार्थ को सिद्ध करना[१२४] उचित ठहराया है। यह परमार्थ ज्ञान परिनिष्पन्न ज्ञान था[१२५] जिसके लक्षण थे भाव और अभाव में समानता।[१२६] यही नैरात्म्यज्ञान था जो द्विविध है, धर्म नैरात्म्यज्ञान, अर्थात् सासारिक वस्तुओ का नैरात्म्य या शून्यता और पुद्‌गल नैरात्म्य अर्थात् आत्मा जैसी किसी शाश्वत सत्ता के अभाव का ज्ञान।[१२७] यही सम ज्ञान है क्योकि समस्त वस्तुओ के 'अनुत्पाद' से सब कुछ आदि रहित है अन्त-रहित है, अतः यही अद्वय ज्ञान है।[१२८] यही ज्ञान साधक का स्वभाव हो जाता है तो वह शून्य स्वभाव का हो जाता है, सम स्वभाव का हो जाता है, अद्वय स्वभाव का हो जाता है[१२९] और ऐसे को शून्यज्ञ कहते थे क्योकि वह भाव की शून्यता, अभाव को शून्यता और प्रकृति अर्थात् स्वभाव-ज्ञान को शून्यता को जान लेता है।[१३०]

सिद्धो ने भी शून्य का उल्लेख इसी आधार पर तत्व रूप में किया है जो अगोचर है, अगम है, तथा ज्ञान रूप मे किया है जहाँ वह भाव, अभाव ग्राह्य ग्राहक आदि अन्त आदि से रहित है। तथा वही चित्त मे प्रविष्ट होने पर 'ख सम' स्वभाव हो जाता है। इस प्रकार शून्य स्वभाव का साधक, शून्य तत्व को प्राप्त कर शून्य रूप हो जाता है, या वज्र रूप और सहज रूप हो जाता है जैसा कि ककणपा ने कहा है।[१३१]

त्रिविध शून्य तत्व, ज्ञान, स्वभाव

इस शून्यतत्व को भादेपा ने 'सर्वशून्य' कहा है।[१३२] तिलोपा इसे उत्पादविहीन, आदिरहित एवम् अन्तरहित, अद्वय[१३३] कहते हैं। यह प्रतीत्य समुत्पाद के ही सिद्धान्त से आदिरहित एवम् अन्तरहित है। वह तत्व वर्णविहीन हैं, आकृतिविहीन है क्योकि उसका कोई आकार नही, वही शून्यता रूप मे समस्त आकृतियो मे व्याप्त है। न वह महान है, न ह्रस्व है, न लघु है, न दीर्घ है, न

वह लाल है, न हरा है, न मजीठ रंग का है, न पीला है, न काला है, वह वर्णहीन है, सभी वर्णों और आकारो मे व्याप्त है।[134] यही तत्व चित्त मे, जग मे त्रिभुवन मे व्याप्त है।[135] सरहपा कहते है कि जिस समय यह भव रूप मे होता है तब सभी आकारो मे व्यक्त होता है।[136] जब सम रूप मे होता है तो ख+सम, गगनोपम शून्य हो जाता है।[137] इसी को सरह ने नदी-तरग न्याय मे समझाया है। वे कहते है कि वायु आघात मे तरगें उत्पन्न होती है पर वे नदी से भिन्न नही है, उनके शान्त होने पर नदी का स्वरूप सम शान्त रूप होता है। इसी प्रकार भव केवल उस परम-तत्व का तरग प्रभाव मात्र है जो उसी मे विलीन हो जाता है, जैसे जल-जल मे मिल कर समरस हो जाता है। यह तत्व इतना गूढ है कि इसे कौन कहे, किससे कहे। सुरग मे उठने वाली धूल की भाँति यह हृदय में ही उठ कर हृदय मे विलीन हो जाता है।[138] इसी को काण्हपा तथा अन्य सिद्धो ने 'निरजन' कहा है क्योकि यह अजन अर्थात कलुष से विहीन है।[139] किन्तु इसका स्वरूप इतना गुह्य है कि कुछ स्पष्ट नही कहा जा सकता।[140]

शून्यता-ज्ञान

इसका इतना अनिर्वचनीय रूप इसलिये है कि यह प्रत्येक प्रकार की द्वयता का निषेध करता चलता है। शून्यता ज्ञान मे चित्त का भी निषेध है और अचित्त का भी, भाव का भी अभाव का भी, ग्राह्य का भी ग्राहक का भी, भव का भी निर्वाण का भी, यहाँ तक कि शून्य का भी और अशून्य का भी। सिद्धो ने स्थान-स्थान पर शून्यता ज्ञान के इस द्वयता विवर्जित रूप का वर्णन किया है। तिलोपा कहते है जहाँ चित्त का गमन है वही अचित का भी, समरस निर्मल भावाभाव रहित ज्ञान को प्राप्त करो।[141] भव निर्वाण दोनो का परित्याग उचित है।[142] काण्ह तो शून्य और अशून्य दोनो के परित्याग का उपदेश देते है।[143] चर्यापदो की टीकाओ मे रूपको मे सध्या-भाषा द्वारा निर्दिष्ट नैरात्म्यज्ञान तथा ग्राह्य दोनो को वर्जित करने की ओर सकेत है।[144] धर्म और पुद्गल नैरात्म्य से क्या तात्पर्य है यह हम पिछले अध्याय मे देख चुके है।[145] इसी को ग्राह्य ग्राहक भाव से भी मुक्ति की सज्ञा मिली है क्योकि जब धर्मो का नैरात्म्य सिद्ध हो गया तो कोई ग्राह्य वस्तु नही रही और पुद्गल का नैरात्म्य सिद्ध हो गया तो उन्हे ग्रहण करने वाला कोई नही रहा। ससार की

समस्त वस्तुओ को 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धान्त से मिथ्या सिद्ध कर देने पर भाव का निषेध हो जाता है[१४६] किन्तु फिर उसके बाद सर्वथा अभाव की भावना भी भ्रान्तिपूर्ण है। क्योकि यदि हम पूर्ण अभाव ही मान लें तो फिर कौन बद्ध रहता है और किसे मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार की अभाव कल्पना से तो भाव कल्पना ही श्रेष्ठ है क्योकि जलते दीप का निर्वाण तो हो सकता है। बुझे हुये दीप के बुझने की कल्पना ही असङ्गत है। अत भाव तो नैरात्म्य के कारण निषिद्ध है ही अभाव कल्पना भी श्रेयस्कर नही है।[१४७] इसी प्रकार भाव कल्पना सकल्पात्मक होने के कारण भवजाल मे बद्ध करने वाली है किन्तु अभाव कल्पना भी तथता के कारण भ्रमोत्पादक है और श्रेयस्कर भी नही है। इसलिए सिद्धो ने स्थान-स्थान पर भावाभाव दोनो के निषेध की देशना की है।[१४८]

भावाभाव की ही भाँति सिद्धो ने भव निर्वाण दोनो के ही निषेध की व्यवस्था दी है।[१४९] भव तो मोहजाल के रूप में बन्धनकारी होने से त्याज्य है ही, निर्वाण भी केवलमात्र साध्य नही है क्योकि निर्वाण केवल भवज्ञान मात्र है और उससे प्रत्येकयानियो और श्रवकयानियो को सन्तोष हो सकता है, महा-यान ने सदा निर्वाण की अपेक्षा लोकहित को बोधिसत्वो का ध्येय माना है। वज्र यानी सिद्धो ने भी इस लोक कल्याण भावना को भुलाया नही था।[१५०] इसके अतिरिक्त वे निर्वाण को ही अन्तिम उपलब्धि नही मानते थे। महासुख उससे भी ऊपर है। अत वे जो केवल निर्वाण मे सीमित रह जाते है वे महासुख को नही प्राप्त कर सकते।[१५१] अद्वयवज्र ने सरहपा के दोहाकोष की टीका मे भव और निर्वाण की व्यर्थता प्रतीत्य-समुत्पाद के सिद्धान्त से सिद्ध की है। वे कहते है कि भव का जब धर्म-नैरात्म्य तथा अनुत्पाद के कारण अस्तित्व नही ह तो उससे मोक्ष का प्रश्न भी नही उठता।[१५२] सिद्धो मे से सभी का यही तात्पर्य था यह नही कहा जा सकता क्योकि अद्वयवज्र माध्यमिक सिद्धातो की तर्क शृङ्खला से विशेष प्रभावित थे और उसका प्रभाव उनकी टीका पर पडना भी स्वाभाविक है।[१५३]

चित्ताचित्त दोनो का निषेध भावाभाव के ही निषेध पर आधारित है। चित्त सकल्पात्मक होने के कारण मोहजाल उत्पन्न करता है और विषयासक्त होकर बद्ध हो जाता है, वह ग्राह्य-ग्राहक-भावयुक्त होता है। अचित्त नि स्वभाव नैरात्म्य ज्ञान रूप है।[१५४] किन्तु केवल नैरात्म्यज्ञान भी अश्रेयस्कर है, वह निष्केवल शून्य

है, करुणाविहीन है जो त्याज्य है।[155] अतएव भवोत्पादकारी चित्त भी त्याज्य है और केवल शून्य अचित्त भी।[156]

और इसी आधार पर शून्य तथा अशून्य दोनो को त्याज्य बताया गया है। प्रतीत्य समुत्पाद के कारण अशून्य तो त्याज्य है ही किन्तु केवल शून्य मे सीमित हो जाने वाला साधक भी कभी करुणा को ग्रहण नही कर पाता, अत: प्रज्ञोपाय साधना मे वह सिद्धि नही प्राप्त कर सकता। इसके साथ ही एक कारण इसका और है। तथता-सिद्धान्त मे तथता के दो रूप व्याख्या की दृष्टि से बताये गये है। शून्य जिसमे तथता की निषेधात्मक व्याख्या है, अशून्य जिसमे तथता की सकारात्मक व्याख्या है। परन्तु तथता इन दोनो के परे है।[157] सिद्ध काण्हपा सम्भवत परमार्थ के उसी रूप की ओर सकेत करते है जब वे शून्या-शून्य दोनो के निषेध का उपदेश करते है।[158] इस भावाभाव विवर्जित शून्यता-ज्ञान को लुईपा अपने चर्यापद मे शून्यता पाश के रूप मे चित्रित करते है जिससे इन्द्रियाँ सयमित और नियन्त्रित हो जाती है।[159] कृष्णाचार्य इस शून्यताज्ञान मे आयतन तथा इन्द्रियो के शून्यतात्मक होने को ख-सम वीज का ख-सम मे प्रविष्ट होना बताते है।[160] भावाभाव, चित्त-अचित्त, भव-निर्वाण और शून्या-शून्य इन सभी द्वयताओ का निषेध कर चित्त मे उदित होने वाले इस शून्यज्ञान की साधना कितनी सूक्ष्म है इसका वर्णन शान्तिपाद भी अपने चर्यापद मे बडे रोचक ढग से करते है 'चित्त रूपी कपास को धुनते-धुनते उसके रेशे-रेशे अलग कर दिये। फिर उन रेशो को भी धुनना प्रारम्भ किया इस प्रयास की कोई सीमा नही रही। भव का भी निषेध किया, फिर अभाव का भी फिर भाव का भी निषेध हुआ। उसके वाद फिर उन्हे धुनना प्रारम्भ किया और अपने को भी धुन डाला और अपना भी निषेध किया। इस अद्वय की भी कोई सीमा है। कार्य और कारण की शृङ्खला पर आधारित ससार सव शून्य सिद्ध हुआ। तव उससे उपलब्ध स्वसम्वेद्य अनुभूति का उदय हुआ।'[161] यही स्वसम्वेद्य शून्यमार्ग है और यद्यपि इसका सही स्वरूप पहले समझ मे नही आता किन्तु इसी पर चलना श्रेयस्कर है।[162]

इस शून्यमार्ग पर चल कर साधक शून्य स्वभाव मे स्थित हो जाता और शून्य मे विचरण करने लगता है। वहाँ वह गुण दोष, शुभाशुभ तथा पुण्य-पाप से विमुक्त हो जाता है।[163] क्योकि यह वह स्थिति है जिसमे मन ख-सम स्वभाव का हो जाता है और सभी रूपादि विषय ख-सम या शून्य स्वरूप

के हो जाते है ।[१६४] इसी को भूसुकुपा ख-सम स्वभाव कहते हैं जिससे बन्धन टूटते है और अन्त में मनोरत्न शून्य मे समा जाता हैं ।[१६५] यह पाप-पुण्य से रहित है अद्वय है, सम है, शान्त हैं, समरस है और यही तथता रूप है ।[१६६]

यहाँ तक हमने देखा कि सिद्धो ने शून्य-तत्व, शून्यताज्ञान तथा शून्य स्वभाव को विज्ञानवादी परम्परा के अनुसार ही अपनाया है, उसके लिये तथता, परमार्थ, अद्वय, सम, शान्त आदि जिन शब्दो का भी व्यवहार वे करते है वे सब योगाचार सम्प्रदाय के ही शब्द हैं । किन्तु एक सर्वथा नवीन शब्द हमे सिद्ध साहित्य मे मिलता है जिसका योगाचार परम्परा मे कोई उल्लेख नही है, वह शब्द है 'सहज' । जो-जो गुण शून्य के हैं बिल्कुल वे ही सहज के है जिससे स्पष्ट है कि सहज से शून्य से अलग कोई अन्य तत्व नही ।

सहज शब्द का प्रयोग सिद्धो ने बराबर उसी प्रसग में और लगभग उसी अर्थ मे किया है जिसमे उन्होने शून्य का प्रयोग किया है । सहज परम तत्व है ।

सहज

वह एकमात्र परम तत्व है, जिसे काण्हपा जानते है किन्तु बहुत से शास्त्रागम का पठन-पाठन और श्रवण करने वाले उसे नही जान पाते ।[१६७] किन्तु जो उस सहज लक्षण को जान लेता है उसको विषय विकल्प रूपी जगत से छुटकारा मिल जाता है, ऐसा वेद तथा आगमो मे भी कहा गया है ।[१६८] इसी सहज रूपी परमतत्व मे स्थित होकर जिस अमृत रस की उपलब्धि होती है उसे कौन किससे कहे क्योकि न गुरु उसे कह सकता है न शिष्य उसे समझ सकता है ।[१६९] वह गुह्य तथा रहस्यमय अवश्य है किन्तु फिर भी उसी की साधना करना श्रेयस्कर है [१७०] क्योकि जो अपने मन को निश्चल, सहज तथा समरस कर देता हैं वही सिद्ध है ।[१७१] अत-सहज ही वह शून्यतत्व है, वह परमार्थ है जिसकी साधना अभिप्रेत है ।

यही सहज नैरात्म्यज्ञान के रूप मे भावाभाव की भावना को वर्जित करती है । उससे भव और निर्वाण का भी स्थान नही है । न सहज भाव स्वभाव है न अभाव स्वभाव । यदि भाव स्वभाव हो तो वही बन्धनकारी ससार हो जायगा यदि अभाव रूप है तो वह उच्छेद है, अनस्तित्व है ।[१७२] सहज के इसी परिज्ञान से मोक्ष मिलता है । अन्य कोई पथ नही ।[१७३] अन्य जितने भी मोक्ष के पृथक् पथ है वे सभी सहज ही हैं अन्य नही, किन्तु इस सहज ज्ञान को जो नही हृदयगम करता वह ससार मे भ्रमता रहता है । यह सहजज्ञान शून्यताज्ञान ही है

जिसमे वाच्य-वाचक, या धर्म और पुद्गल नैरात्म्य या ग्राह्य-ग्राहक भाव का विलयन हो जाता है।[174]

इसी शून्यताज्ञान रूपी सहज ज्ञान को प्राप्त कर चित्त सहज-चित्त हो जाता है क्योकि वह सहज द्वारा विशोधित होता है। इस सहज स्वरूप मे चित्त की स्थिति को सहज स्वभाव कहते हैं। इस सहज स्वभाव से स्कन्ध-भूत-आयतनेन्द्रिय-जन्य ससार के प्रवाह को बाध लेना चाहिये।[175] इसमे चित्त तथा अचित्त दोनो का शमन हो जाता है।[176] विभिन्न वासनाओ के पवनावर्तों मे यह मन जो भ्रमित हो रहा था, वह सहज स्वभाव मे स्थित होकर निश्चल हो जाता है।[177] इस सहज मे पाप-पुण्य भी नही व्यापता[178] इसी सहज स्वभाव मे स्थित होने मे शोभा है[179] और श्रेय भी क्योकि जो सहज को छोडकर निर्वाण के पीछे दौडता है वह परमार्थ लाभ कभी नही करता।[180] इस अत्यन्त गहन स्वरूप मे जिसमे न मन, न पवन, न रवि, न शशि किसी का भी प्रवेश नही है, सरह उसमे अपने चित्त को स्थित करने का उपदेश देते है।[181] उसमे स्थित होने के उपरान्त व्यक्ति की जीवनचर्या ऐसी हो जाती है कि वह सकल कलुष, वासना, क्लेशादि से मुक्त होकर, निस्तरग सहज रूप मे पाप और पुण्य से निर्लिप्त हो जाता है।[182]

सहज का विस्तार

इस प्रकार हम देखते है कि तत्व, ज्ञान अथवा स्वभाव रूप मे 'सहज', नाम से नवीन होने पर भी वास्तव मे वज्रयानियो का चिरपरिचित परमार्थ और शून्य ही है। किन्तु सिद्धो ने इसे इतना महत्व दिया है कि अपनी साधना से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु का नाम सहज दिया है। सहज तत्व, सहज ज्ञान, सहज स्वरूप, सहज सुख, सहज समाधि, सहज काया, सहज पथ, यहाँ तक कि बुद्ध को सहज सम्वर और नैरात्मा या शून्यता को सहज सुन्दरी कहा जाने लगा।[183] परमतत्व को यह नयी सज्ञा देने का क्या कारण है। क्या 'शून्य' उस परमतत्व के पूरे अर्थ को नही अभिव्यक्ति कर सकता था। वास्तव मे बात यही थी। शून्यताज्ञान या ख-सम-स्वभाव के अतिरिक्त एक तत्व और था जिसकी ओर सिद्ध विशेष रूप से सकेत करना चाहते थे। वह तत्व था करुणा।

हम पहले ही देख चुके है कि महायान के अन्तर्गत करुणा को विशेष स्थान दिया गया था और करुणा के अभाव मे ही प्रत्येक यान और श्रावकयान

को बोधिसत्वयान से निम्न स्तर का माना गया था। उसी करुणा को वज्र रूप मे प्रतिष्ठित किया गया और उसे शून्य का अभेद्य, अच्छेद्य रूप माना गया, सिद्धो ने भी उसे मणि, कुलिश, तथा उपाय रूप मे स्वीकार किया किन्तु उसकी शून्यता के साथ समरसता पर, अद्वय पर विशेप बल दिया। वह उपाय, या वज्र या कुलिश, या मणि या सक्रिय चित्त जव प्रज्ञा, या शून्यता, या कमल या पद्म, या ख-सम मे प्रविष्ट होकर एकमेक रूप हो जाता है तव वही अद्वय सहज कहलाता है क्योकि वह शून्यता और करुणा या प्रज्ञा और उपाय के सहगमन से उत्पन्न हुआ है।[१८४] जिस समय सिद्ध लोग सवको सहज स्वरूप कहते है तो उनका तात्पर्य प्रत्येक वस्तु के आन्तरिक स्वभाव से निहित उस नैरात्म्य से है जिसमे शून्यता तथा करुणा अद्वय रूप मे स्थित है। और सहज ज्ञान के अर्थ है कि शून्यता के साथ-साथ करुणा को भी उपाय रूप मे जान लेना चाहिये अन्यथा परमार्थ की प्राप्ति नही होती है। इस सहज तत्व-दर्शन मे शून्य का महत्व कम नही है। वास्तव मे तो सब कुछ शून्य ही है और जैसा हम आगे देखेंगे सिद्धो ने वज्र, उपाय आदि को भी शून्य का ही सक्रिय या करुणा रूप माना है किन्तु शून्य दर्शन के बिना करुणा लक्ष्यभ्रष्ट होती है और करुणा के बिना शून्यता ज्ञान भी निष्फल होता है। अशून्य के साथ-साथ शून्य का भी तिरस्कार करने मे सिद्धो का सकेत इसी ओर था।

करुणा तथा शून्य का ऐक्य

सरहपा शून्यता और करुणा की अद्वय साधना के विषय मे स्पष्ट कहते है कि करुणा छोडकर जो केवल शून्य मे लीन रहता है वह उत्तम मार्ग, सहज मार्ग नही ग्रहण कर पाता। साथ ही जो शून्यता के बिना करुणा की परिभावना करता है वह सहस्र जन्मो तक मोक्ष नही पा सकता।[१८५] जो सहज द्वारा चित्त को विशुद्ध कर जीवन का उपभोग नही करता केवल शून्य में विहार करता है, वह बोहित के काग की भाँति बार-बार उड कर भी अज्ञान में गिरता रहता है।[१८६] सरह की टीका मे अद्वयवज्र ने भी केवल शून्यता की साधना करने का निषेध किया है क्योकि उससे सत्ता ही उच्छिन्न हो जाती है।[१८७] इसीलिये शून्यता और करुणा दोनो की समरसता का आदेश है[१८८] और जो योगिनी उसे सिद्ध कर लेती है वह भव-निर्वाण की प्रवचना मे भ्रान्त नही होती।[१८९] योग वही है जहाँ दोनो का एकात्म हो, द्वयता विवर्जित हो, ऐसा गुरु का उपदेश

है।[१६०] वास्तव मे यही शून्य तथा करुणा समस्त ब्रह्माण्ड मे मूल धर्म है। सारा विस्तार इन्ही दोनो तत्वो का है जिसमे कि शून्य गगनोपम अभाव है, एकता है और करुणा उसका वैविध्य और विचित्रता। किन्तु निष्करुण शून्य-वृक्ष निर्मूल और शाखविहीन हो जाता है और उसका आश्रय लेने वाले की बाहे टूट जाती है। किन्तु जो इनको एक करके मानता है उसका फल भी अद्वय, या समरसता रूप मे ग्रहण करता है वह भव-निर्वाण से मुक्त हो जाता है।[१६१]

चतुर्विध शून्य

उपरोक्त कथन मे सरहपा ने यह आदेश दिया है कि इस तरु को एक ही करके मानो। अर्थात् शून्य और करुणा वास्तव मे अभिन्न है। 'ए अभिराणा जो मुणइ सो भवणिव्वाण विमुक्क।' इस अभिन्नता को उन्होने पचक्रम शून्य के ४ क्रमिक विकासो के सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित किया था।[१६२] नागार्जुनपाद की एक सस्कृत कृति 'पचक्रम' मे चतुर्विध शून्य का रूप इस प्रकार समझाया गया है—शून्य चार है, शून्य, अतिशून्य महाशून्य तथा सर्वशून्य। इनका भेद कार्य-कारण शृङ्खला पर आधारित है।[१६३] पहला शून्य आलोक ज्ञान प्रज्ञा है, चित्त इसमे सकल्पाभिभूत रहता है और यह स्वभाव से परतन्त्र है। इस अवस्था मे यह मनजात ३३ दोषो से आच्छादित रहता है। इसकी समस्त मायाओ मे सर्वश्रेष्ठ माया स्त्री है जो इस शून्य प्रज्ञा की अभिव्यक्ति है। इसी को वाम चन्द्रमण्डल का कमल या अकारादि बीजाक्षर भी कहते है। द्वितीय क्रम मे अतिशून्य है जो आलोक का आभास है, इसका स्वभाव परिकल्पित है, वह उपाय है, दक्षिण है, सूर्यमण्डल है, वज्र है, पुरुष है और मन की पूर्वकथित ७८ प्रकृतियो से आवेष्ठित है। तृतीय क्रम मे महाशून्य है जो आलोक तथा आलोकाभास के युगनद्ध से उदित होता है। प्रज्ञोपाय, शून्यातिशून्य के युगनद्ध से यह यह अवस्था आती है जिसे आलोकपलब्धि कहते है वह परिनिष्पन्न स्वभाव की होती है। किन्तु वह भी अविद्यारूप है क्योकि उसमे भी दोष रहते है। तीनो क्रमो में दोषो की कुल सख्या १०६ है। उन दोषो से भी मुक्त होने पर प्रज्ञोपाय अद्वैत का सर्वशून्य रूप उदित होता है[१६४] जो प्रज्ञोपाय के सहगमन से उद्भूत होने के कारण सहज माना जा सकता है। क्योकि यही सर्वशून्य परमतत्व है, आदि अन्त से विहीन, गुणदोष रहित, भाव, अभाव से रहित तथा भावाभाव मे भी रहित।

काराहपा ने अपने एक दोहे मे महासुख की स्थिति वाले कमल के चार पाँखुरियाँ और ४ मृणाल बताये है।[१९५] इन चार पत्रो और मृणालो को टीकाकार ने शून्य के चार रूप, शून्य, अतिशून्य, महाशून्य और सर्वशून्य वताया है।[१९६] शबरपा भी एक स्थान पर प्रथम तीन शून्यो को अतिक्रमण कर सर्वशून्यरूपी नैरात्म्य नैरामरिण बालिका को कण्ठ लगाने का वर्णन करते है।[१९७] इस प्रकार प्रज्ञा, उपाय, प्रज्ञोपाय तथा दोनो के सहगमन से उत्पन्न सहज को एक ही रूप मानकर सिद्धो ने चतुर्विध शून्य द्वारा सब का एक ही तत्व के क्रमिक विकास के रूप मे चित्रित किया है। परमतत्व या सर्वशून्य या सहज तक पहुँचने के लिये प्रज्ञोपाय का समागत अनिवार्य है।[१९८] सहज इसी से उद्भूत है। वह समस्त वासनाओ, क्लेशो, सुखदुखादि सकल्पो और वेदनाओ से मुक्त है। ये सारे दोष तृतीय अवस्था तक समाप्त हो जाते है। इस प्रज्ञोपायोद्भूत सहज-भावना से सिद्धो ने अभी तक महायानी परम्परा से आगत समस्त तत्वो और सिद्धान्तो को प्रज्ञोपाय मूलक या मिथुनपरक रूप दे दिया।

प्रज्ञा तथा उपाय का युगनद्ध सिद्धो की चिन्तना और साधना की मूलभित्ति हो गई। उसे स्थान-स्थान पर विभिन्न रूपको मे अभिव्यक्त किया गया है।

प्रज्ञोपाय

भगवान वज्रधर और भगवती नैरात्मा, चित्त-वज्र और नैरात्म स्वभाव वज्र और ख-सम, कुलिश और कमल, मणि और पद्म, शुक्र और रज, चन्द्र और सूर्य आदि रूपको मे इसी प्रलोपाय सिद्धान्त का विस्तार है। ये सब युगनद्ध मे है। इनका स्वरूप मिथुन-परक है। प्रज्ञा तथा उसके अप्रस्तुत भग के प्रतीक है और उपाय तथा उसके अप्रस्तुत लिंग के प्रतीक है। इसके अनुसार महायान की भी नवीन व्याख्या दी गई और कहा गया कि महाप्रज्ञा और महाउपाय के युगनद्ध का प्रतिपादन करने से इसका नाम महायान पडा।[१९९]

प्रज्ञा तथा उपाय को पुरुष और नारी के रूप मे परिकल्पित करने की प्रवृत्ति उसी तान्त्रिक प्रवृत्ति का बौद्ध रूप था जो तत्कालीन प्रत्येक सम्प्रदाय मे

मैथुन कल्पना का विकास

परमतत्व और उसकी परम शक्तियो की युग्म कल्पना के रूप मे प्रकट हो रही थी। वज्र की ही भाँति इस कल्पना का भी अथर्ववेद की परम्परा से कोई सम्बन्ध था या नही, यह नही कहा जा सकता है। किन्तु अथर्ववेद मे स्थान-स्थान पर पर्जन्य

को पिता और पृथ्वी को माता रूप मे परिकल्पित किया गया है जिससे शर की उत्पत्ति होती है।[२००] चर्यापदो मे करुणा का मेघ के रूप मे वर्णन आया है।[२०१] यद्यपि प्रज्ञा सदैव गगन के रूप मे ही वर्णित है, गगन जिसमे मेघ विहार करता है और प्रवेश करता है जो शून्य रूप है ख-सम है। किन्तु पति पत्नी या नारी पुरुष के रूप मे प्रज्ञा और उपाय का उल्लेख हमे विमलकीर्तिसूत्र मे मिलता है जिसमे तान्त्रिक सावनाओ की अपेक्षा शुद्ध महायानी दृष्टि से प्रज्ञा की बोधिसत्वो की माता और उपाय की पिता रूप मे परिकल्पना है। प्रज्ञा समता है, शून्यता है, उपाय नानात्व है, वैसे दोनो भिन्न नही, प्रज्ञा का ही सक्रिय रूप करुणा है किन्तु दोनो के समागम के विना कभी भी महासत्वो (महापुरुषो) की उत्पत्ति नही होती।[२०२] इस प्रकार प्रज्ञा और उपाय के पूर्वागत नारी-पुरुष रूपक को तान्त्रिक साधनाओ का आधार वना लिया गया और जहाँ पहले पारमिता नय मे यह युग्म केवल बोधिसत्वो का उत्पादक था, वहाँ मन्त्रनय के विकसित रूप वज्रयान मे वह तत्व और शक्ति, नारी और पुरुष, चित्त और ख-सम (शून्य), योगी और योगिनी के युग्म के रूप मे समस्त सिद्धियो का प्रदायक माना गया और सिद्धो ने इसी से उद्भूत परिकल्पनाओ को 'सहज' की समवेत सज्ञा दी। विद्वानो ने सिद्धो की प्रज्ञोपाय भावना की एक विलक्षणता की ओर सकेत किया है[२०३] जो उनके प्रज्ञोपाय सिद्धान्त को समस्त तान्त्रिक पद्धतियो से भिन्न एक विशिष्टता प्रदान करती है। शैवो, शाक्तो, वैष्णव तन्त्रो तथा ताओवादियो मे भी जिनमे 'ताओ' पुरुष तथा 'ती' उसकी शक्ति मानी गयी है निष्क्रिय चरम तत्व-ज्ञान को पुरुष माना गया है और सृष्टि, विविधता और सक्रियता को स्त्री शक्ति। सिद्धो ने इस क्रम को उलट दिया है। वे अतिम निष्क्रिय निस्सग सत्य, परमार्थ या तथता को प्रज्ञा परिकल्पित करते है और विविधता तथा सक्रियता का प्रतीक उपाय है। इस क्रम विपर्यय के पीछे क्या आधार हो सकता है इसका कोई संकेत विद्वानो ने नही किया है। यह कहा जा सकता है कि केवल साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण ऐसा हुआ है और अपनी विशिष्टता सिद्ध करने के लिये सिद्धो ने यह क्रम उलट दिया है। किन्तु यह क्रम विपर्यय का यथेष्ट कारण नही है। इसके लिये हमें वज्र के विकास की ओर ध्यान देना होगा जिस पर हम पिछले अध्याय मे विचार कर चुके है। वज्र इन्द्र की कल्पना से वौद्ध धर्म मे आया था और शची प्रज्ञा इन्द्र की पत्नी है। अत उपाय वज्र का वोवक हो गया और प्रज्ञा वज्रधर की स्वामिनी। उधर करुणा को पुरुप रूप तथा प्रज्ञा को नारी रूप

महायान मे ही प्रदान किया जा चुका था। अत अपनी साम्प्रदायिक परम्परा का निर्वाह करते हुये उन्हे तान्त्रिक पद्धतियो का यह क्रम उलटना पडा।

कुछ विद्वानो ने वज्रयान की ऐसी भी शाखा का उल्लेख किया है जो परमतत्व या शून्यता को पुरुप रूप मे मानते थे किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता[२०४]। सिद्ध साहित्य मे तो प्रज्ञा का नारी और उपाय का पुरुप रूप ही सर्वस्वीकृत है।

हम देख चुके है कि उपाय 'नानात्व' और सक्रिय प्रयास का बोधक है। उपाय या वज्र से तद्रूप हो जाने वाले साधक को सिद्धो ने स्थान स्थान पर 'वीर' की सज्ञा दी है। कमल कुलिश साधना की प्रणाली मे गुण्डरीपा अपने को कुन्दुरु वीर कहते है।[२०५] कुक्कुरीपा एक चर्या मे कमल कुलिश योग का रहस्य जानने वाले को वीर कहते है।[२०६] एक स्थान पर साधक को तथता रूपी खग से शून्य वासनागारो पर प्रहार करने का रूपक मिलता है।[२०७] सिद्धो का यह वीरतापरक रूपक वास्तव मे बौद्ध परम्परा के अन्दर उपाय के पूर्व-इतिहास की ओर सकेत करता है। योगाचार मे केवल षड्पारमिताएँ स्वीकृत थी जिनमे उपाय कौशल नामक पारमिता नही थी और वीर्य नामक पारमिता मे उपाय कौशल के लक्षण बताये गये थे।[२०८] कालान्तर मे पारमिताओ की सख्या मे वृद्धि हुई और वीर्य के अतिरिक्त उपाय कौशल भी जोड दिया गया।[२०९] किन्तु साधना मे प्रज्ञा एक प्रमुख पारमिता के रूप मे स्वीकृत हुई और बोधिचित्त मे शेष ९ पारमिताएँ विलयित हो जाती थी। कालान्तर मे उपाय का प्रज्ञा के वर के रूप मे विकास हुआ जिसमे वीर्य पारमिता के लक्षण भी जुड गये। इसीलिये उसे वज्रोपम भी कहा गया।[२१०] दोहो की टीका मे इसीलिये स्थान-स्थान पर उपाय से समन्वित सहजोन्मुख चित्त को चित्त-वज्र कहा गया है। यह चित्त वज्र सावृत स्पन्द रूप है, शुक्र और रज से भूषित है [२११] इस चित्त वज्र से ही प्रज्ञोपाय योग की साधना हो सकती है।[२१२] इसी उपाय की कालचक्रयान मे व्याख्या की गई। परमतत्व या आदिबुद्ध की दो मूर्तियाँ है। शून्यता और करुणा।[२१३] इसमे से शून्यता रूप अज्ञेय रूप है, ज्ञान से परे अरूप। किन्तु समय, काल, अथवा सृजन शक्ति से समन्वित होकर वही अभिव्यक्त और ज्ञेय हो जाता है और उसे उपाय, करुणा अथवा काल कहते है।[२१] इस प्रकार उपाय के साथ वीर, वज्रकाल आदि की प्रतीक-योजना जुड गई। इसी प्रकार उपाय के अन्य प्रतीको का भी आधार है जिस पर हम बाद मे विचार करेंगे,

जिनमे इसे नौका, कुठार, मणि आदि प्रतीको से अभिव्यक्त किया गया है। चूंकि इनका सगम प्रज्ञा से अनिवार्य है अत उस साधक को जो इस प्रज्ञोपाय अद्वय योग को सिद्ध कर लेता है, परम सुरत वीर कहा गया है।[२१५] इसी प्रज्ञोपाय के कारण सिद्धो की साधना भी मिथुन-परक हो गई थी और मन को भगवान और ख-सम शून्य को भगवती रूप मे, प्रतिष्ठित करने का उपदेश मिलता है। उसी से रात दिन सहज की साधना होती है।[२१६] भगवान और भगवती का यह स्वरूप सिद्धो के उपास्य देवताओ की योजना मे भी मिलता है।

प्रज्ञापारमिता आदि के आधार पर विकसित यह अद्वय ज्ञान प्रज्ञोपाय युगनद्ध ही वास्तव मे तथागत बुद्ध है और उसकी अविकल चित्त से उपासना करनी चाहिये। यह सिद्ध तिल्लोपा ने अपने दोहाकोष मे स्पष्ट कहा है।[२१७] सरहपा के टीकाकार भी सकल अशेष बुद्ध वज्रधर का सकेत करते है।[२१८] शुद्ध भाव वाले साधक को समस्त जगत बुद्धमय जानना चाहिये।[२१९]

समस्त जगत बुद्धमय है और यह जगत पचस्कन्धो से निर्मित है तो तथागत के भी प्रत्येक स्कन्ध के आधार पर पाँच रूप होने चाहिए। उस दृष्टि से ही बौद्ध परम्परा मे ५ ध्यानी बुद्धो की कल्पना की गई थी जिसे ये सिद्ध स्वीकार करते थे और उन्हे हृदयगम करते थे। कृष्णाचार्य अपने चर्यापद मे उन पाँचो तथागतो की परिभावना कर महासुख नौका को ग्रहण कर साधन पथ पर अग्रसर होते है। वे पाँचो उस नौका के केडुआल है। पाँचो स्कन्धो के स्वामी पच-तथागत ही जब केडुआल है तो अब पचस्कन्धो से निर्मित यह ससार भला कृष्णाचार्य का क्या कर सकता है।[२२०] इसीलिये क्षिति, जल, पवन, हुताशनादि से युक्त इस चित्त को पच जिनो से वेष्ठित करने का आदेश सरहपा भी देते है।[२२१] ये पाँच तथागत वैरोचन आदि है[२२२] जो समस्त जगत मे व्याप्त है और उनमे मिलकर एकीभूत होकर साधक भी वज्रधर शरीर को प्राप्त करता है। उसके काय, वाक्, चित्त सभी वज्र रूप हो जाते है।[२२३] इन वैरोचन, अक्षोभ्य, रत्नसम्भव, अमिताभ तथा अमोघसिद्धि आदि की पाँच शक्ति-रूपिणी देवियो का सिद्धो की प्रज्ञोपाय साधना मे विशेष महत्व है। क्रिया-समुच्चय मे 'महासमय गीतिका' नामक पाँच दोहो का एक लघु सग्रह मिला है जिसके रचयिता का नाम तो नही मिलता[२२४] किन्तु उसके कुछ उद्धरण चर्यापदो की टीका मे मिलते है।[२२५] महासमय गीतिका ५ दोहो की है और वे दोहे भगवती नैरात्म्य

योगिनी, लोचना, मामक्षा (मामकी), पाण्डुरा (चण्डा) और तारा का आह्वान करने के लिये गाये जाते है। उनके साथ नृत्य भी होना अनिवार्य है। वास्तव मे वे भगवान को शुक्र और उनके सुख को कामिनी मानते थे।

समस्त उत्तरी महायानी बौद्ध धर्म इन बुद्धो और इनकी देवियो की युगनद्ध की भावना से अभिभूत है। वास्तव मे धर्म, बुद्ध और सघ का त्रिरत्न भी इसी युगनद्ध के सिद्धान्त मे ढाल दिया गया। प्रज्ञा धर्म है, उपाय बुद्ध है, सघ दोनो का युगनद्ध है। इसके लिये दो धातुओ की कल्पना की गई। प्रज्ञा के लिये गर्भधातु और उपाय के लिये वज्र धातु। ये ही दोनो मिलकर मण्डल चक्र का निर्माण करते है। नेपाल मे इस युगनद्ध को चन्द्र से उठती हुई अग्निशिखा के रूप मे चित्रित करते है, तिब्बत मे एक पात्र मे स्थित अशोक की शाखा के रूप मे तथा चीन मे समागम करती हुई मूर्तियो के रूप मे।[२२६]

युगनद्ध

इस प्रकार त्रिकाय सिद्धान्त द्वारा बुद्ध के दिव्यरूप की परम्परा महायानी आचार्यों ने प्रारम्भ की थी उसका चरम विकास सिद्धो मे हुआ। महायानी आचार्यों ने बुद्ध की तीन कायाओ के मूल मे तीन धातुओ की कल्पना की थी जो सिद्धो को मान्य थी।[२२७] रूप धातु से निर्मित निर्माण काया, कामधातु से सम्भोग काया और धर्मधातु से धर्मकाया। धर्मधातु से वे 'तथता' का अर्थ लेते थे।[२२८]

सिद्धो ने इन तीन कायाओ को स्वीकृत किया किन्तु प्रज्ञोपाय सिद्धान्त की प्रतिष्ठा इस दिशा मे भी करने के लिये उन्होने एक चतुर्थ काया की प्रतिष्ठा की जिसे वे स्वाभावकाया, वज्रकाया, सहजकाया या महासुख काया कहते थे।[२२९] इन चारो कायाओ में सहजकाया सर्वश्रेष्ठ थी क्योकि इसी मे तथागत अपने उपाय रूप मे प्रतिष्ठित होते है और उनका प्रज्ञा से एकात्मक रहता है। युगनद्ध की काया यही सहजकाया है। यह समस्त द्वयताओ और क्लेशादि मलावरणो से निरावृत्त शुद्ध सहज रूप होती है अत इसी को निरंजन कहते हैं।[२३०] बुद्ध की इस सहजकाया का रहस्य केवल सिद्धो को ज्ञात था। पुराने बौद्ध सम्प्रदायो के आचार्य इसे नही जानते, इसीलिये उनका परमार्थ ज्ञान का गर्व सर्वथा भ्रान्ति है

क्योकि वास्तविक परमार्थ तो यही बुद्ध का सहजकाया स्थित निरजन रूप है जिसमे करोडो साधको मे से कोई एक ही लीन हो पाता है।[२३१]

देवताओ को सिद्धो ने प्रज्ञोपायात्मक स्वभाव का माना है। जव वे प्रज्ञोपायात्मक है, सहज रूप है तो उनकी उपासना का एक ही रूप हो सकता है, अपने चित्त को प्रज्ञोपायात्मक वनाना, सहज वनाना। अपने मे और बुद्ध मे अद्वय स्थापित करना और यह सोचना कि मै ही बुद्ध हूँ।[२३२] अपने मन को बुद्ध तथागत के लिये प्रेरित कर दिन रात प्रज्ञोपायात्मक मिथुनपरक सहज रूप मे रहना चाहिये।[२३३] यही प्रज्ञोपाय समाधि का लक्ष्य है जिससे अनुत्तर की सिद्धि होती है।[२३४] इसीलिये साधनमाला मे साधक को सदैव वज्रात्मक स्वभाव की कामना करते दिखाया गया है। जब साधक वज्र स्वभाव धारण कर नैरात्म्य-ज्ञान से मुक्त होकर प्रज्ञोपायात्मक सहज रूप हो जाता है तव वह स्वत बुद्ध हो जाता है,[२३५] निरजन हो जाता है। स्वत को बुद्ध मान कर क्रियाएँ करना अहकार साधना है।[२३६]

ऐसी परिस्थिति मे वह कामचारी हो जाता है, कुछ भी कर सकता है क्योकि वह स्वत बुद्ध है, स्वामी है। उसका समस्त राग और द्वेप परावृत्त होता है। योगाचार मे ही इस कल्पना का विकास हो चुका और सिद्धो के समकालीन आचार्य इन्द्रभूति जिस प्रकार ऐसे बुद्धमय योगी को कामचारी[२३७] कहते है उसी प्रकार असग भी उसे कामचारी कहते है।[२३८] इसी को सिद्ध सहज रूप मे 'रहना' कहते है जिसमे पाप और पुण्य नही व्याप्त होता।[२३९] किन्तु यह सब स्वत को बुद्ध मान कर करना चाहिये, उसे वज्र वाक्य वोलना चाहिये, वज्रसत्य के रूप मे रहना चाहिये। उस परिस्थिति मे नृत्य, गीत, वास, पुष्पमालादि भूषण, चमर, छत्र आदि से अपनी पूजा भी करा सकता है, उपभोग कर सकता है। यदि वह यह स्मरण रक्खे कि सर्व बुद्धमय है तो वह सुगन्धि आदि मे लिप्त आत्म-सन्तुष्ट रह सकता है, व्रती, मुण्डी, गृहस्थ, सेवक, राजा किसी भी रूप मे वह स्थित रह सकता है।[२४०] किन्तु इसके लिए अनिवार्य है कि वह प्रज्ञोपाय समाधि के द्वारा अनुत्तर की सिद्धि कर ले और सहज स्वभाव को धारण कर ले।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्धो का तत्व-चिन्तन आचारोन्मुख है। वह शून्यवाद की तटस्थता का निषेध कर विज्ञानवाद के योगचार की परम्परा ग्रहण करता है और तथता या शून्य की साधना तत्कालीन समस्त तान्त्रिक पद्धतियो की भाँति परम तत्व और उसकी शक्ति के अद्वय रूप मे, सहज रूप मे प्रज्ञोपायात्मक है, मिथुन-परक है। उपाय रूपी चित्त का शून्य या नैरात्मा रूपी भगवती से योग, यही वह साधना है जिसकी पीठिका-स्वरूप सिद्धो के समस्त तत्व-चिन्तन ने, प्रज्ञोपायात्मक रूप धारण किया है। अब हम उनकी साधना पर दृष्टिपात करेंगे।

ख

साधना-पद्धति (१)

सिद्धो ने चूकि चित्त को ही वज्रसत्व का रूप और भगवान माना था और साधक को वज्र स्वभाव ग्रहण करने का आदेश दिया था अत उनकी साधनापद्धति का केन्द्रविन्दु चित्त ही है जिसे वे सकल्पात्मक मोहजाल से मुक्त कर सहज रूप मे प्रतिष्ठित करना चाहते है। जव तक चित्त मे सहज-वोधि नही जाग्रत होती तव तक वह चचल रहता है और काल मे प्रवेश कर जाता है। उसे दृढ (वज्र-रूप) करना अभीष्ट है।[1] इस चचल सकल्पाभिनिविष्ट चित्त[2] की उपमा भुसुकुपा चूहे से देते हुए कहते है—'अन्धेरी रात मे चचल उन्मुक्त मन रूपी मूपक स्वच्छन्द विचरण करता है। यह चचल मूपक रूपादि स्कन्धो का भक्षण कर विनष्ट हो जाता है और अमृत-तत्व को भी दूपित कर देता है। इस पवन सरीखे चचल मूषक को योगी लोग मार कर गमनागमन से मुक्ति पाते है। जव इस मूषक का मुक्त विचरण समाप्त होता है तभी भव-वन्धन से योगी मुक्त हो जाता है।'[3]

साधना का केन्द्र विन्दु वोधिचित्त

किन्तु यही मूपकरूपी सकल्पाभिनिविष्ट चित्त जब नैरात्मज्ञान के प्रति जाग्रत होकर उपाय से समन्वित हो जाता है तो वह वोधचित्त हो जाता है और उसे सिद्ध नलिनीवन मे प्रवेश करने वाले गजेन्द्र की उपमा देते है जो ज्ञानामृत पान कर पच-इन्द्रिय-विपयो का नायक कामचारी वन जाता है।[4]

सिद्धो ने वोधिचित के दो रूप वताये है। पहला है प्रज्ञोपायात्मक मार्ग मे प्रवृत्त होने के पूर्व, जो सम्वृत्त और स्पन्द रूप है और दूसरा प्रज्ञोपायात्मक मार्ग मे प्रवृत्त होने के वाद, जो चित्त का वज्र-रूप है।

इसी को सधाभापा में उलटवाँसी शैली मे ढेण्ढणपा बैल द्वारा प्रसव और गो के वन्ध्यात्व के रूपक मे अभिव्यक्त करते है। अर्थात् जब तक वोधिचित्त नैरात्म्य से सग नही करता तब तक वह वलद के रूप मे रहता है और उससे ससार उत्पन्न होता रहता है। जव वह ज्ञान प्राप्त कर ख-सम या नैरात्मा रूप गाय हो जाता है तव वह ससार का उच्छेद कर बन्ध्या हो जाता है। वोधिचित्त के पहले रूप को सावृत स्पन्द रूप कहा गया है।[५] इन दोनो विशेषणों को समझ लेना आवश्यक है। सम्वृत सत्य परमार्थ सत्य के विपरीत भवज्ञान रूपी सत्य को कहते है।[६] इस अवस्था मे बोधिचित्त संसार-लिप्त और सम्वृत रहता है। स्पन्द के अर्थ 'चलनशील' है। 'स्पन्द' वास्तव मे त्रिकवादी काश्मीरी शैवो का शब्द है।[७] और अभिनवगुप्त इससे मन की उस अवस्था का बोध कराते है, जिसमे वह 'किंचिच्चलनशील' रहता है और अहम्-सलग्न होने के कारण उसमे नानात्व का आभास रहता है।[८] सिद्ध 'स्पन्द' शब्द का अर्थ किंचिच्चलनशील' ही लेते है और क्योकि चलनशील चित्त से उनका तात्पर्य भव-निमज्जित चित्त से है। अत साम्वृत स्पन्द रूप मे भी बोधिचित्त मे थोडी सी चचलता या भवचेतना रह जाती है जिनके कारण उसके च्युत होकर साधनास्खलित होने का भय रहता है। काणहपा ने स्पष्ट कहा है कि शुक्रद्रवाकार विमल सलिल रूपी बोधिचित्त भी सूख जाता है यदि उसमे कालाग्नि पैठ जाय।[९] किन्तु इस साम्वृत स्पन्द शुक्रद्रवाकार चित्त को नैरात्म्यज्ञान रूपी रज से युक्त कर देने पर यही चित्त 'वज्र' हो जाता है।[१०] इस प्रज्ञोपाय युगनद्ध के कारण इसको सहज-चित्त भी कहते है।

वोधिचित्त समुत्पाद

विज्ञानवाद मे चित्त को भवजाल से मुक्त कर करुणा से समन्वित कर साधना के लिये अग्रसर करने की प्रणाली को समुत्पाद कहा जाता था। उसको वे साधना का महारम्भ, चित्त का महाउदय तथा साधक का महाउत्साह कहते थे।[११] इस समुदित करुणा-समन्वित महाचित्त के लिये वे पृथ्वी, रत्नाकर, चिन्तामणि, नौका तथा मेघ आदि के रूपको[१२] का प्रयोग करते थे जिसमे से कई अप्रस्तुत सिद्धो ने भी अपने चर्यापद मे प्रयुक्त किये है।[१३] किन्तु समुतपाद की भावना सिद्धो के साहित्य मे इस रूप मे नही आती। केवल एक स्थान पर चित्त-वृत्तियो के अस्त के वाद शीतल रजनी का उदय चित्रित है, वह रजनी प्रज्ञा या शून्य की

रजनी है, उसी को प्रज्ञाज्ञानाभिषेक-दान का समय भी कहते हैं। उसी मे कमल या महाउष्णीष कमल का विकास होता है।[१४] इसी रात्रि के कारण वोधिचित्त की नवचन्द्र के रूप मे कल्पना की गई है।[१५]

सिद्धो ने इस वोधिचित्त समुत्पाद के लिये चार शव्द प्रयुक्त किये है। पहला है 'विशोधन' दूसरा है 'हनन्'। इन दोनो के पीछे एक तान्त्रिक परम्परा थी जैसा हम आगे देखेंगे। इनके अतिरिक्त कही-कही 'स्थिरीकरण'[१६] या 'दृढीकरण'[१७] का भी प्रयोग है। 'स्थिरीकरण' तो चित्त की चपलता के कारण प्रयुक्त है। इस चंचलता का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसे दृढ भी इसीलिये कहा गया है कि बोधिचित्त च्युत नही होता।

चित्त-विशोधन

किन्तु सिद्धो ने जिस शव्द का विशेप प्रयोग किया है वह 'चित्त विशोधन'। सरहपा इस चित्त को महासुख द्वारा शोधनीय वताते है।[१८] तिल्लोपा भी चित्त को सहज ज्ञान से शोधित करने का उपदेश देते है[१९] और दोनो ही इसके द्वारा मोक्ष की सिद्धि वताते है।

यह 'विशोधन' शव्द वास्तव मे रसायन शास्त्र और उस पर आधारित वज्रयान में प्रयुक्त प्राचीन परम्परागत शव्द है जो तान्त्रिक सम्प्रदायो मे पारे के विशोधन तथा उसके द्वारा काया के अजरत्व और अमरत्व की प्राप्ति के सन्दर्भ मे प्रयुक्त होता था।[२०] पिछले अध्यायो मे हम देख चुके है कि रसेश्वर सम्प्रदाय मे अभ्रक को पार्वती का रज तथा पारे को शिव का शुक्र मानकर रस साधना की जाती थी और उससे अमर शरीर की प्राप्ति की कल्पना की जाती थी। रसेश्वर सम्प्रदाय की प्राचीनता के किसी निश्चित प्रमाण के अभाव मे यह कहना तो उचित न होगा कि सिद्धो ने यह कल्पना रसेश्वर सम्प्रदाय से ग्रहण की है, किन्तु धातुओ के विशोधन द्वारा अमरत्व या स्वर्ग की प्राप्ति की परम्परा से ही यह शव्द सिद्धो ने तथा उनके समकालीन आचार्यो ने ग्रहण किया है, इसमे कोई सन्देह नही। कही-कही तो उन रासायनिक प्रक्रियाओ का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है जिनमे रस स्पर्श से ताम्र के स्वर्ण वनाने का या मधु तथा घृत के रसायन रूप सेवन का विधान है।[२१]

सिद्धो ने इसको दूसरे अर्थ मे प्रयुक्त किया है। वुद्ध की तीन कायाओ मे से परम्परागत सर्वमान्य धर्मकाया धर्म-धातु से निर्मित होती है। धर्मधातु अजर,

अमर तथा अक्षय है। मन को बुद्ध की धर्मकाया तथा सहजकाया में लीन होकर बुद्धत्व ग्रहण करने का उपदेश बराबर सिद्धो ने दिया है।[२२] इस विशोधन प्रक्रिया से चित्त धर्मकाया मे लीन हो जाता है, नि.स्वभाव हो जाता है और उसे सहजकाया मे अमरता प्राप्त हो जाती है। अमरता वास्तव मे मरण का निषेध है और मरण केवल शून्यता के अज्ञान से होता है। शून्यता के ज्ञान के पश्चात् तो साधक जान जाता है कि न मरण है न उत्पत्ति, 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धान्त से सभी वस्तुए निस्वभाव है, नैरात्म्य है। इसी ज्ञान के द्वारा [२३] धर्मधातु मे प्रवेश करना ही अमरत्व है। अत रसायन शास्त्र में धातुओ के परिशोधन को सिद्धो ने बुद्ध-काया के धातु परिशोधन के अर्थ मे ग्रहण किया है।

किन्तु यह परिशोधन की क्रिया बडी ही भ्रान्तिपूर्ण है और जो इसे भली भाँति नही जानता है वह नष्ट हो जाता है। इसीलिये सरहपा साधको को चेतावनी देते हुए कहते है कि 'ओ वत्सो इस रसरसायन का भेद तो पहले समझ लो। सव लोग तो उसे पढते मात्र है उसका शोधन कोई भी नही जानता।[२४] वास्तव मे अजर अमर वह है जो जीवन का उपभोग करते हुए भी वृद्ध नही होता'।[२५] इसीलिये काण्हपा कहते है कि जो सहज मे अपने मन को निश्चल कर लेता है वह सिद्ध होता है और उसे जरामरण का भय नही रहता। महामुद्रा से सग करने के लिये ऐसा ही रसायन सिद्ध समर्थ है।[२६]

किन्तु लोकप्रचलित धातु को स्वर्ण वनाने वाली रसायन साधना को सिद्ध लोग त्याज्य समझते थे क्योकि वास्तविक धातु तो धर्मकाया की धर्मधातु है। इसीलिये सरहपा अपने चर्यापद मे कहते है कि ·

'लोक स्वत निर्वाण और भव की रचना करते है और उसमे वँधकर फिर दुखी होते है। जो नैरात्म्यज्ञान को जानता है वह मरण और जन्म मे कोई अन्तर नही समझता। अत वह अमर हो जाता है। जो जन्म और मरण की भ्रान्ति मे पडा रहता है ऐसा योगी ही लौकिक स्वर्ण-सिद्धि के लिये रसायन शोध मे पडा रहता है।[२७] वास्तव मे यह तो नैरात्म्यज्ञान के रस द्वारा चित्त के विशोधन की प्रक्रिया है। यह नैरात्म्यज्ञान का रस वहुत रहस्यमय है। इसीलिये सरहपा पुन कहते हैं कि 'पुत्रो यह तो प्रज्ञोपाय या सहज-तत्व रूपी विचित्र रस है इसका वर्णन ही नही हो सकता।'[२८]

विशोधन के अतिरिक्त सिद्धो द्वारा प्रयुक्त दूसरा शब्द है हनन् अर्थात्

मन का हनन्। चर्यापदो की रूपक-प्रधान शैली मे चित्त के हनन् को चञ्चल मूपक के हनन् तथा शतरज की गोटी के हनन् के रूपको मे व्यक्त किया गया है। भुसुकुपा इस चचल चित्त रूपी मूपक को मारने का आदेश योगियो को देते है ताकि वे 'अवणा गवणा' से मुक्ति पा सकें।[२९] कृष्णपा करुणारूपी पोढिका पर साधनारूपी शतरज खेलते हुए ठाकुर को मति द्वारा (वजीर द्वारा) पराजित करने का उल्लेख करते है।[३०] मति का अर्थ टीका मे प्रज्ञापारमिता ज्ञान तथा ठाकुर का अर्थ चित्त बताया गया है। चित्त रूपी ठाकुर के मारे जाने का अर्थ है चित्त का परिनिर्वाण मे स्थित होना।[३१] तिल्लोपा अपने दोहो मे निर्वाण द्वारा चित्त का हनन् कर उसे मारने का उपदेश देते है।[३२] जब वह मर जाता है तब वह पवन मे लीन हो जाता है।[३३] महामुद्रा को साधना के लिये इस चित्त का मारना और निर्मूल कर देना अनिवार्य है।[३४] इस प्रसग मे मारने या हनन् करने का भी एक परम्परागत रासायनिक अर्थ ही है।

चित्त का हनन

रसेश्वर सम्प्रदाय मे परम्परागत रासायनिक प्रक्रियाओ के आधार पर मन को पारद की सज्ञा दी गई थी। वह चचल है। उसे बद्ध कर उसको मृत कर दिया जाता था और विशोधन की प्रक्रिया से स्थिर और निश्चल हो जाने वाले पारे को मूर्छित, और शुद्ध पारा कहते थे और तब उसका अभ्रक से सयोग कराया जाता था जो गौरी का रज है।[३५] इस पारे का हनन् और विशोधन मे पवन विशेष साधन था। पवन मे लीन बद्ध-पारा मनुष्य साधक को उडने की शक्ति दे देता था। सिद्धो ने भी मृत चित्त की पवन मे लीन होने की बात कही है। जिससे उनका अर्थ वज्र चित्त को कमल तक ले जाने वाली श्वास-प्रक्रिया से है। तथा मृत्यु का विकल्प करने वाले इस चित्त को खेचरी पद भी प्राप्त हो जाना है। बौद्ध अष्ट महासिद्धियो मे भी रस-रसायन के बाद ही खेचरी की गणना की गई है। इससे स्पष्ट है कि चित्त के हनन से भी सिद्धो का तात्पर्य रासायनिक प्रक्रिया मे वर्णित पारे के रूपक से चित्त को हठयोग मे प्रवृत्ति करना है।

अमनसिकार

पुरानी बौद्ध परम्परा मे इसी प्रक्रिया को अमनस्कार, या अमनसिकार साधना कहते थे। सिद्धो ने इस शब्द को भी अपनाया है और उसका प्रचुर प्रयोग किया है। प्रबुद्ध साधक को उन्होंने स्वत को 'भवभजन अमनसिकार' मानने का उपदेश दिया है।[३६]

इस अमनस्कार साधना का योगाचार मे ही विधान मिलता है। असग के महायान-सूत्रालकार मे ही अमनसिकार प्रणाली का विवेचन है।[३७] इस अमनसिकार की व्याख्या करते हुए हरिभद्र कहते है कि यह बोधिसत्व मन का स्वभाव है।[३८] अमनस्कार के अर्थ वास्तव में 'मनस्कार का विरोधी स्वभाव है। मनस्कार की कल्पना महायान सम्प्रदायो मे इस प्रकार विकसित हुई है। सर्वास्तिवादी मनस्कार को दशभूमिक चैत्त धर्मों मे से एक मानते थे जिसका अर्थ था सासारिक कार्यों में प्रवृत्त होना।[३९] विज्ञानवादियो ने इसे व्यापक चैत्त धर्मों में से प्रमुखतम तथा सर्वप्रथम माना और वह केवल एक प्रवृत्ति न रहकर मन की सभी वृत्तियो को परिचालित करने वाली मूल प्रवृत्ति के रूप मे स्वीकार की गई।[४०] अत अमनसिकार साधना का उपदेश दिया गया जिसके द्वारा वह उस मूल मनस्कार वृत्ति से छुटकारा पा जाता है जो पचस्कन्धादि चित्त के विकार रूपी ससार मे बोधिसत्वो को प्रवृत्त करती है।

सिद्धो के टीकाकार भी इसकी अमन सज्ञा देते है और इसकी व्याख्या 'न मनसिक्रियते इति अमनसिकार' इस प्रकार कहते है।[४१] सरहपा भी इस मन को 'अमन' करने का उपदेश देते है और सहज स्वभाव मे स्थित करने का उपदेश देते है।[४२]

किन्तु यह अमनस्कार की साधना केवल निषेधात्मक साधना नही थी। इसके बाद साधक विरक्त नही होता था। वह फिर भी विपयो मे रमता था, समस्त कार्यों मे भाग लेता था किन्तु विशुद्ध मन से। इसके लिये वे प्रख्यात परम्परागत जल और कमल की उपमा देते थे। सरहपा कहते है कि विषयो में रमण करते हुए भी विषयो में लिप्त न हो जैसे उत्पल जलतरगो पर विकसित होता है किन्तु जल से निर्लिप्त रहता है।[४३]

वास्तव मे सिद्धो के मार्ग मे कही भी मन की वृत्तियो को सर्वथा निर्मूल कर वैराग्ययुक्त निवृत्तिमय साधना का उपदेश नही है। वे जीवन को ज्यो का त्यो स्वीकार करना चाहते थे और राग का शुद्ध रूप पहचानने का आग्रह करते थे। इसीलिये उन्होने सासारिक राग का तो परित्याग करने का उपदेश दिया ही है किन्तु निवृत्तिमूलक, निपेधात्मक, निराशावादी विराग को भी वन्धन का कारण वताकर उसके भी परित्याग का उपदेश दिया है।[४४] इस प्रकार सासारिक राग का[४५]

राग और महाराग

परित्याग कर और विराग का भी परित्याग कर उस राग का स्वरूप पहचानना चाहिये जो मोक्ष का कारण है। वह राग उस तरुणी महामुद्रा ज्ञानरूपी प्रज्ञा के प्रति स्नेह के रूप मे है, उसके विना इस जन्म मे तो वोधि की उपलब्धि नही हो सकती और न वोधिचित्त की साधना हो सकती है।[४६] क्योकि वोधिचित्त तो शून्यता और करुणा के अद्वय से सिद्ध होता है और राग ही करुणा है।[४७] यदि राग नही रहा तो केवल शून्यताज्ञान कुछ नही कर सकता। सवोधि का वास्तविक लक्षण तो महाराग ही है।[४८] राग करुणा का प्रतीक होने से वज्र है, उपाय है और महामुद्रा की साधना उसके विना सम्पन्न नही हो सकती।[४९] चूंकि राग करुणा का प्रतीक है और शून्यता से सग करने के लिये उन्मुख है अत उसे वज्र राग कहा गया है।[५०] जो वज्र स्वभाव धारण कर लेता है, उसे यही वज्र राग (महामुद्रा के प्रति अनुरक्त होने से महाराग) वन्धन से मुक्त कर देता है, यद्यपि यही राग सासारिक वुद्धि से ग्रहण किये जाने पर वन्धन का कारण होता है। इस प्रकार राग को सिद्धो ने राग द्वारा ही परिशमित करने का प्रयास किया था। यही उनके जीवन-दर्शन की मूल भित्ति थी।[५१]

किन्तु इस महारागयुक्त सहज-वोधि का समुत्पाद गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान के विना असम्भव है। इसीलिये सिद्धो की साधना पद्धति मे समस्त तान्त्रिक पद्धतियो की ही भाँति गुरु का अद्भुत महत्व है। गुरु के प्रति

गुरु

अपनी अटल भक्ति का प्रमाण सिद्धो ने कई प्रकार से दिया है। तिलोपा कहते है कि समस्त लोक तथा पडितो के लिये भी परमतत्व अगम अगोचर है। किन्तु गुरु के प्रसन्न होने पर कौन ऐसी वस्तु है जो अगम रह जाय।[५२] आगमन तथा निगमन से रहित 'तथता' केवल गुरु के ही उपदेश से हृदय मे प्रविष्ट हो सकती है।[५३]

सरहपा भी सद्गुरु के वचनो से ही परम गुह्य सत्य का स्फुट रूप से प्रतिभासित होना मानते है।[५४] वह परम तत्व इस प्रकार नही दीख पडता किन्तु केवल एक गुरु ऐसे है जो उसे प्रदर्शित कराते है।[५५] साधक तो मूर्ख वालक के समान है जो जगतप्रवाह मे वहता चला जा रहा है किन्तु यदि गुरु के वचन हृदय मे प्रवेश कर जाय तो निश्चित रूप से साधक को इष्ट हस्तगत हो जाता है।[५६] जहाँ इन्द्रियाँ अपना धर्म छोड कर प्रज्ञोपाय मे विलयित हो जाती है उस सहज तनु, उस महासुखकाया का भेद गुरु से पूछ कर स्पष्ट जाना जा

सकता है।[५७] केवल गुरु के वचनो से ही सत्य पर प्रत्यक्ष किया जा सकता है।[५८] यही नही साधना पद्धति मे भी गुरु की सहायता अनिवार्य है। गुरु द्वारा प्रदत्त बोध से ही चित्त का निरोध और पवन का श्वास निरोध होता है।[५९] गुरु के उपदेश से ही साधक अजर और अमर हो जाता है।[६०] विरले ही यह भेद जानते है कि गुरु के उपदेशो से ही पुण्यो की प्राप्ति होती है।[६१] वास्तव मे सद्‌गुरु के वचन तो भवसागर के पार उतारने वाली नौका के पतवार है जिन्हे धारण कर साधना प्रारम्भ की जाती है।[६२]

शवरपा अपनी रूपक शैली मे गुरु के वचनों को धनुष मानते हैं जिस पर उन्होने अपने बोधिचित्त रूपी बाण का सन्धान कर एक ही बार मे भव और निर्वाण दोनो को बेध दिया है।[६३] लुईपा भी समस्त ज्ञान की गुरु से ही प्राप्ति बताते है।[६४] कारहपा भी वज्ररूपी कुठार से भवरूपी वृक्ष का उन्मूलन करने का पक्ष लेते है।[६५]

सिद्धो के उपरोक्त कथनो का विश्लेषण करने पर हम पाते है कि गुरु के महत्व के निम्नलिखित कारण है ·

क गुरु जगतप्रवाह मे बहते साधक को निरुद्ध कर लेता है।

ख जो तत्व शिष्य अपनी अज्ञानता के कारण नही कर पाता वह गुरु की प्रसन्नता से सहज मे ही प्राप्त हो जाता है।

ग साधना मे गुरु के वचन पतवार के समान रहते है। वह शिष्य की साधना की निर्देशन करता रहता है।

इन्ही कारणो से सिद्धो ने गुरु का नाम सदैव बडे आदर से लिया है। 'वरगुरुपाद'[६६] या 'श्री गुरुनाथ'[६७] का प्रयोग तो मिलता ही है, सरहपा एक स्थान पर गुरु को तथागत वज्रधर बताते है।[६८] अत शिष्य को उनके चरणो की आराधना करनी चाहिये[६९] और उनके प्रति अटल भक्ति रखनी चाहिये। गुरु के सामने मुग्ध बालक की भाँति सरल चित्त से रहना चाहिये तभी सहज, उल्लास की अनुभूति होती है।[७०]

सिद्धो मे गुरु के प्रति यह अटल भक्ति तान्त्रिक होने ही के नाते थी, बौद्ध होने के नाते नही। क्योकि बौद्धो मे सघ को महत्व दिया गया था। गुरु को इतना महत्व नही मिला था। कहा जाता है कि एक बार बुद्ध से किसी ने पूछा

कि आपका गुरु कौन है तो उन्होने उत्तर दिया था 'मैंने सबको पराभूत कर लिया है, मै सर्वविद् हूँ, सब धर्मों में निर्लिप्त हूँ, सब का मैंने परित्याग किया है, मेरी समस्त तृष्णाओ का क्षय हो चुका है। किन्तु यह सब मेरे निजी अभिज्ञान का फल है, इसमे किसी के उपदेश का क्या। मेरा गुरु कौन है ?'[७१]

किन्तु ज्यो-ज्यो महायानी परम्परा मे बौद्ध धर्म तर्कशीलता छोड कर साधना और अनुभूति-परक होता गया त्यो-त्यो बौद्ध धर्म मे गुरु का महत्व बढता गया। समस्त तान्त्रिक साधनाओ मे गुरु का विशेष महत्व है क्योकि तन्त्र, योग तथा अनुष्ठानो को विशेष महत्व देते है। ये योग और अनुष्ठान दुरूह तथा अगम्य है और अज्ञानी व्यक्ति इनकी साधना नही कर सकता। साधना की इस दुरूहता के अतिरिक्त गुरु की महत्ता मे इस अद्भुत वृद्धि का एक दूसरा रहस्य भी है। तन्त्र-सम्प्रदाय नये सम्प्रदाय थे और उनके प्रवर्तक अधिकाश या तो अब्राह्मण थे या ऐसे ब्राह्मण जो कर्मकाण्डी वैदिक ब्राह्मणो द्वारा हेय समझे जाते थे। अत अपनी स्थिति सुदृढ बनाने के लिये और अपने प्रतिद्वन्दी वैदिक ब्राह्मण आचार्यों को पराजित करने के लिये उन्होने अपने सम्प्रदाय और अपने शिष्यो का समुचित सगठन करना चाहा होगा जो गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा के बिना असम्भव है। यह प्रतिद्वन्द्विता कभी-कभी जातीय और कभी-कभी स्थानीय आधार पर चलती होगी। यही कारण है कि तन्त्र कई क्रान्ताओ[७२] मे विभाजित थे और कही-कही तन्त्रो में इस प्रकार के भी निर्णय मिलते है कि कहाँ के गुरु श्रेष्ठ होते है।[७३] उस प्रदेश के अतिरिक्त प्रदेशो के गुरु द्वितीय अथवा तृतीय श्रेणी के बताए गए है।

बौद्धो मे ज्यो-ज्यो तान्त्रिक प्रवृत्तियो का प्रवेश होता गया त्यो-त्यो गुरुओ का महत्व बढता गया। साधना की प्रमुखता के साथ-साथ साधना के निर्देशक गुरु का महत्व बढना स्वाभाविक है। अनगवज्र ने तो गुरु की महत्ता का कारण ही यह बताया है कि वे साम्नाय होते थे अर्थात् विभिन्न आम्नायो का भेद जानते थे और अपने आम्नाय मे शिष्य को दीक्षित कर वे उसे निर्वाण और भव दोनो से विमुक्त कर प्रज्ञोपायात्मक सहज सुख मे प्रतिष्ठित कर देते थे। वसुधातल पर यह तत्व केवल गुरु जानता है। अत सिद्धि के लिये उसकी उपासना करनी आवश्यक है।[७४] इसलिये तत्व-रत्न वही प्राप्त करते है जो आम्नाय मे दीक्षित होकर वज्राचार्यो की उपासना करते है।[७५] गुह्य-समाज-तन्त्र मे तो प्रत्येक तथागत का भी एक वज्राचार्य बताया गया है और वे तथागत उसकी पूजा करते है।[७६]

क्योकि तथागत तो केवल बुद्ध है जब कि गुरु बुद्ध भी है, सघ भी है, धर्म भी है।[७७] इसीलिये आर्यदेव ने उसकी छाया का उल्लंघन भी वर्जित ठहराया है।[७८] ऐसे गुरु के प्रति श्रद्धा आवश्यक है क्योकि जैसे जलमणि मलिन जल को भी स्वच्छ कर देती है उसी प्रकार गुरु के प्रति श्रद्धा-रूपी मणि भी चित्त को विशुद्ध कर देती है।[७९] इस प्रकार यह चित्त-विशुद्धि बिना गुरु के असम्भव है और इसीलिये गुरु का इतना महत्व है।

किन्तु इसके साथ ही साथ सिद्ध स्पष्ट सकेत करते है कि गुरु वही होना चाहिये जो सहज साधना मे निष्णात हो या अनगवज्र के शब्दो मे प्रज्ञोपायोपदेशक हो, अन्यथा गुरु और शिष्य दोनो की वैसी परिस्थिति होगी जैसे अन्धा अन्धे को खीचता है और दोनो कूप मे जा गिरते है।[८०]

शिष्यो अथवा साधको की विभिन्न अवस्थाएँ बताई गई है और उन्ही के अनुसार साधनाओ का विधान गुरु करता था इसकी ओर हम पहले सकेत कर चुके है। इस विभिन्न क्रमिक अवस्थाओ की ओर पूरी तान्त्रिक बाह्य अनुष्ठान परपरा का ध्यान था। वैष्णव सहिताओ मे ही पूरी साधना पद्धति को चार पादो या चरणो में विभाजित किया गया था, ज्ञान, योग, क्रिया तथा चर्या। वज्रयान मे कुछ क्रमान्तर से ये ही चारो पद्धतियाँ मिलती है और उन्ही के आधार पर वज्रयान की प्रमुख शाखाएँ परिकल्पित की गई है।[८१]

हिन्दी के कुछ विद्वानो का यह विचार है कि 'सिद्धो ने इस समस्त क्रिया और चर्यासाधना के मन्त्र, तन्त्र, देवपूजा आदि का प्रबल विरोध कर केवल सहज जीवन-पद्धति पर विशेष आग्रह किया। सिद्ध समस्त बाह्य अनुष्ठानो मे एकदम विश्वास नही करते थे और किसी प्रकार की पूजा अर्चा मे विश्वास नही करते थे।[८२] कुछ विद्वान सहजयान की परवर्ती अवस्था मे उसमे तन्त्र-मन्त्र का प्रवेश मानते है और सरहपा को इन सभी 'पाखण्डो' का विरोधी मानते है।[८३] उनके इस मत का आधार दोहाकोष मे स्थान-स्थान पर की गई मन्त्र-तन्त्र, देवता, पूजा आदि की कठोर आलोचना है जो सरहपा, तिलोपा तथा काण्हपा में एक समान मिलती है।[८४] किन्तु उस समय सिद्धो की साम्प्रदायिक परिस्थिति और तान्त्रिक सम्प्रदायो की अतान्त्रिक सम्प्रदायो और एक तान्त्रिक सम्प्रदाय की दूसरे तान्त्रिक सम्प्रदायो से जो द्विविध प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी उसकी पृष्ठभूमि मे देखने से

यह आलोचना सिद्धान्तत सभी देवताओ, मन्त्रो, मण्डल-चक्रो और तन्त्रो की आलोचना न होकर अपने देवता, मत्र, मण्डल-चक्र और तन्त्रो को उचित प्रमाणित करने के लिये दूसरे सम्प्रदायो के देवता, मन्त्र, मण्डल-चक्र और तन्त्रो की आलोचना सिद्ध होती है,[८५] जिस पर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे।

इसका एक पहलू और है। सिद्धो की पद्धति प्रज्ञोपाय योग की पद्धति थी अत वे वाह्य पद्धतियो के बौद्ध रूप को बहुत सीमा तक स्वीकार करते हुए भी अन्तर्साधना या चित्त साधना पर विशेष बल देते थे। इसीलिये उन्होने तत्वज्ञान के विना की जाने वाली क्रिया और चर्या को निष्फल ठहराया है।[८६] किन्तु इस का सर्वथा निषेध-परक अर्थ नही लिया जा सकता क्योकि न केवल सिद्ध वरन् अन्य तान्त्रिक आचार्यो ने भी साकेतिक अर्थ से विहीन अपनी पद्धति के अनुष्ठानो का भी उतना ही विरोध किया है जितना अन्य सम्प्रदायो के अनुष्ठानो का। तन्त्रो मे एक स्थान पर कहा गया है कि यदि केवल मद्यपान से मुक्ति मिल जाती तो सभी मद्यपी मुक्त हो जाते। यदि केवल स्त्री-सग से मुक्ति मिलती तो ससार मे कौन है जो मुक्ति से बच जाता। तन्त्रो का पथ इतना सरल नही है। खड्गधार पर चलने के समान है।[८७]

जब वे अनुष्ठानो का विरोध करते तव उनका तात्पर्य प्रज्ञोपाय की चेतना से रहित 'वाह्य' अनुष्ठानो से था क्योकि प्रज्ञोपाययुक्त नैरात्म-स्वभाव के अनुष्ठान तो वाह्य रहे ही नही। यह तर्क हमे सरहपा के दोहाकोष की अद्वयवज्र द्वारा की गई टीका मे कई जगह मिलता है। अद्वयवज्र ने ही अपने ग्रन्थो मे अन्यत्र इन बाह्य अनुष्ठानो के पक्ष मे काफी तर्क दिये है। एक स्थान पर उन्होने लिखा है कि यद्यपि अन्ततोगत्वा शुभ तथा अशुभ मे कोई अन्तर नही, फिर भी शुभ अनुष्ठान सुखद ही होते है जैसे जल मे विम्बित चन्द्र सुखद ही होता है, दुखद नही। अन्य स्थान पर उन्मत्त व्रती के लिये भी उन्होने आदि कर्मो का विधान किया है और यदि कोई यह तर्क दे कि ससार नश्वर है, वाह्य अनुष्ठान व्यर्थ है तो उसका यह तर्क नास्तिक चार्वाक मत के अन्तर्गत आयेगा, वज्रयान के अन्तर्गत नही।[८८]

किन्तु इसके विरुद्ध यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि सभव है सरहपा का यह तर्क न रहा हो, यह तर्क टीकाकार का है जो सरहपा के वाद हुआ जब सहजयान मे मन्त्र-तन्त्र फिर अपना लिये गये हो।[८९] किन्तु हमे कई स्थानो पर सरहपा के ही दोहो मे वाह्य अनुष्ठानो का सकेत मिलता है और वाह्य प्रमाण

तो इस बात के यथेष्ठ मिलते हैं कि सरहपा तथा सिद्धो की पूरी परम्परा मन्त्र-तन्त्र मे निष्णात थी। पहले हम बाह्य प्रमाणो पर विचार करेंगे।

पच तथागत तथा उनके पांच कुलो से उद्भूत अगणित बौद्ध देवी देवताओ के पूजन आदि की विधियो के कुछ सग्रह साधनमाला मे हैं। उनमे से बहुत-सी साधनाएँ ऐसी हैं जिनके सिद्धो के द्वारा रचित होने का उल्लेख मिलता है। यदि हम उनमे से उन सिद्धो का गणना न भी करें जिनकी रचनाएँ दोहा-कोप और चर्यापद मे नही मिलती हैं तो भी कई महत्वपूर्ण सिद्ध हैं जिनकी साधानाएँ उस सग्रह मे प्राप्य हैं।

स्वत सरहपा के नाम की दो साधनाएँ 'त्रैलोक्यवशकर लोकेश्वर' के प्रति मिलती है। उनमे से पहली तो उनके द्वारा रचित बताई गई है[६०] और दूसरी उनके द्वारा ओड्डियान क्रम मे अवतरित बताई गई है।[६१] ये साधनाएँ वास्तव मे सरहपा द्वारा ही रचित है, इसका कोई प्रमाण नही मिलता लेकिन यह साधना सरहपा ही के नाम की हैं इसका कोई कारण तो होगा ही।

शवरपा कृत सित कुरुकुल्ला साधना[६२] प्राप्त होती है जिसमे सिद्ध शवरपा का एक दाहा भी प्राप्त है।[६३] इसी प्रकार विरुपाक्ष कृत एक साधना महाकाल के प्रति मिलती है[६४] कुक्कुरीपा महामाया साधन[६५] के लेखक है और तिब्वती अनुश्रुतियो के अनुसार वे महामाया तन्त्र के प्रवर्तक भी थे। इसी प्रकार कृष्ण-पाद द्वारा कृत कुरुकुल्ला साधना प्राप्त है जिसमे सर्पों के विष-मोचन का भी साधन बताया गया है।[६६] कोकणपा की एक साधना में शव पर आसीन होकर मन्त्र जाप का विस्तृत विधान मिलता है।[६७] यदि हम इन साधनाओ को इन सिद्धो द्वारा रचित न भी मानें तो ये उनके आम्नाय से सम्बन्धित थी इसमे सदेह नही किया जा सकता।

बाह्य अनुष्ठानो की दृष्टि से अगर हम इन साधनाओ का परीक्षण करें तो क्या है जो हमें इन साधनाओ मे नही मिलता है। देवी देवताओ के भयोत्पादक विचित्र रूप, वेशभूपा, वाहन, मुद्राए और विन्यास, पूजा का समय-निर्णय, तान्त्रिक चक्र रेखाएँ और मन्त्र, धूपदीप, नैवेद्य, होम, मन्त्र जाप, तन्त्र, मुद्रा, शव और कपाल साधनाए जादू टोना, छोटे-छोटे चमत्कार, और पटकर्म सभी का उल्लेख इन साधनाओ मे है।

अब हम आन्तरिक प्रमाणो पर विचार करेंगे। जहाँ तक पच तथागत और उनकी पूजा का उल्लेख है हम देख चुके है कि दोहो मे 'बुद्ध आराहिअ

अविअल चिते' ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[९८] इन पच तथागत, उनकी शक्तियो और कुलो की समस्त कल्पना सिद्धो को मान्य थी और वे इनके अतिरिक्त अन्य देवताओ का निषेध करते थे। दोहो की टीका मे अष्ट-सहस्त्रिका का वह आदेश उद्धृत किया गया है जिसमे अन्य देवताओ को धूपदीप पुष्प देने का निषेध है और केवल बुद्ध की पूजा का विधान है।[९९] अगले दोहो की टीका मे तथागत को अद्वय प्रज्ञोपायात्मक ज्ञान का रूप बताया गया है।[१००] किन्तु अद्वय की स्थिति सिद्धाम्नाय मे धुनन कम्पन आदि क्रियाओ मे भी मानते थे। ऐसा हम सरहपा की साधना मे देख चुके है। शवरपा की साधना मे वर्णित ववीजाक्षर का सिद्धो के दोहो मे स्पष्ट उल्लेख है। एवकार को बीज बताते है जिसे ग्रहण कर सुरत वीर साधक कुसुमित अरविन्द ऊष्णीप कमल मे मधुकर रूप से प्रवेश कर मकरन्द सहजानन्द का पान करता है।[१०१] इस एवकार को जो जान लेता है वह सकल अशेष को जान लेता है।[१०२] इस 'एव' को हेवज्र तन्त्र मे प्रज्ञोपाय, युगनद्ध, अद्वय का अक्षर प्रतीक माना गया है, एकार के मध्य जो वकार प्रतिष्ठित है वह सर्वसुखो का आलय है।[१०३] क्योंकि यह एमाता, प्रज्ञा, कमल, भगवती है और व पिता, उपाय, करुणा, कुलिश और भगवान है।[१०४] एव रूपी बीज को ग्रहण करने के अर्थ ही है कि योग के समय इन दोनो अक्षरो पर ध्यान केन्द्रित कर या उनका जप करते हुए पवन का निरोध करना चाहिये। योग-साधना मे सभी सम्प्रदायो मे इन तन्त्राक्षरो का विशेप महत्व रहा है और प्रत्येक चक्र की पखुडियो पर ये तन्त्राक्षर स्थापित किये गये थे। दोहो मे भी हमे अवधूती पर ह अक्षर की स्थापना मिलती है।[१०५]

यद्यपि इन अक्षरो के मन्त्र रूप जप करने मे कई सिद्धियाँ बताई गई है किन्तु यह अच्छी तरह ध्यान रखना चाहिये कि केवल योग मे चित्त वृत्ति को दृढ रखने तथा शून्यता ज्ञान और वज्रस्वभाव से समन्वित वोधिचित्त का समुत्पाद करने के लिए ही इनका जप सार्थक है। ये मन्त्रादि स्वत प्रमुख साधन नही है। ये योग के सहायक साधन है। इस प्रकार के वाह्य अनुष्ठानो से आन्तरिक साधना मे सहायता लेने की परम्परा योगाचार से ही चली आ रही है। योगाचार मे श्वास प्रक्रिया के समय अर्हन् शब्द के जाप का महत्व था क्योंकि अर्हन् त्रिरत्न का प्रतीक था। अ धर्म का, र बुद्ध का और हन् सघ का। इस प्रकार के बीजाक्षरो को वे 'सद्द गहन' कहते थे।[१०६] इन अक्षरो को मन मे धारण करके वे विस्तार का ध्यान करते थे अर्थात् मूलाधार से हृदय तक के आन्तरिक विस्तार

का, जिनमे चक्र स्थित है।[१०७] फिर इस ध्यान को और भी केन्द्रित करने के लिये वे मोम समिधाओ का उपयोग करते थे। एक समिधा मोम मे गाड कर जला दी जाती थी। जब एक मोम समिधा जलती होती थी तब तक वे ध्यान करते जाते थे और एक समिधा के बुझते ही उनके मन मे प्रथम महाभूत का उदय होता था। इस प्रकार ५ समिधाओ के बाद पाँचो भूत उदित होते थे और पचविध सुख की प्राप्ति होती थी।[१०८] मोमदीपो की ही भाँति, पृथ्वी कपिण, आपो कपिण, अग्नि कपिण, वायु कपिण, सभी कपिणो का समवेत प्रबन्ध, नील, पीत, रक्त, श्वेत कपिण, क्षिति कपिण और ज्योति कपिण का प्रयोग होता था। अत आन्तरिक साधनाओ पर विशेष ध्यान रखते हुए भी बाह्य अनुष्ठानो का प्रयोग सिद्धो को विज्ञानवादी परम्परा से ही प्राप्त हुआ था, इसी कारण वे क्रियाचर्यादि के उस रूप का बहिष्कार करते थे जो केवल बाह्य अनुष्ठानात्मक हो और आन्तरिक साधनाओ का सहायक न हो।

इस प्रकार सिद्धो ने क्रिया और चर्या का आन्तरिक साधनाओ से अभेद स्थापित कर दिया था। चर्या का तो एक विशेष अर्थ सिद्ध-सम्बन्धी अनुश्रुतियो मे प्राप्त होता है। कहा यह जाता है कि इन सिद्धो की दैनिक चर्या सम्भवत उनकी जीविका या उस जाति की जीविका से सम्बद्ध होती थी जिससे कि वे आये है। अनुमान किया गया है कि लुईपा मछली पकडते थे, तैलोपा तिलो से तेल निकालते थे।[१०९] तन्तिपा जुलाहे थे। सिद्ध होने के उपरान्त भी इन्होने अपनी चर्या नही छोडी केवल उसका आध्यात्म-परक अर्थ दे दिया। शून्यताज्ञान की प्राप्ति को किस प्रकार रुई धुनने के रूपक मे व्यक्त किया गया है यह हम देख चुके है।[११०] कौन जानता है कि जैसे कबीर करघे पर बैठ कर ताना बाना बुनते हुए 'झीनी झीनी बीनी रे चदरिया' के रूपक से आत्म-ज्ञान का उपदेश देते थे, वैसे ही ये सिद्ध भी अपनी-अपनी दिनचर्याओ को नैरात्म्य-ज्ञान का अनुष्ठान बना चुके हो।[१११]

चर्या या जीविका वृत्ति

वास्तव में इसके पीछे वही सामाजिक परिस्थिति, जातिगत सघर्ष रहा होगा जिसमे वे ब्राह्मण को निम्न-वर्ग के श्रमिको की वृत्ति अपना चुके थे, उन ब्राह्मणो द्वारा तिरस्कृत किये जा रहे थे जो केवल कर्मकाण्ड पर निर्भर थे। इन नयी वृत्तियो वाले ब्राह्मणो तथा उनके साथ अन्य नई श्रमिक जातियो ने नये तान्त्रिक सम्प्रदाय अपनाये।[११२] और उनके नये प्रकार के अध्यात्म मे आन्त-

रिक और बाह्य, दिव्य और भौतिक तथा साधना और श्रम मे एक समन्वय मिलता है। वे अपने श्रम को भी सम्मान की दृष्टि से देखते होगे और अनुदार कर्मकाडी ब्राह्मणो को समुचित उत्तर देने के लिये उस श्रम की भी आध्यात्मापरक व्याख्या करते रहे होगे।

श्रम को एक लय और गठन देने के लिये सगीत का सदैव विशेष महत्व रहा है। इन बाह्य अनुष्ठानो के साथ-साथ गीत का विधान बराबर योगाचार मे भी मिलता है। झाण (ध्यान) की एकाग्रता के लिये साधक को महामैत्री-गीतिका का गान करना चाहिये।[११३] सिद्धो की साधना मे भी उनको गीतिकाएँ कहते है। कुक्कुरीपाद के महामाया साधन मे एह वज्रगीति का उल्लेख है जो नृत्य के साथ साधना मे गाई जानी चाहिये।[११४] इसी प्रकार किया-समुच्चय मे वज्राचार्य द्वारा प्रगीत एक महासमय गीतिका दी गई है जिसमे ५ दोहे है और पाँचो द्वारा नैरात्म्य-योगिनी, लोचना, मामाची, पाण्डुरा तथा तारा के आह्वान का विधान है।[११५] इन वज्रगीतिकाओ मे चर्या तथा बाह्य अनुष्ठानो के आन्तरिक आध्यात्मिक अर्थों की व्याख्या रहती थी अत चर्यादिक मे इन गीतियो और पदो के गाने का विधान था।[११६]

इस प्रकार ये बाह्य अनुष्ठान और आन्तरिक साधनाएँ इतनी घुलमिल गई थी कि यह कह सकना असम्भव है कि यह विशुद्ध बाह्य अनुष्ठान है और यह शुद्ध आन्तरिक योग-पद्धति। किन्तु एक अनुष्ठान का उल्लेख सरहपा के दोहो मे मिलता है जो बोधिचित्त समुत्पाद और साधक को इस गुह्य मार्ग मे दीक्षित करने की विधि रूप मे सम्पन्न होता था। वह है कुदृष्टि-निर्घात। सरहपा मूर्ख साधक को चित्त द्वारा चित्त का निरीक्षण करने उपदेश देते हुए समस्त कुदृष्टि का त्याग करने का उपदेश देते है।[११७] सेकोद्देश टीका मे नडपाद ने भी सरहपाद की एक उक्ति उद्धृत की है जिसमे सरहपा दृष्टि के निरोध का उपदेश देते है।[११८] इन कुदृष्टि के परित्याग और निरोध के साथ कौन से बाह्य अनुष्ठान थे और गुरु उनका निर्देशन किस प्रकार करता था इसका विस्तृत विवरण अद्वयवज्रपाद की कुदृष्टि-निर्घात नामक छोटी सी कृति मे मिलता है।[११९]

कुदृष्टि-निर्घात

कुदृष्टि-निर्घात साधना के विस्तार में न जाकर इतना ही जान लेना यथेष्ठ होगा कि मन्त्र, देवताराधन आदि से समन्वित यह अनुष्ठान-चर्या आदि-

कर्म के नाम से पुकारी जाती थी और इस आदि-कर्म का विधान साधना की प्रारम्भिक अवस्था मे था।

आदि-कर्म द्वारा शुद्ध दृष्टि प्राप्त कर लेने के बाद दीक्षा प्राप्त साधक को गुरु यह बताता है कि यह सब बाह्य अनुष्ठान तो चित्त के निरोध से तुम शरीर के ही अन्दर कर सकते हो क्योकि देह मे बुद्ध का वास है पर अज्ञानी उसे नही जानता है। इसी को सरहपा योगिनी के दृष्टान्त से समझाते हुए कहते है कि जैसे कोई योगिनी घर मे प्रियतम के होते हुए भी ग्राम मे जाकर पूछती फिरे कि प्रिय कहाँ गये उसी प्रकार अज्ञानी साधक है जो देह मे भगवती नैरात्मा तथा तथागत दोनो, का वास होते हुए भी ससार भर मे बाह्य अनुष्ठानो के माध्यम से उन्हे खोजता फिरता है।[१२०]

देह का महत्व

सरहपा इसीलिये कहते है कि पडितगण समस्त शास्त्रो का बखान करते है किन्तु इसी देह मे बुद्ध का वास है और पच तथागत अपनी शक्तियो से युक्त इसी मे निवास करते है इस भेद से कोई अवगत नही है।[१२१] चर्यापदो मे भी कृष्णाचार्य इसी देह रूपी नगरी मे कपाली योगी द्वारा एकाकार होकर विहार करने का वर्णन करते है।[१२२] दूसरे पद मे वे काया रूपी नौका मे पच तथागतो को डाड बनाकर मायाजाल को पार करने का व्रत लेते है।[१२३] सरहपा भी अपने एक पद मे काया रूपी नौका का कर्णधार मन को प्रज्ञोपायज्ञान से विशुद्ध बताते है।[१२४] वास्तव मे सरहपा ने काया के महत्व को सबसे सुन्दर रूप मे प्रस्तुत किया है। अपने दोहो मे वे कहते है—'यही देह सुरसरि है, यमुना है, यही गगासागर, यही प्रयाग वाराणसी, चन्द्र दिवाकर, धर्मक्षेत्र, पीठ, उपपीठ सभी यही है। मूर्ख ! तू कहाँ-कहाँ घूमता फिरता है। देह के समान सुख प्रदान करने वाला तीर्थ और कही नही है।[१२५] इसकी व्याख्या करते हुये अद्वयवज्र लिखते है कि यह तन यमुना है, क्योकि यमुना गहरी है, उसका पाट चौडा है, उसमे सभी प्रकार की नौकाएँ आ जा सकती है अत सभी प्रकार के यानो (साधना पद्धतियो) को आश्रय देने वाला यह शरीर जमुना है। यह गंगा है, क्योकि यह समस्त समाधि रूपी सागरो मे निमग्न होता है। प्रयाग है क्योकि जैसे प्रयाग मे सगम है उसी प्रकार इस तन मे कमल और कुलिश का सगम होता है। यह वाराणसी भी है क्योकि जैसे वाराणसी मे जल की धारा को न केवल गगा कह सकते है

क्योकि उसमे जमुना का अश है और न उसे गंगा-यमुना का अद्वय ही कह सकते, वह गगा ही कहलाती है, उसी प्रकार इस तन मे निहित तत्व भी भाव और अभाव, भव निर्वाण दोनो से ही परे हैं इसी मे चन्द्र दिवाकर का भी वास है है। उसमे ये पुराने परम्परागत तीर्थ ही नही बुद्ध-क्षेत्र और सहज सिद्धी के पीठ आदि भी हैं। ये धर्म-महासुखपीठ है। ऐसे अद्भुत तीर्थ को छोड़कर वाह्य तीर्थों मे भ्रमण करने से क्या लाभ है।[१२६]

देह को समस्त तीर्थो, क्षेत्रो तथा पीठो का आलय मानने की भावना सभी तान्त्रिक सम्प्रदायो और योगमार्गो मे प्रचलित थी। कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और ओडियान इन पाँचो प्रख्यात तन्त्र पीठो का स्थान इस शरीर मे ही वताया गया है (योगसार)।[१२७]

अत यह देह का महत्व केवल शुद्ध भौतिक दृष्टिकोण से प्रतिपादित नही किया गया था। इसके पीछे एक गूढ आध्यात्मिक रहस्य था। इसलिये हेवज्र तन्त्र मे महासुख को देह मे स्थित बताया है किन्तु 'देहज' नही।[१२८] प्रज्ञोपायात्मक ज्ञान के जब साधक अपनी देह को भी तथागत के स्वभाव का जान लेता है तब यही देह धर्मकाया हो जाती है।

जो पाँच डालो वाली तरुवर रूपी विनाशमान काया हैं उसे साधक धर्मकाया के रूप मे परिलक्षित करने लगता है। उस समय वह काया मे रखते हुए भी काया से भिन्न रहता है। यदि काया से सयुक्त हुआ, उसमे लिप्त हुआ तो उसको ज्ञान नही प्राप्त होता।[१२९] किन्तु यदि वह अपनी काया मे वास करने वाले अशरीरी बुद्ध को जान लेता है, बुद्धकाया को जान लेता हैं तो वही ज्ञानवान व्यक्ति 'कायस्थ' कहलाता है।[१३०] वह पवन रूपी काल का निरोध कर चन्द्र दिवाकर का सगम कर अजरामर शरीर प्राप्त कर लेता है और उसी को सिद्ध कहते हैं।[१३१] इसी शरीर मे स्थित मेरुदण्ड के सहारे पवन के निरोध से बोधिचित्त ऊर्ध्वगामी होता है। चारो चक्रो को भेद कर नाडियो मे से होता हुआ प्रज्ञा-कमल से सगम करता है तभी रस (अमृत) की वर्षा होती है। यही कमल-कुलिश योग है जिस पर अब हम विचार करेंगे।

ग

साधना-पद्धति (२)

लगभग सभी तान्त्रिक और योग साधना-पद्धतियो की भॉति सिद्धो की साधना-पद्धति मे भी समस्त सृष्टितत्व और उसके मूल मे व्याप्त सिद्धान्तो का और उनके सापेक्ष संबधो का साक्षात्कार अपनी देह मे ही करने का उपदेश मिलता है। कैसे समस्त सृष्टि पच-महाभूतो से निर्मित हुई और उनके सम्मिलन का मूल आधार प्रज्ञा और उपाय तथा उनका मिलन है, इस पर हम विचार कर चुके है। सिद्ध भी उन पच महाभूतो और उनके सृष्टि-रूप मे गठन के मूल आधार प्रज्ञोपाय अद्वय की अनुभूति अपने ही अन्दर करने का उपदेश देते है क्योकि वे समस्त वाह्य सृष्टि की उत्पत्ति चित्त की परिकल्पना से ही मानते हैं। अत ज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र साधन यह है कि ध्यान एकाग्र कर अपने ही अन्दर उन पच महाभूतो और प्रज्ञा तथा उपाय का साक्षात्कार किया जाय, तभी वह ससार के धर्म और पुद्गल-नैरात्म्य का दर्शन कर, वज्रज्ञान प्राप्त कर सिद्ध वन सकेगा

पचमहाभूत ।चत्त मे

इस साधना की ओर काण्हपा ने अपने दोहो मे सकेत किया है। वे कहते है कि पृथ्वी, आप, तेज, समीर तथा गगन इन पाँचो तत्वो को वीज-रूप मे ग्रहण करना चाहिए। इन्ही पाँचो से यह शरीर वनता है और इसी से समस्त सुरासुर उत्पन्न होते है।[१] किन्तु इसका बीज वास्तव मे वोधिचित्त का सुख स्वभाव है जो रज से भूषित अक्षोभ्य वैरोचन रूप मे स्थित है। जब महासुख रूपी गगन नीर अभिताभ-रूपी तक का सृजन कर देता है तव यह वज्र रूपी सुख-स्वभाव अवधूती रूपी मूल नाल पर चतुर्शून्य रूपी कमल के रूप मे खिलता है। किन्तु इन सवो की 'णिअ देहहि दिट्ठओ' अर्थात अपनी देह मे ही देखना चाहिए।[२]

इसका साक्षात्कार अपनी देह मे अपने ही चित्त के अन्तर्गत प्राप्त करने की प्रणाली काण्हपा इस प्रकार बताते है कि पहले साधक को प्रज्ञोपाय की एकता पर ध्यान करना चाहिये। इसके लिये उसे 'एव' बीजाक्षर को केन्द्र बनाना चाहिये।[3] एव का अर्थ प्रज्ञा और उपाय या कमल और कुलिश, या पदम् और वज्र है।[4] इस ध्यान मे एव के प्रज्ञोपाय युगनद्ध से सहज-ज्ञान की उत्पत्ति होती है,[5] जो बिन्दु रूप मे होता है और ऊर्ध्वगामी होता है।

इस 'एव' युगनद्ध से चित्त मे ही पच महाभूतो की उत्पत्ति होती है इसका उल्लेख टीकाकार ने हेवज्र तन्त्र के उद्धरण से स्पष्ट किया है।[6] उसमे प्रज्ञा तथा उपाय को कक्कोल और बोल कहा गया है। यह नाम हमे और भी कई स्थानो पर मिलता है।[7]

इस बोल कक्कोल योग से स्पर्श और काठिन्य धर्म की अभिव्यक्ति पृथ्वी के रूप मे होती है।[8] इसी सहज से बोधिचित्त की उत्पत्ति होती है जिसे शुक्र या वज्रोदक[9] कहा गया है। इसी से अप्धातु की उत्पत्ति होती है। यह चन्द्र रूप है। इसी से जल उत्पन्न होता है। जब यही बोधिचित्त वज्र या कुलिश के रूप मे पद्म अथवा कमल प्रज्ञा से घर्षण करता है तो उससे तेज धातु अग्नि की उत्पत्ति होती है। उसके चलने से, हिलने से वायु की उत्पत्ति होती है और जो सुख प्राप्त होता है वही आकाश है। ये वही पाँच महाभूत है जिन्हे अशुद्ध चित्त बाह्य सासारिक तत्वो के रूप मे परिकल्पित कर भवजाल मे उलझ जाता है किन्तु इन्ही को जब बोल कक्कोल योग से प्रज्ञोपाय युगनद्ध का ध्यान करते हुए अपने ही अन्दर अनुभव करता है तो पूर्णता को प्राप्त होता है।[10]

पूर्व-परम्परा

इस योग का मूल रूप हमे विज्ञानवाद की 'झाण' (ध्यान) साधना मे मिलता है। विज्ञानवाद ने चित्त को एकमात्र सत्य माना था अत विज्ञानवाद मे भी भव की स्थिति और पच महाभूतो की स्थिति मन के अन्दर ही मानी गई थी और 'झाण' या ध्यान साधना मे बाह्य भव-प्रभाव से मुक्त होने के लिये साधक एकान्त मे जाकर इस बाह्य दृश्यमान जगत का चित्त के अन्दर साक्षात्कार करने की साधना करता था।[11] इसका साधन था चित्त की एकग्गता (एकाग्रता)। योगाचार के अनुसार पहले साधक को अर्हन शब्द को अपने मन मे धारण कर उसी पर ध्यान एकाग्र

करना चाहिये। यह अर्हन् सावारण शब्द नही वरन् वीजाक्षर है और इसके तीनो अक्षर त्रिरत्न धर्म, बुद्ध और सघ के वाचक है। एक लम्बी साधना के उपरान्त उसके मन मे दो रूप-चित्रो का उदय होता है। एक धूमिल और दूसरा स्पष्ट। दूसरे के उदय के अर्थ यह है कि अब उसका समस्त व्यक्तित्व जाग्रत हो गया है। सबसे पहले तेज धातु का उदय होता है। इसमे स्वर्ण-वर्ण और अरुणोदय के वर्ण की अनुभूति होती है। इसका स्वरूप ब्रह्मवेला मे उगने वाले शुक्रतारक का होता है। इसके वाद आपो धातु का उदय होता है जो पोडश कलाओ से पूर्ण चन्द्र से उद्भूत है और पीत पुष्प और कमल वर्ण का द्योतक है। उसके पश्चात् वायु की उत्पत्ति होती है जो मेघ की भाँति उदित होती है और उसका वर्ण दोपहर के सूर्य का होता है। उसके वाद चमेली और कमल की भाँति, मयूरपखो की भाँति आकाश-धातु का उदय होता है।[१३] साधक इन सवो को समग्र रूप से नासिकाग्र कर ग्रहण कर नाभि मे स्थित करता है और तत्पश्चात् पथवी धातु (पृथ्वी) का उदय होता है। तब उसके पश्चात् वह हठयोग की साधना मे प्रवृत्त होता है और इन पच महाभूतो को ऊर्ध्व सवृत्त कर चक्रो मे स्थापित करता है।[१४]

वास्तव मे सिद्धो ने इसी साधना को संशोधित कर बोल कक्कोल योग के रूप मे ग्रहण किया है। उनका प्रमुख सशोधन इस साधना का प्रज्ञोपायात्मक रूप देना है। अर्हन् के वजाय उन्होने 'एव' बीज को ग्रहण करने का आदेश दिया है ताकि साधक इस योग के प्रज्ञोपायात्मक स्वरूप सदैव ध्यान मे रखने और अन्त मे उपाय का प्रज्ञा से युगनद्ध अभीष्ट था अत सिद्धो ने प्रज्ञा (शून्य, गगन) का उदय अन्तिम धातु के रूप मे माना। योगाचार मे जहाँ पृथ्वी अन्तिम धातु थी, यहाँ वह पहली हो गई और गगन अन्तिम हो गया। योगाचार मे शुक्रतारक के रूप मे तेज धातु का उदय माना गया था, सिद्धो मे बोधिचित्त का उदय शुक्रतारक[१५] के रूप मे मिलता है।

दूसरी मौलिक स्थापना सिद्धो ने इस बोल कक्कोल साधना को रासायनिक अर्थ देकर की। कुछ स्थानो पर बोल कक्कोल रस का उल्लेख मिलता है।[१६] सभवत यह रस साधना 'कर्पूर' के किसी प्रयोग के रूपक मे अभिव्यक्त की जाती थी। योगाचार की भाण साधना मे भी हम देख चुके है कि प्रथम महाभूत तेज का उदय शुक्र के रूप मे माना गया है और उसी प्रसग मे[१७] वही शक्र को औषधि-तारक भी कहा गया है। प्रतीत होता है कि औषधियो के

उसी प्रसग को कर्पूर साधना के रूप मे सिद्धो ने विकसित किया और बाद मे उस योग का भी प्रतीक मान लिया। कर्पूर के रूप में उपाय का उल्लेख तिलोपा के दोहाकोप की टीका मे मिलता है जहाँ कहा गया है कि कक्कोल मे (कमल मे) वोल (कुलिश) का प्रक्षेपण कर उसका कुन्दुरु योग करे तो उससे कर्पूररूपी सहज उत्पन्न होता है।[१८] कर्पूर का उल्लेख प्रज्ञोपाय-विनिश्चय-सिद्धि मे वोधिचित्ताभिषेक के समय है जहाँ इसका प्रयोग रक्तचन्दन के साथ वताया गया है।[१९] क्रियासमुच्चय मे उद्धृत कुछ वज्रयानी दोहो मे भी इसका उल्लेख कस्तूरी, मालती इंधन आदि के साथ आता है, जिनमे किसी गुह्य रासायनिक प्रयोग तथा सधाशैली मे किसी चित्तगत साधना का समानान्तर वर्णन मिलता है।[२०] शबरीपा भी २८वें चर्यापद मे समागम के समय ताम्बूल तथा कर्पूर के भक्षण का वर्णन करते है।

इस वोल-कक्कोल साधना के क्रम-विकास मे हमे एक अवस्था और मिलती है जिसमे इसका महाभूत-समुत्पाद-योग या रसायन का पक्ष सर्वथा गौण हो जाता है और यह शुद्ध मुद्रा मैथुन के प्रसग मे आता है। दोहकोष की टीका मे कर्पूर की ,व्याख्या कर्ममुद्रा से सयोग के क्षण का वर्णन देते हुए की गई है।[२१] अद्वयवज्र भी चतुर्मुद्रा निरूपण मे कर्ममुद्रा के प्रसग मे वोल-कक्कोल वयस का उल्लेख करते है।[२२]

योगाचार की परम्परा मे सिद्धो ने एक सशोधन और किया। योगाचार मे यह हठयोग की मुख्य प्रणाली से अलग एक प्राथमिक साधना के रूप मे पचमहाभूतो की ध्यान-साधना स्वीकृत थी। जव इस सावना द्वारा पचमहाभूतो को अन्तस्थ कर लिया जाता था, उसके उपरान्त हठयोग-साधना प्रारम्भ होती थी और साधक मेरुदड मे स्थित ,चक्रो पर ध्यान केन्द्रित करता था।[२३] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धो मे यह साधना हठयोग के ही अन्तर्भुक्त हो गई थी और द्वितीय मुद्रा से समागम की अवस्था मे इसकी साधना की जाती थी।[२४] इस प्रकार सिद्धो ने इसको योगाचार से ग्रहण किया, प्रज्ञोपायात्मक भावना से ग्रथित किया और हठयोग तथा मुद्रा-मैथुन-सावना मे अन्तर्भुक्त कर रासायनिक प्रक्रियाओ से सयुक्त कर दिया।

वौद्ध तंत्रो मे योग के लगभग वे सभी अग स्वीकृत थे जो योग-शास्त्र मे

निर्दिष्ट थे। उनको वे षडग योग कहा करते थे। इसमे ६ अंग थे, प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति तथा समाधि। प्रत्याहार में वाह्य रूपादि मे अप्रवृत्ति, प्रत्याहाराग मे त्रैधातुक बुद्ध-विम्व का दर्शन, ध्यान मे एव धर्म-शून्यता मे चित्त-प्रवृत्ति, और पाँच ध्यानाग प्रज्ञा, वितर्क, विचार, रति और अचल सुख, प्राणायाम मे ललना-रसना (वाम-दक्षिण) का मार्ग-निरोध और मध्यमार्ग अवधूती मे प्राणवायु की प्रवृत्ति, प्राणायाम के तीन अग पूरक, कुम्भक, रेचक, धारणा मे प्राण का नाभि, हृदय, कठ और ललाट मे प्रवेश, धारणाग में विन्दु का प्राणप्रवेश, अनुस्मृति मे अपने इष्टदेवता का विकल्परहित प्रतिबिम्बाकार दशन, इसके अगो मे देवता की अनेकाकार रूपाभिव्यक्तियाँ तथा समाधि मे इष्ट देवता के अनुराग मे अपार सुख, बौद्ध-तन्त्रो मे षडग योग का वर्णन इसी प्रकार मिलता है।[२५] गुह्य-समाज-तन्त्र मे उपाय को योग के रूप मे परिकल्पित किया गया है और उसके चार रूप या चार अवस्थाएँ निर्दिष्ट हैं। सेवाविधान, उपसाधन, साधन तथा महासाधन।[२६] सेवा भी दो प्रकार की है, सामान्य सेवा तथा उत्तम सेवा।[२७] उत्तम सेवा मे षडग योग आता है।[२८]

हठयोग षडग योग

वास्तव मे यह हठयोग चित्त का निरोध कर गुह्य साधनाओ के लिये भूमिका प्रस्तुत करता है। विना इस हठयोग के द्वारा विन्दु का निरोध किये गुह्य साधनाएँ कभी भी सफल नही होती, उनमे च्युति तथा स्खलन का भय रहता है। अत योगदर्शन मे जो योग एकमात्र साधन माना गया है, यहाँ वही हठयोग केवल तन्त्र की आनुषगिक सहायक साधना मात्र है। इसके लिये भी दो परिस्थितियो का उल्लेख है। एक तो गुह्य साधनाओ के पूर्व चित्त-विशुद्धि के लिये और दूसरा उन गुह्य साधनाओ मे ही विभिन्न क्षणो में विभिन्न मुद्राओ से युगनद्ध स्थापित कर विभिन्न आनन्दो का उपभोग करने के लिये विन्दु को ऊर्ध्वमुखी कर उन मुद्राओ के उपयुक्त चक्रो में विन्दु धारण करना। ऐसी परिस्थिति मे योग-साधना अन्दर श्वासनिरोध द्वारा चलती रहती है और बाहर मुद्रा-मैथुन द्वारा तान्त्रिक गुह्य साधनाएँ। दोनो एक दूसरे का समर्थन करती रहती है।[२९]

हठयोग द्वारा पवन का निरोध कर मेरुदड मे स्थित चक्रो का वेधन, यह योगाचार की स्वीकृत पद्धति थी। ध्यान द्वारा चित्त मे ५ महाभूतो के उदय के उपरान्त साधन के लिये अन्तस्थ चक्रो का ध्यान करने का आदेश था। योगाचार मे हिन्दू योग की भाँति मस्तक नही, वरन् हृदय मे ही अन्तिम चक्र की स्थिति

मानी जाती थी। हृदय ही मन का केन्द्र या मनोविन्दु था। योगाचार सम्प्रदाय में केवल ५ चक्र माने गये थे। पाँच चक्र थे, पाँच धातुएँ अन्तस्थ थी, पूर्वोक्त ध्यान पद्धति द्वारा पाँच पीतियाँ थी, पाँच सुख थे और ध्यान की ५ पद्धतियाँ थी। जव साधक ध्यान द्वारा पच महाभूतो को अतस्थ कर लेता था तव वह मनो-वत्थु से नाभि तक के प्रदेश पर चिन्तन करता था और ध्यान एकाग्र कर चक्रो का वेधन करता था।[३०]

सिद्धो ने इसमें से बोल कक्कोल योग द्वारा पच महाभूतो को अन्तस्थ करना स्वीकृत किया।[३१] यद्यपि उसकी प्रणाली उन्होने चित्त की एकाग्रता न रख कर प्रज्ञोपायात्मक घर्पण के रूप मे सशोधित कर दी। नैरात्मज्ञान अथवा भगवती प्रज्ञा का स्थान उन्होने हृदय के वजाय हिन्दू योग दर्शन के समान कपाल या मस्तक के अन्दर रक्खा। किन्तु चक्रो की सख्या उन्होने घटाकर चार कर दी क्योकि उनके योग का मूल आधार उनका परम्परागत तीन वुद्ध कायाओ के साथ चौथी सहज या महासुख काया (चतुर्काया) सिद्धान्त था। यह ४ की सख्या सिद्धो के हठयोग मे उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी ५ की सख्या योगाचार मे। चार कायाएँ है, चार क्षण है, चार मुद्राएँ हैं, चार आनन्द हैं, चार शून्य है और चार चक्र है। ये चारा चक्र मेरुदड मे स्थित है।

काण्हपा इस मेरुदड को मेरुगिरि या सुमेरु पर्वत के रूप में परिकल्पित करते हुए कहते है कि यह ककाल रूपी श्रेष्ठ सुमेरु पर्वत है जिसके शिखर पर शबरी नैरात्मा का वास है। उसके मूल मे कन्दरा (मूलाधार चक्र) है जिसमे विमल सलिल रूपी शुक्र वैरोचन वोधिचित्त स्थित है। अन्दर ही अन्दर कालाग्नि है जो साधना के बिना अधोमुखी होकर शुक्र को सुखा डालती है, और पवन निरोध के वाद ऊर्ध्वमुखी होकर प्रकाश करती है और शुक्ररूपी उपाय भी प्रज्ञा के समागम के लिये गतिमान होता है।[३२] शवररूपी वज्रधर साधक[३३] को चित्रित कर उसी अपनी चर्या मे शवरपाद भी मेरुदड को सुमेरु परिकल्पित कर उसके ऊँचे शिखर पर शवरी का वास चित्रित करते है और उस शवरी को नैरात्म्य सहज-सुन्दरी की सज्ञा देते है।[३४]

इस मेरुदड के उच्चतम शिखर पर महासुखचक्र या उष्णीप कमल है जिसमे नैरात्मा का वास है। इसके मूल मे नाभिचक्र है जिसमे वोधिचित्त शुक्ररूप मे वास करता है। इसके वीच मे दो चक्र और है, हृदय प्रदेश मे और कठ के समीप। इन चार चक्रो को चार कमल के रूप मे परिकल्पित किया गया

है। इनको नीचे से क्रमश नाभिकमल, हृत्कमल, सम्भोगचक्र तथा उष्णीप कमल कहा जाता है।[३५] वौद्ध तन्त्रो मे प्राप्त इन चक्रो के वर्णन पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

पहली महत्वपूर्ण बात यह है कि इन चारो चक्रो मे बुद्ध की चार कायाओ का वास माना गया है और उन्ही पर इन चक्रो का नामकरण भी कर दिया गया है। उष्णीप कमल मे महासुख काया है अत उसे महासुख चक्र भी कहते हैं। कठ के समीपवर्ती चक्र मे सम्भोगकाया है अत वह सम्भोग चक्र है। हृदय प्रदेश मे स्थित चक्र मे धर्मकाया अत. वह धर्म चक्र और नाभि मे निर्माणकाया अत वह निर्माण चक्र कहा जाता है। यहाँ पर एक बात विचारणीय है। इन चक्रो के प्रसग मे कायाओ के क्रम मे कुछ व्यतिरेक हो गया है। परम्परा मे निर्माण के बाद सम्भोगकाया और सम्भोग के उपरान्त धर्मकाया, यह क्रम चला आ रहा था। चक्रो मे इन कायाओ को स्थापित करते समय वज्राचार्य ने धर्मकाया को नीचे और सम्भोगकाया को ऊपर स्थान दिया। यह क्रम वदल क्यो दिया गया इसका कोई भी स्पष्टीकरण नही मिलता।[३६] इसके सम्बन्ध मे एक यह अनुमान किया जा सकता है कि सम्भोगकाया मे ही भगवान तथागत ने सूत्रो तथा सगीत साहित्य का उपदेश दिया था और यही काया 'उपाय-कौशल' से सम्बद्ध है। अत इसकी सक्रिय उपाय-सिद्धान्त से अधिक निकटता है और इसी कारण प्रज्ञोपायात्मक योग मे इसे महासुख-काया के पहले और धर्मकाया के ऊपर स्थान मिला हो क्योकि यह हम देखते आ रहे हैं कि प्रज्ञोपाय सिद्धान्त के निर्वाह के लिये सिद्धो ने पूर्वागत परम्परा मे यथेष्ट सशोधन किये हैं। हेवज्र तन्त्र मे भी सम्भोग काया को ६ रसो के उपभोग की काया वताया गया है।[३७] अत. इस क्रम व्यतिरेक का यह कारण ठीक ही मालूम देता है।

इन चक्रो को कमल के रूप मे चित्रित किया गया है और लगभग सभी तन्त्र इस बात से सहमत हैं कि निर्माण चक्र मे ६४, धर्म चक्र में ३२, सम्भोग चक्र मे १६ और उष्णीप कमल या महासुख चक्र में ६ पाँखुरी हैं।[३८] इन कमल की पाँखुरियो पर बीजाक्षर भी अकित है। महासुख चक्र पर हं अकित है, इसी कमल मे चन्द्र की षोडश कलाओ से अभिषिक्त योगिनी का वास है जिसके दो ओर आली तथा काली स्वभाव की ललना तथा रसना नाडियाँ स्थित है। ये ही षोडश कलाएँ दिन तथा रात्रि के स्वभाव का अनुगमन कर द्विगुणित होकर ३२ पाँखुरियो का रूप धारण कर लेती है। हेरुक तन्त्र में महा-

सुख कमल की चार पाखुरियो पर ३२ पाखुरियो वाले कमल का आवेष्ठन बताया गया है जो इन्ही षोडश कलाओ के दिवारात्रि द्विविध स्वरूप का द्योतक हैं। सम्भोग चक्र पर हुँ बीजाक्षर है। धर्मचक्र पर अकित हुँ बीजाक्षर निम्न मुख होकर अकित है और निर्माण चक्र पर 'अ' बीजाक्षर अकित है। श्री सम्पुट तन्त्र मे से चारो चक्र, नाभि ए, हृदय व, कठ म उष्णीप या (एवम् मया) बीजाक्षरो से अकित है और क्षिति, जल, पावक और समीर भूतो के आवास बताये गये है। इनकी शासिका देवियाँ भी है, लोचना, मामकी, पाँडरा और तारा। ये चारो देवियाँ करुणा, मैत्री, मुदिता और उपेक्षा की अधिस्वामिनी है।[३९] करुणा, मैत्री, मुदिता, और उपेक्षा ये चार निर्दोप चित्त बताये गये है जिन्हे योगाचार परम्परा मे ४ ब्रह्मविहार बताया गया है।[४०]

इस प्रकार हम देखते है कि योगाचार परम्परा से काफी प्रभाव ग्रहण किया गया है। योगाचार मे भी चक्रो की शृखला का प्रारम्भ नाभि से माना गया है, और बौद्ध तन्त्रो मे भी एक स्थल को छोडकर सभी जगह निर्माण चक्र की स्थिति नाभि से मानी गई है।[४१] ब्रह्मविहारो का भी समन्वय चार चक्रो मे कर दिया गया है। किन्तु बौद्ध तन्त्रो मे हिन्दू परम्परा का अनुसरण करते हुए अन्तिम चक्र मनोवस्तु (हृदय) मे न मान कर मस्तक मे माना गया है।

इसके पहले कि हम दोहो और चर्यापदो मे इन चक्रो के उल्लेख पर दृष्टिपात करें, इन चक्रो की तुलना हिन्दू परम्परा के षटचक्रो से कर लेनी

हिन्दू योग के चक्रो से तुलना

आवश्यक है। षटचक्र परम्परा मे सहस्रार के अतिरिक्त छ चक्र और सहस्रार को सम्मिलित कर ७ चक्र माने गये है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, तथा सहस्रार। मूलाधार-पद्म उपस्थ तथा गुदा के बीच रीढ मूल मे स्थित चतुर्दल कमल है।[४२] स्वाधिष्ठान लिंगमूल मे[४३], दशदलयुक्त मणिपूर चक्र नाभिप्रदेश मे[४४], द्वादशदली अनाहत चक्र हृदय प्रदेश मे,[४५] सोलह दलो से युक्त विशुद्धाख्य चक्र कण्ठ प्रदेश मे[४६], द्विदल युक्त आज्ञाचक्र भ्रूमध्य ललाट मे स्थित है।[४७] अत मे सहस्रार चक्र है जिसमे सहस्र पाखुडियाँ है जहाँ पवन विलीन हो जाती है और वुद्धि का उद्भव होता है।[४८]

इस षटचक्र परम्परा से तुलना करने पर हम पाते है कि मूलाधार और

स्वाधिष्ठान नामक चक्रो की तरह बौद्ध साधको में लिंगमूल में कोई भी चक्र नही है। उनकी चक्र परम्परा नाभि[४६] से प्रारम्भ होती है और इसमें उन्होने योगाचार की परम्परा का अनुसरण किया है।[५०] विशुद्ध और आज्ञा चक्रो मे अधिकाश बौद्ध तन्त्रो ने सम्भोग चक्र के रूप मे विशुद्ध को स्वीकृत किया है किन्तु सेकोद्देश मे नडपाद ने विशुद्ध को अस्वीकृत कर आज्ञा की भाँति सम्भोग चक्र की स्थिति ललाट मे मानी है। इसके साथ ही साथ बीजाक्षरो मे भी उन्होने-बौद्ध तन्त्रो के एवम् आदि अक्षर लिये है और दलो की सख्या भी चार शून्यो की संख्या पर आधारित है।[५१] चार शून्यो के प्रतीक रूप मे उष्णीष कमल मे चार दल है और उसके कारण सभी तत्व चार ही है, मुद्राएँ, क्षण, आनन्द इत्यादि।

काण्हपा ने इस चतुर्दल से युक्त उष्णीष कमल का उल्लेख अपने दोहो मे किया है।[५२] वे कहते है कि 'ललना रसना रूपी सूर्य चन्द्र दोनो को वर्जित कर चार दलो और चार मृणालो वाले कमल मे महासुख का वास है।' टीकाकार इन चार दलो को शून्य, अतिशून्य, महाशून्य और सर्वशून्य बताता है। यह मेरुगिरि के शिखर पर स्थित उष्णीष कमल है। इसी को भुसुकुपा नलिनीवन या पद्मवन कहते है जिसमे प्रवेश कर चित्त की द्विविधा समाप्त हो जाती है।[५२] इसी मे वास करने के कारण भगवती नैरात्मा को कमलिनी भी कहा गया है।[५३] यह उष्णीष कमल प्रज्ञाज्ञानाभिषेक के समय भरपूर खिल जाता है और इसमे से अमृत-वर्षण होता है।[५४]

सिद्धो के प्राप्य साहित्य मे धर्मचक्र और सम्भोगचक्र की साधनाओ का उल्लेख लगभग नही के बराबर है तथापि उनमे प्राप्त परमानन्द और विरमानन्द का उल्लेख बराबर मिलता है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे। किन्तु निर्माण चक्र[५६] का उल्लेख बराबर मिलता है क्योकि पवन निरोध कर बोधिचित्त को उद्बुद्ध करने का साधनास्थल वही है। कृष्णपाद नैरात्मा को डोम्बीरूप मे परिकल्पित कर सकते हैं कि चौसठ पाँखुरियो वाला एक कमल है जिस पर चढ कर डोम्बीरूपी नैरात्मा नाच रही है।[५७] इस कमल का अर्थ टीकाकार निर्माण चक्र बताता है जिसमे चौंसठ पाँखुरियाँ होती है।[५८]

इन चक्रो के वेधन का मार्ग नाडियो मे से होकर है। इन नाडियो की संख्या मुनिदत्त ने अपनी टीका मे ३२ बताई है।[५९] हेवज्र में भी नाडियो की सख्या ३२ ही बताई गई है।[६०] इन बत्तीस नाडियो में से भी तीन नाडियाँ

प्रमुख है ललना, रसना और अवधूती।[६१] चर्यापदो मे इन तीन नाडियो को विभिन्न प्रतीको से लक्षित किया गया है। विरूपा अवधूती की (शुडिनी) मधुवाला से उपमा देते है जो दो स्थानो से मद को खीचती है, ललना और रसना।[६२] इसी को गुडुरी तिअड्डा या त्रिनाडी कहते है।[६३] इनमे से ललना वाम नासापुट के समीप है, वह चन्द्र स्वभाव की है और प्रज्ञारूप है।[६४] रसना दक्षिण नासापुट के समीप है, सूर्य स्वभाव की है और उपायरूप है।[६५] इन्ही दोनो को नैरात्म-दर्शन की परिभाषा मे ज्ञेय और ज्ञान, ग्राह्य ग्राहक भी कहा जाता है और अवधूती इन दोनो के बीच ग्राह्य-ग्राहक-वर्जित रूप मे स्थित है। उसी नैरात्म्यज्ञान रूपी मध्यम सहजपथ की भाँति वह क्लेशो को धुनने वाली है अत उसका नाम अवधूती है।[६६] इसी अवधूती मे से होकर शुक्र नामक और भी सूक्ष्म नाडी है जिसमे बोधिचित्त उर्ध्वगामी होता है विन्दु रूप मे।[६७] यह नाडिका वैरोचन द्वार मे लीन होती है जो नवद्वारो के अतिरिक्त दसवा द्वार है।[६८]

चर्यापदो का यह नाडीजाल हिन्दू योग परम्परा मे भी मिलता है। योग साधना मे भी मेरुदड के वहि पार्श्व मे चन्द्र और सूर्य रूपी इडा और पिंगला नाडियो की स्थिति वताई गई है। वीच मे सुपुम्णा है जो मेरुदड के विवर मे है और वह अग्नि रूपी है।[६९] इडा वामगा है, देवी है, पिंगला शिव है, सूर्य है। इडा यमुना है, पिगला सरस्वती है, सुपुम्णा गगा है। इस प्रकार त्रिवेणी बनती है।[७०] इनमे से सुषुम्णा भी त्रिगुण के अनुसार ३ नाडियो का गुम्फन है। सत्वगुणमयी चित्रिणी, रजोगुणमयी वज्रा और तमोगुणमयी सुपुम्णा, इसीलिये उसे अग्निमयी बताया गया है।[७१] शखिनी रूपी नाल को ग्रहण कर वह ब्रह्मसदन को जाती है।[७२]

हेरुक-तन्त्र मे भी ललना रसना की यही स्थिति वताई गई है। ललना या आली धनुषाकार रूप मे गर्दन से प्रारम्भ होती है और नाभि मे वाम दिशा से प्रवेश करती है। रसना नाभि से प्रारम्भ होती है और कठप्रदेश मे होती हुई अवधूती वैरोचन द्वार तक जाती है। इसीलिये उसे मध्यम कहा गया है। चूंकि ललना और रसना को प्रज्ञोपाय कहा गया है अत, यह सहज है।[७३]

तन्त्रो तथा चर्यापदो मे विभिन्न प्रतीको मे आली काली, गगा यमुना, सूर्य चन्द्र, धमन चमन, ललना रसना का उल्लेख है। इन नामो मे से कुछ युग्मो पर विचार कर लेना आवश्यक है। आली के अर्थ है अ मे प्रारम्भ होने वाली स्वर माला, और काली के अर्थ है क से प्रारभ होने वाली व्यजनमाला।

तन्त्रो मे स्वरो को रात्रि से और व्यजनो को दिन से सम्बद्ध माना गया है अत . आली-वाहिका नाडी ललना रात्रि है, चन्द्र है, शशि है, उससे द्रवित सोम है, प्रज्ञा है, इसी प्रकार काली-वाहिका रसना सूर्य है, रवि है, अग्नि है। इन्ही मे से प्राण से राहु तथा अपान से कालाग्नि की उत्पत्ति होती है।[७४] धमन और चमन के अर्थ स्पष्ट नही हो पाते पर बागची का अनुमान है कि धमन सभवत ध्म धातु से है जिसके अर्थ है जाना, गति और चमन 'चम्' धातु से है जिसके अर्थ है निगलना[७५]। इन नाडियो मे से वामस्थित ललना शुक्र का वहन करती है और रसना रज का और अवधूती रज-भूषित शुक्र अथवा प्रज्ञोपाय अद्वैत रूपी बोधि-चित्त का इसीलिये इसको सहज पथ भी कहा गया है।[७६] इसीलिये यह नैरात्मा या सहजसुन्दरी भी कही गई है। यह जोगिनी भी कहलाती है। चर्यापदो में अवधूती के दो रूप मिलते है, परिशुद्धा और अपरिशुद्धा। परिशुद्धा अवधूती को डोम्बी कहते है जिससे बोधिचित्त समागम करता है और अपरिशुद्धा को छिनाली भी कहते है क्योकि वह भेद ज्ञान युक्त होती है।[७७]

अपान वायु से कालाग्नि प्रज्ज्वलित होती है जो अधोमुखी रहने पर शुक्र को सुखा डालती है और मनुष्य की शक्तियो का क्षय होता रहता है।[७८] कारणहपा के टीकाकार ने इसी शुक्र को बोधिचित्त बताते हुए कहा है कि अपान निम्नगा वायु होती है और उसके वशीभूत होकर बोधिचित पतित कहलाता है और उसका विनाश हो जाता है। इसी को लुईपा ने चचल चित्त मे काल का प्रवेश करना बताया है।[७९] अत काल पर विजय प्राप्त कर बोधिचित्त को उद्‌बुद्ध करने के लिये पवन का निरोध करना आवश्यक है। सरहपा ने कहा है कि जो वायु बहती है (अधोमुखी या ऊर्ध्वमुखी, अपान या प्राण) वह जब निश्चल हो जाती है तब उस योगी का काल क्या बिगाड सकता है।[८०] तिलोपा के अनुसार ऐसी ही बद्ध नियन्त्रित वायु मे लीन होकर चचल चित्तमृत[८१] अर्थात् विशुद्ध हो जाता है।[८२] इसी को कुक्कुरीपा कुम्भीर फल (कुम्भक योग) कहते है और सास की निद्रा (श्वास की निश्चलता) कहते है।[८३] इसी पवन के निरोध को सरहपा पवन का क्षय भी कहते है।[८४] इस साधना मे वायु के निश्चल करने के अर्थ है प्राणवायु को ऊपर जाने और अपान वायु को नीचे जाने से रोक कर यथास्थान रोक देना ताकि उसे चित्त भी चचल न रह कर स्थिर और एकाग्र हो जाय। अध-ऊर्ध्व से विमुक्त बोधिचित्त उसी समय प्राण अपान से विमुक्त तथता-स्वरूप का हो जाता है।[८५] इसी से कारणहपा ने ऐसी गृहणी को इस बोधिचित्त का

प्रतीक माना है जो घर ही मे रहती है वाहर नही आती जाती है।[८६] इसके लिये कुम्भक, रेचक, पूरक आदि का विधान है[८७] जो योगाचार मे ही अपनाया जा चुका था।[८८]

किन्तु इसके साथ ही साथ स्वेच्छा से लिंग और गुदा के समीप की मासपेशियो का सकुचन कर एक प्रकार का मूलवन्ध भी किया जाता था जिससे शुक्र अध पतित न हो।[८९] ये वन्ध देह के अन्दर स्थित विभिन्न पीठो ओडियान जालन्धर आदि के समीप की पेशियो को संकुचित कर किये जाते थे। इसी के आधार पर तन्त्रो मे जालन्धर बन्ध, उड्डीयान वन्ध आदि उल्लेख मिलते है।[९०] इस मणिमूल बन्ध के कारण चन्द्र और दिवाकर रूपी ललना और रसना का निरोध हो जाने से अन्धकार हो जाता है।[९१] कालाग्नि का भी क्षय हो जाता है। तब उस समय साधक अवधूती का उद्घाटन करता है और चडाग्नि रूपी आलोक ऊपर की ओर उठता है और उससे वोधिचित्त मणि की भाँति जगमगा उठता है। इसी को चान्डाली योग भी कहा जाता है।[९२] इसी चडाग्नि के ऊपर पहुँच कर सभी क्लेश वासनाओ को जला कर भस्म कर देने का वर्णन चर्यापदो मे बडे सुन्दर ढग से मिलता है। धामपा कहते है—कमल और कुलिश के मध्य मे मैं लीन हो गया हूँ। समता योग से मेरी चाडाली प्रज्ज्वलित हो गई है। डोम्बी के घर मे राग-दाह से आग लग गई है। शशहर (परिशुद्ध चित्त) को लेकर मैं आग को बुझा रहा हूँ। यह ज्वाला दाहक नही है, न इससे नयन मे धुआँ लगता है। यह अग्नि सुमेरु-शिखर मे जाकर गगन मे प्रवेश कर रही है। उससे हरिहर ब्रह्मादिक सव जल गये है। नवगुण वासना क्लेशादि सव इससे भस्म हो गये है। अन्त मे पाँच नाडियो से जल पहुँचा।[९३]

टीकाकार के अनुसार[९४] इसमे कमल कुलिश या ललना रसना के वीच मे अवधूती मार्ग के उद्घाटन से चडाली प्रज्ज्वलित करने का वर्णन है। यह महासुख रूपी राग की अग्नि है जो परिशुद्धावधूती रूपी डोम्वी के घर मे लग गई है। इससे सभी विषयाश्रय दग्ध हो गये है। यह ज्ञानाग्नि है अत इसमे दृष्टि-दोष (आँख मे धुँआ लगना) नही होता। हरिहर और ब्रह्मा से मूत्र नाडी, शुक्र नाडी और विट नाडी परिलक्षित है। ये तीन उपनाडियाँ है और हिन्दू देवताओ को नीचा दिखाने के लिये इन्हे त्रिदेव की सज्ञा दी गई है। ये तीनो नाडियाँ भस्म हो गई है। पाँच नाडियाँ पूर्वोक्त तीन नाडियाँ तथा ललना और

रसना हैं।[९५] या टीका के अनुसार इन्हें चतुर्शून्य और अवधूती, इन पाँचो के रूप मे गिनना अधिक सगत होगा। इन पाँचो से अमृत झरता है।

इस चडाली के प्रज्ज्वलित होने के उपरान्त साधक वज्रजाप आदि साधनाओ से काय, वाक और चित्त को वज्र बना कर तव मध्यपथ, अवधूती को वधू के रूप मे ग्रहण करता है। इस काय-वाक्-चित्त वज्र साधना की व्याख्या चौथी चर्या की टीका मे की गई है जहाँ देवता योग से काय-वज्र, वज्र जाप द्वारा वाक्-वज्र और पवन निरोध द्वारा चित्त-वज्र का प्रतिपादन किया गया है।[९६] कृष्णाचार्य इसी काय-वाक्-चित्त को त्रिशरण कहते हैं और उससे चतुर्थ अर्थात् महासुखकाय नौका रूप में ग्रहण करने का आदेश देते हैं।

इस काय-वाक्-चित्त वज्र[९७] की साधना से सिद्धो का अर्थ हठयोग में अन्तर्भुक्त उन चार वज्रयोगो से है जिनका विस्तृत विवरण हमे सेकोद्देश टीका मे मिलता है। निर्माण-काय रूपी तथागतो की काया का ध्यान कर काया को वज्र बना लेना चाहिये। इसीलिये कृष्णाचार्य देह रूपी नौका का केडुआल पंच तथागतो को बनाते हैं।[९८] इसीलिये टीकाओ में देवता योग से काय-वज्र की सिद्धि वताई गई है। इसके वाद वज्रजाप द्वारा वाग्वज्र की सिद्धि का उल्लेख मिलता है। वज्रजाप प्राणायाम के समय एव आदि बीजाक्षरो तथा मन्त्रो के निरन्तर जप को कहते हैं। वज्रजाप का उल्लेख हमें पाँचवी चर्या की टीका मे भी मिलता है।[९९] यह वज्रजाप सदैव प्राणायाम से सवद्ध रहता था अत वहुत से वज्रयानी मन्त्र तीन अक्षरो के मिलते है ताकि पूरक, कुभक और रेचक इन तीनो मे उसका जाप हो सके।[१००] सेकोद्देश टीका मे चौथी अवस्था को ज्ञान-वज्र बताया है।[१०१]

इसी प्रकार अवधूती द्वारा चारों चक्रो का वेधन करने की प्रणाली मे चार क्षणो, चार आनन्दो और चार मुद्राओ का उल्लेख बार-वार सिद्धो ने किया है जिसका परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। तिलोपा कहते हैं कि क्षण और उनके आनन्दो का भेद भली-भाँति जान लो।[१०२] जो क्षण तथा आनन्दो का भेद जान लेता है वही योगी कहलाता है।[१०३] सरहपा भी क्षणो के उपाय और उनके मुख का वर्णन करते हुए चतुर्थ क्षण मे प्राप्त सहजानन्द की उपलब्धि को श्रेयस्कर मानते हैं।[१०४]

इन चार क्षणो की व्याख्या टीका मे इस प्रकार की गई है कि क्षण चार होते हैं।[१०५] इन चार क्षणो को हेवज्र-तन्त्र मे विचित्र, विपाक, विमर्द और

विलक्षण की सज्ञा दी गई है।[१०६] विचित्र निर्माण चक्र के वेधन का क्षण है, विपाक धर्मचक्र का, विमर्द सम्भोगचक्र का और विलक्षण ऊष्णीप कमल का। इसी न्याय से विचित्र निर्माणकाया का क्षण है, विपाक धर्मकापा का, विमर्द सम्भोगकाया का और विलक्षण महासुखकाया का। अद्वयवज्र भी इन्ही चारो क्षणो का विवरण देते हुए चतुर्थ क्षण तक पहुँचने के लिये हठयोग की सावना का उपयोग करते है।[१०७]

दोहो के टीकाकार ने इन्ही चार क्षणो के भेद से ४ आनन्द वताए है।[१०८] ये चारो आनन्द उन्ही चारो क्षणो के होते है।[१०९] ये चार आनन्द है, प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द।

चार आनन्द

प्रथमानन्द विचित्र क्षण का आनन्द है जिसकी अनुभूति आलिगन चुम्बनादिक से मिलती-जुलती है। परमानन्द ज्ञान-सुख का योग है। विरमानन्द समागम सुख की भाँति है और इन सभी राग विरागो से वर्जित चतुर्थ आनन्द है सहजानन्द जो सर्वश्रेष्ठ है। परम और विरम इन दोनो के मध्य और दोनो से श्रेष्ठ यह सहजानन्द है जो साधक को महासुख की अनुभूति देता है।[११०]

यहाँ पर एक बात ध्यान मे रखना चाहिए। हिन्दू योगशास्त्र मे जहाँ सुख को आनन्द से नीचा स्थान दिया गया है वहाँ सिद्धो ने साम्प्रदायिक प्रति-द्वद्विता के कारण महासुख को शीर्ष स्थान दिया है जो प्रज्ञोपाय योग के उपरान्त प्राप्त होता है और आनन्दो को उससे निम्न श्रेणी का माना है। उसमे भी हिन्दुओ की सर्वोच्च अनुभूति ब्रह्मानन्द को उन्होने केवल तीसरा स्थान दिया है और अपने प्रज्ञोपाय मैथुन से प्राप्त सहजानन्द को ब्रह्मानन्द मे भी ऊचा ठहराया है।

इन आनन्दो को प्राप्त कराने वाली ४ मुद्राएँ है जिनका नाम दोहाकोष मे कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, ज्ञानमुद्रा और महामुद्रा बताया गया।[१११] चर्यापदो मे कर्ममुद्रा, ज्ञानमुद्रा और महामुद्रा का कई बार उल्लेख आता है जैसा हम आगे देखेंगे। बौद्ध तन्त्रो मे बाद मे इन नामो मे कुछ विपर्यय भी हुआ है। अद्वयवज्र ने ज्ञानमुद्रा का उल्लेख नही किया है और समयमुद्रा को सर्वश्रेष्ठ माना है।[११२] श्रीसम्पुट

मुद्रा-मैथुन

मे भी यही क्रम है।[११३] सरहपा ने एक और मुद्रा भवमुद्रा का उल्लेख किया है जो सासारिक सुख-दुख और क्लेश देकर भव बन्धन मे बाँधने वाली है।[११४] वोधिचित्त के उद्‌बुद्ध हो जाने के वाद प्राप्त होने वाली उपर्युक्त चारो मुद्राएँ मोद प्रदान करनी वाली है। इसीलिए उन्हे मुद्रा कहा गया है।[११५] 'मोद प्रदान करने वाली' यह व्याख्या वौद्ध तन्त्रो की अपनी व्याख्या है अन्यथा पहले तन्त्रो मे मुद्रा का अर्थ यह नही दिया गया है।[११६]

इन चारो मुद्राओ मे प्रथम मुद्रा होने के कारण कर्ममुद्रा का काफी महत्व बताया गया है। तिलोपा कर्ममुद्रा को दूषित न करने का उपदेश देते हैं।[११७] क्योकि क्षण आनन्द का भेद कर्ममुद्रा के विना पहचाना ही नही जा सकता।[११८] बोल-कक्कोल-साधना द्वारा पच महाभूतो को अन्तस्थ करने की साधना भी कर्म-मुद्रा के समागम मे विचित्र क्षण मे ही बताई गई है।[११९] अद्वयवज्र वज्रयोगो द्वारा काय वाक् चित्त की दृढता और वज्र-परिणति भी कर्ममुद्रा के ही सहयोग से वताते है।[१२१]

मुद्रा अर्थात् मोद देने वाली इस व्याख्या से मुद्रा को नारी रूप में परिकल्पित किया गया है। श्रीसम्पुट मे भगवान बुद्ध को निर्माण चक्र मे लोचना मुद्रा, धर्मचक्र मे मामकी, सम्भोग चक्र मे पाण्डरा और महासुख चक्र मे महासुख काया मे तारा से मुद्रारूप मे सम्भोग करते बताया गया है। सिद्धो ने भी भगवती नैरात्मा को महामुद्रा मे परिकल्पित कर उनके डोम्वी, चाडाली, कपाली, योगिनी, शवरी आदि कई नाम दिये है, जिन पर विचार कर लेना आवश्यक है।[१२१] इन नामो से यह भ्रम हो सकता है कि ये निम्न जातियो की स्त्रियो के वाचक हैं जो सम्भवत इन सिद्धो को गुह्य साधनाओ मे सम्मिलित हुआ करती होगी। किन्तु इनके पीछे योग साधनाओ से सम्बन्वित गहन साकेतिक अर्थ हैं जिन पर आगे हमने विचार किया है।[१२२] किन्तु यह सब केवल साकेतिक शब्दावली है और वास्तविक नारियाँ इनकी साधना में सम्मिलित नही होती थी, यह धारणा भी सर्वथा एकागी है।

बौद्ध तन्त्रो के सर्वमान्य ग्रन्थो मे इस विषय मे स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं कि मण्डल चक्र और मुद्रा मैथुन मे स्त्रियो का उपभोग उनके यहाँ आवश्यक अनुष्ठान माना जाता था। किन्तु वे इन साधनाओ को केवल भौतिक अर्थ मे ग्रहण नही करते थे। वे प्रज्ञा को परमार्थ रूप मे नैरात्म ज्ञान मानते थे और सम्वृत्ति रूप मे देहधारी नारी रूप। अत प्रज्ञा का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के

लिये पहले नारी रूपिणी सम्वृत प्रज्ञा, देहधारिणी प्रज्ञा का उपभोग करना आवश्यक है।[123] यदि नारी के इस प्रज्ञारूप को हृदयगम कर लेते है तब फिर किसी कुल जाति की स्त्री मे रमण कर हम शून्यता ज्ञान की उपलब्धि कर सकते है।[124] मुद्रा की जाति की विशेप चिन्ता नही करनो चाहिए क्योकि जाति की स्थिति तो देह मे है और प्रतीत्य-समुत्पाद के सिद्धान्त से देह अनित्य और नैरात्म्य-स्वभाव की है। अतः कैवर्ती, चाडाली, ब्राह्मणी, चत्रिया, वेश्या, शूद्रा इनमे से कोई भी त्याज्य नही है। हमे वज्रज्ञान के प्रभाव मे इनसे समागम करना चाहिये।[125] इस वज्रज्ञान प्राप्त साधक के लिये गम्य-अगम्य तथा पेय-अपेय का कोई ध्यान नही रहता। सभी वर्णों मे उत्पन्न स्त्रियाँ ग्राह्य है उनसे घृणा नही करनी चाहिए। वे भगवती प्रज्ञापारिमिता की ही सम्वृत्त रूपाभिव्यक्ति है।[126]

वौद्ध तन्त्र ग्रन्थो मे स्फ्ष्टत मुद्राओ की आयु, जाति रूप आदि के विपय मे सागोपाग विवेचन मिलता है। उनकी मण्डल चक्र साधनाओ में यह दायित्व गुरु पर है कि वह शिष्य की मुद्रा के चुनाव और उपभोग मे निर्देशन दे। उनकी अभिपेक साधना ही मुद्रा के समागम से आरम्भ होतो है।[127] सेकोद्देश टीका मे शिष्य को दीक्षित करते समय मुद्रा की आयु बारह से बीस वर्ष पर्यन्त की वताई गई है। उसका उपयोग प्रज्ञोपायात्मक देवता योग से अपनी कुलिश मणि से करना चाहिये।[128] प्रज्ञोपाय-विनिश्चय मे बताया गया है कि मुद्रा के आलिगन के साधक में वज्रावेश जागता है, और वह साधना-मार्ग में प्रवृत्त होता है।[129]

किन्तु ये समस्त आलिगनादि कर्म क्षुब्ध, आसक्त और विपयी मन से नही करने चाहिये अन्यथा ये बन्धन के कारण बन जाते है और इनसे सिद्धि प्राप्त नही होती।[130] मन को इतना अनासक्त रहना चाहिये कि योगी को कभी स्खलित नही होना चाहिये।[131] बाद मे तो इन पद्धतियो का इतना विकास हुआ कि वज्रोली, सहजोली आदि पद्धतियो का उल्लेख मिलता है जिनमे साधक मैथुन के समय मुद्रा-योगिनी को स्खलित करा देता है, किन्तु स्वत क्षरित नही होता। इसके अनन्तर वह नारी के रज को भी प्राणायाम के द्वारा अपने शरीर मे खीच लेता है और उससे काय वाक् चित्त की वज्रता को उपलब्ध कर लेता है।[132]

महामुद्रा की यह साधना सबसे कठिन साधना मानी जाती थी और इसी साधना मे निष्णात होने के उपरान्त ही किसी की गणना सिद्धाचार्यों में

होती है। इन सिद्धो मे से कई ने महामुद्रा साधना सम्पन्न की थी ऐसा तिब्बती अनुश्रुतियो मे मिलता है। तारानाथ ने स्वत सरहपा के विषय में लिखा है कि वे महामुद्रा साधना के प्रथम आचार्य थे (बौद्ध परम्परा मे)। नालन्दा से जब वे दक्षिण गये तब महाराष्ट्र मे उन्हे अपनी ही समकक्ष योगिनी मिली जिससे महामुद्रा मैथुन सम्पन्न कर वे सिद्ध हुए।[१३३] शबरीपा को दो मुद्राओ का स्वामी बताया जाता है। उनका नाम लोगी और गुनी था और जब शबरीपा ने उन्हे मुद्रा रूप मे स्वीकार किया तो उनका नाम डाकिनी, पद्मावती और ज्ञानावती हो गया। उनका बाह्य जीवन अनैतिक और पापमय सा प्रतीत होता था।[१३४] लुईपा बगाल गये और गगातट पर मछलियो के ढेर मे रह कर उन्होंने अपनी साधनाएं की और मैथुन कर महामुद्रासिद्धि प्राप्त की।[१३५]

बौद्ध परम्परा के बाहर भी कभी-कभी इस बात के प्रमाण मिलते है कि सिद्ध लोग सपत्नीक गृहस्थ जीवन विताते थे। यह परम्परा अवश्य पहले से चली आ रही थी। कालिदास मे हमे सपत्नीक सिद्धो का एक रोचक उल्लेख मिलता है। जब मेघ से यक्ष अलकापुरी जाने की प्रार्थना करता है तब वह कहता है कि 'इस पहाडी से जब तुम ऊपर उडोगे तो तुम्हारी गति से आकृष्ट होकर सिद्धो की भोली भाली प्रेयसियाँ अनिमेष दृष्टि से तुम्हारी ओर देखेंगी और आश्चर्य मे पड जायँगी कि कही यह पर्वत ही तो नही उडा जा रहा है।[१३६] कालिदास के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि मालव के दक्षिण मे सम्भवत. महाराष्ट्र के आसपास सिद्धो की परम्परा थी जो सपत्नीक रहते थे। वे बौद्ध सिद्ध नही रहे होगे किन्तु उन्ही के अनुकरण मे सरहपा ने इस पद्धति को ग्रहण किया होगा। किस प्रकार सरहपा ने इस योगिनीनय को दोहाकोष में प्रज्ञापरक अर्थ दिये है इस पर हम विचार कर चुके है। इनके अतिरिक्त कई स्थानो पर सखि के प्रति उद्‌बोधन मिलता है जिससे इन साधनाओ मे महामुद्रा नारी का साथ होना प्रमाणित होता है।

कुक्कुरीपा की महामाया साधना मे वज्रनृत्य के साथ गाई जाने वाली वज्रगीति मे सखि के प्रति स्पष्ट सम्बोधन है। 'ओ सखि वज्र द्वारा प्रबोधित होने पर कमल विकसित हो गया है आओ महासुख पर आरोहण कर नृत्य करें।'[१३७] इसी प्रकार वीणापा की चर्या में हठयोग की वीणा का वर्णन देने के उपरान्त वे अपनी सखि को सम्बोधित कर कहते है—हे सखि हेरुक वीणा बजा रही है...राजा नाच रहा है, और देवी गा रही है। यह बुद्ध-नाटक हो रहा

है।[138] टीका मे इस सखी देवी योगिनी को नैरात्म्यरूप बताया गया है जिससे स्पष्ट है कि मडल चक्रो मे वे स्त्रियो को नैरात्मा (प्रज्ञा) के ही रूप मे ग्रहण करते थे।

अब प्रश्न उठता है कि सिद्धो ने इस महामुद्रा साधना के शारीरिक मैथुन रूप के विषय में कुछ क्यो नही कहा। सिद्धो के शेष साहित्य मे यदि इनका विवरण हो तो नही कहा जा सकता किन्तु चर्यापदो और दोहो में तो इनका बहुत अप्रत्यक्ष और थोडा सा उल्लेख है जैसा हमने देखा। इसके कई कारण है। पहला तो यह कि वे महामुद्रा साधना के आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक बल देना चाहते थे इसी लिए सरहपा, तिलोपा और काण्हपा तीनो मे जोगिनी, महामुद्रा और धारिणी का उल्लेख है किन्तु उसे प्रज्ञाज्ञानपरक व्याख्या वे वराबर देते गये है। दूसरी बात यह है कि ये साधनाएँ विकसित अवस्था के साधको के लिये थी और जनसाधारण को इनका उपदेश देना वर्जित था। अद्वयवज्र ने वज्रयान के साधक के मूल और स्थूल दो प्रकार के दोष बताए है और उनमे 'गुह्यख्यान जने पक्षे' यह दोनो मे परिगणित है।[139] अत इस ज्ञान को सभी पर प्रकाशित नही किया जा सकता। इसके लिये साधक को पहले ४ अभिषेको की साधना से गुज़रना पडता है तब वह महामुद्रा-साधन-प्रणाली मे दीक्षित किया जा सकता है। इन अभिषेको का उल्लेख जहाँ-तहाँ चर्यापदो की टीकाओ मे मिलता है।[140] इन्ही अभिषेको से दीक्षित साधक को चर्याधर या कपाली भी कहा जाता था।[141]

महामुद्रा का वरण करने के उपरान्त योगी गुरु के पास जाता है जो उसे अभिषिक्त करता है। अभिषेको से महामुद्रा साधना सम्पन्न होती है।[142] चौदहवी चर्या की टीका मे 'गगन दुखोल' से पानी उलीचने को चतुर्थ सेक कहा गया है जिससे सम्भवत प्रज्ञाभिषेक का सकेत है क्योकि गगन शून्य-प्रज्ञा का प्रतीक है। १७वी चर्या की टीका मे भी टीकाकार ने प्रज्ञाज्ञानाभिषेक का उल्लेख किया है और उसका समय चतुर्थ सन्ध्या बताया है।[143]

इन अभिषेक के उपरान्त साधक महामुद्रा के साथ मण्डल चक्र मे प्रवेश करता है। सिद्धो ने स्थान-स्थान पर निम्न प्रकार के, अर्थात् अन्य सम्प्रदायो के, या बौद्धो मे भी प्रज्ञोपायात्मक ज्ञान से विहीन मण्डल चक्रो का खडन किया है।[144] किन्तु इसी से यह समझ लेना उचित नही है कि वे मण्डल चक्र मात्र के विरोधी थे। कई स्थानो पर ऐसा उल्लेख मिलता है कि वे मडल चक्र

की साधना मे प्रवृत्त होते थे किन्तु उत्तम मडल चक्र वे उसे मानते थे जो प्रज्ञोपायात्मक हो। सेकोद्देश टीका, गुह्यसमाज तन्त्र तथा अन्य कितने ही बौद्ध तन्त्रो मे मण्डल चक्र की साधना का विवरण देते हुए यह स्पष्ट कहा गया है कि प्रथम दीक्षा या अभिषेक के समय गुरु साधक के लिये मण्डल चक्र की नियोजना करता है किन्तु साधना की विकसित अवस्थाओं मे उससे कहा जाता है कि वह इस वाह्य मण्डल चक्र को देह मे व्याप्त पच स्कन्धात्मक मण्डल चक्रो की अभिव्यक्ति मात्र समझे। इसके भी वाद उससे कहा जाता है कि वास्तविक चक्र तो तथागत की निर्माण काया मे विन्दु और रज अथवा कमल और कुलिश के युग्म से नियोजित हाता है।

मण्डल चक्र की प्राथमिक साधनाओ के विषय मे सेकोद्देश टीका मे वडा रोचक विवरण मिलता है। गुरु पहले एक मण्डल चक्र वनाकर उसमे मन्त्र, पीठ, उपपीठ, देवतास्थान आदि अकित कर देता है। फिर साधक के हाथ मे एक फूल दे दिया जाता है जिसे गुरु की वन्दना कर साधक चक्र के अन्दर फेंकता है। उसके वाद गुरु उसकी आँखें मे पट्टी वॉध कर साधक को मण्डल के पूर्वी द्वार पर ले आता है। मण्डल के अन्दर प्रवेश कर वह फिर वाहर विजयकलश पर फूल फेंकता है। इस पुष्पाक्षेप के बाद उसकी आँखो की पट्टी खोल दी जाती है।[१४५]

इस मण्डल चक्र को भी तथागत् की काया वतलाया गया है क्योकि मण्डल चक्र के उस भाग को, जो रगमयी अल्पना से सुसज्जित है, तथागत की काया माना गया है और उसमे फूल फेंकना वर्जित है क्योकि यदि रगो की एक रेखा भी बिगडी तो उससे तथागत की काया को आहत करने या एक चैत्य तोड़ने का पाप होता है।[१४६]

जहाँ तक सिद्धो का सम्वन्ध है, वे निर्माण काया से उद्भूत आन्तरिक मण्डल चक्र को श्रेष्ठ मानते थे और सदा मण्डल चक्र के आध्यात्मिक पक्ष पर बल देते थे। यह मण्डल चक्र तथागत की निर्माणकाया का प्रतीक होता था।[१४७] इसका उल्लेख गुह्य-समाज-तन्त्र मे भी मिलता है और वहाँ पच स्कन्धो के मण्डल चक्रो का ध्यान करने का सन्देश दिया गया है और उन पच स्कन्धो के अधिष्ठाता पाँच तथागत है।[१४८] उनमे वज्रसत्व को जोडकर षट-तथागत होते हैं और काण्हपा को टीकाकार ने षट् तथागत चक्री बताया है।[१४९] गुह्य समाज तन्त्र के अनुसार नारी महामुद्रा के तन मे भी पच तथागतो का

वास है अत उसकी साधना कर लेने वाले को भी तथागतचक्री कहते है।[१५]
इसीलिये महामुद्रा की साधना कर लेने वाला फिर समस्त वाह्य अनुष्ठानो से मुक्त हो जाता है। काण्हपा ने कहा है कि 'तन्त्र मन्त्र करने की फिर कोई आवश्यकता नही रह जाती। निज गृहणी महामुद्रा को लेकर प्रणयकेलि, कमल-कुलिश साधना करना ही पर्याप्त है। ऐसे जप, होम, मण्डलकर्म केवल वाह्य होने के कारण निरर्थक है, उस तरुणी महामुद्रा के स्नेह के बिना बोधि (ज्ञान) नही प्राप्त हो सकती।'[१५१]

समाधि

महामुद्रा के साथ साधक की साधना की चरम परिणति को समाधि कहते है जो प्रज्ञा और उपाय के समागम के कारण प्रज्ञोपाय समाधि या दोनो से उद्भूत होने के कारण सहज समाधि कहलाती है। समाधि का उल्लेख योगाचार[१५२] मे भी है और प्रज्ञापारमिता[१५३] मे भी, किन्तु सिद्धो की सहज अथवा प्रज्ञोपाय समाधि[१५४] वज्रयान के तान्त्रिक आचार्यो की अपनी निजी कल्पना है। यही समाधि सिद्धि, महासुख तथा अनुत्तर प्रदान करने वाली है और इसमे स्थित होने के उपरान्त फिर साधक आचार के बन्धनो से मुक्त हो जाता था। गम्यागम्य, भक्ष्याभक्ष्य का कोई भी बन्धन उस पर अनिवार्य नही रहता था क्योकि वह सभी कर्म नैरात्म्य भावना से करता था। उसमे उसकी आसक्तियाँ नही रहती थी।[१५५]

यही समाधि अष्ट महासिद्धि, महासुख, समरस और अनुत्तर ज्ञान की उपलब्धि कराती थी।

घ

उपलब्धि

हम देख चुके हैं कि तान्त्रिक काल मे साधनाओ द्वारा सिद्धि की उपलब्धि का विशेप महत्व था और सिद्ध पुरुप उन्हे कहते थे जो साधनाओ द्वारा असाधारण, अति-मानवीय शक्तियाँ उपलव्ध कर लेते थे।[1] इन सिद्धियो का हठयोग, रसायन-साधना आदि की चिन्तनधारा में भी विशेष महत्व था। अथर्ववेद के ही सूत्रो मे हमारा परिचय इन अति-प्राकृतिक सिद्धियो से होता है और उन्हे सिद्ध करने के अभिचार और अनुष्ठानो का उल्लेख मिलता है। योगशास्त्र में मन्त्रादि के अतिरिक्त समाधि द्वारा सिद्धि-लाभ को सर्वोत्कृष्ट मार्ग बताया गया। भारतीय चिन्तन-परम्परा मे धीरे-धीरे जगत का अस्तित्व चित्तगत माना जाने लगा अत चित्त की वृत्तियो को भली-भाँति निरुद्ध कर एक ही दिशा मे उन्मुख करने से विभिन्न प्राकृतिक शक्तियो पर नियन्त्रण और प्रभुत्व लाभ करने को उत्कृष्ट सिद्धि माना जाने लगा। इसी परम्परा के अनुसार कालान्तर में सिद्धियो को तीन वर्गों मे विभाजित किया जाने लगा, अधम, मध्यम तथा उत्तम।[2] अधम और मध्यम सिद्धियाँ अनुष्ठान-परक थी और भौतिक सम्पन्नता को लक्ष्य मानती थी, लेकिन उत्तम सिद्धि मे केवल चित्त में विचार उठते ही कार्य का सम्पन्न होना बताया गया है।

सिद्धियाँ

अत उत्तम सिद्धि चित्तगत ही मानी जाती थी और शेष सिद्धियो को उससे नीचा स्थान दिया गया था। यह उत्तम सिद्धि चित्तवृत्तियो के निरोध या समाधि मे प्राप्त होती थी। पातजलि योग-दर्शन मे साधन की दृष्टि से पाँच प्रकार बताई गई हैं, जन्मजा, ओषधिजा, मन्त्रजा, तपोजा, समाधिजा।[3] समाधिजा सिद्धि की प्रकृति का विश्लेषण कहते हुए पातजलि ने लिखा है कि जिस

प्रकार वर्षा की नदी की समस्त दिशाएँ अवरुद्ध कर एक ही दिशा उद्घाटित कर दी जाय तो उसमे अदम्य और अपराजेय शक्ति आ जाती है उसी प्रकार चित्त की समस्त वृत्तियो का निरोध कर एक ही दिशा मे उन्हे निर्देशित किया जाय तो उनमे असाधारण दैवी शक्ति आ जाती है।[४]

बौद्ध तन्त्र-परम्परा मे भी सिद्धियो के दो वर्गों को स्वीकार किया गया है, उत्तम तथा सामान्य। गुह्य-समाज-तन्त्र मे अन्तर्धान आदि को सामान्य सिद्धि तथा बुद्धत्व-साधन द्वारा प्राप्त सिद्धियो को उत्तम कहा गया है।[५] यह बुद्धत्व साधन प्रज्ञोपाय-समापत्ति-योग या प्रज्ञोपाय समाधि ही है।[६] सेकोद्देश मे भी दो प्रकार की सिद्धियाँ बताई गई है, लौकिक तथा लोकोत्तर। लोकोत्तर सिद्धि को महामुद्रा सिद्धि, अनुत्तर सिद्धि या महासुख की सिद्धि बताया गया है।[७]

इन सिद्धियो की सख्या यूँ तो अनगिनती है किन्तु फिर भी इनमे से प्रमुख तथा उत्कृष्ट सिद्धियो की एक सख्या निर्धारित करने की परम्परा रही है। ब्रह्मवैवर्त मे मनोयातित्व, सर्वज्ञत्व, दूर-श्रवण, परकाय- प्रवेश, चिरजीवित, वायु-स्तम्भ आदि ३४ सिद्धियाँ बताई गई है।[८] कही-कही सिद्धियो की सख्या १८ तथा २४ भी बताई गई है।[९] किन्तु हठयोग साधना मे ८ प्रमुख सिद्धियाँ मानी जाती थी।[१०] अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व तथा काम-वशायित्व। बौद्ध तन्त्रो ने भी इसी परम्परा का अनुगमन कर ८ विशेष महासिद्धियाँ स्वीकार की थी किन्तु सम्प्रदाय भेद से ये अष्ट महासिद्धिया हिन्दू योगशास्त्र की अष्ट महासिद्धियो से अलग थी। ये अष्ट महासिद्धियाँ थी—खड्ग अजन, पादलेप, अन्तर्धान, रस रसायन, खेचर, भूचर, पाताल।[११] उत्तम, अनुत्तर सिद्धि के अतिरिक्त इन लौकिक अथवा सामान्य अष्ट महासिद्धियो की भी उपलब्धि तान्त्रिक साधनाओ द्वारा हो जाती थी।

चर्यापदो में एक स्थान पर इन अष्ट महासिद्धियो का उल्लेख आया है। शान्तिपा वाम और दक्षिण मार्ग को छोडकर, अर्थात् केवल शून्य या केवल करुणा, केवल रसना या केवल ललना, केवल उपाय या केवल प्रज्ञा का मार्ग छोडकर मध्यम सहज पथ या ऋजु पथ को ग्रहण करने का उपदेश देते हुए यह कहते है कि उसमे महासुख की अनुभूति तो होती है, अष्ट महासिद्धियो की भी उपलब्धि होती है।[१२]

अभी तक प्राप्त बौद्ध तन्त्रो मे इन सिद्धियो का सागोपाग श्रृङ्खलाबद्ध

विवेचन नही मिला है किन्तु अलग-अलग साधनाओ मे इन सिद्धियो की ओर

अजन आदि

अप्रत्यक्ष सकेत मिलते हैं। खग सिद्धि सभवत मन्त्रो से अभिषिक्त शस्त्र सिद्धि को कहते थे जो शत्रुओ को पराजित करने और बलि देने के उपयोग मे आती थी।[१३] इस खड्ग की स्थिति मण्डल चक्र में उत्तर की ओर मानी जाती थी।[१४] खड्ग वास्तव मे पच रश्मि-प्रभाओ से युक्त वज्र[१५] को ही कहते थे और उसे धारण करने वाले सिद्ध को खड्गधर या वज्रधर कहते थे।[१६] इसी वज्र या खड्ग धारण करने के कारण उस सिद्ध को महाशूर अथवा वीर भी कहा जाता था।[१७] अंजन के अर्थ उस अजन से है जो आँख मे लगाने से निहित तथा परोक्ष सत्ताओ और वस्तुओ को देखने की शक्ति दे देता है।[१८] इसका चित्तगत अर्थ होगा नैरात्म्य-दृष्टि या सर्व-शून्य-दृष्टि। पादलेप उस सिद्धि को कहते थे जिसमे पाँवो मे कुछ लेप कर लेने से सिद्ध कही भी जा सकता था। अर्थात् उसकी गति निर्बाध हो जाती थी। अन्तर्धान के अर्थ थे लोगो के सम्मुख खडे-खडे लुप्त हो जाना।[१९] इसके लिए गुह्य साधनाओ मे महामास-समय का विधान है और इसको सिद्ध कर लेने वाले को अन्तर्द्धानाधिप कहा जाता है।[२०] रस रसायन सिद्धि तथा उसकी योग-परक साधना का विवरण पीछे दिया जा चुका है।[२१] खेचर सिद्धि के अर्थ थे आकाश मे विहार करने की शक्ति जिसके दार्शनिक अर्थ थे शून्य मे विहार करना। इसी प्रकार भूचर के अर्थ है ससार मे किसी भी स्थान मे विचरण कर सकना जिसके दार्शनिक अर्थ हम भव-ज्ञान को पूर्णत सिद्ध कर लेना भी कर सकते है। पाताल के अर्थ थे निम्न लोको मे गमन करने की शक्ति।[२२] वास्तव मे तन्त्रो की प्रकृति यह थी कि उन्होने भौतिक तथा आध्यात्मिक का भेद बिलकुल मिटा दिया था। प्रत्येक वस्तु के लौकिक तथा अलौकिक दोनो अर्थ होते थे और दोनो ही मान्य होते थे। इसी प्रकार इन सिद्धियो को हृदगत, चित्तगत[२३] भी माना जाता था और भौतिक, लौकिक भी। दोनो अर्थ एक दूसरे से अभिन्न होकर चलते थे।

कालान्तर में लोक परम्परा मे सिद्धियो के भौतिक चमत्कारपूर्ण अर्थो को महत्व दिया जाने लगा था और ये चौरासो सिद्ध उन्ही चमत्कारो के लिये प्रख्यात थे। इन सिद्धो के चमत्कारो की एक झलक हमे मिल चुकी है।[२४] उनमे रस रसायन, अन्तर्धान, तथा अन्य कितनी ही सिद्धियो को उनके दर्शन-

परक अर्थ की अपेक्षा लौकिक अर्थों मे ग्रहण किया गया है जो लोक परम्परा के लिये स्वाभाविक है ।

अनुभूतियो द्वारा प्राप्त इन सिद्धो की चमत्कार-गाथाओ के विश्लेषण करने से इन विशेष बातो का पता लगता है । पहली तो यह कि ये इन सिद्धियो का प्रयोग अपने सम्प्रदाय की रक्षा के लिये करते थे और अन्य सम्प्रदाय के लोगो को पराजित करते रहते थे । दूसरे इन सिद्धियो के प्रयोग मे लोक-कल्याण की भी भावना रहती थी, लोकरक्षा का भाव रहता था । अकाल, अनावृष्टि, अतिवृष्टि महामारी, रोग, दारिद्रय, आदि मे यह जनता की सहायता करते थे । तिब्बती अनुश्रुतियो मे इसके उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलते हैं । सरहपा के शिष्य नागार्जुन इन सिद्धियो मे पारगत थे । जिस समय सरहपा आर्यतारा की साधना मे लीन थे उस समय मगध मे अकाल पडा । जनता भूखो मरने लगी । भिक्षुओ को भी अन्न नही मिलता था । उसी समय नागर्जुन सघाराम मे पधारे और उन्होने रस रसायन की साधना की और दुर्भिक्ष समाप्त हो गया ।[२५] इसके अतिरिक्त ये सिद्ध महायान की रक्षा तथा अन्य सम्प्रदायो को पराजित करने के लिये भी सिद्धियो का उपयोग करते थे । विरूपा ने त्रिलिंग देश मे जाकर ऐसा चमत्कार किया कि वहाँ जितनी बौद्धेतर देव-मूर्तियाँ थी, सब खड-खड होकर गिर गईं, त्रिशूल भी टूट गया ।[२६] मध्यदेश मे जाकर विरूपा ने अपने पैर धोकर उसका जल राजा के वनवादल नामक हाथी को पिला दिया जिससे वह रण मे गया और एक शत म्लेच्छ राजाओ को पराजित कर चला आया ।[२७] इसी प्रकार विरूपा ने गौड देश मे एक ताजिक सुल्तान को अपनी सिद्धियो द्वारा त्रस्त कर दिया था ।[२८] कभी-कभी ये सिद्ध इन रक्षात्मक सिद्धियो का प्रयोग राजाओ तथा प्रजाओं को अपने सम्प्रदाय मे दीक्षित करने के लिये भी किया करते थे । इस सम्बन्ध मे एक राचक कथा योगिनी-चिन्ता की मिलती है ।[२९] योगिनी-चिन्ता पहले शुंडिनी (मद्य विक्रेता) थी । उसकी भेंट वीणापा तथा डोम्बी हेरुक से हुई । उस देश का राजा तीर्थिको का शिष्य था। चिन्ता ने डोम्बी हेरुक से कहा कि 'तुम इस राजा को बौद्ध बना सकते हो यदि इसे साँपो का भय दिलाओ ।' डोम्बी हेरुक ने ऐसा चमत्कार किया कि उसके महल के चारो ओर विषधर सर्प घूमने लगे । राजा भयाकुल बैठा था कि यह स्त्री मदिरा

सिद्धियो का प्रयोग

लेकर गई और कहा कि 'तीथिको की पूजा से कुछ नही होगा। आचार्य डोम्बी हेरुक अपनी सिद्धि द्वारा इस आपत्ति को दूर कर देंगे।' डोम्बी हेरुक को राजा ने बुलाया और उन्होने ऐसी साधना की कि सभी साँप पाताल मे प्रविष्ट हो गये। उसके वाद उस स्त्री को तथागतो का प्रेमी देख कर वीणापा ने अभिषेक और दीक्षा प्रदान की और भगवती लक्ष्मीकरा[३०] ने उसे साधना दिखाई और अन्त मे वह वज्र-योगिनी चिन्ता के नाम से प्रख्यात हुई।

अनुत्तर सिद्धि

इन लौकिक या सामान्य सिद्धियो से उच्चतर स्तर की सिद्धि अध्यात्मपरक चित्तगत सिद्धि थी जो साधक अपने ही देह मे प्रज्ञोपाय योग या समाधि द्वारा सिद्ध करता था। उसी के लिये तिल्लोपा ने कहा है कि प्रज्ञोपाय समाधि मे जव साधक लीन होता है, तभी उसे काय वाक् चित्त की दृढता (वज्रता) प्राप्त होकर अनुत्तर की सिद्धि होती है।[३१] यह अनुत्तर वास्तव मे वुद्धज्ञान या तत्वज्ञान है जो शून्यता या करुणा, प्रज्ञा तथा उपाय के एकात्म ज्ञान का ही दूसरा नाम है।[३२] इस अनुत्तर की उपलब्धि को काण्हपा ने वडी रोचक शैली मे अपने एक पद मे वर्णित किया है।[३३] इसको डोम्बी बधू तथा कान्ह वर या महामुद्रा और साधक के विवाह में दहेज स्वरूप मिलने वाला धन मानते है जो टीकाकार के अनुसार अनायास बिना श्रम (अक्लेशेन) प्राप्त हो जाता है।[३४] जब कान्हपा डोम्बी से विवाह करने जा रहे है तव भव और निर्वाण दोनो की ढोल और पखावज बज रही है। मन को पवन मे लीन कर पालकी वनाई गई है (धर्मकाय का लय) और जय-जय-युक्त दुन्दुभिनाद आकाश मे गूंज रहा है। कान्ह ने डोम्बी से विवाह कर जन्मादि बन्धनो को नष्ट कर दिया है और दहेज रूप मे उसे अनुत्तर धर्म की प्राप्ति हुई है।[३५]

अनुत्तर उपलब्धि की यह परम्परा सिद्धो ने योगाचार से ग्रहण की थी। अनुत्तर के अर्थ है सर्वश्रेष्ठ, जिसके उपरान्त कुछ न हो, जो अशेष हो। विज्ञानवाद मे उसे सर्वाकारज्ञता या तथता कहा गया है और इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने से अनुत्तर पद की उपलब्धि बताई गई है।[३६] यह अनुत्तर सहज का ही पर्याय बन गया क्योकि अद्वयवज्र ने इसे अनुत्तर सहज कहा है।[३७] वास्तव मे सहज (प्रज्ञोपाय अद्वय) ही मूल तत्व है और अनुत्तर उसका विशेषण है जो उसके पर्याय रूप में प्रयुक्त किया गया है। इसी की उपलब्धि प्रमुख उपलब्धि है।

यह उपलब्धि जो ज्ञान के क्षेत्र मे सहज या अनुत्तर ज्ञान है, अनुभूति के क्षेत्र मे वही महासुख, सहजानन्द, सहज सुख या समसुख है जो कि प्रज्ञा और उपाय के समान युगनद्ध से प्राप्त होता है। सिद्ध कि व्याख्या करते हुये कान्हपा ने उसको सिद्ध बताया है जो समरसता द्वारा अपने चित्त को सहज मे स्थित कर जरामरण के भय से मुक्त हो जाता है।[३८] यह समरस गृहणी महामुद्रा के प्रगाढ स्नेह मे प्राप्त होता है।[३९] तिलोपा भी इसी समरस को श्रेयस्कर बताते है।[४०] इस समरसता मे शूद्रत्व और ब्राह्मणत्व का कोई विचार नही है क्योकि यह अभेद-बुद्धि-जन्य है, भेद-बुद्धिजन्य नही।[४१] जिस प्रकार जल जल मे प्रवेश कर समरस हो जाता है उसी प्रकार प्रज्ञोपाय मे प्रज्ञा और उपाय का दाम्पत्य रूप मे युगनद्ध हो जाता है।[४२] भुसुकुपा भी यही उदाहरण देते हुए कहते है कि जैसे जल जल मे समाकर अभेद हो जाता है, उसी प्रकार समरस मे मन रूपी मणि शून्यता मे समा कर अभेद हो जाती है।[४३]

महासुख

इसी समरसता की अनुभूति को समसुख[४४] अथवा महासुख कहते है। इस महासुख की व्याख्या करनी बहुत कठिन है, क्योकि यह समरस है, सहजानन्द है, न वह श्रवण से सुन पडता है, न नयन से दीख पडता है, न पवन उसे हिला पाती है न अग्नि उसे जला पाती है, न जल वर्षा से वह आर्द्र होता है, न वह बढता है, न घटता है, न वह अचल है, न गतिशील है, उपनिषदो के ब्रह्म की ही भाँति उसकी नेतिपरक व्याख्या ही दी जा सकती है। किन्तु साथ ही वह केवल नेतिपरक नही है क्योकि जिस भव मे लग कर व्यक्ति मरता है, उत्पन्न होता है, बन्धन मे पडता है, उसी मे लग कर वह परम महासुख को भी सिद्ध कर लेता है।[४५] इसकी तो केवल अनुभूति-परक व्याख्या ही की जा सकती है और इसलिये सिद्धो ने स्थान-स्थान पर उस अनुभूति की ओर सकेत करने पर भी अन्त मे हार कर कह दिया कि उस अनुभूति की अभिव्यक्ति ही नही की जा सकती।[४६]

इसी सहजानन्द परम महासुख को वे सहजामृत भी कहते है। अनुभूति की अगम्यता के कारण उसे भी व्याख्या से परे बताया गया है और गुरु केवल उस मार्ग मे शिष्य को प्रवृत्ति करा सकता है, उसकी व्याख्या नही कर सकता।[४७] किन्तु जो अनुभूतिपरक महासुख की साधना न कर केवल ज्ञानपथ मे शास्त्रागम

इत्यादि के मरुस्थल मे भटकते रहते हैं उनका विनाश हो जाता है, वे अमृत से वंचित रह जाते है।[४८]

साधना के लक्ष्य का विश्लेषण

इस प्रकार सिद्धो ने अपनी साधना का लक्ष्य ज्ञान नही वरन् अनुभूति मान ली थी। तन्त्रो से प्रभावित होकर प्रज्ञोपायात्मक कल्पना से उन्होने अपने समस्त तत्वज्ञान, साधनापद्धति, हठयोग, अनुष्ठान और अभिव्यक्ति को रग डाला था किन्तु इसके पीछे उनका उद्देश्य क्या था इसका एक सक्षिप्त मूल्याकन कर लेना आवश्यक है। सिद्धो का उद्देश्य था बौद्धो के निवृत्तिमूलक, दु खवादी रूप का निराकरण कर सुख, आनन्द, भावना और भोग की प्रतिष्ठा करना। वह जीवत जो कि सहज है, प्रवृत्तिमूलक है, मानवीयता का निषेध नही करता, उसी को उन्होने अपने ढग से, अपनी सीमाओ के अदर बौद्ध परम्परा मे प्रतिष्ठित किया। वे सीमाएँ हठयोग की दुरूहताएँ थी किन्तु उनके अतिरिक्त जो कुछ बच रहता था वह लोकमानस के निकट था।

इसके लिये उन्होने बौद्ध परम्परा से भी विद्रोह करने मे संकोच अनुभव नही किया यद्यपि सम्प्रदाय परम्परा के अनुसार उस विद्रोह को उन्होने पूर्वागत सिद्धान्तो की नवीन व्याख्या या नये सशोधन के रूप मे रक्खा। उन्होने सहज की कल्पना की और सारी परम्परा को सहजपरक व्याख्या देने का प्रयास किया। अभी तक साधना की उपलब्धि निर्वाण ही माना जाता रहा, इन्होने निर्वाण को गौण स्थान दिया, उसे केवल भव का ज्ञान मात्र बता कर अन्तिम परिणति नही माना, निर्वाण को केवल पथ का एक मोड मान कर उसके भी आगे प्रज्ञोपाय अनुष्ठान और सहजानन्द को प्राप्त करने का उपदेश दिया। वैराग्यमूलक अस्वाभाविक जीवन को त्याग कर सिद्धो ने महामुद्रा रूप मे गृहणी से परिणय कर गृहस्थ जीवन मे समस्त भोगोपभोगो के बीच ही तत्वज्ञान का उदय सिद्ध किया। वे जीवन मे विराग के स्थान पर राग, निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति और ज्ञान के स्थान पर अनुभूति की प्रतिष्ठा करने के लिये सन्नद्ध थे। यह पिछली बौद्ध परम्परा की कठिन श्रमण साधनाओ की अस्वस्थ प्रतिक्रिया मात्र ही नही थी। इसके पीछे सिद्धो का एक स्वस्थ, सुगठित जीवनदर्शन था। वे प्रवृत्तियो के दमन को हानिकर मानते थे, प्रवृत्तियो की स्वस्थ तृप्ति मे ही जीवन का पूर्ण

विकास और लौकिक जीवन के चेतन समरस निर्वाह मे ही आध्यात्मिक मूल्यो का स्फुटन होता है यह उनका दृढ विश्वास था।

तिलोपा ने एक स्थान पर कहा है 'जिम विस भक्खइ विसहिं पलुत्ता, तिम भव भुजहि भवहि ण जुत्ता।'[४८] जैसे विष का विधानपूर्वक उपभोग करने वाला फिर विष के प्रभाव से मुक्त हो जाता है उसी प्रकार भव का विधान-पूर्वक उपभाग करने वाला फिर भव मे लिप्त नही होता। उसी को योगी कहते है। वह विराग-योगी नही है, महाराग-योगी है, गृहणीयुक्त है और गृहिणी को वह महाप्रज्ञा के रूप मे ग्रहण करता है। इसी भाव को आर्यदेव बडे सुन्दर रूपको मे इस प्रकार प्रस्तुत करते है 'जैसे कान मे जाकर कष्ट पहुँचाने वाला जल, जल के ही आघात से बाहर निकलता है, जैसे काँटे से काँटा निकलता है, उसी प्रकार राग से राग-लिप्ति का भी निराकरण होता है। जैसे धोबी कपडो का मैल छुडाने के लिए मैली सज्जी मिट्टी का ही प्रयोग करता है उसी प्रकार मन से विपयासक्ति दूर करने के लिए विषयो की ही साधना अनिवार्य है। जैसे लोहा पानी मे डालने से डूब जाता है, किन्तु वही लोहा पात्र रूप मे गठित होने पर जलपोत बन कर यान के रूप मे न केवल स्वय तरता है वरन् दूसरो को भी तार देता है उसी प्रकार प्रज्ञोपाय-विधान से इस चित्त को पात्रीकृत कर साधक भवभोग करता हुआ स्वयम् भी मुक्त हो जाता है और दूसरो को भी मुक्त करता है। जैसे अग्निदाहक होती है किन्तु स्नेह से सिक्त होकर वर्तिका मे प्रतिष्ठित होकर वह निष्कम्प दीपशिखा के समान तिमिर का नाश करती है उसी प्रकार राग भी सस्कृत होकर ज्योति विकीर्ण करता है, अन्धकार का नाश करता है।[५०]

इस प्रकार इन सिद्धो का दर्शन भव के उपभोग का उपदेश देता था किन्तु महाराग द्वारा परिशोधित कर लेने के उपरान्त। वह केवल भोगवादी जीवन-दर्शन नही था। आध्यात्मिक चेतना के बिना, यह उपभोग बन्धन मे डाल देता था। खाओ पिओ, सुख से रमण करो, किन्तु उसका आध्यात्मिक लक्ष्य समझ कर, उसके पीछे की व्यापक प्रज्ञोपायात्मक भूमिका को भली-भाँति हृदयगम कर।[५१] खाने का अर्थ है सहजामृत का पान और सुख मे रमण करने का अर्थ है महासुख का उपभोग करना। इस प्रकार उन्होने एक ओर साधना को प्रवृत्तिमूलक बना कर उसमे लोकजीवन की प्रतिष्ठा की, वहाँ दूसरी ओर केवल विषयासक्तियो पर निरोध भी किया। अन्तर और बाह्य मे उन्होने अद्वय

स्थापित करने की चेष्टा की। उन्होंने जीवन-दर्शन प्रतिपादित किया जो चित्त की विशुद्धता के साथ साथ वाह्य भव के उपभोग पर भी कोई प्रतिबन्ध नही लगाता था।

इसी प्रकार उन्होंने स्त्री और शूद्र को भी न केवल धर्म साधना मे समाविष्ट किया वरन् उन्होंने उनको सर्वोच्च महत्व दिया। डोम्बी, चाडाली, रजकी यह उनके लिए प्रतीक शब्द थे, किसी जातिमात्र के वाचक होने के कारण ही सिद्ध इन्हे त्याज्य नही समझते थे।

महामुद्रा की साधना के उपरान्त सिद्ध वाह्य तन्त्र-मन्त्रो का विरोध भी करते थे और अनुत्तर पद पाने के उपरान्त वे समस्त आचार बन्धनो और कर्मकाड विधानो के निषेध का भी प्रतिपादन करते थे। परम्परागत पाडित्यपूर्ण ज्ञान की अपेक्षा वे जीवन की भावात्मक अनुभूतियो को अधिक महत्व देते थे। इस प्रकार सिद्धो ने निस्सदेह लोक-धर्म की प्रतिष्ठा बौद्ध-परम्परा मे की और एक नया जीवन-दर्शन सम्मुख रक्खा।

किन्तु उनमे सब कुछ विराट, उदार और जीवन को विकास देने वाला ही नही था। उनकी अपनी सीमाएँ थी। वे सीमाएँ अधिकतर युगप्रभाव से समन्वित साम्प्रदायिक सीमाएँ थी। वे बौद्ध थे अत साम्प्रदायिक परम्परा कायम रखने के लिए उन्हे बहुत-सी ऐसी बातें अपनानी पडी जो उनके मूल जीवन-दर्शन से मेल नही खाती थी। वह तान्त्रिक युग था और तन्त्रो मे जहाँ लोकजीवन के कुछ स्वस्थ पक्ष थे वही अन्धविश्वास, चमत्कारवाद आदि कुछ ऐसे भी तत्व थे जिन्हे हम दूसरे अध्याय मे आदिम तत्व (Primitive element) या असस्कृत तत्व बता चुके है, जो हानिकर थे, जिन्होंने अन्त मे उनकी परम्परा को जर्जर बना दिया।

चतुर्थ अध्याय

काव्य-पक्ष

क

भाव-पक्ष

"चर्यापद वास्तविक रूप मे 'साहित्य' नही कहे जा सकते। उनका अभिप्राय और उनका मर्म प्रमुखत धार्मिक है, साहित्यिक नही। साहित्य के वास्तविक अर्थों मे वे साहित्यिक सौन्दर्य से हीन है। उनका प्रमुख महत्व भाषात्मक और धार्मिक है। फिर भी कही-कही उनमे ऐसे पद मिल जाते है जिनमे असाहित्यिक वातावरण के बावजूद शुद्ध काव्य की छटा दीख पडती है।"[१] यह मत चर्यापदो तथा दोहो के काव्यपक्ष के विषय मे डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने व्यक्त किया है। न केवल सिद्ध वरन् उनकी परम्परा मे माने जाने वाले नाथो और सन्तो के साहित्य के विषय मे भी विद्वानो की यह सम्मति रही है कि उनमे काव्य गौण रहा है, धार्मिक विवेचन प्रमुख। हिन्दी क्षेत्र मे अभी तक कवि के रूप मे कबीर का स्थान सर्वमान्य नही हो पाया है।

निस्सदेह इस प्रकार का निर्णय लौकिक काव्य-शास्त्र की कसौटी पर कस कर दिया जाता रहा है। किन्तु हमे यह भूलना नही चाहिये कि इन समस्त कवियो के सम्मुख जीवन का लौकिक पक्ष उतना महत्वपूर्ण नही था। वे साधक थे और साधक के लिये लौकिक जीवन बन्धन था, अज्ञान था, मायाजाल था। उसकी समस्त साधना का लक्ष्य ही यह था कि वह इस मायाजाल से किसी प्रकार मुक्त होकर लौकिक जीवन से दिव्य और आध्यात्मिक अर्थों को ग्रहण कर पाये। इसीलिये उनके काव्य लौकिक काव्य-शास्त्र की कसौटी पर कस कर हम उनका सही मूल्याकन नही कर सकते और न उनके दृष्टिकोण को सही समझ सकते है। उनके काव्य का सही मूल्याकन करने के लिये हमे उसी दृष्टिकोण

का परिचय प्राप्त करना चाहिये जिससे प्रेरित होकर, जिसे आधार बना कर यह काव्य प्रणीत किया गया है।

इसके साथ ही साथ हमे इस भ्रम को भी दूर कर देना चाहिये कि ये सिद्ध तथा इनके समकालीन अन्य सम्प्रदाय के तात्रिक पद्धति के धार्मिक कवि काव्य-शास्त्र के नियमो से अपरिचित थे। उनमे से बहुतो ने सम्पूर्ण सस्कृत वाड्मय का गहरा अध्ययन किया था और तान्त्रिको मे कितने ही आचार्य ऐसे थे जिन्होने व्याकरण और काव्य-शास्त्र की दिशा मे अपनी अमूल्य देन दी है। अभिनवगुप्त का स्फोटवाद और ध्वनि-सम्प्रदाय भारतीय काव्यशास्त्र का सम्भवत. सबसे महत्वपूर्ण मोड है[२] और अभिनवगुप्त एक प्रख्यात तान्त्रिक साधक थे, यह तथ्य सर्वविदित है। किन्तु अभिनवगुप्त के इस सिद्धान्त के पीछे काव्यशास्त्र के विषय मे तान्त्रिक धारणाओ[३] की एक लम्बी पूर्वागत परम्परा थी जिसकी ओर कम विद्वानो का ध्यान गया है। अभिनवगुप्त ने उन समस्त धारणाओ का विवेचन कर उनको एक तन्त्र (रीति, नियम) मे अनुशासित कर उसके एक विशिष्ट परिणाम को तर्क सहित सम्मुख रखने और उसे काव्य-शैली की एक नई कसौटी के रूप मे मान्यता देने का दुस्तर कार्य सम्पन्न किया था।

तन्त्र और काव्यशास्त्र

वास्तविकता यह है कि जिस प्रकार तान्त्रिक पद्धति ने एक सर्वथा नवीन जीवन-दर्शन और आचार-व्यवस्था का प्रतिपादन किया था उसी प्रकार भाव-जगत, हमारी अनुभूतियाँ और उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा, उसकी इकाइयाँ स्वर और व्यजन आदि की भी, वे नई, नाद और बिन्दु सिद्धान्त पर आधारित व्याख्याएँ प्रस्तुत कर रहे थे। उनकी दिशा ही सर्वथा अलग, एक नई दिशा थी, जिससे वे इन समस्याओ की ओर अग्रसर हो रहे थे। जिस प्रकार उन्होने यह प्रतिपादित किया था कि हमारे सारे बाह्य अनुष्ठानो के पीछे लौकिकता से सर्वथा ऊपर एक दूसरा गहन और अध्यात्मपरक अर्थ है, उसी प्रकार वे मानवीय भावो, वासनाओ, राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि के भी एक दूसरे मानवोपरि दिव्य अर्थ पर विश्वास करते थे, यहाँ तक कि सम्भोग तक को उन्होने किसी आन्तरिक आध्यात्मिक साधना का बाह्य समानान्तर मात्र माना था। इसी प्रकार भाषा का भी वे एक दूसरा अर्थ लेते थे। लौकिक प्रयोग मे, लौकिक जीवन मे, लौकिक पदार्थो का बोध कराने वाली भाषा ही अन्तिम नही है। भाषा के, अक्षरो के

अर्थो मे कई स्तर होते हैं। सबसे ऊपर के छिछले स्तर पर ही भाषा का लौकिक अर्थ है, उससे और गहरे उतरने पर भाषा के, अक्षरो के सर्वथा दूसरे आध्यात्मिक और देवता-परक अर्थ निकलते है यहाँ तक कि स्वत शब्द ही ब्रह्म है या अक्षर विभिन्न देवताओ के स्वरूप मात्र है। वाणी के परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक बहुत पुराने वैदिक विभाजन का भी यही अभिप्राय है।[४] और तन्त्रो मे स्वीकृत मन्त्रो की शक्ति, शब्दो के वैष्णव, शैव और शक्ति रूप तथा बीजाक्षरो के सिद्धात का मर्म यही है।[५]

चूंकि तन्त्रो ने ठहयोग की साधनाएँ अपनाई थी और वाह्य शब्द-तत्व का परम-रूप भी माना था अत धीरे-धीरे वाणी के गहनतम आध्यात्मिक रूप 'परा' का सम्बन्ध योग के नाद से कर दिया गया। इस सम्बन्ध मे नागेश के शब्द-ब्रह्म का सिद्धान्त विशेष रूप से द्रष्टव्य है क्योकि विद्वानो का मत है कि नागेश पर तात्रिक प्रभाव बहुत अधिक है।[६] नागेश ने ब्रह्म-तत्व मे लीन शक्ति को स्वीकार किया है और नाद का सम्बन्ध उसी से जोडा है। उनका कहना है कि प्रलय के समय समस्त प्राणी माया मे लीन हो जाते है और माया चेतन ईश्वर मे लीन हो जाती है। जब प्राणियो के कर्म कालवशात् अपरिपक्वता से परिपक्वता की अवस्था मे पहुँचते है तव उन्हे फल प्रदान करने के लिये परमात्मा सृष्टि की कामना करता है। सृष्टि की इच्छा ही माया है। इसी माया को शक्ति-तत्व कहते है जिसके तीन विभाग होते है, बीज, नाद और विन्दु। बीज अचित् होता है, नाद चिद्-अचित् होता है और विन्दु चित् होता है। इसी विन्दु से शब्द-ब्रह्म नामक नाद की उत्पत्ति होती है जिसे रव या परा भी कहते है, जो सृष्टि की उत्पत्ति का उपादान कारण है। यूं तो यह शब्द ब्रह्म सर्वव्यापक है किन्तु प्राणियो मे यह मूलाधार चक्र मे गतिहीन रूप में स्थित रहता है किन्तु जव ज्ञात अर्थ के बोध की इच्छा से प्रयत्न होता है तव उसमे गति जागृत होती है और शब्द की अभिव्यक्ति होती है।[७]

इस अभिव्यक्त शब्द की स्थिति चूंकि कण्ठ मे है, अत कण्ठस्थ विशुद्धाख्य चक्र की भाषा और काव्य से बहुत निकट का सबध माना गया है। विशुद्ध चक्र के चिन्तन से साधक कवि, वाग्मी और ज्ञानी वनता है।[८] इस प्रकार तन्त्रो मे कविता भी हठयोग की साधना से प्राप्त होने वाली एक सिद्धि मान ली गई थी। अन्य तान्त्रिक आम्नायो मे केवल वाह्य अनुष्ठानो द्वारा भी

कविता की सिद्धि का स्पष्ट विधान मिलता है। सुरा और मीठा मिले हुए दूध का उपहार देवता पर चढाने से त्रैलोक्य का वशीकरण और काव्य-कौशल की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार जप करने से गद्य पद्यमयी सर्वविध सम्पूर्ण वाणी का लाभ होता है।[९]

तान्त्रिक होने के नाते वज्रयानी सिद्धो मे भी काव्य और भापा शैली आदि के विपय मे यही विचार बौद्ध शब्दावली मे पाये जाते है। उनके यहाँ बहुत पहले, महायान के विकास के साथ ही साथ न केवल कविता वरन कला के समस्त रूप, चित्र स्थापत्य, सगीत, नृत्य आदि को धार्मिक साधनापद्धति के अनिवार्य अग के रूप मे स्वीकृत कर लिया गया था। सद्धर्म-पुण्डरीक मे उपाय-कौशल नामक द्वितीय परिवर्त मे स्थापत्य, मूर्ति कला, सगीत आदि की साधना द्वारा बोधि-लाभ करने का विधान मिलता है।[१०] इसी प्रकार कविता भी उनके यहाँ तान्त्रिक साधनाओ द्वारा प्राप्त एक सिद्धि मानी जानी जाती थी। मृत्युवचन-तारा को साधना मे खग, अजन, पादलेप आदि अष्ट महासिद्धियो के अतिरिक्त कविता, वक्तृता, मेधा तथा एकान्त निर्मला प्रज्ञा आदि की भी सिद्धि का विधान है।[११] इसी प्रकार आर्य जागुली की साधना द्वारा भी कविता, सर्वशास्त्रज्ञान आदि सिद्धियो की उपलब्धि बताई गई है।[१२]

इसका कारण यह है कि बौद्ध तन्त्रो और वज्रयानी साधनाओ मे भी काव्यशास्त्र, भाषा, शब्द और उनके अर्थों की स्थिति, बीज, नाद और विन्दु के सम्बन्ध मे लगभग वे ही धारणाएँ प्रचलित थी जो हिन्दू तन्त्रो मे मिलती है। जिस प्रकार शब्द ब्रह्म की हिन्दू कल्पना है उसी प्रकार सरहपा ने इस समस्त सृष्टि को एक ही वर्ण मे आबद्ध बताया है।[१३] उसी अक्षर मे सकल आबद्ध है और जो उस अक्षर की साधना करता है वह निरक्षर लौकिक अक्षर (जो बन्धनरूप है) से मुक्त हो जाता है।[१४] उसी अक्षर की साधना सरहपा करते हैं यद्यपि उसका रहस्य इतना गुह्य है कि उसके नाम की भी वे व्याख्या नही कर सकते।[१५]

सरहपा का मत

यही एक महाअक्षर बीज के रूप मे समस्त बौद्ध तान्त्रिक देवताओ का उत्पादक है। ए तथा व के दिव्य रूप पर हम विस्तृत विचार कर चुके है।[१६] यह बीज शून्यतारूप होता है और इसी से देवता के बिम्व, न्यास विन्यास

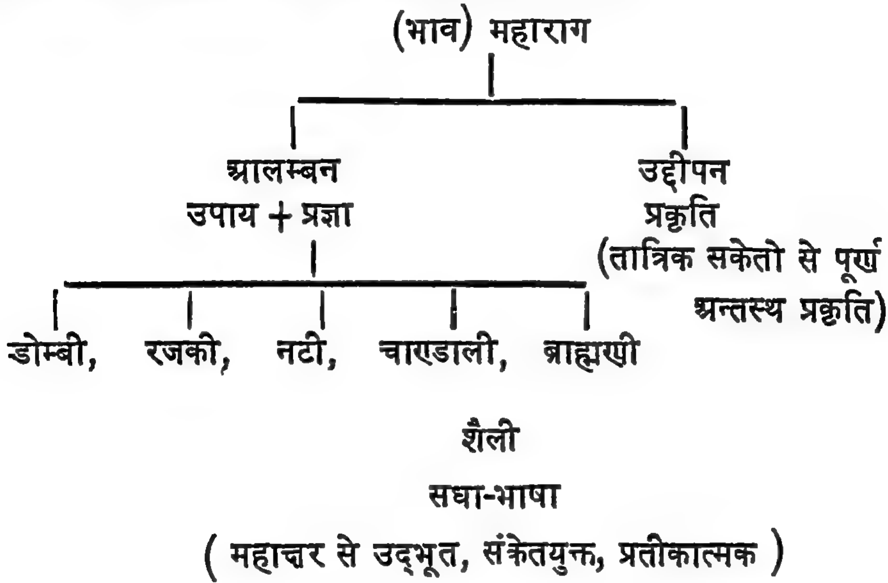
आदि की उद्भावना होती है।[17] इसी को गुह्य-समाज-तन्त्र मे वज्रचतुष्टय कहा गया है।[18]

यह महाअक्षर काव्य की शैली के रूप मे सन्धावचन कहलाता है जिस पर हम आगे विस्तार मे विचार करेंगे। सरहपा ने इसके लिए एक स्थान पर वाच् या वाक् शब्द का प्रयोग किया है जो महत्वपूर्ण है। सरह कहते है कि मैंने गुरु के वचनो मे सत्य विश्वास किया है और जो कुछ कहा है वह वाक् द्वारा कहा है।[19] वाक् का परम्परागत तान्त्रिक अर्थ है जिसका आधार वाणी की वैदिक कल्पना है। वैदिक कल्पना मे वाक् के चार भेद माने जाते थे परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी जिन पर हम विचार कर चुके है।[20] यह वाक् ही विश्व रूप है, गोरूप है, वाक् ही सरस्वती है, माया है, वही ब्रह्म का विराट रूप है, यही वाक् अक्षर है और यही दिव्य काव्य है।[21] किस प्रकार यही वाक् इन्द्र (वज्र) की पत्नी या प्रज्ञा के रूप मे वेदो मे परिकल्पित की गई, इस ओर भी हम सकेत कर चुके है।[22] इसी वाक् का मन अथवा प्राणतत्व से पत्नी रूप मे समागम का भी सकेत ब्राह्मणो मे मिलता है।[23] सरहपा तथा अन्य सिद्ध ब्राह्मण होने के नाते वेद वेदागो के पूर्ण ज्ञाता थे। यह तारानाथ ने बराबर कहा है। फिर भी यदि हम उन पर वेदो का प्रत्यक्ष प्रभाव न भी मानें तो तान्त्रिक परम्परा के माध्यम से ये धारणाएँ उनसे अज्ञात नही रही होगी। इसी काव्य की मूल शक्ति वाक् को वज्र से समन्वित कर वाग्वज्र सिद्ध करने की पद्धति सिद्धो की साधना मे महत्वपूर्ण स्थान रखती थी। उस पर हम पीछे विचार कर चुके है।[24] वाग्वज्र मे बीजाक्षरो के प्राणायाम सहित जप की साधना का विधान है और उसी से साधक की वाक्शक्ति या शून्यता-बोधि मे वज्र या उपाय की प्रतिष्ठा होती है। उपाय बोधिचित्त या मन का प्रतीक है। इस प्रकार वाक् और मन के जिस मैथुन की ओर श्रुतियो का सकेत है, वह प्रज्ञोपाय साधना द्वारा वज्रयान मे सम्पन्न होता है। इस प्रकार समस्त वाक् या काव्य शैली प्रज्ञोपायात्मक सकेतो से परिपूर्ण हो जाती है और उसमे वज्र और कमल का समागम पूर्ण होता है। अक्षर, पद, वाक्य सभी इसी प्रज्ञोपाय भावना से युक्त होते है, कम्बलाचार्य (कम्बलाम्बरपा) के कुछ श्लोक सरहपा के दोहा-कोष की टीका मे उद्धृत है जिनमे भाषा तथा काव्यशैली की इस तान्त्रिक प्रकृति की ओर सकेत किया गया है।[25]

जिस प्रकार सिद्धो के इस तान्त्रिक काव्यशास्त्र में भाषा-शैली का एक प्रज्ञोपायात्मक साकेतिक रूप प्रधान हो गया था, उसी प्रकार भाव-पक्ष मे भी सिद्धो का काव्य लौकिक-भाव का आश्रय ग्रहण न कर महा-राग का आश्रय ग्रहण करता था। महाराग किस प्रकार सम्बोधि-प्राप्त चित्त का भाव था और उनमे किस प्रकार लौकिक प्रणय भावना अलौकिक आध्यात्मिक अर्थ ग्रहण कर लेती थी इसकी ओर हम पीछे सकेत कर चुके हैं।[२६] यह राग तरुणी महामुद्रा के प्रति साधक का अटूट स्नेह था जिसके बिना इस जन्म मे तो बोधि मिलना असभव है। किन्तु यह राग केवल एकपक्षीय नही था। भगवती प्रज्ञा भी महामुद्रा के रूप में साधक से उतना ही प्रेम करती थी और नायक-नायिका के रूप मे उपाय तथा प्रज्ञा, मन तथा वाक्, बोधिचित्त तथा नैरात्मा या साधक तथा महामुद्रा इस महाराग रूपी स्थायी भाव के आलम्बन थे। इतना ही नही, सिद्धो के काव्य मे नायिका-भेद का भी एक रूप है और प्रज्ञा का डोम्बी, चाण्डाली, रजकी आदि के रूप मे विभाजन उनके अपने नायिका-भेद के रूप मे माना जा सकता है। इस वर्गी-करण का आधार मन की विभिन्न वृत्तियाँ थी। कुछ विद्वानो ने इन शक्तियो, प्रज्ञाओ या महामुद्राओ को तीन[२७] और कुछ ने पाँच वर्गों[२८] मे बाँटा है। वसु महोदय तीन प्रमुख वर्ग बताते हैं, अवधूती जिसमे द्वैत भाव की प्रधानता है, चाण्डाली जिसमें द्वैत भाव अद्वैत की ओर उन्मुख है और बंगाली अथवा डोम्बी जिसमे अद्वैत भाव प्रधान होता है। उन्होने अपने इस वर्गीकरण के कोई प्रमाण नही दिये हैं। किन्तु जैसा हम पीछे सिद्धो के पदो की टीकाओ के आधार पर देख चुके है अवधूती द्वैत भाव नही वरन् द्वैत-ललना-रसना को विवर्जित करने वाली वधू है, चाण्डाली उसीं में प्रकाशमान चण्डाग्नि की सज्ञा है, डोम्बी ज्ञान से सम्बद्ध होने के कारण नैरात्मा प्रज्ञा को कहते है, और बगाली तो नायिका नही वरन् नायक के लिए प्रयुक्त हुआ है जो चण्डाली का स्वामी है।[२९] इस प्रकार वसु महोदय का यह वर्गीकरण प्रामाणिक नही प्रतीत होता। डा० बागची ने इन नायिकाओ को पाँच कुलो मे बाँटा है। डोम्बी, नटी, रजकी, चाण्डाली तथा ब्राह्मणी और इसके आधार ५ स्कन्ध बताये है। पाँच स्कन्धो के आधार पर तथागत और उनकी शक्तियो के कुलो के वर्गीकरण पर हम विस्तृत विचार कर चुके है।[३०] उद्दीपन की दृष्टि से हठयोग मे अन्दर ही अन्दर मेरुशिखर, उसके दुर्गम मध्यस्थित सहज पथ, अवधूती, कमल, उनकी

महाराग

पाँखुडियाँ, मार्ग के समस्त पीठ, उपपीठादि, समय की दृष्टि से विभिन्न अभिषेको के विभिन्न समय, अर्द्धरात्रि आदि, चन्द्र-सूर्य, अमृत आदि अन्तस्थ तत्व थे जिससे प्रकृति की एक विराट साकेतिक पृष्ठभूमि अन्दर ही विद्यमान थी। प्रज्ञा तथा उपाय की प्रणय लीला के लिये यह समस्त तान्त्रिक सकेतो से युक्त चित्त मे स्थित रहने वाली प्रकृति उद्दीपन का काम देती थी। इस प्रकार सिद्धो के तान्त्रिक रहस्यवादी काव्यशास्त्र की रूपरेखा इस प्रकार होगी—



काव्यरूप और विषय-वस्तु

इस प्रकार कविता के विषय मे सिद्धो का दृष्टिकोण तथा उसके पीछे की तान्त्रिक पृष्ठभूमि समझ लेने के बाद हम उनके काव्य की सही पीठिका से अवगत हो जाते हैं। उनके काव्य का विश्लेषण करने पर हम पाते है कि स्थूल रूप से हम उनके काव्य को दो वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं, गीति तथा मुक्तक। सिद्धो के तथा उन्ही के समकालीनो के वज्रयानी दोहे, पद तथा प्रहेलिकाओ मे काव्य के इतने रूप मिलते है—चर्यापद, वज्रगीति, मुक्तक, दोहे तथा अर्द्धालियाँ।[21] इन रूपों मे प्रथम दो गीति-काव्य और अन्तिम तीन मुक्तक-काव्य के अन्तर्गत आते है। इस प्रकार स्थूल रूप से हम सिद्धो के साहित्य के दो भेद मान सकते है—गीति तथा मुक्तक।

काव्यरूप की दृष्टि से हम इन पर वाद मे विचार करेंगे किन्तु विषय-वस्तु की दृष्टि से इनमे से गीति (चर्यापद, वज्रगीति) भावप्रधान और मुक्तक

(दोहे. प्रहेलिका) आदि नीतिप्रधान हैं। यह स्वाभाविक भी है। चर्यापद में बोधिचित्त की चर्या, अर्थात् प्रज्ञा को ग्रहण करने की महारागयुक्त चर्या का सन्धा-भाषा मे काव्यात्मक वर्णन है और दोहे आदि जनता मे उसी तत्व-चिन्तन और साधना को प्रचलित करने, साम्प्रदायिक खण्डन-मण्डन-करने, सैद्धान्तिक विवेचन करने, साधक को ज्ञान और चेतावनी देने के लिये थे। इनके इन विभिन्न लक्ष्यो का विधान हमें अन्य बौद्ध तान्त्रिक ग्रन्थो और विधानो मे भी मिलता है। किस प्रकार साधना के समय गीतिकाओ के गाने की परम्परा योगाचार से ही चली आ रही है इस पर हम विचार कर चुके है।[३२] हेरुक के बुद्धकपाल रूप को जाग्रत करने के लिये चर्यागीति के गाने का विधान साधनमाला मे मिलता है।[३३]

किन्तु दोहो का उल्लेख सर्वथा दूसरे प्रसगो में मिलता है। तारानाथ ने अपनी कथाओ मे सिद्धो और उनके दोहो का उल्लेख किया है। उसने यह दिखाया है कि इन दोहो से सिद्धो ने किस प्रकार अपने धर्म का प्रचार किया और किस प्रकार बडे-बडे राजा अपनी समस्त प्रजा समेत इन दोहो के प्रभाव से बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये थे।[३४] इससे स्पष्ट है कि इन दो प्रमुख काव्यरूपो में न केवल रूप भेद था वरन् उनकी विषयवस्तु तथा उनका उपयोग भी अलग-अलग था। एक में भाव-पक्ष प्रधान था, दूसरे में नीति-पक्ष तथा विवेचना।

किन्तु उनका इतिहास देखने से एक बडे रोचक तथ्य का पता चलता है। वास्तव मे ये दोनो काव्यरूप एक विशेष पारमिता के विकास की दो अवस्थाओं के ही काव्यात्मक प्रतिफलन मात्र हैं, इसीलिये उनमे एक गहरी साम्प्रदायिक एकसूत्रता भी है। वह पारमिता है उपाय-कौशल। पहले उपाय-कौशल पारमिता के अर्थ थे वह कौशल और प्रयत्न जिनके द्वारा बौद्ध भिक्षु घूम-घूम कर जनता मे बुद्ध का सन्देश और महायान धर्म के सिद्धान्तो का प्रचार करते थे। इसी उपाय-कौशल के अन्तर्गत सन्धा-भाषा का प्रयोग तथा चैत्य-निर्माण, प्रतिमाकन, सगीत आदि कलाओ के उपयोग का विधान था।[३५]

एक पारमिता के दो पक्ष

कालान्तर में जब सिद्धो की प्रज्ञोपाय-साधना का विकास हुआ, मैथुन भावना आई और उपाय-कौशल पारमिता वज्र मे परिवर्तित होकर उपायरूप मे बदल गई तव जनपक्ष मे धर्म-प्रचार के अतिरिक्त उसका रूप व्यक्ति-पक्ष मे

वज्र,मणि, कुलिश या वज्रचित्त हो गया और उसका सम्बन्ध लोक-साधारण मे धर्मप्रचार से न रह कर वैयक्तिक साधना में मुद्रा-मैथुन की गुह्यचर्या से हो गया।[२६] इस प्रकार उपाय को जब पुराने उपाय कौशल के महायानी रूप मे जन-पक्ष मे धर्म प्रचार के रूप मे ग्रहण किया जाता है तब उसका काव्यात्मक माध्यम दोहा होता है जो नीति और विवेचना प्रधान है। और जब वही उपाय *कमल-कुलिश-साधना मे व्यक्ति-पक्ष मे कुलिश रूप में ग्रहण किया जाता है* तब उसका माध्यम होता है पद या गीति जो भाव तथा अनुभूति प्रधान है। इसी दृष्टि से सिद्ध साहित्य मे विषयवस्तु की दृष्टि से दो पक्ष प्रमुख है, भाव-पक्ष तथा नीति-पक्ष, जो स्थूल रूप से चर्यापद तथा दोहो मे अभिव्यक्त हुए हैं। किन्तु इसके पहले कि हम इन दोनो का विवेचन करें, यह भली-भाति हृदयगम कर लेना चाहिए कि भाव तथा नीति पक्ष मे कोई ऐसी स्पष्ट विभाजक रेखा नही खीची जा सकती और बहुत स्थलो मे भाव-साधना गाते-गाते सिद्ध नीति का उपदेश देने लगते है और बहुत स्थलो पर नीति का उपदेश और धर्मतत्व का विवेचन करते-करते भावविभोर हो जाते है। इसका एक प्रमुख कारण यह माना जा सकता है कि मूल मे ये दोनो पक्ष एक ही पारमिता से विकसित हुए है।

भाव पक्ष सहज रस

हम पीछे देख चुके है कि उपलब्धि पक्ष मे सिद्धो ने परपरा से आती हुई निर्वाण भावना का तिरस्कार कर महासुख की अनुभूति को प्रमुखता प्रदान की है। अपने साहित्य के भावपक्ष मे उसी महासुख की उपलब्धि की प्रणाली का वर्णन तथा उसकी अनुभूति की अभिव्यक्ति, यही उनका मुख्य लक्ष्य रहा है। महासुख उपलब्धि की प्रज्ञोपायात्मक योग-प्रणाली को दाम्पत्य प्रणय के रूपको मे वे वर्णित करते रहे है जिस पर हम अभी विचार करेंगे, किन्तु जहाँ तक महासुख की अनुभूति का प्रश्न है सिद्धो ने वाणी की विवशता स्वीकार कर ली है और स्पष्ट कहा है कि यह रहस्यानुभूति ऐसी है जिसे अभिव्यक्त ही नही किया जा सकता। इस रस की उद्भावना और आस्वादन इतना गुह्य है कि सारे व्यापार हृदय मे ही हो जाते हैं, वाह्याभिव्यक्ति तो उन्हे छू ही नही पाती। जैसे सुरग मे उठने वाली धूल सुरग मे ही विलीन हो जाय वैसी ही यह अनुभूति है। इसे कौन कह सकता है और कौन समझ सकता है।[२७] इस सहजामृत रस का आस्वादन ही

किया जा सकता है, गुरु भी इसे समझा नही सकता, न शिष्य केवल गुरु के वचनो से समझ सकता है। इसके लिये तो स्वत उसी मार्ग में प्रवृत्त होना पडता है।[३८] चर्यापदो की टीका मे भी इस अनुभूति की अतिशय गुह्यता का समर्थन सरहपा के एक दोहे का उद्धरण देकर किया गया है।[३९] अन्ततोगत्वा इस अनुभूति की अभिव्यक्ति की असमर्थता को एक बडे ही मार्मिक उदाहरण से सरहपा ने समझाया है। वे कहते हैं कि इस महासुख रूपी परमतत्व को कैसे अभिव्यक्त किया जाय ? इसमें साधक की परिस्थिति उसी कुमारी की भाँति होती है जिसने पहली बार सँम्भोग का अनुभव किया हो और जब सखियाँ उससे बार-बार पूछती हो कि अपने सुख का कुछ वर्णन तो करो, तो वह हार कर कहती है कि मै उसके विषय में कहूँ क्या, वह वाणी स बताया ही नही जा सकता, उसे तो तुम तभी समझोगी जब तुम स्वत परिणय के उपरान्त प्रिय से मिलोगी। वह तो अनुभव की वस्तु है, अभिव्यक्ति की नहीं[४०] और उस अनुभूति की उपलब्धि का मार्ग यही है कि हम मन को नायकरूप मे और शून्यता खसम को नायिकारूप मे आयोजित कर रात दिन सहज भाव से रहे।[४१]

इस प्रकार वास्तव मे इस भाव-साधना के वास्तविक नायक और नायिका तो तथागत और उनकी भगवती नैरात्मा है। उसी विश्वव्यास प्रणयकेलि को साधक बोधिचित्त को नायक और नैरात्म्य ज्ञान को नायिका मान कर अपने चित्त मे आयोजित करता है। डोम्बी के प्रति कपाली का प्रेम-निवेदन, चण्डाली के प्रति भुसुकु बगाली का प्रेम-निवेदन, यह सब वास्तव मे बोधिचित्त और शून्यता की ही प्रणय-केलि के विभिन्न रूपक है। अद्वयवज्र ने इस दाम्पत्य भाव साधना का अपने 'प्रेमपचक' मे बडा ही स्पष्ट निरूपण किया है। उनके कथनानुसार शून्यता कामिनी है और प्रतिभास रूपी बोधिचित्त उसका नायक है। दोनो एक दूसरे से अलग नही रह पाते, एक दूसरे के बिना वे अपूर्ण है, मृत है। अत वे अपने विरह का अतिक्रमण कर एक दूसरे से मिलने के लिये प्रवृत्त होते है। किन्तु ज्ञान के बिना वे शकित है। उन्हे पथ नही ज्ञात, एक दूसरे का व्यक्तित्व और प्रकृति नही ज्ञात। अत गुरु उनके बीच में दूती का कार्य करता है और उनका मिलन करा देता है। उस मिलन से सहज प्रेम

आलम्बन-विभाव
नायक नायिका
दूती

उत्पन्न होता हैं और अनुत्तर की प्राप्ति होती है, निःस्वभाव का उदय होता है ।[४२]

चर्याचर्यविनिश्चय के लगभग चौदह पदो मे इस प्रज्ञोपाय दाम्पत्य प्रणय का काव्यात्मक वर्णन मिलता हैं ।[४३] उनमे नायक को वीर, शबर, कपाली, बगाली आदि की सज्ञा दी गई है और नायिका को डोम्बी, चाण्डाली, शबरी आदि शब्दो से अभिहित किया गया है । इन शब्दो के पीछे काव्यशास्त्र कोई परम्परा न होकर हठयोग तथा मुद्रामैथुन सम्बन्धी गुह्य सकेत है जिन पर हम आगे सधा भाषा के प्रतीको के रूप मे विचार करेंगे ।

लौकिक काव्यशास्त्र की दृष्टि से सिद्धो ने नायिका के स्वकीया रूप पर विशेष बल दिया हैं । बाद मे वैष्णवो मे परकीया रूप पर जो इतना आग्रह मिलता है, उसका सिद्धो मे सर्वथा अभाव है ।

स्वकीया

वे वरावर नायिका को गृहणी, वधू आदि शब्दो से अभिहित करते है ।[४४] काण्हपा तो व्यवस्थित रूप से परिणय के लिये वर-यात्रा की सारी सज्जा के साथ प्रस्थान करते हैं, जिसमे पटह भी है मादल भी, पालकी भी, दुन्दुभिनाद भी है ।[४५] अपने दोहो मे भी वे प्रज्ञा महामुद्रा को बार-बार गृहणी के रूप मे वर्णित करते है और स्पष्ट कहते है कि जैसे नमक पानी मे घुल जाता हैं, उसी प्रकार अपनी गृहणी को अपने चित्त मे धारण करो ।[४६]

किन्तु कुछ चर्यापदो मे नायिका का वर्णन ऐसा मिलता हैं कि उनसे उनका परकीयत्व लक्षित होता है । १०वें चर्यापद मे जहाँ काण्हपा तन्त्री और

परकीया

भाजन लेकर नौका से प्रतिदिन नगर आने वाली डोम्बी से कापालिक के रूप में समागम की इच्छा प्रकट करते हैं वहाँ उनकी शब्दावली और डोम्बी का वर्णन ऐसा हैं कि वह स्वकीया तो कदापि नही हो सकती है । इसी प्रकार जहाँ अनुराग की अभिव्यक्ति करते है वहाँ भी अनूढा परकीया ही प्रतीत होती है ।[४७]

दो चर्यापदो मे शुण्डिनी तथा मातगी का ऐसा वर्णन मिलता हैं कि वे बहुत कुछ सामान्या की कोटि मे रक्खी जा सकती है । शुण्डिनी नायिका दो

सामान्या

घडो मे वल्कल चूर्ण से मदिरा खीचती है । उसके मदिरालय के कई द्वार है जिनमे से दशम वैरोचन द्वार से ग्राहक चिन्ह दिखा कर आते है, जिन्हे वह मदिरा पिलाकर सन्तुष्ट करती

है।[४८] इसी प्रकार गगा तथा यमुना के बीच से नाव खेकर ले जाने-वाली मातगी भी है जो सभी यात्रियो को नाव पर बिठा कर बारी-बारी से पार उतारती है।[४९]

कामचेष्टा की दृष्टि से सिद्धो के पदो मे नायिकाओ मे मुग्धात्व, मध्यात्व तथा प्रौढात्व तीनो ही प्रवृत्तियाँ मिलती है। शवरपा की शबरी ससार से दूर ऊँचे पर्वत पर, मोर पखो से शृङ्गार किये हुए अबोध प्रकृति बालिका की भाँति रहती है। उसकी चेष्टाओ का जो विवरण शबरपा ने दिया है, उससे शबरी बालिका का मुग्धात्व प्रकट होता है।[५०] कुक्कुरीपा की चर्या मे वर्णित वधू जो दिन मे काग से भय खाती है और रात को सास के सोने पर प्रिय से मिलने कामरूप जाती है, वह काम और लज्जा दोनो की स्थिति के कारण मध्या नायिका कही जा सकती है।[५१] नायिका महामुद्रा की प्रौढ प्रवृत्ति के सकेत कई स्थानो पर मिलते है। गुण्डुरीपा कुन्दुरु वीर के रूप मे जब योगिनी से त्रिनाडियो को दबाकर एक भरपूर आलिंगन देने का आग्रह करते है जिस प्रकार उस आलिंगन के उपरान्त वे योगिनी मे चरम अनुरक्त होकर यह प्रकट करते हैं कि वे एक क्षण भी उसके बिना जीवित नही रह सकते तब स्पष्ट हो जाता है कि महामुद्रा रतिप्रिया प्रौढा है, जिसे सम्भोग प्रिय है और जो नायक को पूर्णतया आनन्द दे सकने मे समर्थ है।[५२] जैसा हम पहले देख चुके है कि बौद्ध साधना मे मुद्रा का अर्थ ही मुद् + रा (आनन्द देने वाली) बताया गया था, और समरसता पर विशेष बल दिया गया था जिसमे शून्यता तथा करुणा अथवा प्रज्ञा और उपाय दोनो ही का एक दूसरे के प्रति समान रूप से अनुरक्त होना अनिवार्य बताया गया था। इसी के निर्वाह के लिए महामुद्रा का प्रौढा रूप में चित्रण प्रज्ञोपायात्मक दृष्टि से भी अधिक उपयुक्त है।

मुग्धा, मध्या, प्रौढा

इसी प्रकार अवस्था की दृष्टि से नायिकाओ का जो निरूपण किया गया है, उनमे से कई स्थानो पर नायिका नैरात्मा की अभिसारिका, स्वाधीनपतिका आदि अवस्थाएँ मिलती है। पूर्वोक्त गुण्डुरीपा की चर्या मे वे कहते है कि वे योगिनी का चुम्बन कर कमल-रस पीते हैं और योगिनी ने उनके हृदय पर इतना अधिकार कर लिया हैं कि उसके बिना वे एक क्षण भी नही जी सकते। इस

अभिसारिका आदि

परिस्थिति मे योगिनी नैरात्मा स्वाधीन-पतिका नायिका है। इसी प्रकार पूर्वोक्त कुक्कुरीपा की चर्या मे सास के सो जाने पर वधू अभिसारिका नायिका के रूप मे प्रस्थान करती है और कामरूप आदि पीठ इस अभिसार के सहेट स्थल के रूप मे परिकल्पित है।

नायक और नायिका के इस मिलन मे अद्वयवज्र ने गुरु को दूती रूप में जिस प्रकार चित्रित किया है, वैसा कोई स्पष्ट उल्लेख तो इन पदो मे नही मिलता किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से इन साधनाओ मे गुरु का अतिशय महत्व माना गया है जिस पर हम पीछे विस्तार से विचार कर आये है। जहाँ नायिका को मातगी मान कर नौका बालिका के रूप मे चित्रित किया गया है,[५३] वहाँ बिना गुरु की प्रसन्नता के नौका जिनपुर नही जा पाती ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है। भारतीय रहस्य धर्मसाधनाओ मे गुरु का दूती रूप मे बराबर चित्रण होता रहा है।

दूती गुरु

शृङ्गार के सम्भोग तथा विप्रलम्भ दोनो पक्षो का चित्रण चर्यापदो मे मिलता है। सम्भोग शृङ्गार के अधिकतर स्थल नायिकारब्ध है और नायक ही प्रणयप्रार्थी के रूप मे चित्रित किया गया है। केवल एक स्थल (चर्यापद २) मे नायक का कोई उल्लेख नही है नायिका कामपीडित होकर जागती है और अभिसार के लिये जाती है। अन्य पदो मे नायक ही नायिका के प्रति आसक्त है और उससे प्रणयदान माँगता है। चौथे चर्यापद मे गुण्डुरीपा योगिनी से आलिगन की भिक्षा माँगते हुए उसके मुख का चुम्बन कर कमल-रस पीने की आकाक्षा प्रकट करते है। इसी प्रकार दसवें चर्यापद मे कपाली के रूप मे काण्हपा डोम्बी से समागम करने की कामना करते है और उसके मन में कामना जाग्रत करने की इच्छा से अस्थिमालाएँ धारण करते है। इसी प्रकार काण्हपा ही वर रूप मे डोम्बी को वरण करने के लिए प्रस्थान करते है। शबर भी अपने को प्रेमोन्मत्त नायक के रूप मे चित्रित करते है और शबरी के मिलन के लिये पर्वतारोहण करते है। अन्त मे पूर्ण सम्भोग का चित्रण करते हुए शबरपा शून्य बालिका या नैरात्मा बालिका को कण्ठ से लगा कर सुहाग-शयन का वर्णन करते है।[५४]

सम्भोग, नायकारब्ध

सम्भोग-रति के नायकारब्ध होने का दार्शनिक कारण यह है कि नायक

उपाय का प्रतीक है और प्रज्ञोपाय-प्रणयलीला मे उपाय को ही सक्रिय तथा सचेष्ट माना गया है। हठयोग साधना के अनुसार भी उपाय रूप मे बोधिचित्त जाग्रत होकर, उद्‌बुद्ध होकर ऊर्ध्वगामी होता है और वधू (अवधूती) को ग्रहण करता है। इस पक्ष पर हम पीछे विचार कर चुके हैं।[५५]

विप्रलम्भ श्रृंगार का एक ही चर्यापद है और वह नायिकारब्ध है। कुक्कुरीपा उसमे भगवती नैरात्मा को आसन्नप्रसवा विरहिणी नायिका के रूप मे चित्रित करते है जिसका पति शून्य-चित्त होने के कारण अन्यमनस्क (अमनसिकार) है और विरागी है। उसी परिस्थिति मे उसने एक मृत शिशु को जन्म दिया है और वह प्रसव श्रम से पराभूत है। अपने इस दुख को स्वत. भगवती नैरात्मा चर्यापद मे अभिव्यक्त करती है।[५६]

विप्रलम्भ नायिकारब्ध

नायिकारब्ध रति-भाव की दो मार्मिक परिस्थितियाँ वज्रगीतियो मे मिलती है। पहली वज्रगीति बुद्धकपाल साधना मे मिलती है जिसमें प्रज्ञा की अभिव्यक्ति के रूप में २५ योगिनियाँ हेरुक को समागम के लिए जगाती है। हेरुक उपाय के प्रतीक बौद्ध देवता है और अनुष्ठान के समय कल्पित किया गया है कि वे शून्य स्वभाव मे ही लीन (निष्क्रिय, अन्यमनस्क) है और उपाय या सक्रिय स्वभाव को धारण नही कर रहे हैं। इस परिस्थिति मे कामार्त नायिकाएँ उनके मन मे काम (उपाय) जगाने का प्रयास करती हुई प्रणय निवेदन करती है और कहती है यदि तुमने निश्चित कर लिया है कि मिलन के समय, अनुष्ठान के समय तुम सदैव इसी प्रकार अन्यमनस्क रहोगे तो इतने लोगो को (२५ योगिनियो को) निमन्त्रित करने की क्या आवश्यकता थी। तुम्हे प्रणय की पूर्व वार्ताएँ याद नही रही। उन्हे याद करो, इस विषादमयी उपेक्षा स्थिति से उठो। प्रियतम ! तुम्हारा अपना कार्य (उपाय-पक्ष) भी तो सम्पन्न होना चाहिये। तुम चित्त मे यह द्वैत और द्विविधा क्यो लाते हो। समस्त लोग भव-भय से आकुल हैं, हे योगिनियो के मित्र उठो। अपने पूर्व पद को याद करो, विषाद त्यागो। तुम्हारे अस्तमित (उदास) होने से सभी लोग हतोत्साह हो गये हैं। उनकी निराशा दूर करो। प्रिय ! यह मिथ्या मान क्यो धारण किये हो। इस शून्य निष्क्रिय स्वभाव का परित्याग करो। द्विविधा भाव का परित्याग कर योगिनियो की कामना करो। उनकी कामना पूर्ण करो।[५७]

इसी प्रकार की दूसरी वज्रगीति हेवज्रतन्त्र से बागची ने उद्धृत की है।[५८] उसमे भी अपने को शबरी और डोम्बी की सज्ञा देती हुई नायिका नैरात्मा हेवज्र को शून्य स्वभाव का परित्याग कर सक्रिय करुणा अथवा उपाय का आश्रय लेकर शबरी की कामना (महासुख युगनद्ध) पूर्ण करने का आग्रह करती है। नैरात्मा उसमे 'करुणामय' हेवज्र से कहती है, 'उठो हे करुणामय प्रियतम, मेरी अवस्था तो देखो। महासुख सगम मे ही काममधु है, वही शून्य-समाधि है। तुम्हारे बिना मै मरणासन्न हूँ, उठो हे हेवज्र! शून्यस्वभाव का परित्याग करो, सक्रिय उपाय-स्वभाव ग्रहण करो ताकि शबरी के सभी कार्य सिद्ध हो। तुमने लोगो को, नायिका को निमन्त्रित किया और अब शून्य स्वभाव धारण किये हुए हो। मै चाण्डाली हूँ, कोई अन्य नही हूँ, तुम्हारे बिना मुझे कुछ भी नही दीख पडता। अपना यह इन्द्रजाल रूप (इन्द्रियाबद्ध) छोडो। मै तुम्हारे हृदय की बात जानती हूँ। मै उन्मन डोम्बी हूँ, अपनी करुणा को यो व्यर्थ नष्ट न करो।'

इसी प्रकार का एक कामोद्बोधक अश डाकार्णव मे भी मिलता है। उसमे भी प्रज्ञा वज्रधर साधक से नायिका रूप मे प्रणय निवेदन करती हुई कहती है—'तुमने समस्त जगत को (जगद्व्याप्त शून्यता को) निमन्त्रित किया है प्रभु! अब तुम करुणा को भूल कर केवल शून्य स्वभाव मे क्यो रम गये हो। उठो हे मेरे करुण स्वभाव वाले स्वामी! वज्रधर तो महासुख की कामना करते है, तुम क्यो समागम नही करते। सुनो तो, तुम परोपकारगत हो, फिर पशुलोक की भाँति म्रियमाण निष्क्रिय क्यो हो। मेरे सम्पूर्ण विकसित कमल (भग, स्त्रीन्द्रिय) की कामना करो ताकि समस्त ससार मे सुख छा जाये। मुझमे रमण करो, रमण करो हे वज्रधर! यह प्रज्ञोपायात्मक सहज-भाव बडा ही गहन है . तुम यह शून्य निष्क्रियता छोडो।'[५६]

नायिका की अभिलाषाजन्य प्रणयाकुलता लौकिक साहित्य मे अधिकतर दूती द्वारा नायक के सम्मुख रक्खी जाती रही है। किन्तु यहाँ प्रज्ञा नायिका स्वतः नायक की करुणा (काम) को जाग्रत करतो है। इसका कारण शुद्ध दार्शनिक है। महायान के उद्भव काल से ही करुणा को प्रमुख सिद्धान्त मान लिया गया था और महायानी साधक की विशेषता ही यह थी कि वह शून्य ज्ञान ही नही वरन् करुणारूपी उपाय से भी समन्वित होता था। बिना उस करुणा के शून्य स्वभाव की कोई सार्थकता नही होती है। इसीलिये स्थान-स्थान पर करुणा को जाग्रत करने का आदेश है।

लौकिक दृष्टि से एक विशेषता अवश्य है जिस पर विचार करना आवश्यक है। लौकिक शृङ्गार मे कभी भी नायक इतना निष्क्रिय और निष्काम नही रहता है जितना इन पदो में चित्रित किया गया है। किन्तु वज्र-साधना की दृष्टि से यह सर्वथा सगत है। हम पहले यह देख चुके है कि साधना के प्रारम्भ मे नायक वज्रधर होते हुये भी निष्क्रिय होता है, प्रज्ञोपाय भाव उसमे प्रसुप्त रहता है। जब वह प्रज्ञा का आलिगन करता हैं तब वह आवेश मे आता है और साधना मे प्रवृत्त होता है।[६०] साधना की इसी स्थिति का प्रतिफलन योगिनियो द्वारा हेरुक और हेवज्र के प्रति इन प्रणय-निवेदनो मे मिलता है जो नायिकारब्ध है।

लौकिक काव्य की दृष्टि से पहले के नायकारब्ध शृङ्गार पदो मे नायक की प्रकृति अनुकूल नायक की है जो केवल अपनी वधू डोम्बी गृहिणी मे अनुरक्त है और उसके बिना जीवित नही रह सकता, किन्तु हेरुक दक्षिण नायक है क्योकि उनकी एकाधिक योगिनियो मे समान अनुरक्ति है। नायिका भी उत्तमा प्रकृति की है क्योकि अन्य योगिनियो को हेरुक के प्रति अनुरक्त देखकर भी उसमे ईर्ष्याभाव नही जाग्रत होता। वैसे इसकी दार्शनिक व्याख्या यह दी जा सकती है कि सभी योगिनियाँ एक ही प्रज्ञा की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ है, अत ईर्ष्या का कोई प्रश्न नही उठता क्योकि उनमे आन्तरिक अभेद है।

उद्दीपन विभाव रूप वर्णन

नायक तथा नायिकाओ के रूप वर्णन में सिद्धो ने प्रतीकात्मक शैली का आश्रय लिया है किन्तु लौकिक दृष्टि से भी उन्हे यथार्थ बनाने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से कारहपा का डोम्बी के रूप का वर्णन तथा शबरीपा द्वारा शबरी के रूप का वर्णन उत्कृष्ट है। शबरीपा जब नैरात्मा को शबरी के रूप मे परिकल्पित करते है तो उसके शृङ्गार को लौकिक शबरी बालिका से पूर्णतया एकरूप कर देते है। वह मयूरपख, धारण करती है और गुजमाला से अपने अगो को सजाती है। घने तरुओ के बीच वह वज्र-कुण्डलो को धारण कर घूमती है। नायक शबर का रूप-वर्णन उन्मत्त प्रेमी के रूप मे है जो भुजङ्ग की भाँति कृष्ण वर्ण का है। उसने मिलन के अवसर पर कर्पूर युक्त ताम्बूल खाया है और त्रिधातुओ की शय्या बिछाई है। और शबर आदिवासियो की ही भाँति उसने धनुषबाण भी धारण कर रक्खा है।[६१] इसी प्रकार जब कारहपा नायिका का

चित्रण डोम्बी रूप मे करते है तो लौकिक डोम्बी नारियो की भाँति उसका चित्रण वहुत ही यथार्थ हुआ है। वह डोम्बी नारियो की भाँति नगर के बाहर की कुटिया मे रहती है। वह नृत्य में कुशल है।[६२] वह नौका पर चढकर नदी पार कर नगर के हाट मे अपना सामान बेचने आती है। तन्त्री, मालाएँ तथा हाथ की बुनी टोकरियाँ बेचती है। उससे समरस रति के लिये नायक ने भी अस्थि की माला ग्रहण की है और कापालिक का वीर वेश बनाया है, आली काली का घण्टा और नूपुरादि धारण कर नायक नगर मे विचरण कर रहा है।[६३]

इस रूपवर्णन से यह प्रकट होता है कि सिद्धो ने प्रज्ञोपाय रतिभावना को लौकिक रति का रूपक देने के लिये नायक और नायिका के रूपवर्णन के लौकिक प्रतीक बडी ही सावधानी से चुने है और उनका बडी कुशलता से निर्वाह किया है। शबरी के मन मे एक शबर नायक तथा डोम्बी के मन मे एक कापालिका नायक के लिये रति जाग्रत होना अधिक स्वाभाविक है अत कापालिक के वेश मे रति की अपेक्षा जुगुप्सा अधिक होते हुये भी परिस्थितियो को देखते हुए वह सगत माना जा सकता है।

उद्दीपन का दूसरा अङ्ग है प्रकृति। रति भाव के सन्दर्भ मे चर्यापदो मे प्रकृति का वर्णन अपेक्षाकृत कम है। इसका एक सैद्धातिक कारण है। वाह्य प्रकृति सिद्धो की दृष्टि मे बन्धन का कारण है। वह धर्म-शून्य है, भ्रम है। भव और चित्त की सापेक्षता का विवेचन करते हुये सिद्ध-साहित्य के दर्शन पक्ष मे हम यह देख चुके है कि सिद्ध लोग प्रतीत्य-समुत्पाद के शून्यवादी सिद्धात के अनुसार वाह्य प्रकृति को सत्य नही मानते थे। विज्ञानवादी सिद्धात के अनुसार वे इस समस्त संसार को चित्तगत मानते थे। उन्होने ध्यान-पद्धति के द्वारा हठयोग साधना मे महाभूतो का उदय चित्त के अन्दर ही माना था, वही प्रकृति सत्य है और हठयोग की साधना मे वही प्रज्ञोपायात्मक रूप ग्रहण कर लेती है।

प्रकृति-चित्रण

इसी सिद्धात के अनुसार सिद्धो ने प्रकृति को अन्तस्थ माना था। वही प्रकृति सत्य है क्योकि वह प्रज्ञोपायात्मक है और बोधिचित्त से उद्भूत है। ये वाह्य गङ्गा झूठी है, वाह्य जमुना केवल भ्रम है, वास्तविक गङ्गा-यमुना तो दोनो नाडियो मे है जिनके मध्य से अवधूती पथ द्वारा सहजयान (सहजनौका) प्रवाहित होता है। वाह्य कामरूप, उड्डीयान, जालन्धर, प्रयाग, वाराणसी, मेरु-पर्वत आदि

सब मिथ्या है। वास्तविक कामरूप, उड्डीयान, जालन्धर की स्थिति देह के अन्दर है। प्रयाग ललना-रसना के मिलन स्थान को कहते है, वाराणसी उसके उपरान्त अवधूती मार्ग को कहते है। वास्तविक पर्वत तो रीढ की हड्डी या मेरु दण्ड हैं जिसके शिखर पर शबरी नैरात्मा वास करती है।

इस प्रकार उनकी प्रकृति अन्तस्थ है और हठयोगात्मक है। उसमें अग्नि है जो अधोमुखी होकर बाडवाग्नि बन जाती है और ऊर्ध्वमुखी होकर चण्डाग्नि। उसमे सूर्य और चन्द्र है जो ललना और रसना है। उसमे गगा यमुना है। उसमे निष्कलक चन्द्रमा है जो बोधिचित्त है। उसमे मेघ है जो करुणामेघ है, नाव भी करुणा नौका है जिसमे भरा हुआ स्वर्ण, शून्य-स्वर्ण है। स्थान-स्थान पर कमल खिले हुए है जिसमे से कोई चौसठ पाँखुडी का है, कोई ४ पाखुडी का। इन समस्त प्राकृतिक तत्वो का हठयोग-परक सकेत क्या है, इस पर हम पीछे हठयोग साधना के अन्तर्गत विचार कर आये है।

चूंकि यह प्रकृति अन्तस्थ है, चित्तगत है, अभौतिक है अत इसमे कभी-कभी भौतिक प्रकृति के नियमो का अतिक्रमण भी है। उदाहरण के लिये भौतिक

भौतिक नियमो से मुक्त प्रकृति

प्रकृति मे कमल रात को नही विकसित होता किन्तु भुसुकुपा कहते है कि ३२ योगिनियाँ जिसकी पाखुरियो पर क्रीडा कर रही है ऐसा कमल आधी रात को खिला हुआ है (चर्यापद २७)। भौतिक दृष्टि से यह वर्णन असगत है किन्तु हठयोग की दृष्टि से यही स्वाभाविक है क्योकि प्रज्ञाज्ञानाभिषेक का समय अर्द्धरात्रि है और उसी समय महासुखचक्ररूपी कमल पूर्णतया विकसित हो जाता है। वही समय अभिसार का समय है। इसी प्रकार भौतिक प्रकृति मे कच्छपी का दूध नही दुहा जाता, घडियाल इमली नही खाता, बैल प्रसव नही करता किन्तु कुक्कुरीपा (चर्यापद २) और ढेण्ढणपा की चर्या (पद ३३) मे यह सर्वथा सगत और युक्तिमुक्त है क्योकि इसके हठयोग सम्बन्धी गहन सकेत हैं।

इस प्रकार इन्होने अपनी साधनाओ के लिये बाह्य प्रकृति के प्रतीक अपनाए थे और अपनी साधना को भौतिकता से मुक्त सिद्ध करने के लिये उन्होने क्रम और प्रकृति, उनकी भौतिक कार्यकारण शृखला, उनके स्वरूप आदि मे सशोधन कर दिया था और दार्शनिक दृष्टि से उनका आग्रह था कि

उनकी आन्तरिक प्रकृति ही सत्य है। यह वाह्य प्रकृति तो सर्वथा मिथ्या और भ्रम जाल है और उसकी तुलना वे काल्पनिक गन्धर्व-नगरी, या रज्जु मे दृश्यमान सर्प, वन्ध्यापुत्र, शश-शृंग, खपुष्प, मृगमरीचिका आदि से करते थे और इस प्रकृति का परित्याग कर आन्तरिक हठयोगपरक प्रज्ञोपायात्मक पद्धति को पहचानने का आदेश देते थे (चर्यापद ४१)।

रात्रि, रति का समय

किन्तु जहाँ तक रीति भाव के उद्दीपन का प्रश्न था सिद्ध भी रात्रि को रति का उपयुक्त समय मानते थे और दिन मे रतिदोष मानते थे। इस रात के अर्थ थे प्रज्ञाज्ञानाभिषेक का समय जो चतुर्थी सन्ध्या का समय होता है।[६४] इस समय कालाग्निरूपी धूप अस्त हो जाती है, निर्मल चन्द्र या शुक्ररूपी चित्त का उदय होता है।[६५] और दिन मे काग से भी भय खाने वाली वधू अभिसार के लिये कामरूप सहेट-स्थल को प्रस्थान करती है।

अन्य भाव : उत्साह

इस प्रकार हम देखते है कि सिद्ध साहित्य का भावात्मक अंश मुख्यतया शृङ्गार परक है। किन्तु अन्य भाव भी स्थान-स्थान पर मिल जाते है। उनमे से उत्साह, विस्मय तथा क्रोध मिलते है, हास्य तथा शोक भी कही-कही मिल जाते है। जहाँ तक उत्साह का प्रश्न है आचार्यों ने दान, धर्म, युद्ध और दया में उत्साह की प्रवृत्ति कल्पित कर चार प्रकार के वीर माने है। सिद्धगण एक अन्य वीर सुरतवीर की भी कल्पना करते है।[६६] वह वीर मधुकर रूप में पद्म का मकरन्द पीने मे उत्साह दिखाता है और महाराग द्वारा विराग के दमन के कारण उसे वीर कहते है। रति के अन्तर्गत उत्साह (वीर) की स्थिति सम्भव है या नही, या उत्साह मे रति सम्बन्धी उत्साह को परिगणित किया जाय या नही, इस पर आचार्यों मे काफी तर्क-वितर्क रहा है। सम्भवत भूषण रति में भी उत्साह को स्थान देते थे[६७] और अपने एक कवित्त में उन्होने रति का युद्ध के रूप मे चित्रण किया है। कारहपा ने भी रति के समय वीर कापालिक की वेशभूषा धारण की है (चर्यापद ११) किन्तु उस पद की परिणति रौद्र मे होती है जहाँ वे सास आदि की हत्या करने को सन्नद्ध होते है। इस रौद्र भाव या क्रोधावेश को सिद्धो की तात्रिक साधना मे विशेष स्थान था। लौकिक काव्य की

दृष्टि से इनमे चाहे सगति हो या न हो। तान्त्रिक अनुष्ठानो मे या क्रोधावेश प्रज्ञोपाय साधना का एक अनिवार्य अग था। इसका वर्णन करते हुए सेकोद्देश मे सिद्ध नडपाद (नारोपा) लिखते है कि पहले क्रोध के स्वामी वज्रपाणि का 'ओ अ र र र ल ल ल ल वज्रावेशाय हुँ' इस मन्त्र द्वारा आह्वान करना चाहिये। इसका निरन्तर जाप करना चाहिये। इस प्रकार अहङ्कार साधना द्वारा साधक वज्रपाणि रूप हो जाता है। उसमे असीम बल आ जाता है और उस समय यदि वह शस्त्र द्वारा किसी पर आघात करे तो वह जीवित नही बच सकता। वह उस समय उन्मत्त होकर पागलो की तरह नृत्य करता है, गाता है, अमानवीय व्यवहार करता है, वह निश्शक और निर्लज्ज हो जाता है। उसके बाद इस क्रोधावेश के उपशमन की रीतियो का वर्णन है।[६८] इस अनुष्ठान के वर्णन मे स्पष्ट उल्लेख है कि क्रोधावेश मे शत्रु नष्ट हो जाते है। इस प्रकार बुद्ध द्वारा मार-विजय की प्रतीकात्मक यह क्रोध-साधना कारहपा की चर्या मे परिलक्षित है, यद्यपि उसके हठयोगपरक अर्थ वहाँ दिये हुए है। इस प्रकार शृङ्गार और रौद्र मे सिद्धो के काव्य मे विरोध नही है क्योकि वे एक ही साधना-प्रणाली के अनिवार्य अग है।

क्रोध

तीसरा भाव जो चर्यापदो मे अक्सर मिलता है, वह है विस्मय भाव। जिन चर्यापदो मे हठयोग की साधनाओ की अभिव्यक्ति के लिये ऐसे प्रतीको का प्रयोग किया गया है जो वाह्य भौतिक दृष्टि से एक दूसरे के विरोधी है, जहाँ कार्य और कारण, विशेषण और विशेष्य, वस्तु और धर्म का ऐसा सम्बन्ध दिखाया गया है जो वाह्य भौतिक जगत मे नही होता, उस स्थान पर विस्मय भाव की उत्पत्ति होती है। उदाहरण के लिये पूर्वोक्त कुक्कुरीपा की चर्या मे घडियाल का इमली खाना, कच्छपो के दूध से पूरा बर्तन भर जाना, या ढेण्ढणपा की चर्या (पद ३३) मे नगर के मध्यस्थित गृह मे भी किसी पडोसी का न होना, मेढक से सर्प का भयभीत होना, दुहे हुए दूध का पुन स्तन मे प्रवेश कर जाना, गाय का वन्ध्या रहना और बैल का प्रसव करना, जो चोर है उसी को कोतवाल होना और शृगाल का सिंह से युद्ध करना, ये तत्व ऐसे है कि इन्हें कोई समझ नही पाता। सभी विस्मय से स्तब्ध रह जाते है। इस प्रकार

विस्मय

की अद्भुत प्रतीक-योजना निश्चय ही सचेत रूप से श्रोताओ को विस्मय मुग्ध करने के लिये की जाती रही होगी क्योकि दोनो ने ही गर्व से कहा है कि इस चर्या को करोडो मे से कोई एक ही समझ पाता है। किस प्रकार इस विस्मय भाव को जाग्रत करने के लिये कुशल प्रतीक-योजना की जाती थी, इसका विवेचन हम शैली-पक्ष के अन्तर्गत करेगे ।

शोक

शोक भाव केवल एक चर्यापद मे मिलता है (चर्यापद ५०) जिसमे शवर की मृत्यु (निर्वाण प्राप्ति) का रूपकात्मक वर्णन है। इसी प्रकार पिता बोधिचित्त की मृत्यु का वर्णन (चर्यापद २०) कुक्कुरीपा ने भी किया है जिसका उल्लेख हम विप्रलम्भ शृगार के अन्तर्गत कर चुके है। निर्वाण का अर्थ अनस्तित्व यदि मान लिया जाय तो कुक्कुरीपा की चर्या भी शोक भाव के अन्तर्गत मानी जायगी। शबरपा की चर्या का पूरा अर्थ मुनिदत्त की टीका मे भी मिलता है। किन्तु डा० सुकुमार सेन द्वारा की गई अँग्रेजी छाया मे छायाकार ने शवरपा की मृत्यु पर शबरी के शोक को ही प्रधानता दी है और उनका अर्थ असगत नही प्रतीत होता।[६०]

हास्य

हास्य का व्यग और विद्रूप के रूप मे शैलीगत प्रयोग हमे दोहो की नीति प्रधान शैली मे मिलता है, जिसकी शैली पक्ष पर विचार करते समय समीक्षा करना उचित होगा। इन भावो का उल्लेख करते समय यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि शुद्ध लौकिक दृष्टि से इनमे से शायद ही कोई भाव रस की स्थिति तक पहुँचता हो, शायद ही इनमे से कोई स्थल दोषहीन हो। कई स्थलो पर तो स्पष्टत रसाभास की स्थिति है जैसे भुसुकुपा ने हरिण तथा हरिणी आदि पशुजगत के प्रतीक लेकर उनमे रति भाव का आरोप किया है (चर्यापद ५)। किन्तु पहले भी इस ओर सकेत किया जा चुका है कि जिस लौकिक काव्यशास्त्र में ये सिद्ध विश्वास ही नही करते थे उसी को इनका मानदण्ड बनाना अन्याय होगा। इनकी समीक्षा मे तो हमे सदैव लौकिक के साथ-साथ प्रतीकात्मक का ध्यान रखना होगा क्योकि इनकी साधना के साथ-साथ इनके साहित्य की मूल-भावना भी लौकिक और अलौकिक के बीच की मध्यम और सहज भूमि पर स्थित थी।

इस दृष्टि से कई धार्मिक कवि ऐसे भी हुए है जिन्होने अपने काव्य मे

रति, आदि सभी लौकिक भावो का चित्रण करते हुए अन्त मे सभी का शमन निर्वेद मे किया है। किन्तु सिद्धो को हम उस कोटि मे नहीं रख सकते। इसलिये कि सिद्धो का लक्ष्य ही निवृत्तिमूलक निर्वेद नही था। वे महाराग की साधना मे विश्वास करते थे और महासुख की उपलब्धि के लिये सचेष्ट थे जो करुणाजन्य है, उपाय स्वरूप है, प्रवृत्तिमूलक है। विराग का महाराग द्वारा दमन करने ही से साधक को वीर की सज्ञा दी गई है। अत विराग-परक निर्वेद सिद्धो का प्रधान भाव कैसे हो सकता है? सिद्धो का प्रधान भाव प्रज्ञोपायात्मक महाराग या महारति है, लौकिक रति के प्रतीक तो केवल अभिव्यक्ति के माध्यम है।

निर्वेद

किन्तु किसी भी काव्य के सम्बन्ध मे अन्तिम प्रश्न यह उठता है कि रसोद्रेक की दृष्टि से यह कहाँ तक सफल है। इस दृष्टि से भी तान्त्रिक साधकों ने गहन विचार किया था और अन्त मे वे इस परिणाम पर पहुँचे थे कि दर्शको या श्रोताओ के हृदय मे जो मनोविकार वासना के रूप में उपस्थित रहते है वही जब विभाव के सयोग से, व्यजना-वृत्ति के साधारणीकरण या विभावन व्यापार से जाग्रत होते है तभी रसास्वाद की अवस्था होती है।[७०] यह मत अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद के रूप मे प्रख्यात हुआ था। रस-ध्वनि को श्रेष्ठ ध्वनि के रूप में माना गया। इन विचारो और धारणाओ को सुव्यवस्थित करने का श्रेय अवश्य तन्त्राचार्य अभिनवगुप्त को था किन्तु ये पहले ही से दूसरे रूपो मे प्रचलित थी। इस प्रकार लौकिक-काव्य श्रोताओ की लौकिक वासनाओ को उद्बुद्ध करता था किन्तु सिद्धो का काव्य अलौकिक था, उनकी दृष्टि मे लौकिक वासना-क्लेश आदि तो भवजाल थे, मोहजाल थे जो वज्रज्ञान से तोडे जाते थे। इसलिये सिद्ध सदैव यह कहते थे कि भवमुद्रा का परित्याग कर मणिमूल मे चण्डाग्नि के आलोक में कर्ममुद्रा को ग्रहण कर साधक को अलौकिक वासना जगा कर प्रज्ञोपाय मार्ग मे प्रवृत्त होना चाहिये। यह करुणा या उपाय ही अलौकिक रति-वासना है जिसको उद्दीप्त करने के लिये योगिनियाँ हेरुक से प्रणय-निवेदन करती है। यह करुणा करोडो मे से किसी एक मे ही पूर्णतया जग पाती है इसीलिये करोडो मे से कोई एक ही इन चर्याओ का भाव पूर्णतया ग्रहण कर पाता है।

रसोद्रेक

अब प्रश्न यह उठता है कि फिर इस काव्य के आस्वादन मे साधारण

जन, (प्रज्ञोपाय साधना मे अप्रवृत्त) की क्या स्थिति है । वह इनके मर्म की नही समझ सकता । वह केवल लौकिक प्रतीको का लौकिक अर्थ ही ग्रहण करता है और एक लौकिक रति का आभास मात्र उसे मिल पाता है । किन्तु सिद्धो को यह अभीष्ट नही, इसीलिये वे कभी-कभी उल्टे रूपक बाँध कर, चमत्कारयुक्त प्रतीक योजना कर लोगो को चेतावनी देते थे कि यह पथ लौकिक पथ नही है, यह रस लौकिक रस नही है, कुछ और गहन और गुह्य रस है जिसे न गुरु कह सकता है, न शिष्य सुन सकता है, इसे तो जिसने चखा है वही जान सकता है । यही इस अनुभूति की अतिशयातिशय गुह्यता है जिसकी ओर हम पहले ही सकेत कर चुके है । सिद्ध लौकिक रस के बजाय इसी कमल-रस, अमृत रस, सहज-रस के साधक थे और वही उनके काव्य का मूल रस है ।

सिद्ध-काव्य और साधारणजन

किन्तु उनकी साधना साधारण जन के लिये निषिद्ध तो नही थी । वे तो अपने धर्म से लोक को तारना चाहते थे । उन सबो मे प्रज्ञोपाय की वासना जगाना चाहते थे, अत उन्होने काव्य का एक पक्ष, नीति-पक्ष रक्खा जो साधक के मन का सशय दूर कर, उसे भवजाल से मुक्त कर, अन्य सम्प्रदायो के भ्रान्तिपूर्ण मार्ग को त्याग कर प्रज्ञोपाय साधना की ओर उन्मुख करता था । इस नीति-पक्ष के लिये उन्होने दोहो का माध्यम अपनाया और जैसा हम तारानाथ की साक्षी से जान चुके है, ये दोहे पदो की अपेक्षा कही अधिक प्रभावशाली और लोकप्रिय थे ।

हम पहले यह सकेत कर चुके हैं कि बौद्धो मे उपाय-कौशल्य पारमिता का अर्थ था, लोक-साधारण मे बौद्ध-धर्म का प्रचार करना और सिद्ध-साहित्य का नीति-पक्ष उसी पारमिता की परम्परा का निर्वाह करता है । इस नीतिपक्ष का प्रधान माध्यम दोहा है । किन्तु चर्यापदो मे भी स्थान-स्थान पर साधना तथा तत्व-दर्शन के उपदेश और विवेचन मिलते है जो प्रतीक प्रधान है, जिनका विवेचन हम आगे प्रतीक-योजना के अन्तर्गत करेंगे । प्रतीको से मुक्त शुद्ध तार्किक दृष्टि से तत्व का विवेचन करने वाले पदो की सख्या [७१] इस प्रकार है —

नीति-पक्ष

लुईपा, एक पद, सख्या २ । भुसुकुपा दो पद, सख्या १३, १४ । कारहपा दो पद, सख्या २५, २६ । सहरपा, दो पद, सख्या ३४, ३५, तथा जयनन्दीपा,

एक पद, स० ४७। इनके अतिरिक्त एक शुद्ध विवेचनात्मक पद सहज-विलास की कुरुकुल्लासाधना मे भी मिला है।[७२] इन पदो मे वे पद नही सम्मिलित किये गये है जिनमे साधको ने आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति की है, या उन्होने किस प्रकार ज्ञान-तत्व की उपलब्धि की, इसका वर्णन किया है। ये पद स्पष्टत श्रोताओ को सम्बोधित किये गये है और निश्चित रूप से नीति-पक्ष मे सम्मिलित किये जा सकते है क्योकि उनका स्वर आत्माभिव्यक्ति का नही वरन् उपदेश का स्वर है।

इस सम्बन्ध मे एक विशेषता समझ लेनी आवश्यक है। हिन्दी मे भक्ति तथा रीतिकाल मे हमे जिस प्रकार रीति-परक मुक्तको की परम्परा मिलती है। उनमे लौकिकता अधिक है। वे व्यक्ति को लौकिक व्यवहार का उपदेश देते है किन्तु सिद्धो अथवा तत्कालीन अन्य सम्प्रदाय के तत्व-चिन्तको की मुख्य चिन्ता यह नही थी व्यक्ति लौकिक जीवन मे कैसे सफल हो, लौकिक जीवन को तो वे बन्धन का कारण मानते थे। उनकी मुख्य चिन्ता यह थी कि कैसे व्यक्ति इस सासारिक मोहजाल को तोड कर सहज प्रज्ञोपायात्मक पथ पर चले और नैरात्म-ज्ञान उपलब्ध करे। अत उनका नीतिपरक उपदेश साधक को धर्म-साधना मे ही प्रवृत्त कराने के लिये था। धर्म प्रमुख था, लौकिक व्यवहार गौण। नीति धर्मसाधना की सहायिका के रूप मे थी।

एक विशेपता और है। परम्परागत सस्कृत नीतिग्रन्थ—विदुरनीति, चाणक्यनीति आदि मे जो उपदेश हैं वे व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार पर अधिक केन्द्रित है। समाज का गठन कैसे हो, किस वर्ग का क्या स्थान हो, व्यक्ति की स्वतन्त्रता कहाँ पर बाधित होती है, परिवार में पिता, पति, पुत्र और भाई आदि का सामाजिक पक्ष क्या है, इन विषयो का विशेष प्रतिपादन होता है। उनका स्वर अनुशासनात्मक अधिक है।

सिद्धो का नीति-परक साहित्य इस दृष्टि से परम्परागत सामाजिक अनुशासन की उपेक्षा करता है और पूर्णतया व्यक्ति पर केन्द्रित है। उस समय की अधिकाश साधनाएँ व्यक्ति-परक थी, अत वह व्यक्ति को साधना-पथ मे प्रवृत्त होने का उपदेश देते थे, उस साधना-पथ का विवेचन करते थे, अन्य साधना पथो का खण्डन करते थे और अपने द्वारा उपदिष्ट विशेष साधनापद्धति के मार्ग के खतरो का निर्देश करते थे। उसका अनुशासन साधनापथ का अनुशासन है। उच्च-वर्ग द्वारा परम्परा से आने वाले समाज-गठन का अनुशासन नही।

इस प्रकार विषयवस्तु की दृष्टि से हमें इस नीतिपरक साहित्य मे तीन अग मिलते है, १. विवेचन, २. खण्डन, ३. चेतावनी ।

विवेचन में इन्होने शून्य, सहज, प्रज्ञोपाय समाधि, भवनिर्वाण, चित्त, वज्रयान, नैरात्म-दर्शन आदि का उपदेश दिया है और कभी प्रत्यक्ष शैली में और कभी अप्रस्तुतो और प्रतीको के सहारे उन्होने इन सिद्धान्तो और साधनाओ को समझाने का प्रयास किया है। खण्डनात्मक साहित्य में उन्होने तीन दिशाए अपनाई। समकालीन अन्य सम्प्रदायो का खण्डन, पुराने महायान की तन्त्रेतर साधनाओ का खण्डन और अपने ही वज्रयान मे अनुष्ठानो और हठयोग के माध्यम से महामुद्रा सिद्धि कर लेने के उपरान्त अपने सम्प्रदाय के भी अनुष्ठानो का निषेध। चेतावनी अग मे उन्होने स्थान-स्थान पर साधक को बाह्य का परित्याग कर आन्तरिक मर्म को समझने और चित्त को दृढ करने का उपदेश दिया है। साधना-मार्ग के उन स्थलो पर सचेत किया है जहाँ साधक के च्युत होने का भय है। पिछले अध्यायो में हम यथास्थान उनके इन विचारो और धारणाओ का उल्लेख कर चुके है।

काव्य-पक्ष की दृष्टि से इन नीतिपरक पदो और दोहो में विवेचना के अश जहाँ अप्रस्तुतो और प्रतीको से रहित है, वहाँ उनकी गति बहुत ही शिथिल और नीरस है। उनमे किसी प्रकार की मार्मिकता नही है।

विवेचन

किन्तु जहाँ प्रतीक-योजना आ जाती है वहाँ शैली कुछ चमत्कारिक हो जाती है और पाठक उनकी ओर आकर्षित हो जाता है। ऐसे स्थलो पर उनका काव्य-कौशल इस प्रकार का है कि पहले वे केवल प्रतीकात्मक पक्तियाँ रखते है ताकि उनकी अद्भुत रहस्यात्मक प्रतीक-योजना से श्रोता उनकी ओर आकर्षित हो। उसके बाद वे उन प्रतीको के रहस्य का कभी प्रत्यक्ष उद्घाटन कर देते है, कभी उनके पीछे के तत्व की ओर, अप्रत्यक्ष सकेत मात्र कर देते है। कभी-कभी वे और भी चमत्कार लाने के लिये परस्पर विरोधी प्रतीको का प्रयोग करते थे। इनका उद्देश्य यह तो रहा ही होगा कि भाव या रस के अभाव मे ये चमत्कारपूर्ण उक्तिया जनता को आकर्षित करें, साथ ही जहाँ अधिक गुह्य साधनाओ का उपदेश है, वह केवल सम्प्रदाय मे दीक्षित लोगो को ही ग्राह्य हो सके क्योकि 'गुह्याख्यान जने पक्षे' वज्रयानी उपदेशको के लिये अपराध माना गया था। किन्तु इसका परिणाम यह

हुआ कि धीरे-धीरे उनके ये प्रतीक दुरूहतम होते गये और आज उनमे से बहुत से ऐसे हैं जिनका वास्तविक अर्थ लुप्त हो गया है। स्वत' चर्यापदो के टीकाकार मुनिदत्त बहुत से प्रतीकों को नही समझ पाये है और कुछ चर्याओ की टीका तो उन्होने अधूरी छोड दी है।[७३]

खडन

खण्डनात्मक अशो मे सिद्धो की शैली अधिक बलशाली, प्रवाहमयी और ओजयुक्त है। उसमे साहस का स्वर है और कही-कही प्रच्छन्न व्यग भी है। उसमे तर्क है किन्तु वह शुद्ध बौद्धिक विवेचना का तर्क नही है। व्यग के कारण वह अधिक मर्मस्पर्शी, सहज ग्राह्य और रोचक है। वह खण्डन निस्सन्देह साम्प्रदायिक सीमाओ से बँधा हुआ है और इसके साम्प्रदायिक पक्ष पर हम पीछे विचार कर चुके हैं किन्तु यह लौकिक जीवन की सहज प्रवृत्ति के अधिक निकट है और अभिव्यक्ति की दृष्टि से सिद्धो के कतिपय शृङ्गारपरक पदो के वाद उनके साहित्य का सबसे सफल अश है। जहाँ सरहपा मट्टी, पानी और कुश लेकर सकल्प करने वाले, घर मे बैठ कर अग्निहोत्र करने वाले, होम के कडुए धुएँ से आँख को कष्ट देने वाले, घर मे बैठ कर दीवा जलाने वाले, घण्टा बजाने वाले, मूड मुडाने वाले, नगे होकर केश उखाडने वाले मिथ्या-साधको का उल्लेख करते हैं वहाँ उनकी वाणी मे अद्भुत बल और साहस है। उनमे अपने सम्प्रदाय के प्रति आस्था होते हुए भी सहज-सिद्धि प्राप्त कर लेने के उपरान्त अपने तथा दूसरे सम्प्रदायो के वाह्य अनुष्ठानो की निरर्थकता पर इतना अटूट विश्वास था कि वे उसके वल पर किसी भी अनुष्ठान का उपहास कर सकते थे। उनमे वह वृत्ति कूट-कूट कर भरी थी जिसे कबीर के सम्बन्ध मे द्विवेदी जी ने 'अक्खडता' कहा है।[७४]

व्यग

उनके इस व्यंग का काव्यशास्त्र की दृष्टि से विवेचन करने पर हम पाते हैं कि वह दो तत्वो के विषमता प्रदर्शन पर आधारित है। व्यगकार जब किसी भी व्यक्ति या प्रवृत्ति पर व्यग करना चाहता है तो वह उसे ऐसी पृष्ठभूमि मे दिखाता है जिसमे वह हास्यास्पद लगने लगता है। उदाहरण के लिये गाँवो में एक अत्याधुनिक युवक का व्यवहार और नगरो में एक ग्रामीण युवक का व्यवहार हास्याम्पद लगने लगता है, क्योकि दोनो ही अपनी-अपनी पृष्ठभूमियो से मेल नही खाते। सिद्धो ने सहज और शून्य की विराट अगम्य पृष्ठभूमि और उसकी अत्यन्त दुरूह साधना का

वर्णन करने के बाद इन छोटे-छोटे अनुष्ठानो का वर्णन किया है। जो सहज सिद्धि इतनी दुरूह साधना से प्राप्त होती है उसे केवल घण्टा बजाकर, मूड मुडा कर, मन्त्र पढ कर, सकल्प पढ कर पाने का प्रयास करने वाले ये मिथ्यासाधक ऐसे ही हास्यास्पद लगते है जैसे कोई शिशु कुदाल लेकर हिमालय खोदने का प्रयास करे।

नीति-पक्ष मे इस व्यग-शैली अपनाने का एक विशेष कारण यह है कि व्यंग सदैव उस साहित्य का मुख्य अस्त्र रहा है जिसका उद्देश्य समाज या व्यक्ति

व्यग का सामाजिक पक्ष

का सुधार करना चाहता है। जो नाटक सामाजिक व्यवहारो या पात्रो की जीवनपद्धति के दोप दिखाना चाहते है वे दुखान्त न होकर प्रहसन या व्यग नाटिकाओ का रूप लेते है। उनमे वे ही पात्र ऐसी पृष्ठभूमि मे प्रदर्शित किये जाते है जिनमे उनका व्यवहार अपनी असगति के कारण दर्शको मे हास्य का उद्रेक करता है और दर्शक हँसते-हँसते अचेतन रूप से यह भी सोचने लगता है कि जैसा यह पात्र है वैसा मै न बनूँ। इस प्रकार उनका सुधार हो जाता है जो व्यगकार को अभीष्ट है।[७५]

वही उद्देश्य सिद्धो का भी था जो इन साधको को हास्यस्पद चित्रित कर जनता को उनसे विमुख करना चाहते थे। किन्तु जब ये व्यगवाण भी व्यर्थ सिद्ध होते थे और साधक सहज का गहन अर्थ नही समझ पाते थे और सहज-साधना के भी बाह्य अनुष्ठानो और प्रतीको मे उलझे रह जाते थे तब सिद्ध उन्हे चेतावनी देते थे और उन चेतावनियो मे उनकी शैली कुछ तीखी हो जाती थी। कही-कही वे अज्ञानी साधक को स्पष्ट मूर्ख सम्बोधित करते थे और उसे सचेत किया करते थे।[७६]

सिद्धो के इन नीतिपरक दोहो का एक पक्ष और है जिसे समझ लेना बहुत आवश्यक है। लगभग उसी समय अर्थात् १० वी और ११ वी शताब्दी

सिद्धो और जैन मुनियो के दोहे

के पश्चिमी अपभ्रंश के जैनियो के जो दोहे मिले हैं उनमें और सिद्धो के दोहो मे आश्चर्यजनक समता है। बाह्य अनुष्ठानो का खण्डन जैन दोहो मे भी लगभग उसी शाब्दावली मे मिलता है। वे कहते हैं कि यदि अभ्यन्तर मैला है तो बाहर तप करने से क्या लाभ। चित्त में निरजन को धारण करने से ही मल से

मुक्ति मिल सकती है।[७७] उस निरंजन मे जिसने मन को लीन कर लिया उसके लिये तन्त्र और मन्त्र सब व्यर्थ है।[७८] ऐसे दोहे, जिनमे लगभग समान अप्रस्तुतो मे उन्ही भावो की अभिव्यजना हुई है बहुत बडी संख्या में मिलते है जिनमे से कुछ इस प्रकार है :—

१ अशरीर की साधना।

जैन : असरीरहं सन्धाणु किउ सो धाणुक्कु निरुत्त...पाहुडदोहा, पृष्ठ ३६

बौद्ध : असरिर कोई शरीरहि लुक्को। दोहा कोष, पृ० ३५।

२. तन्त्र-मन्त्र का निषेध।

जैन : मन्तु ण तन्तु ण धेउ ण धारणु, ण वि उच्छासइ किज्जुइ कारणु। पाहुडदोहा, पृ० ६२।

बौद्ध : मन्त ण तन्त ण धेउ ण न धारण, सव्वि रे वढ विब्भम कारण। दोहाकोष, पृ० २०।

३ निरक्षर साधना।

जैन किम किज्जई बहु अक्खरह जे कालि खउ जन्ति
जेम अणक्खरु सन्तु मुणि तव वढ मोक्खु कहन्ति
पाहुडदोहा, पृ० ३६।

बौद्ध अक्खर वाढा सअलु जगु णाहि णिरक्खर कोइ
ताव से अक्खर घोलिआ जाव णिरक्खर होइ .
दोहाकोष, पृ० ३५।

४. योगिनी गृहणी।

जैन धधवालु मो घर पडिहासइ, घरि अच्छन्तु ण घरवइ दीसइ।
पाहुडदोहा, पृ० ३६।

बौद्ध : घरे अच्छइ वाहिरे पुच्छइ। दोहाकोष, पृ० २८।

५ विपय भोगते हुए भी निर्लिप्त।

जैन आभुजन्ता विसय-सुह जे ण वि हियहि धरन्ति
ते सासय सुहु लहु लहहि जिणवर एम। भणन्ति.
पाहुडदोहा, पृ० ११

बौद्ध · विसअ रमन्त ण विसअं विलिप्पइ, ऊअर हरइ ण पाणी
छिप्पइ । सरहपा, दोहाकोष, पृ० २९ ।

६ परमधाम ।

जैन हत्थ अहुट्ठह´ देवली वालह णाहि पवेसु
सन्तु निरजणु तहि वसइ णिम्मल होइ गवेसु...
पाहुडदोहा, पृ० २८ ।

बौद्ध जहि मण पवण ण सचरइ रवि ससि णाह पवेस
तहि वढ चित्त विसाम कुरु सरह कहि उएस...
दोहाकोष, पृ० २० ।

७ एकाक्षर साधना ।

जैन वहुयइ परियइं मूढ पर तालू सुक्कइ जेण, एक्कु जि अक्खर
त पढहु सिवपुरि गमइजेण ।
पाहुडदोहा, पृ० ३० ।

बौद्ध सिद्धिरत्थु मइ पढमें, पढिअउ, मण्ड पिवन्तें विसरअ एमइउ
अक्खर एक्कु एत्थु मइ जाणिउ, ताहर णाम जाणमि ए
सइउ । दोहाकोष, पृ० ३५ ।

८ करभ रूपी मन की सहजावस्थिति ।

जैन · सहज अवत्थहिं करहु लउ जोइय जतउ वारि ।
पाहुडदोहा, पृ० ५२ ।

बौद्ध बद्धो धावहि दहदिहहिं मुक्को णिच्चल ठाइ
एमइ करहा पेक्खु सहि विहरिअ महुँ पडिहाइ .
दोहाकोष, पृ० २४ ।

९ लवण पानी की समरसता ।

जैन · जिम लोण विलिज्जइ पाणियहँ तिम जइ चितु विलिज्ज
समरसि हूवइ जीवडा काइँ समाहि करिज्ज
पाहुडदोहा, पृ० ५४ ।

बौद्ध · जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिम घरिणी लइ चित्त
समरस जाई तक्खणे जइ पुणु ते सम णित्त ..
दोहाकोष- पृ० ४६ ।

१० देह मे ही तीर्थ ।

जैन देहादेवलि सिव वसइ तेहुँ देवलइं विएहि
पाहुडदोहा, पृ० ५६ ।

बौद्ध देहा सरसिय तित्थ मइं सुह अण्ण ण दिट्ठओ ।
दोहाकोष, पृ० २५ ।

११ शून्य मे पाप-पुण्य विहीनता ।

जैन उव्वस वसिया जो करइ वसिया करइ ज सुण्णु
बलि किज्जउ तसु जोइयहि जासु ण पाउ ण पुण्णु ॥
पाहुडदोहा, पृ० ५८ ।

बौद्ध हउ सुण्ण जगु सुण्ण तिहुअण सुण्ण
णिम्मल सहजे ण पाप ण पुण्ण ॥ दोहाकोष, पृ० ८ ।

इस प्रकार हम देखते है कि सिद्धो और जैनो के दोहो मे न केवल विपय-वस्तु वरन् भापा, शैली, प्रतीक-योजना आदि की आश्चर्यजनक समता है ।

दोहो की परम्परा पश्चात्य

हमने पहले कई बार इस बात का सकेत किया है कि उस समय तन्त्रो और हठयोग से प्रभावित लगभग सभी धर्म-साधनाओ के साहित्य मे और पद्धतियो मे आश्चर्यजनक समता पायी जाती थी और लगभग वे सभी इतने समानान्तर विकसित होते रहे है कि उनमे से किसका प्रभाव किस पर है, यह कह सकना कठिन है । दर्शन के पारिभाषिक शब्द तो चाहे एक दूसरे से लिये गये हो किन्तु सबो की समान प्रतीक-योजना से ऐसा लगता है कि वे सभी एक ही अविच्छिन्न परम्परा के जैन, वौद्ध-शाक्त और शैव सस्करण मात्र है ।

अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी वही अक्खडता, वही साहस, वही व्यग और वही तीव्रता इन जैन दोहो मे भी मिलती है जो सिद्धों के दोहो में मिलती है । भापा और शैली की दृष्टि से यह नीति-साहित्य पश्चिमी परम्परा का लगता है, पूर्वी परम्परा का नही । भाषा तथा छन्द की दृष्टि से तो इस पर हम वाद मे विचार करेंगे, शैली की दृष्टि से साम्प्रदायिक परम्परा तथा काव्य-परम्परा से ग्रहीत

प्रतीको के अतिरिक्त जो प्रतीक दैनिक जीवन से लिये गये है वे पश्चिमी प्रान्तो के है, पूर्वी प्रान्तो के नही। मन के लिये करभ या ऊँट, मृगतृष्णा [७६] आदि प्रतीक बगाल, बिहार या आसाम के नही हो सकते। में चर्यापदो वर्णित मछुए, डोम्बी, चाण्डाली, शुण्डिनी, मातगी आदि अवश्य पूर्वीय देशो के जीवन से लिये गये है, किन्तु नीतिपरक दोहे पश्चिमी ही है। सहरपा का भी महाराष्ट्र के आसपास सिद्धि पाना और तब दोहो का उपदेश करना प्रसिद्ध ही है।

ख

शैली-पक्ष

तन्त्रो मे काव्यशास्त्र-सम्बन्धी विचारो का विवेचन करते हुए हमने यह संकेत किया था कि तन्त्रो मे भाषा-शैली का एक अलौकिक रहस्यात्मक गुह्य स्वभाव विकसित हो रहा था जिससे समस्त भाषा मन्त्र-स्वभाव की होती जा रही थी। बौद्धो ने अपने तन्त्रो की इस रहस्यमयी प्रतीकात्मक शैली को सन्धा-भाषा या सधा-वचन कहा। सरहपा दोहो में अपनी शैली को 'गहिरण गुहिर भास' कहते हैं जिससे उनका तात्पर्य इसी प्रतीकात्मक शैली से है।[१] चर्यापदो की टीकाओ मे बराबर इन सिद्धो द्वारा प्रतीको का अर्थ बताते हुए मुनिदत्त ने कहा है कि 'सन्धा-भाषा मे इसका अर्थ अमुक होता है।' और लगभग प्रत्येक टीका मे वे सन्धा-भाषा का उल्लेख करते गये हैं।

यहाँ पर इस बात का उल्लेख कर देना अत्यन्त आवश्यक है कि प० हरप्रसाद शास्त्री ने जिस प्रति से चर्यापदो की प्रतिलिपि कराई थी, उसमे लिपिकार ने बराबर सन्धा के स्थान पर 'सन्धा-भाषा' लिखा था। सन्धा-भाषा या शास्त्री महोदय ने सन्ध्या-भाषा की रहस्यमय साकेतिकता को सन्ध्या-भाषा देखकर अनुमान यह लगाया था कि सन्ध्या के अर्थ हैं 'आलो-आन्धारी-भाषा' या धूपछाँही शैली' जिसके बाह्य अर्थ कुछ और हो तथा आन्तरिक अर्थ कुछ और। डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने भी इस शैली का नाम 'सन्ध्या-भाषा' ही स्वीकार किया है और अंग्रेजी अनुवाद 'लैंग्वेज आफ ट्वाइलाइट' किया है।[२]

किन्तु पण्डित विधुशेखर शास्त्री ने अपने एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण लेख

में बहुत से प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि 'सन्धा' भाषा की प्रतिलिपि 'सन्ध्या' के रूप में लिपिकारो के भ्रमवश हुई है। वास्तविक शब्द 'सन्ध्या' नही 'सन्धा' है। 'सन्धा' के अर्थ है अभिसन्धि अथवा अभिप्राययुक्त भाषा। अत यह अभिप्रायिका शैली या नेयार्थ वचन है जिसका लक्ष्य है बाह्य अर्थों के बजाय किसी दूसरे निहित अभिप्राय की अभिव्यक्ति करना।[३] डा० बागची ने भी इस मत का समर्थन करते हुए हेवज्र तन्त्र की अप्रकाशित पाण्डुलिपि मे इसका रूप 'सन्धा-भाषा' ही बताया है, 'सन्ध्या' नही। इसके चीनी पर्याय का भी अर्थ उन्होंने औपचारिक या औपायिक बताया है।[४] तिब्बती अनुवादो से तुलना करने के उपरान्त भी वे इसी परिणाम पर पहुँचते है कि इसका शुद्ध रूप 'सन्धा' ही है और इसका अर्थ अभिसन्धियुक्त शैली है।[५]

डा० दासगुप्त ने एक दूसरा सुझाव दिया है। वे यह कहते है कि चूँकि अधिकाश तान्त्रिक पाडुलिपियो मे 'सन्धा' के बजाय 'सन्ध्या' रूप ही मिलता है तो सम्भव है यह लिपिकारो की त्रुटि न हो, इसके पीछे यह कारण हो सकता है कि कालान्तर मे इसका 'आलो-आन्धारी-भाषा' वाला अर्थ भी गौण रूप से स्वीकृत कर लिया गया हो।[६] किन्तु यह केवल अनुमान ही है। जहाँ तक बौद्ध-तन्त्रो की पाडुलिपियो, उनके लिपिकारो, यहाँ तक कि उनके रचयिताओ का सम्बन्ध है, यह सर्वविदित है कि भाषा और व्याकरण के कडे नियमो के प्रति उन्होंने बडा ही विद्रोही रुख अपनाया था और वे उन लोगो की हँसी उडाते थे जो सस्कृत के नियमो का अत्यन्त कठोरता से पालन करते थे। उन्होंने स्पष्ट घोषित किया था कि अपशब्द, वृत्तिभग, वर्णस्वर लोपादि ह्रस्व का दीर्घ करना और दीर्घ का ह्रस्व करना आदि तन्त्र के उपदेशको के लिये वैध है।[७] इस दृष्टि से वे सन्धा की सरलता से सन्ध्या लिख सकते थे उसके लिये इसके गौण रूप या गौण अर्थ की कल्पना करने की आवश्यकता नही पडती। पुनश्च हम देख चुके है कि सरहपा ने भी इसे 'गहण गुहिर भास' कहा है। सिद्ध लोग रूपको मे बात करने के प्रेमी थे। यदि इसका गौण अर्थ भी आलो-आन्धारी-भाषा होता तो वे उसको काव्य मे अवश्य प्रयुक्त करते, 'गहण गुहिर भास' वाले अर्थ को प्रधानता न देते। टीकाओ मे भी स्थान-स्थान पर 'सन्ध्या' और अभिसन्धि का समानार्थक प्रयोग मिलता है और उससे भी इसी मत की पुष्टि होती है कि इसका अर्थ अभिसन्धि या अभिप्राययुक्त भाषा है। विरुपा की चर्या मे स्पष्टत 'अभिसन्धि' का प्रयोग है और उसका तात्पर्य सन्धा या सन्ध्या ही है।[८] बागची

का कथन है। कि तिब्बती रूपान्तरो में सन्ध्या अभिसन्धि के लिए एक ही शब्द प्रयुक्त है जिसका अर्थ 'अभिप्रायात्मक भाषा' है।[९]

इस प्रकार की प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग सिद्धो का अपना आविष्कार नही है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद मे ही इस प्रकार की प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग होता था।[१०] मीमासको ने शब्दो के इन्ही निहित, प्रच्छन्न अभिप्रायार्थों के आधार पर अपने सिद्धान्तो का विकास किया था। तन्त्रो मे व्यापक रूप से यह शैली प्रचलित थी।[११] बौद्ध परम्परा मे भी यह शैली पहले ही समाविष्ट हो चुकी थी। सद्धर्म पुण्डरीक में हमें कई स्थानो पर सन्धाभाषा का उल्लेख मिलता है। औपम्य-परिवर्त नामक तृतीय परिवर्त के दो श्लोको में तथागत से प्रार्थना की गई है कि 'हे महावीर! हम महर्षियो द्वारा प्रयुक्त इस सन्धाभाषा को आदरपूर्वक ग्रहण करते हैं...हम भी लोक मे अनुत्तर बुद्ध बनें, ऐसे बुद्ध बोधिसत्व जो सन्धाभाषा मे अनुत्तर बोधि का उपदेश देते हैं।[१२] कर्न ने इस प्रसग में सन्धाभाषा का अनुवाद रहस्यमयी वाली 'मिस्टीरियस स्पीच' किया है।[१३] इसके पहले ही दूसरे परिवर्त मे की एक टिप्पणी में कर्न ने सन्धाभाषा को (ब्यूर्नौफ का प्रमाण देते हुए) वह शैली बताया है जिसकी प्रकृति मन्त्रणा की प्रकृति है अर्थात् गम्भीर रहस्यो का उद्घाटन कर सही मार्ग का प्रदर्शन करने वाली भाषा।[१४] ह्वेनसांग ने भी इसका अनुवाद 'गुह्य अभिप्राय वाली भाषा' इस प्रकार किया है।[१५]

इस प्रकार इस भाषा की प्रकृति मन्त्र-प्रकृति थी। मन्त्र-सिद्धान्त मे प्रत्येक शब्द और अक्षर का एक गुह्य, दिव्य या परम अर्थ होता था। शब्दो की उसी द्वयार्थक प्रकृति का परिचय सन्धाभाषा मे भी मिलता है। महायान मे इस सन्धा शैली का प्रयोग उपाय-कौशल पारमिता के अन्तर्गत बताया गया था। उपाय-कौशल पारमिता का बौद्ध तन्त्रो के काव्य रूपो के विकास से क्या सम्बन्ध रहा है इस पर हम विचार कर चुके है। प्रारम्भ में उपाय-कौशल के अर्थ थे, बौद्ध सम्प्रदाय मे अदीक्षित लोक-साधारण को बौद्ध धर्म के भेदो से अवगत करा कर उन्हे बोधिसत्व यान मे दीक्षित करना। इस कार्य के लिए बोधिसत्वो को सन्धाशैली के प्रयोग का आदेश मिला था।[१६] इसके द्वारा वे अशिक्षितो को भी बौद्ध मत मे दीक्षित कर सकते थे। इसके लिये भगवान् तथागत का यह भी आदेश था कि औपम्य द्वारा अर्थात् अप्रस्तुतो तथा प्रतीको

द्वारा नियोजित औपम्य-कथा, या रूपको द्वारा ज्ञान को सरलता से रक्खा जा सकता है क्योंकि उससे सुविज्ञ जन तत्व को तत्क्षण ग्रहण कर लेते हैं।[१७]

तन्त्रो तक आते-आते इनमे से बहुत से अप्रस्तुत रूढ होकर सर्वमान्य प्रतीक हो गये और बौद्ध तन्त्र ग्रन्थो मे अक्सर साधना शैली मे प्रयुक्त इन प्रतीको के गुह्यार्थों की व्याख्या मिलती है। गुह्य समाज-तन्त्र मे लगातार इन गुह्य-प्रतीको का प्रयोग है। हेवज्र तन्त्र के चीनी अनुवाद के आधार पर डा० वागची ने इनमे से कुछ प्रतीको का अर्थ निश्चित किया है। हेवज्र तन्त्र के १३वें अध्याय का नाम ही 'हेवज्र सर्वतन्त्र निदान सन्धाभाषा नाम पटल' है। इसमे सन्धाभाषा को योगियो की महाभाषा कहा गया है जिसमे समय (पद्धति) के सकेतो का विस्तार है।[१८] इन्ही प्रतीको का प्रयोग कर सिद्धो ने ऊपर से लौकिक (शृङ्गार-परक) लगने वाले पदो मे प्रज्ञोपायात्मक कमल-कुलिश योग के गम्भीर अर्थो के सकेत समाविष्ट कर दिये थे। टीकाकार ने इन्ही प्रतीको के गुह्य अर्थ ढूँढ कर इनके मर्मार्थों का प्रकाशन किया। किस प्रकार इनके इन पदो मे हठयोग तथा मुद्रा-मैथुन-सम्बन्धी सकेत मिलते हैं इसके लिये कुछ पदो की प्रतीक योजना पर एक दृष्टि डालनी आवश्यक है। यह समस्त प्रतीकात्मक योजना प्रज्ञोपायात्मक या नायक-नायिका परक है। नायक के लिये सिद्धो ने वीर, बंगाली, कपाली, शवर, हरिण आदि प्रतीक रक्खे है जिनके पीछे योगपरक अर्थ है।

चर्यापदो के कुछ प्रतीक

जहाँ तक वीर का प्रश्न है उसकी व्याख्या दोहाकोष मे इस प्रकार मिलती है कि चित्त-वज्र-प्रज्ञोपाय योग से जो महाराग द्वारा विराग का दमन करता है उसे वीर कहते है।[१९] यह वीर सुरत वीर है क्योकि वह मकरन्द पान करता है और महासुख चक्र मे रमणी महामुद्रा नैरात्मारूपी नायिका का उत्साहपूर्वक उपभोग करता है।[२०] इसी को गुण्डरीपा कुन्दुरु वीर कहते है और उसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार कहता है कि योगाचार सुख लाभ कर जो क्लेशादि का मर्दन करे उसे कुन्दुरु वीर कहते हैं। योगाचर सुख वह दो इन्द्रियो की समापत्ति से लाभ करता हैं। ये दो इन्द्रियाँ कमल और कुलिश या भग और लिंग है।[२१] इसी नायक को अद्वैतज्ञान प्राप्ति के उपरान्त बगाली कहा जाता है और तब वह चण्डाली का स्वामी होता है। भुसुकुपा अपने चर्यापद में इसीलिये अपने को

बंगाली कहते है और अपनी गृहिणी के रूप मे चण्डाली को ग्रहण करते है।[२२] कपाली के प्रतीकार्थ पर हम काण्हपा की कापालिक साधनाओ के सिलसिले मे विचार कर चुके है। शवरी के प्रति उन्मुख होने के ही कारण साधक को शवर भी कहा गया है। शवरी नैरात्मा का ही प्रतीक है जैसा हम अभी देखेंगे। नायक तथा नायिका की हरिण तथा हरिणी रूप मे[२३] कल्पना इसलिये हुई है कि विषय के प्रति मन बहुत शीघ्र आसक्त हो जाता है[२४] जैसे हरिण सगीत के प्रति। उसी के प्रेयसी का प्रतीक हरिणी मान लिया गया है।

नायिका पक्ष पर विचार करने से हम देखते है कि चण्डाली, शवरी, सहज-सुन्दरी, वधू, गृहिणी, योगिनी, नैरामणि-योगिनी, डोम्बी, मातगी, कमलिनी, पद्मिनी आदि संकेतों का प्रयोग किया गया है। इनमे से 'चण्डाली' पर हम विचार कर चुके है।[२५] मणि मूल मे सम्पुटीकरण के उपरान्त चण्डाग्नि प्रज्ज्वलित कर साधक अवधूतिका के द्वारा उसे ऊपर की ओर प्रवाहित करता है। इसी चण्डाग्नि को चण्डाली, तथा कभी-कभी इसे ग्रहण करने के कारण अवधूतिका को भी चण्डाली कहा जाता है। कभी-कभी महामुद्रा नैरात्मा को भी इसी प्रतीक द्वारा व्यक्त किया गया है।

सहस्रार चक्र मे मेरुशिखर पर वास करने से नायिका, नैरात्मा को शवरी भी कहा गया है। शवरी जाति की स्त्रियाँ मध्यप्रदेश के ऊँचे पर्वतो और विन्ध्य के शिखरो पर रहती है। नैरात्मा की उपमा ऐसी ही ऊँचे मेरुशिखर पर रहने वाली शवरी से देते हुए और उसी का प्रेमी होने के कारण अपने को शवर कहते हुए शवरपा प्रणय निवेदन करते है—'एक ऊँचा, बहुत ऊँचा पर्वत शिखर है जिस पर एक शवरी वालिका रहती है। मोर के पखो से सजी हुई, अंगो पर घुघचियो की मालाओ से शृङ्गार किये हुए। मै उन्मत्त शवर प्रेमी हूँ। सासारिक सुखो से मै विरक्त हो गया हूँ, मेरा मन तो उसी सहज सुन्दरी पर आसक्त है। उस पर्वत पर वृक्षो के घने कुञ्ज है जिनकी शाखाएँ आकाश को छू लेती है। शवरी वालिका कानो मे वज्र-कुण्डल धारण किये हुए अकेली वन मे विचरण करती फिरती है। और मै हूँ शवर, नाग-सा उन्मत्त और आवेशयुक्त। मै त्रिधातु (काय-वाक्-चित्त अथवा रूप-काम और धर्म) की पलग डाल कर महासुख शय्या का प्रवन्ध करता हूँ और उसके वाद प्रेयसी नैरात्मा को ग्रहण कर उस पर प्रणय-रात्रि विताऊँगा. इस प्रकार हम देखते है कि शवरी वास्तव मे नैरात्मा या सहज-सुन्दरी का ही दूसरा नाम है और मेरुशिखर की वासिनी

होने के कारण शवरी का प्रतीक प्रयुक्त हुआ है और बाद मे उसे साग रूपक वनाने का प्रयास किया गया है। उसी शबरी के कारण साधक का नाम भी शबर रक्खा गया है।[२६]

इसी प्रकार नायिका अवधूती को वधू के रूप मे कई स्थानो पर चित्रित किया गया है क्योकि साधक ललना रसना को त्याग कर उसी को ग्रहण करता है। इसी वधू से परिणय करने के लिये कृष्णपाद बारात सजा कर जाते है जिसमे पटह, मादल सभी प्रकार के बाजे है और दहेज मे उन्हें अनुत्तर धर्म प्राप्त होता है।[२७] इसीलिये वे इस नैरात्मा को गृहणी भी कहते है। दोहो मे बरावर घरिणी का उल्लेख मिलता है जिसमे विलीन हुए बिना सिद्धि नही मिलती।[२८] उस तरुण गृहणी के निरन्तर स्नेह के बिना इस जन्म मे बोधि प्राप्त नही हो सकती।[२९] परमार्थ का बोध उन्ही को होता है जिन्होने इस गृहणी मे अपना मन डुबो दिया है,[३०] जो इस गृहणी से पानी और नमक की तरह घुलमिल कर एक हो गये है।[३१] यह गृहणी ही महामुद्रा और चण्डाली है।[३२]

योगी की गृहणी होने के कारण नायिका को योगिनी भी कहा गया है। गुण्डुरीपा कहते है कि 'ओ योगिनी, तीनो नाडियो को दबा कर मुझे एक भरपूर आलिगन दो।[३३] इस कमल-कुलिश योग मे समय बीतता जाय[३४] और हमे ज्ञान न हो। ओ योगिनी, मै तुम्हारे बिना एक पल भी नही जी सकूँगा। मै तुम्हारे होठ चूम कर कलल-रस पीऊँगा।'[३५]

योगिनी को कही-कही नैरात्म-योगिनी भी कहा गया है। शबरपा इसी को नैरामणि भी कहते है।[३६]

यह योगिनी ज्ञानरूप है। कुछ विद्वानो का कथन है कि ज्ञानी को तिब्बती मे ड्रड्व् कहते है जिससे डोम या डोम्बी बना जिसके अर्थ ज्ञानवती होते है।[३७] इसी अर्थ मे डोम्बी की वायु तत्व से सलग्न माना गया है अर्थात् प्राण तथा अपान वायु के निरोध से सम्बद्ध।[३८] डोम्बीपा अपनी चर्या मे डोम्बी को गगा-यमुना के बीच से पार कराने वाली अवधूतिका बताते है।[३९] कृष्णाचर्यपा उसी को डोम्बी वधू बताते हुए उसके साथ विवाह समारोह रचाते है और इसी को काम-चण्डाली की संज्ञा भी देते है।[४०] काण्हपा की एक चर्या महत्वपूर्ण है जिसमे कि उन्होने इस डोम्बो बालिका से कापालिक के रूप मे प्रणय भिक्षा माँगी है। उस चर्या मे काण्हपा कहते है—'हे डोम्बी, नगरी के बाहर तुम्हारी कुटिया है, अस्पृश्य होने के कारण ब्राह्मण का लडका

उसे छू छू कर ही वापस लौट जाता है। ओ डोम्बी, मैं काण्ह हूँ, निपट निघृण कापालिक योगी, मैं तुम्हारे साथ समागम करूँगा....तुम डोम्बी हो, मैं कपाली हूँ तुम्हारे ही कारण मैंने अस्थियो की माला धारण की है '[४१]

टीका के अनुसार इसमे डोम्बी परिशुद्धावधूती को कहा गया है। ब्राह्मण लड़का से उन योगियो की ओर सकेत है जो अबौद्ध होने के कारण प्रज्ञोपायात्मक ज्ञान से रहित है। अत सिद्धि को केवल बाहर से छू पाते है। काण्ड कापालिक हैं अत वे इस नैरात्म-योगिनी को पराभूत कर सकते है। कापालिक के अर्थ है चर्याधर अर्थात् चर्याओ मे निष्णात। कापालिक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार टीका मे बताई गई है 'कम् महासुखम् पालयति इति कपाली।' अर्थात् 'क' महासुख के बीज को जो पालता हैं, वह कापालिक है। इसीलिये डोम्बी के साधक को कापालिक कहते हैं।[४२]

कुक्कुरीपा ने इसी नायिका को अभिसारिका के रूप में चित्रित किया है।[४३] 'कच्छपी को दुहने से भाजन छलक उठा है, दूध भाजन मे समा नही पाता। वृक्ष की इमली घडियाल खा रहा है। ओ तरुणी वधू, तेरे घर मे ही आँगन है। तेरे मलिन वस्त्र आधी रात के समय चोर चुरा ले गया है। सास को नीद आ गई है, बहू जाग रही है। तेरे जो वस्त्र चोरी चले गये उन्हे अब किससे माँगेगी। दिन मे वधू काग से भी डरती है किन्तु रात होते ही वह अभिसार के लिये कामरूप तक चली जाती है। ऐसी चर्या कुक्कुरीपा गा रहे है। करोडो मे से कोई एक ही इसे समझ पायेगा।'

उपर्युक्त चर्या मे प्रतीको के द्वारा हठयोग का वर्णन है। कच्छपी, जिसके लिये चर्यापद मे दुलि शब्द का प्रयोग है, के अर्थ है द्वयाकर जिसमे लीन हो जाय ऐसा महासुख कमल। उसको दुहने के अर्थ है अवधूती मार्ग से उसका रस-पान करना। भाजन के अर्थ है वज्रमणि पीठ। चर्या मे 'पिटा' का प्रयोग हैं। अर्थात् पहली पक्ति का अर्थ हुआ कि महासुख कमल से झरने वाला रस वज्र-मणि पीठ में भी नही समा रहा है। यह वज्रमणि पीठ सम्भवत. साधना की प्रारभिक अवस्था से सम्बद्ध है क्योकि टीका मे इसके साथ 'बालयोगी' का उल्लेख है। सेकोद्देश टीका मे साधको की चार श्रेणियाँ बताई गई है, बाल, प्रौढ, वृद्ध और प्रजापति। बालयोगी प्रारम्भिक अवस्था में होता है अत उसका अधिकार महामुद्रा के पयोधरो तक ही होता है। इस प्रसग ने ही कच्छपी के क्षीर का वर्णन है।[४४]

इन उल्लेखो से फिर इस पक्ति का मर्मार्थ यह निकला कि महासुख कमल की साधना से साधक को जिस रस की प्राप्ति होती है वह बालयोगी के वश की बात नही क्योकि बालयोगी केवल प्रारम्भिक साधक होता है। अत. पहले उसे बोधिचित्त की साधना करनी चाहिये।

इसलिए दूसरे पक्ति मे कहा गया है कि वृक्ष की इमली कुम्भीर खाता है। सधा शैली मे कुम्भीर के अर्थ है कुम्भक योग मे निष्णात योगी। अर्थात् श्वास निरोध करने वाला साधक। वही इमली अर्थात् बोधिचित्त का भक्षण कर सकता है, अर्थात् उसी के द्वारा इमली की भाँति टेढा मेढा, भव-सम्भृत बोधिचित्त निस्वभावीकृत हो सकता है।

अगली पक्तियो मे वधू को सम्बोधित किया गया है जिसके लिये 'विश्राती' शब्द का प्रयोग है। विश्राती सम्भवत विज्ञप्ति (विज्ञप्ति-मात्रता) का अपभ्रंश रूप है।[४५] किन्तु टीकाकार ने यहाँ यह सम्बोधन माना है। उस वधू को सम्बोधित कर कवि कहता है कि हे वधू! तेरे गृह के समीप ही आँगन है। गृह का अर्थ वज्रजाप द्वारा प्राप्त विरमानन्दरूपी गृह है। उसमें आँगन है। आँगन का अर्थ टीकाकार ने नही दिया किन्तु आँगन जिसमे ऊपर से छाजन नही होती, उसकी हम सम्वृत्त सत्य के विपरीत विवृत या पारमार्थिक सत्य के अर्थ मे व्याख्या कर सकते है। टीका के अन्त मे भी काण्हपा के दोहे का जो उद्धरण दिया है उसमे इस परमार्थ और निरजन का उल्लेख है। अत विरमानन्द रूपी गृह में परमार्थ रूपी आँगन है।

उस आँगन में से सहजानन्दरूपी चोर ने मलिन वस्त्र अर्थात् 'प्रवेश-वातादि दोष' चुरा लिये है। उनका अपहरण कर लिया है। आधी रात में अपहरण किया है। आधी रात के अर्थ है प्रज्ञाज्ञानाभिषेक का समय जिसे अर्द्धरात्रि भी कहते है।[४६] उस आँगन मे सास सो गई है। अर्थात् श्वास निरुद्ध होकर योगनिद्रा मे लीन हो गई है किन्तु वधू अर्थात् परिशुद्धावधूती निरन्तर जाग्रत है। क्योकि कहा गया है कि सयमी सदा जागता रहता है।[४७]

वह वधू चोर को ढूँढने का व्यर्थ प्रयास कर रही है क्योकि चोर तो सहजानन्द है और सहजानन्द का स्वरूप कोई विरला ही जान सकता है। उसको पकडना ग्रहण करना अत्यन्त कठिन है। दिन मे वह वधू काग से भी डरती है, अर्थात् जब प्रज्ञाज्ञान उसे नही प्राप्त होता, अर्धरात्रि नही होती, दिन होता है तब वह भव-बुद्धि से चारो ओर काल-सम्वृत (काग) वस्तुओ को देखती है और

अपने ही चित्त की विवृति (ससार) से भय खाती है ।[४८] किन्तु रात होने पर अर्थात् प्रज्ञाज्ञान मे दुख दिवाकर के अस्त हो जाने पर वही अवधूती समागम के लिये कामरूप जाती है । कामरूप[४९] के अर्थ है महासुख चक्र ।

इस प्रकार प्रतीको के माध्यम से यह कहा गया है कि योग का मार्ग बहुत गूढ है और प्रारम्भिक साधक महासुख कमल की साधना को नही समझ सकते । उसके लिये पहले कुम्भक योग द्वारा बोधिचित्त को नि:स्वभाव (नैरात्म-स्वभाव) कर देना चाहिये । अवधूती पहले मलिन वस्त्रो, क्लेश-वासनादि से आवृत रहती है किन्तु जब वज्रजापादि के द्वारा वह विरमानन्दरूपी गृह मे प्रतिष्ठित होकर परमार्थरूपी आँगन का ज्ञान प्राप्त कर लेती है तब वह निद्रा (अज्ञान) खो देती है और श्वास निरोध के बाद जाग्रत हो जाती हैं। उसके दोषादि अपहृत हो जाते है, उसमे उपाय की, साहस की प्रतिष्ठा हो जाती है और वही वधू जो दिन मे काग से भी डरती थी रात को अकेले अभिसार के लिये कामरूप पीठ को प्रस्थान करती है । महासुख कमल मे प्रवेश करता है । यह रहस्यमयी चर्या है जिसे कुक्कुरीपा ने गाया है जिसे कोटि कोटि योगियो मे से कोई एक ही समझ सकता है ।[५०]

इसी नायिका का गंगा-यमुना की नौका-वाहिका मातगी के रूप मे वर्णन डोम्बी[५१] की चर्या मे मिलता है :—

'गगा और यमुना इन दोनो के बीचोबीच से एक नौका बह रही है । उसमें एक मातगी बैठी है जो लीलाभाव, सहज भाव से योगियो को पार उतार देती है । खेती चलो, ओ डोम्बी, खेती चलो, पथ मे देर हो रही है । सद्गुरुपाद के उपदेश से हम पंचजिनपुर (पंच तथागतो का देश) मे शीघ्र पहुँच जायँगे । पाँच पतवार इस नाव को खे रहे है । पाल बँधे हुए है । गगन-शून्यपात्र से नौका मे भर आने वाले जल को मै उलीच रहा हूँ । सूर्य और चन्द्र ये दोनो दो चक्र है, सृष्टि और ससार के पालो को फैलाने और उतारने के । वाम और दक्षिण इन दोनो कूलो से बच कर स्वच्छन्द मार्ग पर चलती चलो । यह डोम्बी कौडी लेकर पार नही उतारती, स्वेच्छा से श्रम करती है । जिन्होने यह यान ग्रहण नही किया और रथ पर चढे है वे (अन्य सम्प्रदाय के योगी) पार नहीं उतर पाते ।'

इस चर्या का अर्थ अपेक्षाकृत स्पष्ट है । गगा तथा यमुना, ललना तथा रसना की वाचक है । वाम-दक्षिण और सूर्य-चन्द्र से भी इन्ही नाडियो का बोध

होता है। मातंगी है डोम्बी नैरात्मा जो प्रमत्त है, यह नौका जो सहज पथ से वह रही है, सहजयान[५२] है। यह भवसागर से लोगो को पार करा देती है। पाँच डाँडो का अर्थ यहाँ चतुर्विधशून्य-सम्बन्धी पचक्रमोपदेश है। इस प्रकार ललना और रसना को परित्याग कर मध्यमार्ग अवधूती को ग्रहण करना ही हठयोग साधना में सहज पद्धति या मध्यम-मार्ग है जिससे महामुद्रा सिद्ध होती है।

यही नायिका पद्मिनी है क्योकि मृणाल बन कर वह कमल रस को प्रवाहित कर रही है। आधीरात कमल खिला है। बत्तीस योगिनियाँ उसके दलो पर क्रीडा कर रही हैं। अवधूती मार्ग से चित्तरूपी चन्द्र प्रवेश करता है। वह सहज ज्ञान की अभिव्यक्ति कर रहा है क्योकि सद्गुरु के वचन रत्नो से प्रभावित है। चलते-चलते वह चित्तरूपी चन्द्र निर्वाण को प्राप्त हो जाता है। कमलिनी रूपी अवधूतिका मृणाल बन कर कमल रस को (महासुख को) प्रवाहित कर रही है। विरमानन्द विलक्षण है, जो इसे जानता है वही बुद्ध हो जाता है। भुसुकु कहते है कि मैंने तो इसे मिलन कर (समागम कर) जाना है। मुझे महासुख की लीला मे सहजानन्द की प्राप्ति हुई है।[५३]

इस चर्या मे आधीरात के अर्थ है प्रज्ञाज्ञानाभिषेक का चतुर्थ सन्ध्या समय। बत्तीस योगिनियो के अर्थ है कमल मे लीन होने वाली बत्तीस नाडियाँ। चित्त को चन्द्र इसलिये कहा गया है कि वह सम्वृति से मुक्त होकर उपाय रूप हो गया है, शून्य मे चन्द्र के समान विहार करता है। अवधूती का मृणाल रूप मे सकेत काण्हपा ने भी किया है।[५४] उससे आने वाला रस समस्त शरीर में बिध कर काय-वाक्-चित्त को वज्र बना देता है। यह लीला नायिका महामुद्रा के समागम से सम्पन्न होती है।

चर्यापदो तथा बौद्ध तान्त्रिक साहित्य मे प्रयुक्त इन प्रतीको के साकेतिक अर्थ समझ लेने के उपरान्त अब इस दृष्टि से इन पर विचार कर लेना आवश्यक है कि ये प्रतीक कहाँ से आये और कैसे ये बौद्ध तान्त्रिक परम्परा मे किसी विशेष निश्चित अर्थ का बोध कराने लगे। हम पहले ही इस बात पर विचार कर चुके है सिद्धो की चिन्तन-परम्परा विज्ञानवादी दर्शन और योगाचार की साधनाओ से प्रभावित है। अत विज्ञानवादी ग्रन्थो मे जिन अप्रस्तुतो तथा उपमानो के द्वारा

प्रतीको का उद्गम

तथता और विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धात समझाया गया है, उनमे से बहुत से अप्रस्तुत-ज्यो के त्यो के सिद्धो के साहित्य मे मिलते हैं। उदाहरण के लिये भुसुकुपा ने अपने पद में इस ससार के लिये मरु-मरीचिका, गन्धर्वनगरी, रज्जु में सर्प, दर्पण में प्रतिबिम्ब, वन्ध्यासुत, खपुष्प, वालुका का तैल, शश-शृङ्ग आदि अप्रस्तुतो का प्रयोग किया है।[५५] ये अप्रस्तुत उस समय के अन्य वज्रयानी ग्रन्थो में भी मिलते है।[५६] ये अप्रस्तुत सिद्धो के अपने नही थे वरन् उन्होने इन्हे विज्ञानवाद से लिया था। विज्ञानवादी चिन्तक अपने आत्म-ख्याति के सिद्धात के प्रतिपादन में इन अप्रस्तुतो का उपयोग करते थे, ऐसा शकराचार्य के भाष्य से ज्ञात होता है। क्योकि विज्ञानवादी चिन्तना का खण्डन करते हुये शकराचार्य ने विज्ञानवाद की उन्ही उपमाओ का उल्लेख किया है और उनकी तर्कपद्धति की असङ्गतियो की ओर सकेत किया है।[५७] वैसे ये उपमान उस समय केवल बौद्धो मे ही नहीं वरन् अन्य सम्प्रदायो भी ससार के माया रूप का निदर्शन कराने के लिये प्रयुक्त होते थे। किन्तु साम्प्रदायिक स्थिति ने संभवत. उन्हे विज्ञानवाद की परम्परा से इन अप्रस्तुतो का उत्तराधिकार दिलाया होगा।

कुछ प्रतीक तथा अप्रस्तुत योगाचार की झाण साधना से इन्हें प्राप्त हुए हैं। इस साधना पर विचार करते हुए[५८] हमने यह देखा था कि ये पञ्च महाभूतो को प्राणायाम द्वारा नासाग्र पर केन्द्रित कर अपनी चित्तवृत्तियो को अन्तर्मुखी कर लेते थे। इसके उपरान्त उनके ध्यान में बहुत से चित्रात्मक प्रतीको का उदय होने लगता था। पावक धातु के उदय के समय शुक्र (ओपधितारक), आप् धातु के उदय के समय षोडश कला-सम्पन्न-पूर्ण चन्द्र और पीले कनैर के पुष्प, वायु के उदय के समय वर्षा के मेघ, आकाशधातु के उदय के समय मोरपङ्ख मन में प्रतिबिम्बित होने लगते थे। ये बिम्ब ही बोधिचित के उदय से सम्बद्ध होकर विभिन्न प्रतीको मे परिवर्तित हो गये। सिद्धो ने इन समस्त अप्रस्तुत का कभी प्रतीक तथा कभी उपमान रूप मे उपयोग किया है।[५९] इसी प्रकार महायान-सूत्रालङ्कार मे बोधिचित्त समुत्पाद को पृथ्वी के समान, यान के समान, राजा के समान, गन्धर्वों के मधुर घोष के समान बताया गया है।[६०] चर्यापदो में भी ये उपमान ग्रहण किये गये है।[६१] कही पर ये बोधिचित्त के लिये है और कही बोधिचित्त के प्रमुख तत्व करुणा के लिये।

योगाचार के अतिरिक्त तान्त्रिक पद्धतियो से उन्होने बहुत से प्रतीक लिये जिनका बाद मे इन्होने प्रज्ञोपायात्मक बौद्ध अर्थ दे दिया। इनमे से रस-रसायन

और उससे सम्बन्धित समस्त प्रतीको के बौद्ध अर्थों पर हम पीछे विचार कर चुके है।[६२] इसी सम्बन्ध मे सिद्धो ने बोल कक्कोल साधना के अन्तर्गत अन्य ओषधियो को भी प्रतीक रूप मे ग्रहण किया। बल, मग्रणा, कालिन्जर, दुद्धरु चउसम, कस्तूरी, कर्पूर, सिल्हा, मालती-ईन्धन, खेट, मलयज, प्रेंखण, डिण्डिम, कुन्दुरु आदि।[६३] हेवज्र-तन्त्र मे इन प्रतीको का तान्त्रिक अर्थ क्रमश मास, मदिरा, शुभ, अशुभ, चार सम अश, मूत्र, शुक्र, स्वयम्भू, व्यञ्जन, अगति, युगनद्ध, गति, अस्पर्श तथा द्वीन्द्रिय-समापत्ति मिलता है।[६४] इन सकेतिक अर्थो से भी इस पद का अर्थ नही निकल पाता क्योकि प्रतीक-योजना अत्यत दुरूह हो गई है।

इसके अतिरिक्त तान्त्रिक परम्परा मे उस समय जो पीठ उपपीठ आदि प्रख्यात थे उनको भी प्रतीकार्थ मे ग्रहण किया था। कामरूप, ओडियान (उड्डीयान)[६६] बङ्गाल[६७] आदि इन सिद्धो की हठयोग साधनाओ मे प्रतीक रूप मे ग्रहण किये गये है।

चर्यापदो के कुछ प्रतीक शब्द चमत्कार पर भी आधारित है। कुक्कुरीपा की एक चर्या में 'कुम्भीर' प्रतीकरूप मे आया है और कुम्भीर को इमली खाते हुये वर्णित किया गया है। कुम्भीर का प्रतीकार्थ टीका मे कुम्भक-समाधि बताया गया है।[६८] निस्सन्देह शब्दसाम्य के कारण यह प्रतीक ग्रहण कर कुक्कुरी ने शैलीगत चमत्कार का प्रदर्शन किया है। ऐसे प्रतीक उन थोडी-सी चर्याओ में मिलते है जहाँ उलटवाँसी शैली व्यवहृत है। इसी प्रकार श्वास प्राणवायु के लिये सास, अवधूती के लिये वधू; आदि प्रतीक भी शब्द-साम्य कारण ग्रहण किये गये है। श्लेष पर आधारित कुछ प्रतीक भी मिलते है। उदाहरण के लिये ढेण्ढणपा की चर्या में बलद का प्रसव करना वर्णित है और वलद का प्रतिभासित अर्थ बैल है किन्तु श्लेषार्थ बल देने वाला बोधिचित्त बताया गया है।[६९] अपने इसी श्लेषार्थ के कारण बैल बोधिचित्त का प्रतीक बन गया है।

अर्थ या शब्द-साम्य-मूलक प्रतीक

इसी प्रकार कुछ प्रतीक समान-धर्मो अप्रस्तुत है। उदाहरण के लिये

सम्वृत, भव-प्रवृत्त अज्ञानी चित्त का प्रतीक अन्धेरी रात का चूल्हा बताया गया है।[70] चूहा अन्धेरी रात मे विहार करता है, चित्त अज्ञान मे विहार करता है, चूहा बर्तनो में भोजन चुरा कर नष्ट करता है, चित्त रूपादि स्कन्धो का भक्षण कर अमृत तत्व को दूषित कर देता है। चूहा चचल होता है, चित्त चचल है। चूहे को गृहपति मार डालता है, योगि चित्त का हनन करता है। अत सभी प्रकृतियाँ धर्म, स्वभाव समान होने के कारण चूहा चित्त का अप्रस्तुत उपमान हुआ और फिर प्रतीक रूप मे रूढ हो गया। किन्तु वही चित्त जब मुक्त हुआ, बलशाली हुआ, महा सुखचक्र-रूपी कमल मे उसने प्रवेश कर लिया तब चूहा न रह कर मत्त गजेन्द्र हो गया, वह महारस का पान करने लगा।[71] इस अवस्था मे चूँकि उसने गज के धर्म अपना लिये अत उसका प्रतीक गज हो गया। इसी प्रकार पशु जगत के एक तीसरा प्रतीक भी सिद्धो ने साधर्म्य के कारण ग्रहण किया है वह है हरिण। हरिण भोला अज्ञानी होता है। वह व्याध के जाल में सरलता से फँस जाता है। उसी प्रकार अज्ञानी होता है, काल-पाश से सरलता से उलझ जाता है। अत भुसुकुपा उसे हरिण भी कहते है।[72]

साधर्म्य-मूलक प्रतीक

कुछ प्रतीक चर्यागत है। हम पहले इस बात का सकेत कर चुके है कि वाह्य अनुष्ठानो मे इन मे इन सिद्धो की अपनी-अपनी चर्याएँ होती थी जिनके आधार पर कभी-कभी इनको चर्यागत, नाम भी दिया जाता था और उन चर्याओ से सम्बन्धित वस्तुओ और प्रक्रियाओ की ये आध्यात्मिक अर्थ दे दिया करते थे।[73] इस प्रकार की कई प्रतीक-शृखलाएँ हमे चर्यापदो मे मिलती हैं। उदाहरण के लिये हम दो प्रतीक-शृखलाए लेंगे। एक वीणापा के वीणावादन की चर्या का आध्यात्मिक रूपक और दूसरा शान्तिपा के कपास धुनने का रूपक। इनमे से शान्तिपा के कपास धुनने के रूपक मे सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान और चित्त के गहन विशोधन को बार-बार कपास धुनने के रूपक में अभिव्यक्त किया गया है और इसी प्रक्रिया से सम्बन्धित प्रतीको का प्रयोग है जिन पर हम पहले विचार कर चुके है।[74] वीणापा की चर्या मे वीणा को हेरुक ज्ञान की वीणा के रूप में परिकल्पित किया गया है। इस वीणा में सूर्यरूपी तुम्बी मे शशिरूपी तन्त्री लगी है, अनाहत का दण्ड दोनो को सम्बद्ध करता है। आली (स्वर) तथा काली (व्यजन) इसके

चर्यागत प्रतीक

प्राथमिक सरगम है। साधक वज्रनृत्य कर रहा है, सहसाधिका योगिनी गा रही है, बुद्ध-नाटक का अभिनय हो रहा है। इस रूपक में कई प्रतीक वीणावादन की प्रक्रिया से लिये गये और तत्सम्बन्धी अन्य उपमान ग्रहण कर रूपक को परिपूर्ण बना दिया गया है, और वीणापा की वीणावादन चर्या को आध्यात्मिक रूप दिया गया है। जैसा हम पहले सकेत भी कर चुके हैं कि इन चर्याओ का सम्बन्ध इन सिद्धो की आजीविका से भी हो सकता है।[७५]

बहुत से प्रतीक तथा अप्रस्तुत ऐसे हैं जो सिद्धो ने तत्कालीन जन-जीवन से ग्रहण किये थे। सिद्धो मे से बहुत से लोग निम्न वर्ग से आये थे। बहुत से ब्राह्मण सिद्ध अपनी उच्चता का परित्याग कर लोक-जीवन मे घुलमिल गये थे। अत उन्होने अपनी शैली मे बहुत से अप्रस्तुत सामान्य जीवन से ग्रहण किये। प्रज्ञा को डोम्बी रूप में परिकल्पित करने के उपरान्त काण्हपा ने डोम्बी के निवास, उसका तन्त्री, उसकी डलिया, उसके नृत्य आदि को अप्रस्तुत रूप में ग्रहण कर इसके चित्र को बहुत सजीव कर दिया है। इसी प्रकार ज्ञान के सो जाने पर बहू के प्रणयाभिसार के लिये जाने की प्रक्रिया निस्सन्देह तात्कालिक सामन्ती पारिवारिक मर्यादा से ग्रहण की गई है। काण्हपा ने अपने एक चर्यापद में शतरज के लोकप्रचलित खेल का रूपक बाँधा है।[७६] इसके अतिरिक्त, नौका, घाट, पुल, लकडी चीरना आदि दैनिक जीवन की सामान्य और चिरपरिचित वस्तुओ तथा प्रक्रियाओ को इन्होने अपनी शैली के अप्रस्तुत ग्रहण किये हैं। इसका एक वहुत ही रोचक उदाहरण विरूपा की चर्या से मिलता है। विरूपा ने अपने एक पद मे[७७] अवधूती की उपमा शुण्डिनी मद्यविक्रेता नारी से दी है। इन मद्य-विक्रयी नारियो और उनकी मद्यशालाओ का तत्कालीन लोकजीवन मे बडा महत्वपूर्ण स्थान था जिसका कुछ उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं।[७८] स्वत विरूपा के जीवन मे एक घटना का उल्लेख पाया जाता है, जिसके अनुसार मदिरालय मे विरूपा ने अपना एक चमत्कार प्रदर्शित किया था।[७९] इसी प्रकार अपने दैनिक जीवन के प्रभावो और व्यक्तियो को अप्रस्तुत रूप में ये सिद्ध अपनी शैली मे समाविष्ट कर देते थे।

इन प्रतीको का विस्तृत अध्ययन करने पर एक रोचक तथ्य का पता लगता है। इनमे से कई प्रतीक ऐसे है जिनके अर्थ ने समय के साथ-साथ

विकास होता चला गया है। उदाहरण के लिये हम एक प्रतीक लें शुक्र। हम देख चुके हैं कि योगाचार में शुक्र पावक-तत्व के उदय के समय चित्त मे बिम्बरूप उदय होता था। उसके बाद वह निर्मल बोधिचित्त का प्रतीक माना जाने लगा। किन्तु प्रज्ञोपायात्मक मैथुन कल्पना का विकास होने पर शुक्र का अर्थ सहसा वदल गया है और वह वीर्य के रूप में माना जाने लगा। डाकार्णव मे इस शुक्र धातु का कई स्थान पर उल्लेख है।[८०] इसी शुक्र को रज रूपी प्रज्ञा से भूषित करने का उपदेश काण्हपा ने दिया है।[८१] इस प्रकार अब यही प्रतीक बोधिचित्त के दो धर्मों का सकेत करने लगा। जब बोधिचित्त मल से रहित अद्वय स्वभाव का हो, तब शुक्रतारक का और जब वह प्रज्ञा से मैथुन करने के लिये गतिशील हो तब शुक्र (वीर्य) धातु का। इसी प्रकार कुछ अन्य प्रतीको मे भी विकास का क्रम ढूँढा जा सकता है।

प्रतीकों का विकास

कुछ प्रतीक अन्तरावलम्बन के कारण आये थे। अन्तरावलम्बन मे वे ऐसे प्रतीक तथा अप्रस्तुतो का प्रयोग करते थे जिसके धर्म एक दूसरे पर अवलम्बित हो। उदाहरण के लिये चित्त को गजेन्द्र मानने का एक कारण तो यह भी था कि करुणायुक्त बोधिचित्त मुक्त होता है किन्तु उसका एक कारण और है। सिद्धो ने महासुख चक्र तथा अन्य चक्रो के लिये 'कमल' प्रतीक निश्चित किया था। गज को परम्परा मे कमल का प्रेमी माना गया है और उसकी यह प्रकृति बताई गई है कि वह कमल-सरोवर में प्रवेश कर कमल का उपभोग करता है। इसी परम्परागत सम्बन्ध के कारण, कमल पर अवलम्बित प्रतीक गज भी स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार एक प्रतीक हठयोग परम्परा से ग्रहण किया गया और उसी पर अवलम्बित दूसरे अप्रस्तुत को भी प्रतीक रूप मे ग्रहण कर लिया गया। इसी प्रकार चित्त को हरिण मान लेने पर साधक का प्रतीक अहेरी मान लिया गया है।[८२]

अन्रावलम्बन

अलकारिक प्रतीक-योजना की दृष्टि से सिद्धो ने दो प्रमुख रीतियाँ अपनाई है। पहली थी औपम्यमूलक और दूसरी थी विरोधमूलक। औपम्यमूलक योजना मे प्रस्तुतो तथा ऐसे अप्रस्तुतो को एक विस्तुत रूपक में नियोजित किया जाता था जिनमे धर्म-साम्य हो और जिनकी प्रकृति अन्तरावलम्बन की हो। बहुधा ऐसा होता था

औपम्यमूलक प्रतीक-योजना

कि एक विशेष रूढ प्रतीक को ग्रहण कर लेने के उपरान्त उसे सर्वांग सम्पूर्ण बनाने के लिये उसके समस्त अवयवो या अगो के आरोप्यमाण ढूंढ लिये जाते थे। ऐसे साग रूपक सिद्धो मे बहुत से मिलते है। उदाहरण के लिये शवरपा द्वारा प्रस्तुत शबरी का रूपक साग रूपक है। उसका रूढ प्रतीक तो है मेरुपर्वत, जो मेरुदण्ड का आरोप्यमाण है। उसके ऊपर वास करने वाली नैरात्मा के लिये मेरुपर्वत पर वास, करने वाली शबर बालिका प्रमुख अप्रस्तुत बन गई। उसके उपरान्त शबर बालिका के अगो पर सजे हुए मोर पख और गुजमाला भी, उसके नाना रूप विकल्प और उसकी ग्रीवा (कण्ठ स्थित सम्भोगचक्र) मे मन्त्र हार के आरोप्यमाण मान लिये गये। पर्वत पर उगे हुए वृक्ष अविद्या के अप्रस्तुत हो गये, उसके वज्र-कुण्डल मुद्रा के अप्रस्तुत हो गये। इस प्रकार एक प्रमुख आरोप्यमाण ग्रहण कर उसके समस्त अवयवो का भी आरोप कर दिया गया।[८३] इसी प्रकार काण्हपा द्वारा प्रस्तुत वरयात्रा का रूपक भी साग रूपक है। डोम्बी को वधू रूप मे परिकल्पित कर काण्हपा वर बन कर उससे विवाह करने चलते हैं। उसमें पटह, दुन्दुभि, मादल आदि समस्त अप्रस्तुतो को अग भाव मे आरोपित कर उन्होने सुन्दर साग रूपक प्रस्तुत किया है।[८४] इस रूपक अलकार-योजना को अपनाने का एक विशेष कारण था। रूपक की मूल प्रकृति है आरोप-विषय तथा आरोप्यमाण मे अभेद स्थापित करना सिद्धो के तत्व दर्शन मे हम यह देख चुके है कि वे अन्तर तथा बाह्य मे अभेद-मानते थे और सदैव बाह्य अनुष्ठानो से आन्तरिक साधना की प्रक्रिया तथा आन्तरिक योग से बाह्य अनुष्ठानो को अनुशासित करते थे। पार्थिव तथा अपार्थिव का वही अभेद अलकारिक शैली मे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का अभेद बन गया था।

इसका एक सम्प्रदायिक कारण भी था। महायान मे ही धर्म-प्रचार के लिये 'औपम्य', का विशेष महत्व माना गया था। सद्धर्म-पुण्डरीक मे भगवान तथागत औपम्य-शैली मे अशिक्षितो को उपदेश देने को मन्त्रणा देते है क्योकि औपम्य के द्वारा अशिक्षित भी गूढ तात्विक रहस्यो को समझने मे समर्थ हो जाते है।[८५] इसी कारण सद्धर्म-पुण्डरीक का दूसरा परिवर्त ही 'औपम्य परिवर्त' कहा गया है। यह औपम्य ही वास्तव मे प्रमुख अलकारो की मूल प्रकृति है इसे उस समय के काव्यशास्त्री भी स्वीकार करते थे। रुद्रट ने, (जो ९ वी शताब्दी मे था) अपने निरूपित अलकारो को चार श्रेणियो मे वर्गीकृत किया और एक पूरे वर्ग का नाम औपम्य रक्खा। १२वी शताब्दी मे रुय्यक ने अलकारो का

सात वर्गो मे विभाजन किया और सर्वप्रमुख वर्ग औपम्य-मूलक अलंकारो का बताया।[८६] इन औपम्यमूलक अलकारो में, उपमा, रूपक, परिणाम, दृष्टान्त आदि की गणना होती थी।

दोहो में, जो लोक-प्रचार के लिये थे, उपमा का प्रचुर प्रयोग है। उन उपमाओ मे अप्रस्तुतो के धर्म की प्रस्तुत के धर्म से समानता प्रदर्शित की गई है। सरहपा अपने एक दोहे मे कहते है 'हे सखि यह मन तो करभ के समान है जो कि बधने पर, भार से लदा होने पर इधर-उधर भागता है और मुक्त होने पर निश्चल खडा हो जाता है।[८७] इसी प्रकार अनेक उदाहरण सफल उपमाओ के मिलते है।[८८]

इस दृष्टि से चर्यापद की टीकाओ मे प्राप्त 'उत्प्रेक्षा' शब्द पर विचार कर लेना आवश्यक है। मुनिदत्त ने प्रथम चर्यापद की टीका मे ही सन्धाशैली की प्रतीक-योजना की तुलना बहिशास्त्रकारो द्वारा स्वीकृत उत्प्रेक्षा अलंकार से की है।[८६] मुनिदत्त के समय तक उत्प्रेक्षा अलकार एक विशिष्ट अलकार के रूप मे स्वीकृत हो चुका था किन्तु पहले 'उत्प्रेक्षा' शब्द शैली की उम प्रवृत्ति के अर्थ मे व्यवहृत होता था जिनमे प्रस्तुतो का वर्णन अप्रस्तुतो के ब्याज से किया जाय। इसी अर्थ मे बाणभट्ट ने दक्षिण के साहित्य मे उत्प्रेक्षा की प्रधानता बताई थी।[६०] इस शैली मे अप्रस्तुत-योजना की प्रधानता रहती थी। यही प्रवृत्ति सन्धा शैली की मूल प्रवृत्ति है।

विरोधमूलक प्रतीक-योजना

सिद्धो की दूसरी प्रतीक तथा अप्रस्तुत-योजना विरोधमूलक थी। यह शैली उस समय लौकिक काव्यशास्त्र मे भी प्रचलित हो रही थी। क्योकि १२ वी शताब्दी मे रुय्यक ने विरोधमूलक अलकारो का एक स्वतत्र वर्ग बतलाया है जिसमे विरोध, विभावना, असगति, विषम आदि का उल्लेख है। इसमे अप्रस्तुतो का तथा धर्मों की विरोधमूलक योजना रहती है। इस अप्रस्तुत योजना ने उलटवासी का रूप धारण कर लिया। इस दृष्टि से ढेण्ढणपा की चर्या विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसमें ढेण्ढणपा कहते हैं 'टीले पर मेरा घर है, पर कोई भी पडोसी नही है। हाडी में भात का दाना नही पर अतिथि आ रहे है। मेढक से सर्प भयभीत है, दुहा हुआ दूध क्या थनो मे लौट जायगा ? बैल ने प्रसव किया है, गाय बाझ हो गई है। बैल तीनो समय दूध देता है। जो बुद्धिमान है वही

बुद्धिहीन है। जो चोर है, वही साह है। एक शृगाल सिंह से युद्ध करता है। ढेण्ढणपा की यह चर्या विरले ही बूझ सकते है।'[६१]

इसमे ऐसे प्रतीको को योजित किया गया है जिनके धर्म विरोधी है किन्तु साकेतिक अर्थो मे उनकी पूर्ण सगति बैठती है। पडोसी का अर्थ यहाँ चन्द्र-सूर्य-रूपी ग्राह्य-ग्राहक भाव है, जिनका अस्तित्व अब नही रहा। हाँडी का अर्थ साधक की काया है जिसमे भात के अर्थ है सवृत्त बोधिचित्त। आमन्त्रित अतिथि स्वत. योगमार्ग मे प्रवृत्त साधक है। प्रभास्वर रूपी मेढक से विज्ञान-शृङ्खला रूपी सर्प भयभीत है। दुहा दुआ दुग्ध अर्थात् मूलाधार मे स्थित बोधि-चित्त, पुन स्तनो मे अर्थात् महासुख चक्र मे समा जाता है। बलद अर्थात् सम्वृत चित्त ससार का प्रसव करता है, नैरात्मरूप गाय हो जाने पर बाझ हो जाता है। उसका तीनो समय दोहन (नि स्वभावीकरण) किया जा सकता है। जो सविकल्प चित्त का ज्ञानी है वही अज्ञानी है। जो इसी सविकल्प चित्त से विषय सुख का अपहरण करते है वे चोर हैं। गुरु के उपदेश से वे ही साधु हो जाते है। मर-णादि भय से व्याकुल कायर शृगाल की भाँति मन ही गुरु उपदेश से ज्ञान लाभ कर शून्यता रूपी सिंह से भी युद्ध करता है। करुणा रूप मे शून्यता के समकक्ष हो जाता है। इसमे शृगाल मे वीरता, बैल मे प्रसव, सर्प मे मेढक से भय आदि विरुद्ध धर्मो का आरोप है जिसकी सगति प्रतिकार्थो द्वारा बैठती है।[६२]

इन उलटवाँसियो का मुख्य उद्देश्य जनता को चमत्कृत करना और आकर्षित करना प्रतीत होता है। यह भी धर्म-प्रचार का ही एक ढग था और उसी परम्परा मे था जिसमे अन्य सभी शैलीगत तत्व उपाय-कौशल पारमिता के अन्तर्गत धर्म-प्रचार के साधन मान लिये गये थे। यही काव्य-पद्धति परवर्ती नाथ तथा सन्त सम्प्रदायो में भी अपनाई गई जिसके कारण आज भी उनके काव्य को शुद्ध लौकिक काव्यशास्त्र की कसौटी पर कसना कठिन प्रतीत होता है।

ग

भाषा और छन्द

दोहो और चर्यापदो की भाषा को लेकर काफी विवाद रहा है और मगध, आसाम, उडीसा तथा बगाल के अधिकाश विद्वानो का आग्रह रहा है कि वे सिद्धो की भाषा को अपनी प्रान्तीय भाषा का आदिरूप सिद्ध करें। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने स्पष्टत उन्हे पुरानी बगला का नमूना बताया था[1] और डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने भी इसका समर्थन किया था। रायबहादुर आर्तवल्लभ महन्ती ने इनकी तुलना उडिया से कर, इसे पुरानी उडिया बताया है।[2] डा० वाणीकान्त ककाती ने आसामी से इसका सम्बन्ध जोडा है,[3] और डा० काशीप्रसाद जायसवाल तथा श्री राहुल साकृत्यायन ने सिद्धो की भाषा की निकटता मगही और मैथिली से सिद्ध कर उसे पुरानी हिन्दी बताया है।[4] बाद मे राहुल जी ने अपने मत का स्पष्टीकरण करते हुए यह भी कहा है कि अधिकाश पूर्वी भाषाएँ इस भाषा को अपना पूर्व रूप कह सकती है।[5]

वास्तव में सिद्धो की भाषा का स्वरूप इतना सरल नही है कि उस पर इस प्रकार के एकागी निर्णय दिये जा सकें। इसका सर्वप्रथम कारण यह है कि सिद्धो के दोहो और चर्यापदो तथा उसी परम्परा मे आने वाले डाकार्णव और साधनमाला की वज्रगीतियो मे सभी स्थलो मे भाषा का रूप एक-सा नही है। बिना उन भेदो को ध्यान मे रखे और उनके कारणो पर विचार किये हम सिद्धो की भाषा के स्वरूप की जटिलता को हृदयगम नही कर सकते।

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने केवल 'बौद्ध गान ओ दोहा' मे ही सकलित

दोहाकोषो और चर्यापदो मे ही दो प्रकार की उपभाषाओ की ओर सकेत किया है, चयापदो की भाषा पूर्वी है जिसे वे पुरानी वगाली कहते है क्योकि उसमे बहुत से क्रिया-रूप, शब्द-रूप तथा ऐसे मुहाविरे है जिसकी परम्परा पुरानो बगाली मे चली आई है। दोहाकोषो मे एक ही भाषा है पश्चिमी (या शौरसेनी) अपभ्र श, किन्तु पूर्वी भारत मे लिखे जाने के कारण उसमे बहुत से पूर्वी रूप और पूर्वी मुहाविरे समाविष्ट हो गये है।[६] डाकार्णव के सम्पादक डा० नगेन्द्रनारायण चौधरी डाकार्णव की भाषा को भी शौरसेनी अपभ्र श पर आधारित मानते है, किन्तु कही-कही उस पर पूर्वी बगाल के शब्दरूपो, उच्चारणो तथा मुहाविरो का प्रभाव मानते है।[७] डा० सुकुमार सेन ने साधनमाला तथा हेवज्र की वज्रगीतियो की भाषा को शौरसेनी अपभ्र श पर आधारित माना है और चर्यापदो से उनकी भाषा को पृथक बताया है।[८] इन समस्त विद्वानो के आधार पर हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि केवल 'चर्याचर्य विनिश्चय' को छोडकर सिद्धो तथा वज्रयानी परम्परा की अधिकाश अपभ्र श की कृतियो की भाषा शौरसेनी पर आधारित थी, किन्तु उसमे स्थान-स्थान पर पूर्वी प्रभाव हैं। चर्यापदो की भापा चटर्जी के अनुसार पश्चिमी बंगाल की स्थानीय बोली के पूर्व रूप पर आधारित है किन्तु वह भी शौरसेनी प्रभाव से पूर्णतया मुक्त नही है। प्रभावो के इस मिश्रण का क्या कारण था, इस पर हम बाद में विचार करेंगे किन्तु पहले उस समय शौरसेनी अपभ्र श की परिस्थिति और पूर्वी देशो मे उसके व्यवहार पर विचार करना आवश्यक है।

सिद्धो की विभिन्न भाषा-शैलियाँ

सिद्धो के साहित्य का रचना-काल हमने ९वी से १३वी शती तक निश्चित किया है। इनमे से सरहपा के दोहाकोषो की प्राचीनतम उपलब्ध प्रति ११०१ ई० की मिली है और तिल्लोपा के दोहो का प्रतिलिपि काल १३वी शती का है। 'चर्याचर्यविनिश्चय' की प्रतिलिपि अपेक्षाकृत और भी नवीन है। इससे स्पष्ट है कि इनमे से कुछ अपने मूल रूप मे मध्यकालीन भारतीय-आर्यभाषा-काल तथा आधुनिक भारतीय-आर्यभाषा-काल की सन्धिवेला की रचनाएँ है। उस समय की शौरसेनी अपभ्र श तथा स्थानीय बोलियो की पृष्ठभूमि मे सिद्धो की भाषा का स्वरूप निर्धारित करना वहुत कठिन नही है।

डा० तोमर ने अपभ्र श भापा के विषय मे सस्कृत के साहित्य शास्त्रियो के

मतो का परीक्षण कर यह निष्कर्ष निकाला है कि भरत के समय तक अपभ्रंश का कोई निश्चित रूप नही था। किन्तु छठवी शती मे भामह और दडी के समय तक अपभ्रंश मे काव्य रचना होने लगी थी, राजशेखर [८८०-९२० ई०] के समय तक अपभ्रंश काव्य राजदर्बारो और विद्वन्मंडलियो मे सम्मान पाने लगा था।[९] अपभ्रंश के किस रूप (या किन रूपो) का प्रयोग साहित्य मे होता था, इसके विषय मे कुछ मतभेद अवश्य है किन्तु पश्चिमी वर्ग के अधिकाश वैयाकरणो ने साहित्य मे प्रयुक्त अपभ्रंश का आधार शौरसेनी ही माना है और यह अनुमान किया जा सकता है कि शौरसेनी अपभ्रंश ही काव्य की भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित थी।[१०] डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का भी यही मत है कि ६वी से १३वी शती तक पूर्वी भारत मे यह पश्चिमी अपभ्रंश काव्यभाषा के रूप मे प्रतिष्ठित थी जिसमे दोहो अथवा वज्रगीतियो की रचना हुई है। वे इसका ऐतिहासिक कारण राजपूतो का राजनीतिक प्रभुत्व बताते हुए यह कहते है कि उनके दरबारो मे शौरसेनी भाषा और शौरसेनी काव्य को प्रश्रय मिला हुआ था और उनके चारणो की काव्य-भाषा भी यही थी, अत गुजरात से लेकर बगाल तकसमस्त आर्य-भाषा-भाषी प्रदेशो मे शौरसेनी अपभ्रंश ही काव्यभाषा के रूप मान्य हुई। किन्तु आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ का भी स्वरूप उस समय गठित हो रहा था। कुछ समय तक तो पुरानी शौरसेनी अपभ्रंश ही काव्य-भाषा के रूप मे प्रयुक्त होती रही और विभिन्न प्रदेशो की बोलियाँ कभी-कभी उस प्रदेश मे रचे जाने वाले सहित्य को प्रभावित करती रही, बाद में वे बोलिताँ स्वतन्त्र क व्य-भाषाओ के रूप ने प्रयुक्त होये लगी।[११] बाद में अक्सर ऐसे भी उदाहरण मिल मिलते है कि एक ही कवि नई काव्य-भाषा मे भी रचना करता है और पुरनी अपभ्रंश मे भी अपना काव्य-चमत्मकार दिखाने का प्रयास है जैसे विद्यापति।

भाषा सम्बन्धी परिस्थिति

अब प्रश्न यह उठता है कि एक ही सिद्ध की रचनाओ में दो भाषा-रूपो का प्रयोग क्यो हुआ है। इसके विषय मे कई अनुमान किये जा सकते है। पहला अनुमान तो यही होता है कि दोहाकोषो की पुरानी प्रति उपलब्ध है जब कि चर्यापद जिस रूप में मिले हैं वह काफी नया रूप है और गेय होने के कारण सम्भवत उस पर स्थानीय प्रभाव इतना अधिक पडा है कि उसकी भाषा का रूप दोहाकोषो की

भेद का कारण

भाषा से कही अधिक विकसित हो गया है। यह अनुमान इस कारण और भी दृढ होता है कि राहुल जी नें नेपाल के मठो मे गाये जाने वाले चर्यापदो में से जालन्धरीपा का एक चर्यापद ढूँढा है जिसका रूप बहुत बिगड गया है, भाषा बहुत विकृत है किन्तु फ़िर भी उस पर पुरानी अपभ्रंश का प्रभाव बहुत स्पष्ट है।[१२] चर्यापदो में स्थान-स्थान पर उपलब्ध पश्चिमी प्रभावो के कारण यह अनुमान किया जा सकता है कि इन सिद्धो की समस्त रचनाएँ शौरसेनी अपभ्रंश मे हुई थी और गेय होने के कारण चर्यापदो की भाषा बदलती गई। कई शतियो बाद लिपिबद्ध होने के कारण उनकी भाषा का मूलरूप वही नही माना जा सकता जो इस समय उपलब्ध है। अपने मूलरूप मे उनमे पश्चिमी तथा पूर्वी प्रभाव किस अनुपात मे थे यह कह सकना कठिन है।

किन्तु पूर्वीय वर्ग के वैयाकरणो में से क्रमदीश्वर ने एक बड़े महत्वपूर्ण नियम का उल्लेख किया है जिससे चर्यापदो और दोहो के भाषाभेद पर एक नया प्रकाश पडता है। क्रमदीश्वर ने, जिसका समय १३वी शती के लगभग था छन्दो और काव्यरूपों के आधार पर अपभ्रंश के भेदो की बडी मनोरजक व्याख्या की है।[१३] उसने व्राचड को रेफ युक्त बताया है, और उसमे दोहा आदि की रचना का प्रचलन बताया है, रासकादि में नागर का प्रयोग बताया है और प्राकृत-मिश्रित गाथादि मे उपनागर के प्रयोग का उल्लेख किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि कुछ विशेष काव्यरूपो के साथ अपभ्रंश के विशेष रूपो का सम्बन्ध रूढ हो गया था। क्रमदीश्वर पूर्वीय वर्ग का था अत सिद्धो के विषय मे उसकी साक्षी को आधार बनाना अधिक उपयुक्त है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि दोहो की परम्परा पश्चिमी (शौरसेनी) परम्परा थी और दोहे लिखते समय सिद्धो ने पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग किया क्योकि वह भाषा दोहो मे मँज चुकी थी, किन्तु जब उन्होने गेय पद लिखे तो स्थानीय बोली को आधार बनाया। किन्तु चूँकि वह बोली अभी काव्य मे मँजी नही थी अत स्थान-स्थान पर उन्होने अभिव्यक्ति और काव्यपरिष्कार के लिये शौरसेनी का सहारा लिया। डा० चटर्जी का भी झुकाव इसी ओर है। वे चर्यापदो की भाषा पर शौरसेनी प्रभाव के दो कारण और बताते हैं। पहला तो यह कि चर्यापदो की भाषा मागधी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी है किन्तु मागधी क्षेत्रो पर भी शौरसेनी अपना प्रभाव डालती रही है। दूसरा यह कि चर्यापदो को नेपाल के

उस प्रदेश में लिपिबद्ध किया गया जहाँ मैथिली का विशेष प्रभाव था और मध्यदेशीय प्रभाव की भी कमी नहीं थी। आसामी भाषा के प्रारम्भिक रूप में भी कई ऐसे मध्यदेशीय प्रभाव पाये जाते हैं जो उसे बंगाली के पूर्वरूप से अलग करते हैं।[१४] अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि न केवल राजनीतिक वरन् शैव सास्कृतिक आधिपत्य के कारण आसाम तक शौरसेनी का बहुत व्यापक प्रभाव था जिसमे दोहा-साहित्य की पूर्वागत परम्परा थी। अत. सिद्धों ने दोहा लिखते समय पश्चिमी अपभ्रंश का प्रयोग किया किन्तु पद लिखते समय पूर्वी बोलियों को आधार बनाया।

किन्तु यदि सिद्ध-परम्परा का प्रारम्भ हम ९वी शती में मानें तो यह प्रश्न उठता है कि उस समय स्थानीय बोलियो का रूप इतना विकसित हुआ था या नही कि उनमें साहित्य लिखा जा सके। कम से कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि सम्भवतः सरहपा आदि सिद्धो ने जब चर्यापदो की रचना की होगी तो उसका आधार पूर्वी अपभ्रंश होते हुए भी उसका रूप वह नही रहा होगा जो 'चर्याचर्यविनिश्चय' में मिलता है। इसी कारण हम इस अनुमान को भी बिल्कुल निराधार नही कह सकते कि गेय होने के कारण इनकी भाषा मे नवीन प्रभाव आते गये हैं और यदि राखालदास बनर्जी के मतानुसार इनकी भाषा १४वीं शती की मानी जाय तो इनकी भाषा की शुद्धता और भी सदिग्ध सिद्ध होती है।

इस प्रकार काल और देश की दृष्टि से सिद्धो की भाषा पर विहंगम दृष्टि डाल लेने के उपरान्त अब यह विचार कर लेना आवश्यक है कि

दोहों की भाषा और आधुनिक पूर्वी भाषाएँ

सिद्धो की भाषा का आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ से क्या सम्बन्ध है। क्या उनकी भाषा को आधुनिक मगही, मैथिली, बंगाली, उडिया या आसामी की जननी कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध मे विभिन्न विद्वानो के मत इस प्रकार हैं :

(क) डा० ककाती ने दोहाकोष की भाषा के कुछ शब्दरूप और व्याकरणरूप ऐसे ढूँढे है जो आसामी मे अब भी पाये जाते है, कुछ ध्वनिगत विशेषताएँ, कुछ विभक्ति रूप, कुछ परसर्ग आसामी मे अब भी मिलते हैं जो बंगाली या अन्य पूर्वीय भाषाओ मे नही मिलते।[१५]

(ख) डा० चटर्जी ने सरहपा के दोहाकोष में 'कढिउ रव' जैसे कई मुहाविरो अच्छ, थक्क आदि धातुओं, जब्बे तब्बे आदि क्रिया-विशेषणो तथा इसी प्रकार के अन्य शब्दो के प्रयोग की ओर संकेत करते हुए दोहाकोष की भाषा मे बगाली तत्वो का अस्तित्व माना है।[१६]

(ग) किन्तु इस विषय मे डा० शाहिदुल्ला की पुस्तक की भूमिका लिखते समय जूल ब्लाख ने स्पष्ट लिख दिया है कि पूर्वीय पाडुलिपियो में उपलब्ध होने या कुछ पूर्वीय प्रभाव मिलने के कारण इसे पूर्वीय कहा जा सकता है किन्तु इसे पूर्वी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ का उद्गम आधार नही माना जा सकता ।[१७]

किन्तु चर्यापदो की भाषा में स्थानीय पूर्वी आधुनिक आर्य-भापाओ के रूप बहुत उभर आये है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का विचार है कि नव-विकसित बगाली भाषा का काव्यभाषा के रूप मे प्रयोग करने का यह सर्वप्रथम प्रयास होने के कारण अभी इस भाषा की अपनी कोई काव्यपरम्परा नही है अत इसे काव्योचित बनाने के लिए कवियों ने शौरसेनी अपभ्रंश का भी सहारा लिया है जो कई शताब्दियो से काव्यभाषा के रूप में प्रयुक्त होती रही है।[१८] उनका यह भी विचार है कि चर्यापदो की भषा का गठन पश्चिमी बगाल की तत्कालीन बोली के आधार पर हुआ है क्योकि उसके बहुत से रूप उसमे उपलब्ध होते है।

चर्यापदो की भाषा और पूर्वी भाषाएँ

दूसरी ओर उडीसा के रायबहादुर आर्तवल्लभ महन्ती का विचार है कि चर्यापदो की भाषा उडिया का प्राचीन रूप है और चर्यापदो के कई वाक्याशो का आधुनिक उडिया रूपान्तर देकर उन्होने यह सिद्ध किया है कि लगभग १००० वर्ष बाद भी वे उसी प्रकार बोले जाते है।[१९] उनमें से कुछ उदाहरण इस प्रकार है

चर्यापद	आधुनिक उडिया
नगर बाहिर रे डोम्बि तोहोरि कुडिया	नगर बाहार रे डोम्बि तोहोरि कुडिआ
छोइ छोइ जाइ सो बाह्मण नाडिआ	छुई छुई जाय से बाह्मण नाडिका
आलो डोम्बि तो सम करिब म सग	आली डोम्बि तो सम करिवि म सग

जन्म मरण भव कइसन होइ — जन्म मरण भव कैसन होइ
जीवन्तें मले नाहि विसेस — जीवन्ते मले नाहि विशेष

यद्यपि केवल कुछ वाक्याशो की समानता सिद्ध कर देना ही इस बात का यथेष्ट प्रमाण नही है कि इनकी भाषा उडिया है। जब तक इस दिशा मे पूर्ण प्रमाणो सहित कोई मत नही आता तब तक उसे स्वीकार करना कठिन है, किन्तु यह सम्भावना सर्वथा उपेक्षणीय भी नही है। एक बात अवश्य है कि इसमे अधिकाश उदाहरण काण्हपा के है और वे कर्णाटक देशवासी होने के कारण बगाल की अपेक्षा उडीसा की भाषा से अधिक परिचित रहे हो, यह अनुमान किया जा सकता है।

पुरानी हिन्दी और दोहाकोष

अब अन्तिम प्रश्न आता है कि क्या इन सिद्धो की भाषा को पुरानी हिन्दी कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध मे सबसे प्रबल आग्रह श्री राहुल साकृत्यायन का है।[२०] जिन्होने इसको हिन्दी की पुरानी सम्पत्ति माना है किन्तु अपने मत का प्रतिपादन करने में उन्होने यथेष्ट वैज्ञानिक प्रमाण प्रस्तुत नही किये है। सर्वप्रथम उन्होने चर्यापदो की भापा की पूर्वी प्रकृति और दोहाकोषो की भाषा की पश्चिमी प्रकृति पर ध्यान नही दिया है। पुनश्च इन दोहाकोषो की भाषा एवम् स्वयम्भू की भाषा मे केवल शैलीगत अन्तर है या मूल ढाँचा अलग है तथा पूर्वी हिन्दी का मूल रूप इन दोनो मे से किसकी भाषा मे प्रतिभासित होता है इस पर भी कोई विचार नही किया गया है। ग्रियर्सन ने अवधी के उद्भव के लिए अर्धमागधी अपभ्रंश की कल्पना की थी, यद्यपि डा० बाबूराम सक्सेना का मत है कि जैन अर्धमागधी से अवधी का उद्भव नही सिद्ध होता।

डा० तगारे ने अपभ्रंश को ३ भौगोलिक वर्गो मे विभाजित करते हुए पश्चिमी तथा दक्षिणी से पृथक काण्हपा तथा सरहपा के दोहो की भाषा को पूर्वी वर्ग का माना है।[२१] किन्तु दोहो की भाषा को शौरसेनी से पूर्णतया पृथक् मानने के पक्ष मे न जूल ब्लाख है और न डा० सुनीतिकुमार चटर्जी। अपने तुलनात्मक अध्ययन में अधिकाश स्थलो पर डा० तगारे ने पूर्वी और पश्चिमी दोहो की समानता ही दिखाई है, उनका अंतर उन्ही पूर्वी प्रभावो के कारण है जिसे लगभग सभी विद्वान स्वीकार करते है। इस दृष्टि से दोहाकोषो की भाषा

अवधी की जननी हो या न हो, किन्तु पूर्वी प्रभावो और पश्चिमी मूल ढाँचे के कारण वह पूर्वी हिन्दी के निकट अवश्य मानी जायगी ।

अवधी, भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि के कुछ तद्भव शब्दो के पुराने रूप और चर्यापदो तथा दोहो मे उनके प्रयोग पर राहुल जी ने हिन्दी-काव्यधारा के परिशिष्ट मे विचार किया है तथा डा० शाहिदुल्ला ने अपनी पुस्तक की भूमिका मे दोहो के व्याकरण पर विस्तृत विचार किया है, अत उसके विस्तार मे न जाकर हम दोहाकोष और चर्यापदो के छन्दो पर विचार करेंगे । भाषा की दृष्टि से ही नही वरन् छन्दो की दृष्टि से भी दोहाकोष और चर्यापद दो पृथक् शैलियो का अनुसरण करते प्रतीत होते हैं ।

दोहाकोष के छन्द

दोहाकोष का मुख्य छन्द दोहा है । विभिन्न सम्प्रदायो मे धर्मप्रचार का साहित्य दोहो मे लिखा जाता रहा है जैसा कि बौद्ध और जैन दोहो से ज्ञात होता है । स्वत सरहपा ने दोहा छन्द की महिमा की ओर सकेत किया है । 'णउ णउ दोहाच्छन्दे कह वि ण किम्पि गोप्प' ।[२२] प्राकृत अपभ्र श साहित्य मे दोहा छन्द की परम्परा सम्भवत सबसे प्राचीन और सबसे अधिक व्यापक है । सबसे प्राचीन प्राकृत दोहा विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अक में मिलता है और यदि इसे कालिदास की रचना न मानकर प्रक्षिप्त मानें तो भी वह सरलता से ८वी शती तक माना जा सकता है । दसवीं और ग्यारहवी शती मे यह बहुत प्रचलित छन्द हो गया था किन्तु उस समय भी यह पश्चिमी अपभ्रंश की कृतियो मे ही प्राप्त होता है । बौद्ध अनुश्रुतियो मे भी यही उल्लेख मिलता है कि सरहपा ने अपने दोहा[२३] वज्रगीतियो की रचना महाराष्ट्र में महामुद्रा साधना के बाद की थी जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उन्होने यह परम्परा पश्चिमी प्रदेशो से ग्रहण की होगी । बारहवी शती में हेमचन्द्र ने 'छन्दोनुशासन' मे एक सस्कृत दोहे का भी उद्धरण देकर यह बताया है कि यह छन्द कभी-कभी सस्कृत मे भी व्यवहृत होता था । दोहे का छन्द-रूप सम्भवत १४वी शती मे स्थिर हुआ जब 'प्राकृत पैंगलम्' मे १३, ११ मात्राओ का क्रम निर्देशित हुआ और लघु गुरु अक्षरो के आधार पर उसके २३ भेद बताये गये । जिस समय सिद्धो ने दोहा छन्द अपनाया उस समय उसका स्वरूप स्थिर नही हुआ था । बौद्ध परम्परा में कई प्रमाण ऐसे मिलते हैं कि दोहो की गेयता भी सिद्ध होती है । ऐसे दोहो को 'वज्रगीति'

कहते थे। साधन-माला में बुद्धकपाल की साधना मे हमे ४ दोहो की एक वज्र-गीति प्राप्त होती है।[२४] हेवज्रतन्त्र में भी दो वज्रगीतियाँ प्राप्त होती है जिनमे से प्रथम ४ दोहो की है और द्वितीय ५ दोहो की। दूसरी वज्रगीति को 'महासमय गीतिका' कहा गया है और उसके ५ दोहे ध्यानी बुद्धो की ५ भार्याओ के प्रति है। इन सभी गीतिकाओ को वज्रयानी साधनाओ के समय गाने और कभी-कभी उन पर नृत्य करने का भी विधान मिलता है।[२५] किन्तु वज्रगीतियो से पृथक्, दोहाकोषो की गेयता का कोई प्रमाण नही मिलता।

डा० सुकुमार सेन ने वज्रगीतियो की छन्द-योजना १३+१२ मात्राओ की बताई है। किन्तु इसकी अनियमितताओ की ओर उन्होने संकेत नही किया है। उदाहरण के लिये यदि हम हेवज्रतन्त्र की वज्रगीति का छन्द विश्लेषण करें तो प्रथम दो दोहो के तीन दल १३+१२ मात्राओ के है।

उठ्ठ भराणो करुणमन्। तपुक्खसि महुँ परिताहिं॥
महासुह जोए काम महुँ। इच्छ तहि सुण्ण समाहि॥
तोम्हा विहुणे भरमि हउ। उठ्ठेहि तुहुँ हेवज्ज॥

किन्तु चौथी पक्ति केवल २२ मात्राओ की है :

छड्डहि सुण्ण सहावता। सवरि सिझउ कज्ज॥

वस्तुत अपभ्रंश काव्य प्रधानतया गेय परम्परा का काव्य है। अतएव उसमे सुनिश्चित मात्रा-गणना के स्थान पर, गेयता के अनुकूल शब्द-योजना मिलती है। बहुत से साहित्यिक छंदो का गेय रूप व्यवहृत होता था जो छद विशेष की 'देशी' कहलाता है। उद्धृत पक्तियाँ इस प्रकार दोहे की 'देशी' कही जा सकती है। गेयता अथवा पाठ अशुद्धि के कारण यह अनियमितताएँ है या इनका और कोई कारण है इसके विषय में कुछ नही कहा जा सकता। केवल अनुमान ही किये जा सकते है। इन्ही अनुमानो के आधार पर डा० सेन के मत का हम तिरस्कार भी नही कर सकते, क्योकि १३+१२ मात्राओ के दोहे की भी परम्परा चली आ रही थी। यह हेमचन्द्र के छन्दोनुशासन से ज्ञात होता है। उन्होने उपदोहक के लक्षण मे १३+१२ के क्रम का निर्देशन किया है यद्यपि जो उदाहरण दिया है वह १३+११ मात्रा का ही है। दोहक में १४+१२ मात्राएँ रहती थी। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि तीनो प्रकार के दोहो की परम्पराएँ पहले से चली आ रही थी और १४वी शती में 'प्राकृत पैंगलम्' में

केवल १३ + ११ के क्रम को मान्यता दी गई और अन्य दोनो रूप भुला दिये गये ।[२७]

कुरुकुल्ला की एक साधना मे एक दोहा देकर यह कहा गया है कि 'इमम् गाथा च स्मरेत्' यहाँ पर गाथा से गाथा छन्द का अर्थ न लेकर उससे दोहे का ही अर्थ लिया जाना चाहिये । वैसे तो कुछ विद्वानो का यह भी अनुमान है कि घत्ता (दोहा) गाथा का ही रूपान्तर है किन्तु वैसे भी गाथा शब्द किसी भी छन्द के लिये प्रयुक्त किया जाता था ।[२८] यहाँ पर जिस छन्द के लिये गाथा कहा गया है वह वास्तव मे दोहा ही है और उसमे अन्त मे एक लघु के साथ १३ + ११ की मात्रा योजना है

आइ ण अन्त ण मज्झ णउ । णउ भव णउ णिव्वाण ॥
एहु सो परम महासुह । णउ पर णउ अप्पाण ॥

साधनमाला मे सम्भवत पाठ की अशुद्धि के कारण प्रथम चरण मे एक मात्रा कम और तृतीय चरण मे एक मात्रा अधिक मिलती है, किन्तु इसी दोहे का शुद्ध रूप सरह के दोहाकोष में मिलता है जिसको यहाँ उद्धृत किया गया है ।[२९] गाथा के कुछ अन्य उदाहरण डा० शाहिदुल्ला ने दिये हैं । इसके अतिरिक्त सोरठे भी कई स्थानो पर मिलते है । सोरठे में दोहे की उल्टी मात्रिक योजना होती है अर्थात् ११ + १३

सोरठा खेतु पीठ उपपीठ । एत्थु भमइ परिट्ठिओ
देहा सरसिअ तित्थ । मइ सुह अण्ण ण दिट्ठओ ।

दोहे के परिवार के अन्य छन्द उल्लाला, द्विपदी, महानुभाव तथा मरहट्टा मिलते है जिनका विश्लेषण डा० शाहिदुल्ला ने विस्तारपूर्वक किया है, जिनके उदाहरण निम्नाकित है

उल्लाला (१५ + १३) (३ + ४, ३ + ६,४,३) प्राकृत पैंगलम् के अनुसार उल्लाला का उदाहरण डा० शाहिदुल्ला ने सरहपा के दोहाकोष मे से दिया है

'दुक्ख दिवाअर अत्थ बिजाइ उट्ठइ तरावह सुक्क',[३०]

किन्तु बागची ने इसका सशोधित पाठ इस प्रकार दिया है

'दुक्ख दिवाअर अत्य गउ ऊवह त रावह सुक्क' जिसके अनुसार वह भी १३ + ११ मात्रा का दोहा सिद्ध होता है ।

द्विपदी (६+२०+२)

भवइ काण्ह । दुल्लक्ख दुखवाह को मणे परिभा ।। वइ ।।[३१]

महानुभाव (१२+१२)

एत्थु से सुरसरि जमुणा । एत्थु से गग्गा साग्ररु ।।
एत्थ पग्राग वणारसि । एत्थु से चन्द दिवाग्ररु ।।[३२]

मरहट्ठा (६,५+४, ऽ।)

घरवइ खज्जइ सहजें रज्जइ किज्जइ राग्र बिराग्र
णिग्र पास बइट्ठी चित्ते भट्ठी जोइणि महु पडिहाइ ।।[३३]

इन दोहो के बीच मे १६ मात्राग्रो के समचतुष्पदी छन्द प्रयुक्त हुए है । समचतुष्पदी छन्द दोहो के या गाथा ग्रादि के साथ समस्त ग्रपभ्रंश साहित्य मे व्यवहृत होते थे । इसके १० भेदो ग्रौर परवर्ती चारण साहित्य मे उनके प्रचुर प्रयोग का उल्लेख डा० तोमर ने ग्रपने ग्रमुद्रित प्रबन्ध मे किया है ।[३४] डा० शाहिदुल्ला ने इनमे से पादाकुलक ग्रौर ग्रडिल्ला के उदाहरण दोहाकोषो में मे दिये हैं ।

पादाकुलक (४+४+४+४)

एक्कु ण किज्जइ तन्त ण मन्त
णिग्र घरिणी लइ केलि करन्त
णिग्र घरें घरिणी जाव ण मज्जइ
ताव कि पाँच वण्ण बिहरिज्जइ ।[३५]

अड़िल्ला (ग्रन्त मे ।।)

पणिण्डग्र सग्रल सत्थ वक्खाणइ
देहहि बुद्ध बसन्त ण जाणइ

इन्ही चतुष्पदियो से हिन्दी चौपाई का विकास माना जाता है ।

ग्रपभ्रंश साहित्य में कडवक का रूप सर्व-प्रचलित था । हेमचन्द्र ने चार पद्धतियो के साथ एक धत्ता की योजना से कडवक का पूरा होना बताया है । कडवको के समूह को सधि कहते थे । इस दृष्टि से सिद्धो के दोहाकोषो मे कोई भी सर्वप्रचलित नियम नही मिलता । तिलोपा के दोहाकोष मे एक कडवक मे समचतुष्पदियो के १२ चरण है ग्रौर तब एक दोहा है, दूसरे कडवक मे चार ही चरण है ग्रौर तीसरे मे ४२ चरणो के उपरान्त एक दोहा ग्राता है । इसी प्रकार सरहपा ग्रौर काण्हपा मे भी इस विपय मे किसी निश्चित नियम का पालन नही मिलता ।

चर्यापदो के छन्द भी मात्रिक है जिनमे 'पादाकुलक' की ही प्रधानता है। डा० सुनीतिकुमार का मत है कि भाषा की दृष्टि से पूर्वी प्रभाव होते हुए भी बगाल तथा पूर्वी मगध का लोक प्रचलित छन्द 'पयार'

चर्यापदो के छन्द

(१५ मात्रा) इन चर्यापदो मे नही प्रयुक्त हुआ है जिससे यह आभासित होता है कि या तो पयार का उस समय विकास ही नही हुआ था, या वह केवल लोकगीतो मे प्रयुक्त होता था किन्तु सिद्धो ने पूर्वागत अपभ्र श छन्द परम्परा का निर्वाह करते हुए उसे ग्रहण नही किया था।[३६] कुछ विद्वानो का मत यह है कि पादकुलक से ही 'पयार' छन्द विकसित हुआ। डा० सुकुमार सेन का भी यही मत है कि चर्यापदो के छन्दो से ही बगाली छन्द पयार और त्रिपदी विकसित हुए है।[३७]

पादाकुलक

जो मण ॥ गोअर ॥ आला ॥ जाला ॥
आगम ॥ पोथी ॥ इष्टा ॥ माला ॥ (चर्यापद ४०)

लगभग १० चर्यापदो मे २८ मात्राओ की छन्द योजना है

रउतु भणइ कत ॥ भुसकु भणइ कत ॥ सअला अइस सहावा ॥
(२८ मात्रा)

अइस सहावें ॥ जइ जग बूझति ॥ तुरइ वासना तोरा ॥
(२८ मात्रा) (पद ४१)।

सअ सम्बेअण ॥ सरुअ विआरें ॥ अलक्ख लक्ख ण जा इ ॥
(८+८+१०+१) पद १५।

इसी प्रकार के छन्दो को डा० सेन बगाली त्रिपदी (८+८+१०) का पूर्व रूप बताते है।

कुछ पदो मे प्रारम्भिक दो पक्तियो के बाद टेक की पंक्ति दी गई है, जैसे पद १६ और ३९। यह परम्परा बाद मे जयदेव, चडीदास, विद्यापति के पदो मे और भी विकसित हुई।

इन पदो की गेयता के सम्बन्ध मे डा० वेलकर का मत अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनका विचार है कि सस्कृत वर्णवृत्तो से अपभ्र श के इन मात्रावृत्तो का मुख्य अतर यहीं है कि इनके मूल मे एक नये प्रकार का सगीत है जिसे वे ताल-वृत्त तथा ताल-सगीत का नाम देते है और उसका उद्भव लोकजीवन से मानते है। आगे चल कर हम देखेंगे कि सगीत के ग्रन्थो में भी इस समय देशी सगीत को

मान्यता दी गई है। डा० वेलंकर का मत है कि पहले ये छन्द गेय थे और ताल वृत्तो पर आधारित थे किन्तु जब सामान्य लोगो के बजाय शास्त्रीय अभिरुचि वाले विद्वानो ने इन छन्दो को अपनाया तो उन्हें ह्रस्व और दीर्घ मात्रावृत्तो मे बाँध दिया जो कि लोक-साधारण के लिये सम्भव नही था क्योकि लोक-साधारण उच्चारण के नियमो का अनुशासन इस सीमा तक नही मान सकते है।[३७]

पदो का प्रमुख छन्द पादाकुलक ही क्यो है इसके विषय मे भी डा० वेलकर का अनुमान है कि चतुष्पदियो का पूरा कडवक गाया जाता था और घत्ता (विश्राम) या दोहे पर गायक रुक जाता था और दोहे को वह लययुक्त शैली मे बिना गाये हुये बोलता था। यह दोहा और चौपाई की शैली लम्बे वर्णनात्मक काव्यो मे प्रयुक्त होती थी। बाद में उन्ही पादाकुलको को रागो में बाँधकर पद गाये जाने लगे। किन्तु दोहे भी वज्रगीति के रूप मे गेय थे इसकी ओर हम पहले ही सकेत कर चुके है।

चर्यापदो के राग

सम्भवत. चर्यापदो मे से प्रत्येक पद के साथ उसके राग का नाम दिया है जो उनके तिब्बती रूपान्तरो के साथ भी मिलता है। ये राग सख्या मे कुल १८ है, अरु, कामोद, गउडा, गुजरी, गुर्ज्जरी, देशाख, देवक्री, धनसी, पटमजरी, बगाली-भैरवी, मल्लारी, मालशी (श्री ?), मालशी गबूडा, रामक्री, बलाड्डि, बराडी, शबरी। भारतीय सगीत के विकास से सम्बन्धित सामग्री इतनी कम है कि इन रागो के तत्कालीन रूप के विषय मे हमे कुछ सूचनाएँ नही मिलती है। सगीत-रत्नाकर (१२१० ई० के लगभग) सगीत-शास्त्र का पुराना प्रामाणिक 'ग्रन्थ' है। उसके द्वितीय अध्याय 'राग विवेक' मे हमें इनमे से कामोद, बगाल, बराटी, गुर्ज्जरी आदि कुछ रागो का उल्लेख मिलता है। चतुर कल्लिनाथ की टीका से यह भी आभास मिलता है कि ये राग वास्तव मे विभिन्न प्रान्तो और जातियो मे प्रचलित थे।[३८] किन्तु सिद्धो ने इन्हें लोकजीवन से लिया था इसका हमे कोई प्रमाण नही मिलता। सगीत-रत्नाकर से भी अधिक पुराना एक ग्रन्थ नारद का सगीत-मकरन्द मिलता है। उसमें चर्यापदो में उल्लिखित बहुत से रागो का नाम है—धनखी (धन्नाखी), गुर्जरी, बगाल, पटमंजरी, भैरवी, मल्हार (मल्लारी)। इन रागो को प्रात काल गाने का विधान है। शबरी

(सावेरी ?) मध्यान्ह मे गायी जाती थी। इसी प्रकार रामक्री (रामकृती) गौड, बराटी, देवक्री (देवक्रिया), घनाश्री, कामोद आदि का विभाजन स्त्री, पुरुष तथा नपुसक रागो मे भी किया गया है।[३९] यदि यह ग्रन्थ सगीत-रत्नाकर से भी पुराना है, जैसा इसके तथा सगीत-रत्नाकर दोनो के सम्पादक श्री तेलग का विचार है तो यह निस्सन्देह सिद्धो के समय में ही लिखा गया है और इसे प्रामाणिक मानकर हम निश्चित रूप से कह सकते है कि सिद्धो के पदो के राग शास्त्रीय पद्धति से पृथक् नही थे।

किन्तु इस ओर सकेत कर देना भी आवश्यक है कि भारतीय सगीत की जो परम्परा आज उत्तर-भारत में प्रचलित है, शास्त्रीय पद्धति मे उसका सगठन प्राकृत-अपभ्रंश-काल मे ही हुआ है और विभिन्न जातियो और प्रान्तो के लोक-सगीत को अपनाकर उन्हे स्वरग्रामो के एक नियम में आबद्ध कर दिया गया है। पूर्वागत वैदिक सगीत-पद्धति को मार्ग या गन्धर्व प्रणाली का नाम देकर उसे देवोचित सगीत कह कर नये मानवोचित देशी सगीत को प्रमुखता दी गई। उसका 'देशी' नाम संगीतशास्त्र के सभी ग्रन्थो मे मिलता है।[४०] इस प्रकार उपलब्ध सामग्री के आधार पर हम अधिक से अधिक यही कह कहते है कि सिद्धो के इन पदो के राग मूलतया लोक-संगीत से लिये गये थे किन्तु उस समय तक शास्त्रीय-पद्धति मे स्वीकृत होकर नियमानुशासित हो गये थे किन्तु दक्षिणी और उत्तरी सगीत-पद्धति की भाँति उस समय कोई पृथक् पूर्वी या पश्चिमी सगीत-पद्धति थी या नही इसके विषय मे कुछ भी ज्ञात नही है।

पंचम् अध्याय

परवर्ती प्रभाव

क

सिद्धों की साम्प्रदायिक स्थिति

सिद्ध-साहित्य के परवर्ती प्रभाव की प्रकृति का तटस्थ मूल्याकन करने के लिये यह पुन स्मरण कर लेना आवश्यक है कि सिद्धो की चिन्तना मे अधिकाश तत्व ऐसे है जो लगभग उस समय की सभी तान्त्रिक पद्धतियो मे पाये जाते है। अक्सर तान्त्रिक पद्धतियो के मूल ढाँचे की इस व्यापक एकता को जाने बिना इस प्रकार के निर्णय दिये जाते रहे है कि अमुक तत्व अमुक सम्प्रदाय की देन है, जब कि वही तत्व लगभग उसी रूप मे दूसरे समकालीन सम्प्रदायो मे पाया जाता रहा है। उदाहरण के लिये यह कहना कि जाति-पाँति का खडन बौद्धो ने किया, चूँकि वे हिन्दू नही थे यह भ्रमात्मक है। यह प्रवृत्ति उस समय तान्त्रिक प्रभाव से सर्वव्यापक थी।[१] यही नही, बाह्य अनुष्ठानो के प्रति सिद्धो की जो तीव्र आलोचना मिलती है, वह भी उस समय की व्यापक प्रवृत्ति थी। तन्त्रो मे साधना की उच्चतम अवस्था मे पहुँच कर अनुष्ठानो और बाह्याचारो का निषेध किया जाता था।[२] इसके साथ ही साथ अपने से इतर सम्प्रदायो के बाह्याचारो का तीव्र खडन भी प्रचलित था।[३]

साम्प्रदायिक स्थिति

अपने साहित्य के आधार पर इनकी साम्प्रदायिक स्थिति इस प्रकार प्रतीत होती है —

(क) वे तान्त्रिक बौद्ध थे ।

(ख) बौद्ध होने के नाते वे सम्प्रदायो की कटु आलोचना करते थे किन्तु बौद्ध परम्परा (विशेषत योगाचार) अपनी जड़ें गहरी से गहरी जमाये रखने का विशेष प्रयास करते थे ।[४] इस नाते वे प्रत्येक नई साधना की बौद्ध व्याख्या ढूँढ निकालते थे ।

(ग) तान्त्रिक होने के नाते वे बौद्ध सम्प्रदायों की भी आलोचना करते थे जो तान्त्रिक नही थे ।

(घ) सहज-पद्धति के विशेष उन्नायक होने के नाते वे तन्त्रो मे भी तान्त्रिक अनुष्ठान आदि को आदि-कर्म के रूप मे स्वीकार करते थे पर उच्चतर साधना के उपरान्त उन्हे अनावश्यक मानते थे ।[५]

बौद्धेतर सम्प्रदायो का खडन

तारानाथ की कथाओ मे हमें बराबर इस बात का उल्लेख मिलता है कि उस समय कितनी गहरी साम्प्रदायिक प्रतिद्वंद्विता थी और इसके लिये बौद्ध विद्वान् वेदादि ग्रन्थो का गहरा अध्ययन कर अपने प्रतिपच्चियो का खडन करते थे । ये सिद्ध कबीर की भाँति 'मसि कागद छूओ नहि' के अनुयायी नही थे । इनमे अधिकाश विद्वान् पंडित थे और शास्त्रागमो के ज्ञाता थे ।[६] सरह ने मध्यप्रदेश में जाकर त्रिपिटको का अध्ययन किया था । बहुत दिनो तक वे नालन्दा के आचार्य रहे । सरह के शिष्य नागार्जुन ने उनके आदेश से वेदादि ग्रथो का अध्ययन किया और महायान के शत्रुओ से शास्त्रार्थ किया ।[७] यही कारण था कि सिद्धियो द्वारा तो दूसरे सम्प्रदायो और उनके सिद्धो को वे पराजित करते ही थे,[८] तर्कों द्वारा भी वे कडी प्रत्यालोचनाएँ करते थे। विशेषत सरहपा के दोषाकोष की अद्वयवज्र ने जो टीका की है वह वास्तव में बौद्ध तान्त्रिक सिद्धो और पन्डितो की सूक्ष्मग्राही प्रतिभा का परिचय देती है ।[९] अद्वयवज्र की व्याख्या के अनुसार सरहपा ने अपने दोहो मे छः सम्प्रदायो की आलोचना की है । इन सम्प्रदायो को अद्वयवज्र ने षड्-दर्शन

कह कर पुकारा है जो न्याय, दर्शन, मीमाँसादि छ दर्शनो से भिन्न है। वे छ दर्शन है ब्रह्म, ईश्वर व अर्हन्त, बौद्ध, लोकायत तथा साख्य।[१०]

ब्रह्म-सम्प्रदाय

ब्रह्म, अर्थात् सम्भवत वेदान्तियो की आलोचना करते हुए सरह ने कहा है कि उनकी समस्त जीवन-पद्धति वर्णाश्रम धर्म पर आधारित है। वर्ण चार बताये जाते है। जिनमे वे ब्राह्मणो को श्रेष्ठ पद देते है। किन्तु ब्राह्मण भी भेद नही जानते।[११] अद्वयवज्र टीका मे बडे गहन प्रमाणो से जातिभेद को असगत सिद्ध करते हैं और चूँकि वेदो मे जातिभेद का प्रमाण है अत वेद भी स्वयम्भू नही रहे। इन समस्त तर्कों मे अद्वयवज्र शून्यवादियो द्वारा ग्रहीत तर्क प्रणाली 'प्रतीत्य समुत्पाद' का आश्रय लेते है।[१२] सरहपा इन ब्राह्मणो के कर्मकाड की आलोचना करते है। वे मिट्टी, जल, और कुश लेकर सकल्प के मत्रो का पाठ, घर मे अग्निहोत्र करने, होम के कडुए धुँएँ से आँखो को कष्ट देने अदि के विरुद्ध है।[१३] सरहपा ब्राह्मणो के आश्रमधर्म के विरुद्ध है और वानप्रस्थ तथा सन्यास मे जो भगवा वस्त्र और दडी रूप धारण करते है उसे भी सरह निरर्थक समझते है।[१४] क्योकि वे धर्म और अधर्म का अन्तर नही समझते और अपने मिथ्या वचनो से संसार को लक्ष्यभ्रष्ट कर देते है।[१५]

ईश्वर-सम्प्रदाय

वेदान्तियो के उपरान्त वे साकार उपासक ईश्वरवादियो की आलोचना करते हुए कहते है कि वे भी नाना प्रकार के पाखडो मे फँसे रहते है। कभी घर में बैठकर पूजा-दीप जलाते है, कभी कोने मे बैठ कर घटा बजाते है कभी आसनबद्ध होकर आँख बन्द कर ध्यान करते है। इनके पुरोहित भी लालची होते है। दक्षिणा के प्रेमी होते है और रडियो-मुडियो का-सा भ्रामक वेश बनाये होते है। [क्या यह मन्दिरो मे देवदासी आदि का उल्लेख है ?][१६] अद्वयवज्र इसी की टीका करते हुए प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त से अबौद्ध देवताओ के अस्तित्व को मिथ्या सिद्ध कर उनकी उपासना को मिथ्याचार सिद्ध करते है।[१७]

जैन क्षपणको के वाह्याचारो की निन्दा करते हुए सरहपा ने कहा है कि

वे दीर्घ नख और मलिन वेश धारण करते हैं किन्तु यदि केवल नग्न होने से मुक्ति मिलती तो कुत्तो और शृगालो को मुक्ति मिल जाती।

क्षपणक जैन

क्योकि वस्त्र तो वे भी नही धारण करते। यदि केवल लोम-उत्पाटन से मुक्ति मिलती तो युवती को भी मिल जाती क्योकि उसका नितम्ब रोम-विहीन होता है। यदि मोरछल हाथ में लेने से मोक्ष मिलता तो हाथी, घोडो की पूंछ मे मोरपख बँधता ही है। वे भी उच्छिष्ट भोजन करते ही है। वास्तव में इस तरह तत्व-रहित साधना से मोक्ष नही मिलता।[18] इसी प्रकार लोकायत और साख्य मतो का भी खडन उपलक्षित है।[19]

किन्तु हम पहले बता चुके है कि वे बौद्ध होते हुए भी महायान तथा हीनयान के उन सम्प्रदायो के कटु आलोचक है जो प्रज्ञोपायात्मक नही है। वे

महायान सम्प्रदाय

दशशिक्षापदी भिक्षु, कोटिशिक्षापदी भिक्षु, और दशवर्षोपन्न स्थविर आदि हीनयानी बौद्धो को तत्वज्ञान से रहित बताते हैं। वे सबके सब श्रावकयानी होते हैं।[20] किन्तु वे ही लोग यदि महायान का भी आश्रय लेते है तो परमार्थ उनसे नही सध पाता।[21] क्योकि वे शास्त्रागम, सूत्र, व्याख्यान, मन्त्र, तन्त्र या ध्येय, धारण, जप और ध्यान मे तत्व की खोज करते है।[22] पर वास्तव मे तत्व तो सहज मे हैं जो शास्त्र, पुराण से परे है,[23] उस सहज की प्राप्ति तो केवल सहज-पद्धपि को भली भाँति जानने वाला गुरु करा सकता है।[24] इस प्रकार समस्त प्रचलित सम्प्रदायो और साधना पद्धतियो का खडन कर सिद्धो ने सहज पद्धति को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास किया है।

अपना साम्प्रदायिक गठन अक्षुण्ण रखने के लिये और अपनी परस्परा से सर्वथा विच्छिन्न न होने के लिये सिद्धो ने एक और मार्ग अपनाया है। जीवित

अन्य सप्रदायो का प्रभाव

और क्रियाशील धर्मसाधको की भाँति सिद्धगण लगभग उन सभी साधनाओ पद्धतियो और सिद्धान्तो को अपनाते गये हैं जो तान्त्रिक मतो मे आ गये हैं। किन्तु उन्होने सभी की बौद्ध व्याख्याए ढूँढ ली है और उन्हें योगाचार की परम्पराओ से सूत्रबद्ध कर दिया हैं। इसके कई उदाहरण हम देख चुके हैं। पाशुपत मत के ज्ञानरहित जीव का पशु-स्वभाव,[25] त्रिकवाद का स्पन्द सम्वृत

मन,[२६] भारतीय चिन्तना पद्धति मे पूर्वागत रस रसायन की कल्पना तथा उसे अमर शरीर की प्राप्ति जिसे रसेश्वर सिद्धो ने भी ग्रहण किया था,[२७] तथा अगणित अन्य तान्त्रिक कल्पनाए और हठयोग की साधनाएँ सिद्धो ने ग्रहण की किन्तु उन्हे बौद्ध व्याख्याए दे दी और योगाचार में पहले से विद्यमान साधनाओ से सम्बद्ध कर दिया। चक्रो की सख्याए, बीजाक्षर, नाडियो के नाम, चडाग्नि आदि की कल्पना—इन सबो पर सिद्धो ने अपनी प्रज्ञोपायात्मक छाप भी लगा दी। कई स्थानो पर दूसरे सम्प्रदायो के सिद्धान्त और धारणाए ग्रहण करने के बाद उनमे कही-कही सिद्धो ने ऐसा सशोधन किया कि उससे सिद्धो की श्रेष्ठता बनी रहे।

उदाहरण के लिये हठयोग की साधना मे चार आनन्दो का विवरण हम पढ चुके है। स्पष्टत ब्रह्मानन्द का ही दूसरा रूप विरामनन्द है। हिन्दू योग दर्शन मे जो ब्रह्मानन्द सर्वोत्कृष्ट बताया गया है उसे सिद्धो ने अपना तो लिया किन्तु उसके भी ऊपर सहजानन्द की स्थापना कर अपने सम्प्रदाय को श्रेष्ठतर सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। इसी प्रकार हठयोग मे परम्परा से बालयोगी श्रेष्ठयोगी को कहा जाता रहा है। वह जो सभी वासनाओ और आसक्तियो से मुक्त निर्लेप हो। शिव की कल्पना भी इसीलिये बालयोगी रूप में की गई है। किन्तु सिद्धो ने बालयोगी को प्राथमिक अवस्था का योगी, इस अर्थ मे कही-कही प्रयुक्त किया है।[२८] सेकोद्देश टीका मे तो योगी की चार अवस्थाएं बताई गई है बाल, प्रौढ, वृद्ध और प्रजापति। इनमे बाल सबसे निम्न अवस्था है।[२९] इससे यह प्रमाणित होता है कि विभिन्न पद्धतियो को ग्रहण करते हुए भी उन्होने अपनी साम्प्रदायिक विशिष्टता को सुरक्षित रख छोडा था और उसके प्रति वे सदैव जागरूक रहते थे।

जिन भारतीय तान्त्रिक पद्धतियो और प्रवृत्तियो को सिद्धो ने ग्रहण किया उनके अतिरिक्त सिद्धो की वज्रयानी साधनाओ मे एक और दिशा से नई पद्धतियो और तत्वो का प्रवेश हुआ है जिस पर विचार कर लेना बहुत आवश्यक है। वह है तिव्बत तथा मध्य-एशिया।

तिब्बती धर्म-साधना और सिद्ध

तिव्बत का इतिहास ७वी शती से प्रारम्भ होता है जब गम्पो नामक शासक ने प्रथम बार तिव्वती जनता को सगठित कर विदेशी शक्तियो से मोर्चा लिया। उसके पहले

तिब्बत मे कोई नियमित शासन व्यवस्था नही थी। गम्पो की शक्ति और वैभव से प्रभावित होकर नेपाल के राजा ने अपनी पुत्री का विवाह गम्पो से कर दिया नेपाल की राजकुमारी बौद्ध थी और उसने भारत से प्रख्यात वज्रयानी आचार्य पद्मसम्भव को आमन्त्रित किया कि वे तिब्बत आकर यहाँ की जनता को बौद्ध धर्म मे दीक्षित करें। पद्मसम्भव ने वहाँ जाकर बौद्ध तन्त्रो का प्रचार किया।[30]

जिन लोगो मे पद्मसम्भव ने जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया उनकी मनोभूमि तिब्बत के आदिम असस्कृत लोक धर्म बोन पा द्वारा प्रभावित थी। बोन पा ऐसा धर्म था जिसमे वनदेवी, देवतागण, उनके चमत्कार, उनकी पूजा के लिये किये जाने वाले क्रूर निर्मम अनुष्ठान, नरबलि, प्रेतनृत्य आदि प्रचलित थे। इसीलिये उन लोगो ने वज्रयान के वाह्य अनुष्ठानो और चमत्कार पूर्ण सिद्धियो को विशेष मान्यता दी, उसके दार्शनिक पक्ष की अवहेलना की।[31]

उनमे जो किंवदन्तियाँ प्रचलित हुई उनमे भी वज्रयानी सिद्धाचार्यों के चमत्कारो की अतिरजित कथाओ का ही बाहुल्य था।[32] इस प्रकार धीरे-धीरे तिब्बत मे वज्रयान का ऐसा रूप विकसित हुआ जो केवल वाह्य अनुष्ठानपरक था और जिसमे लौकिक सिद्धियो और चमत्कारो को ही महत्व दिया गया था।

किन्तु इसका प्रभाव केवल एक ही पक्ष पर नही पडा। ये तिब्बती-साधनाएँ और देवी देवता भारतीय वज्रयान मे भी समाविष्ट हो गये। यह परम्परा पद्मसम्भव के ही समय से प्रारम्भ हो गयी थी। तिब्बती जनता से निकटता स्थापित करने के लिये पद्मसम्भव ने कुछ बोनपा के देवी देवताओ को वज्रयान मे स्थान दे दिया और उनके अनुरूप साधनाएँ भी विहित कर दी।[33] समय समय पर ये देवी देवता तथा इनकी साधनाएँ तिब्बत से भारतीय परम्परा में होती प्रविष्ट होती रही। कभी-कभी साम्प्रदायिक ग्रन्थो मे उन विशेष सिद्धो का भी उल्लेख मिलता है जिन्होने किसी विशेप पद्धति को तिब्वत से भारत मे समाविष्ट किया।[34]

देवियो और योगिनियो का एक विशेप वर्ग लामा तथा डाकिनी आदि का था जो सिद्धो की साधनाओ मे प्रविष्ट हो चुका था। लामा का सम्बन्ध बागची ने तिब्बती देवी 'ल्हामो' से सिद्ध किया है जिसका स्वरूप बहुत भयकर और शोणिताहारी है।[35] इसी प्रकार डाकिनी भी तिब्वत मे पारगत स्त्रियो को कहते थे क्योकि 'डाक' का अर्थ तिव्वती मे प्रज्ञा होता है।[36] बागची ने इन्हे 'दाग' देश की

लामा और डाकिनी

स्त्रियाँ कहा है।[३७] यद्यपि यह केवल अनुमान ही है। डाकिनी का उल्लेख दोहों मे मिलता है जहाँ उन्हें देवी कह कर ज्ञानवती स्त्री के रूप में सम्बोधित किया गया है।[३८] इसी प्रकार ल्हाकिनी, शाकिनी, राकिनी आदि का भी अभिप्राय (बागची के अनुसार) तिब्बत तथा मध्य एशिया की जातियो की उन स्त्रियो से है जो तन्त्र साधनाओ में महामुद्रा के रूप में प्रयुक्त होती थी।[३९] इन गुह्याचारो तथा बाद मे श्मशान साधनाओ आदि के कारण जनता मे इन डाइनो (डाकिनी) आदि की प्रसिद्धि (या कुख्याति) दूसरे ही रूप मे फैल गई। किन्तु हिन्दू साधनाओ मे भी योग और तन्त्र की अधिष्ठाती देवियो के रूप मे इनका बहुत पहले प्रवेश हो गया था[४०] और काफी दिनो तक चलता रहा।[४१] तारानाथ की कथाओ मे विभिन्न सिद्धो के साथ इनके सम्बन्धो का उल्लेख मिलता है।[४२]

इस प्रकार विपक्षियो और विदेशो से इन सिद्धो के सम्बन्धो पर विचार कर लेने के उपरान्त एक और दृष्टि से इन सिद्धो की साम्प्रदायिक स्थिति पर विचार कर लेना बहुत आवश्यक है। क्या इन सिद्धो की एक अटूट परम्परा थी या इन सिद्धो मे कई सम्प्रदाय थे। या अधिकाश सिद्ध एक-एक सम्प्रदाय का प्रवर्तक था। इसमे कोई सन्देह नही कि कभी-कभी किसी एक विशेष सिद्ध की

क्या इनमे कई सम्प्रदाय थे ?

कृतियो मे किसी एक विशेष पक्ष का इतना प्रबल समर्थन मिलता है कि ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसका एक अलग सम्प्रदाय है जो अमुक तत्व को ही प्रधान मानता है। इस स्थिति मे हम उसे सिद्धो से अलग करके देखने लगते हैं। यह स्थिति विशेषतया सरहपा और काण्हपा के साथ अवश्य प्रतिभासित होती है। सरहपा ने अनुष्ठानो के बहिष्कार पर जितना जोर दिया उस पर हम विचार कर चुके है किन्तु फिर सरहपा तान्त्रिक थे, इस बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदाय के विरोधी नही थे।

किन्तु फिर भी इन सिद्धो मे विविधता थी इसमें कोई सन्देह नही और यह विविधता तान्त्रिक सम्प्रदायो के लिये कोई नवीन या अस्वाभाविक बात भी नही है। तन्त्रो मे कई आम्नाय हुआ करते थे और उन आम्नायो के अन्तर से एक ही देवता की साधना में भेद पड़ जाया करता था। साधनमाला मे भी अकसर ऐसे भेदो का

आम्नाय

उल्लेख मिलता है। देवी वज्रशृंखला की आम्नाय भेद से दो-दो साधनाएँ मिलती हैं।[४३] इनमे से अधिकाश गुरुओ का अपना एक विशिष्ट आम्नाय होता था इसीलिये इन गुरुओ को 'साम्नाय' कहा गया है।[४४] इसीलिये कुछ विद्वानो का यह भी अनुमान है कि तिब्बती अनुश्रुतियो मे जिन गुरु शिष्य परम्पराओ का उल्लेख है वे एक-एक आम्नाय का बोध कराते है। इस दृष्टि से जो अनुमान लगाये गये है उनमे से एक अनुमान थोडा विचारणीय है।

तिब्बती अनुश्रुतियो मे सरहपा (राहुलभद्र) को कही-कही कालिदास का समकालीन माना गया है और कालिदास को विदिशा के शुग राजा भागभद्र का समकालीन माना गया है।[४५] इस आधार पर डाक्टर सरकार सिद्धो के तीन सम्प्रदाय मानते है। प्रथम सरहपा द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय जो कि ईसा की प्रथम शताब्दी से ही आरम्भ होता है क्योकि तिब्बती प्रमाणो के आधार पर वे सरहपा को शून्यवादी आचार्य नागार्जुन का समकालीन मानते है। डाक्टर सरकार का मत है कि तान्त्रिक साधनाओ का प्रथम प्रवर्त्तन नागार्जुन ने किया था और सरहपा ने उसका विरोध किया। दूसरा सम्प्रदाय कारहपा तथा जालन्धरी का था और तीसरा तिल्ली (तिलोपा) और नारोपा का था जब कालचक्रयान का प्रवेश हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से वे इन तीनो सम्प्रदायो को क्रमश विक्रमादित्य वश, बंगाल के चन्द्रवंश, तथा पालवश का समकालीन मानते है।[४६]

डा० सरकार का मत

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय धर्म साधनाओ और आचार्यों के विषय मे ये तिब्बती अनुश्रुतियाँ कितनी भ्रामक और अविश्वसनीय है इस पर हम प्रथम अध्याय मे ही विचार कर चुके है। सरहपा को तान्त्रिक साधनाओ का विरोधी तो हम मान ही नही सकते क्योकि उसने बराबर योगिनी-साधना और तान्त्रिक अनुष्ठानो का प्रचार किया है। उसका भी साम्प्रदायिक मूल्याकन हम विस्तार से कर चुके है। साधनमाला मे प्राप्त उसके द्वारा प्रवर्तित लोकेश्वर साधना पर भी हम विचार कर चुके है। अत डाक्टर सरकार द्वारा प्रवर्तित इस मत को और अधिक पुष्ट प्रमाणो के बिना स्वीकार कर सकना कठिन है।

किन्तु तिब्बती अनुश्रुतियो से एक बहुत महत्वपूर्ण तथ्य का पता लगता

है जो इनकी साम्प्रदायिक स्थिति पर यथेष्ट प्रकाश डालता है। इन सिद्धो के विषय में कही-कही यह उल्लेख मिलता है कि एक ही सिद्ध विभिन्न कालो मे विभिन्न रूप मे प्रकट होता रहा है। उदाहरण के लिये तारानाथ का कथन है कि विरूपा पहले नालन्दा के आचार्य थे, उस समय उन्होने कई चमत्कार दिखाये और फिर सोमनाथ चले गये। कुछ समय उपरान्त वे सम्राट रामपाल के समय मे सिरो नाम से प्रगट हुए और उन्होने म्लेच्छो को हराया फिर गौड देश मे ताजिक शासको को पराजित करने चले गये। फिर तीसरी बार उन्होने चीन देश मे जन्म लिया।[४७] कही-कही यह भी उल्लेख मिलता है कि एक ही काल मे एक ही आचार्य दो रूप धारण कर दो विभिन्न प्रान्तो मे निवास करते थे। जालन्धरीपा अपने एक रूप मे जालन्धर मे ज्वालामुखी के निकट रहते थे, और दूसरा रूप धारण कर हाडीपा के रूप मे पूर्वी भारत मे रहते थे।[४८] इन कल्पनाओ से किसी भी ऐतिहासिक तथ्य को ढूँढ निकालना असम्भव है। हाँ इनसे एक साकेतिक अर्थ यह अवश्य ग्रहण किया जा सकता है कि ये सिद्ध अपने-अपने आम्नाय के प्रतीक व्यक्तित्व मान लिये गये थे। विरूपा के कई बार कई देशो मे विभिन्न नामो से प्रगट होने के अर्थ है कि उनका आम्नाय कई व्यक्तियो ने कई बार प्रचारित किया और उन सबो को विरूपा की धर्मकाया का नव रूप मान लिया गया। सम्भवत इसी प्रकार जालन्धरीपा का ही आम्नाय हाडीपा ने पूर्वी भारत मे प्रचलित किया हो और इसीलिये उन्हे जालन्धरीपा का अवतार मान लिया गया हो। अब भी इसी प्रकार तिब्बत मे प्रत्येक दलाई लामा को पुराने लामा का ही अवतार मानने की परम्परा प्रचलित है। यदि हम तिब्बती अनुश्रुतियो और इसी प्रकार अधिकाश साम्प्रदायिक अनुश्रुतियो का यही आम्नायपरक सम्प्रदायिक अर्थ ले लें तो कई समस्याएँ सुलझ जाती है। बाद मे मत्स्येन्द्रनाथ और लुईपा को एक ही व्यक्तित्व मानने का आग्रह या मत्स्येन्द्रनाथ के विषय मे प्रचलित अगणित अनुश्रुतियो का भी हम यही साकेतिक अर्थ ले सकते हैं। बाद मे हम इस पर विस्तार से विचार करेंगे।

तिब्बती अनुश्रुतियो का साकेतिक अर्थ

इस समय इतना यथेष्ट होगा कि हम यह भली भाँति समझ लें कि बाद मे जो शैव तथा बौद्ध अनुश्रुतियो मे एक दूसरे के आचार्यो की गणना होती

है और उनके सहयोग तथा विरोधो की अगणित कथाएँ मिलती है[५०] उससे कोई स्पष्ट ऐतिहासिक तथ्य ढूंढ निकालना तो असम्भव है, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि बौद्ध तान्त्रिक परम्परा का शैवो से बहुत घनिष्ट और निकटता का परिचय रहा है। वास्तविकता यह रही है कि शैव साधनाओ ने धीरे-धीरे बौद्ध परम्परा मे प्रवेश किया है और बौद्ध साधनाओ को ग्रहण करते-करते अन्त मे उन्हे पूर्णतया आत्मसात कर लिया है।

वज्रयान और शैवमत

वज्रयानी ग्रन्थो मे हमे स्थान-स्थान पर बुद्ध के द्वयाकार विवर्जित शान्त निस्सग रूप की सज्ञा शिव मिलती है।[५१] इतना ही नही, वज्रयान मे तो अकनिष्ठ नामक स्वर्ग मे एक विशिष्ट माहेश्वर भवन को ही स्थान मिल गया था जिसमे बोधिचित्त को वास दिया जाता था।[५२] कालचक्रयान में भगवान आदिबुद्ध को काल (महाकाल) की सज्ञा प्रदान की गई थी।[५३] विरुपाक्ष ने महाकाल की एक साधना भी प्रवर्तित की थी।[५४] अवलोकितेश्वर को महेश्वर सज्ञा देकर उनके साथ हलाहल की कल्पना भी सयुक्त कर दी गई थी।[५५]

इसके कई कारण हो सकते है। पहला तो यह कि नेपाल, आसाम आदि मे शैव सम्प्रदाय का बहुत गहरा प्रभाव था और वह हिमालय की तराई मे होते-होते काश्मीर तक फैला था। काश्मीर से कामरूप तक हिमालय की तराई शैवो से प्रभावित थी और शैव तथा शाक्त सम्प्रदाय प्रमुखतया तान्त्रिक होने के नाते बौद्धो के अधिक निकट थे।

दूसरा कारण यह हो सकता है कि शैवो तथा बौद्धो ने मिल कर वैष्णवो के विरुद्ध एक सयुक्त शिविर-सा स्थापित कर रक्खा था। वैष्णवो ने वैदिक परम्परा का आश्रय ग्रहण किया था। उनका विद्रोह बडा ही अप्रत्यक्ष, मधुर और नम्रतायुक्त था। शैवो मे उद्धतता और विरोध का स्वर अधिक था। सम्भव है कि वैष्णवो के प्रति दोनो की कटुता ने एक दूसरे को अधिक समीप ला दिया हो। जहाँ शैवो के व शाक्तो के साम्प्रदायिक ग्रन्थो में वैष्णवो की बहुत तीखी आलोचना मिलती है[५६] वहाँ बौद्धो के कौल-सिद्धान्त, सहज-सिद्धि, डाकिनी की प्रत्यक्ष स्वीकृति भी मिलती है।[५७]

किन्तु फिर भी इससे यह भ्रम न होना चाहिये कि बाद के बौद्ध तान्त्रिक ने शैव मत ग्रहण कर लिया था। उन्होने केवल पद्धतियाँ अपनाई थी। प्रभाव ग्रहण किये थे किन्तु अपनी साम्प्रदायिक स्थिति को सुरक्षित रखने के लिये

उन्होने उनकी बौद्ध व्याख्याएँ ढूढ ली थी । कपाल, शिव, डमरू इन सब को बौद्ध अर्थ दे दिये थे । शैव देवताओ के आधार पर अपने देवताओ का रूप परिकल्पित कर लिया था किन्तु उन सबो को वज्रसत्व से उद्भूत मान कर उनके किरीट पर उनके कुल के स्वामी तथागत की मूर्ति का रहना अनिवार्य मान लिया था । इतना ही नही बल्कि ऐसा लगता है कि बाद में जब साम्प्रदायिक विद्वेष बहुत बढा तब आत्मरक्षा की दृष्टि से शैवो से अपने को पृथक और विशिष्ट सिद्ध करने के लिये उन्हे कई चमत्कार दिखाने पडे । तारानाथ ने इस प्रकार की कई बौद्ध और शैव प्रतिद्वन्द्विताओ का उल्लेख किया है । इस प्रकार की दो किम्वदन्तियाँ विरुपा के विषय में मिलती हैं । एक बार विरुपा ने दक्षिणापथ मे ताली बजाकर शिव का त्रिशूल खड-खड कर दिया था और दूसरी बार जब वह सौराष्ट्र मे भगवान सोमनाथ के सम्मुख गये तो उन्होंने वह प्रतिमा तो नही खडित की क्योकि सोमनाथ मे भी बडी सिद्धियाँ थी और विरूपा उसे खडित नही करना चाहते थे, किन्तु विरूपा ने ऐसा चमत्कार किया कि सोमनाथ के ऊपर अवलोकितेश्वर दीख पडने लगे ।[५८]

इससे स्पष्ट है कि विरूपा शिव का आदर करते थे, और सम्भवत उन पद्धतियो को अपना भी चुके थे । किन्तु उन्होंने उन्हे बौद्ध रूप दे दिया था और अपने महाकाल या शिव को अवलोकितेश्वर के अधीन कर दिया था । उनका एक चर्यापद[५९] भी प्राप्त होता है जिसमे शिव का तो कोई उल्लेख नही मिलता, किन्तु सोम या वारुणी का उल्लेख है जो कापालिको की सोम साधना का बौद्ध सस्करण प्रतीत होता है । इसमे महासुख का सोम रूप मे वर्णन है जो अवधूतिका रूपी शुडिनी (मद्य-विक्रेता स्त्री) ललना रसना रूपी दो घडो मे सिझा कर बनाती है । किन्तु इसमे प्रयुक्त सभी उपमान बौद्ध परम्परा के हैं और प्रणाली भी स्पष्ट बौद्ध-परम्परा की है जैसा टीका से ज्ञात होता है[६०]

इन कापलिक पद्धतियो का सबसे स्पष्ट उल्लेख काण्हपा के चर्यापदो मे मिलता है और सम्भत इसी कारण से काण्हपा को लेकर कुछ भ्रम उत्पन्न हो गया है। प० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने काण्हपा और उनके गुरु जावन्धरी पा की गणना नाथो मे की है और उन्हे शैव कापालिको के अन्तगत माना है क्योंकि बौद्ध कापालिक मत का कोई उल्लेख योग्य वर्णन नही मिलता ।[६१] इसके पहले कि हम इस मत का परीक्षण करें, काण्हपा के उन पदो को देखना आवश्यक है जिनमे उन्होंने अपने को कापालिक कहा है । चर्याचर्यविनिश्चय मे

काण्हपा के कुल १२ पद सग्रहीत है। ३ पदो मे उनकी कापालिक साधनाओ का उल्लेख है। हमे उल्लेखो के सन्दर्भो का विश्लेषण कर यह देखना चाहिये कि वे बौद्ध सम्प्रदायो के अधिक निकट है या शैव सम्प्रदायो के।

चर्यापदो मे कापालिक साधना

एक पद मे काण्हपा अपने को कापालिक बता कर अपनी सह-साधिका को डोम्बी बताते है जिसका वास नगर के बाहर है और ब्राह्मण युवक उसकी झोपडी को छूछू कर ही चला आता है। उससे प्रेम नही कर सकता क्योकि वह अस्पृश्य जाति की है। काण्ह निघृण नग्न कापालिक योगी है, वे उस डोम्बी से समागम करेंगे। यह डोम्बी एक ऐसे कमल पर नाच रही है जिसकी ६४ पाँखुरिया है। फिर काण्ह उससे सहज भाव के पूछते है कि नगर के बाहर से वह आती है। किन्तु कौन सी वह नौका है जिस पर चढ कर वह आती जाती है। वे उस डोम्बी से आग्रह करते है कि वह अपनी तन्त्री और टोकरी बेच दें। वे भी अपने पिटारे से मुक्त होकर उसके साथ चलेंगे। वह डोम्बी है तो काण्हपा भी कापालिक हो गये है। उन्होने अस्थि की माला धारण कर ली है।[६२]

अगले ही पद मे उन्होने कापालिक की पूरी वेषभूषा का चित्रण इस प्रकार किया है नाडी शक्ति को दृढ करके धारण कर लिया गया है। अनहद डमरू वीर नाद गुजरित कर रहा है। काण्ह ने कापालिक योगी का आचार ग्रहण किया है और वह देहरूपी नगरी मे विचरण कर रहा है। आली तथा काली दोनो (स्वर तथा व्यजन की प्रतीक ललना रसना) उसकी कमर में घटा और पाँव में नूपुर स्वरूप है। अग मे रमी हुई भस्म है। मोक्ष रूपी मुक्ताहार गले में पडा है। सास आदि सम्बन्धियो की हत्या कर अब वें कापालिक हो गये है।[६३]

टीकाकार ने इन सभी का बौद्ध साकेतिक अर्थ दिया है। डोम्बी विवेचना पहले ही हम कर चुके है। डोम्बी की तन्त्री तथा टोकरी, अविद्यारूप और विषयाभास के प्रतीक है। सस्कृत बोधिचित्त ही नौका है। कापालिक के अर्थ चर्याधर है और उसकी व्युत्पत्ति है जो 'क' अर्थात् महासुख के पालने मे समर्थ हो। कमल निर्माण-चक्र है जिसमे ६४ पाखु-

रियाँ बताई गई है। अनहद डमरू वास्तव मे शून्यतारूपी सिंह का नाद है। लेष आभरणो का साकेतिक अर्थ चर्या के मूल से ही स्पष्ट है।

इससे स्पष्ट है कि काण्हपा ने कापालिक पद्धति अपनाई है और उनकी बौद्ध व्याख्या देकर अपनी साम्प्रदायिक स्थिति पर आँच नही आने दी है। इसके साथ ही साथ एक और महत्वपूर्ण पक्ति इसी पद मे है जिससे उनका अन्य सम्प्रदाय से अन्तर स्पष्ट हो जाता है। जब वे यह कहते हैं कि 'छोइ छोइ जाइ सो ब्राह्मण नाडिआँ' तो उनका स्पष्ट आरोप अन्य सम्प्रदाय के ब्राह्मण कापालिको पर है जो कापालिक होते हुए भी इस अवधूती मार्ग का भेद नही जान पाते, उसे बाहर से ही छू छू कर रह जाते हैं। टीकाकार भी इसी मत का प्रतिपादन करता है। इससे यह ज्ञात होता है कि काण्हपा ने कापालिक पद्धति अपनाते हुए भी बौद्ध श्रेष्ठता पर कही से भी आँच नही आने दी है। तारानाथ भी इसी का समर्थन करता प्रतीत होता है। तारानाथ का कहना है कि काण्हपा (कृष्णाचार्य) बहुत महान योगी थे और उनके विषय मे यह भविष्यवाणी हुई थी कि वे उनके नाम मे 'कृष्ण' अवश्य होगा। वे खट्वाग के उपरात कालचक्र का अनुसरण करेंगे। अस्थियो के आभूषण धारण करेंगे और महापात्र के रूप मे एक डमरू धारण करेंगे। वाह्य रूप मे उनका मेल मिलाप बौद्धेतर लोगो से रहेगा किन्तु अन्दर ही अन्दर वे बौद्ध धर्म के उत्थान के लिये बहुत काम करेंगे।[६४] तारानाथ की यह साक्षी बहुत महत्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि काण्हपा के वाह्य कापालिक रूप का भी आन्तरिक अभिप्राय बौद्ध ही था। कहा जा सकता है कि यह उसका साम्प्रदायिक पक्षपात हो जिसके कारण उसने काण्हपा को बौद्ध माना। इसलिये हमे चाहिये कि यह देखें कि क्या पहले से बौद्ध परम्परा मे कापालिक और शवसाधनाओ का कोई उल्लेख है या नही।

योगाचार मे शव-साधना

इस दृष्टि से देखने पर हम यह पाते है कि वज्रयान के पहले योगाचार मे ही इन पद्धतियो को अपनाया जा चुका था। योगाचार मे ध्यान साधना मे दश अशुभ वस्तुओ पर ध्यान की एकाग्रता केन्द्रित करने का आदेश मिलता है। वे दश अशुभ वस्तुएँ इस प्रकार है। १ सूजा हुआ शव, २ नीला पडाहुआ शव, ३ कीडे लगा हुआ शव, ४ कटा फटा हुआ शव, ५ पक्षियो द्वारा खाया हुआ शव, ६ अगहीन शव, ७ अगभङ्ग शव, ८ रक्तरञ्जित शव, ९ सडता

हुआ शव, १० कङ्काल। इन सब वस्तुओ का ध्यान कर उन्हें नाभि मे स्थित करना चाहिये।[६५] उसके उपरात शरीर के प्रत्येक अङ्ग तथा अवयव का ध्यान करना चाहिये। केश, चर्म, नख, दन्त, मास-पेशी, मज्जा, हड्डी, गुर्दा, हृदय, जिगर, तिल्ली, फेफड़े, मेदा, रक्त, पित्त, श्लेष्मा, स्वेद, चर्बी, लार, मूत्र, विष्ठा, आदि।[६६]

उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि बौद्ध परम्परा मे शव-साधना और कापालिक पद्धति योगाचार मे ही अपना स्थान बना चुकी थी और वज्रयानी सिद्धो को इन पद्धतियो को ग्रहण करने मे बौद्ध परम्परा का ही आश्रय मिला था। गुह्य-समाज तन्त्र मे कपाल का कई बार उल्लेख आया है।[६७] और एक स्थान पर तो खधातु के मध्य मे अस्थि-मास-मज्जा आदि का ध्यान करने का आदेश है जो स्पष्टतया योगाचार की परम्परा का निर्वाह सूचित करता है। बादमे प्रज्ञोपाय गुह्य-साधना के अनुसार तन्त्र में कपाल को पद्मभाजन अथवा मुद्रा या नारी बताया गया है। यह अर्थ सन्धाभाषा मे ग्रहण किया जाता है।[६८] इससे स्पष्ट है कि बौद्ध परम्परा मे कापालिक पद्धति का अस्तित्व था।

किन्तु कापालिक का यह वेश बौद्धयोगी धारण क्यो करे। यह तो सम्प्रदाय की मर्यादा का उलङ्घन होगा। हम पहले भी देख चुके है कि बौद्ध साधक को बौद्ध देवताओ का ही रूप धारण करने का आदेश था, अत. इस कापालिक वेश को मान्यता देने के लिये हेरुक की कल्पना की गई जो बौद्ध देवता थे। उनका रूप बहुत कुछ कपालयोगी शिव का रूप था। किन्तु थे वे कट्टर बौद्ध-देवता क्योकि उनका विधान प्रज्ञोप्रायात्मक था। चन्द्रसूर्य तथा आलिकालि के समायोग से उनका वेशविन्यास सजित होता था। नरचर्म धारण करते थे। शवासीन होते थे। अस्थियो का आभरण धारण करते थे और गले मे पंचकपाल धारण करते थे।[६९] उनके हाथ मे डमरू[७०] रहता था और वे वीर मूर्ति थे। इसी प्रकार इनका दूसरा रूप बुद्धकपाल था जो महावीर सहारकारी कहा जाता था।[७२] हेरुक अक्षोभ्य तथागत के कुल के थे। उनके एक हाथ मे वज्र दूसरे मे कपाल रहता था। इन्ही का कुछ परिवर्तित रूप त्रैलोक्य-विजय भी था।[७३]

हेरुक हिन्दू परम्परा मे शिव के एक गण मात्र माने गये है किन्तु जैसे

इन्द्र से वज्र लेकर वज्रयानियो ने उसे अतुल महत्व दे दिया वैसे ही शिव की प्रतिद्वंदिता मे उनके एक गण का उद्धार कर सिद्धो ने उसे शिव से भी अधिक महत्व दे दिया क्योंकि त्रैलोक्य-विजय की मुद्रा का वर्णन देते हुए उन्हे वाम पद से महेश्वर के मस्तक और दक्षिण पद से गौरी के युगल स्तनो को कुचलते हुए प्रदर्शित किया गया है।[७४]

इस प्रकार हम देखते है कि बौद्ध कापालिक पद्धति एक स्वतन्त्र पद्धति के रूप मे विद्यमान थी और उसकी जडे योगाचार सम्प्रदाय मे थी। कालान्तर मे उस पर शैव प्रभाव भी पडा, किन्तु उसने अपने को पृथक रखने की चेष्टा की। काण्हपा निस्सन्देह इसी बौद्ध कापालिक पद्धति के उन्नायक थे। इसका एक प्रमाण और मिलता हे। काण्हपा का एक नाम कृष्णवज्र भी मिलता है। कृष्णवज्र का उल्लेख हमे हेरुक की साधना मे मिलता है।[७५] कृष्णवज्र धारण करने से काण्हपा को कृष्णवज्र भी कहा जाता रहा होगा। उनकी चर्या मे उल्लिखित अन्य आभरण डमरू, घन्टा, आलिकालि, चन्द्रसूर्य, कुन्डल आदि सभी का हेरुक साधना मे स्पष्ट उल्लेख ह।

इस प्रकार काण्हपा की भी साम्प्रदायिक स्थिति म कोई सन्देह नही रहता। बौद्ध कापालिक परम्परा का परिचय न होने से ही उनके बौद्ध अथवा शैव होने मे सन्देह हो सकता है। योगाचार तथा बौद्ध तन्त्र की परम्परा तथा तारानाथ की साक्षी उन्हे बौद्ध ही सिद्ध करते है। इस प्रकार सरहपा से लेकर काण्हपा आदि प्रमुख सिद्धो की रचनाओ पर साम्प्रदायिक दृष्टि से विचार करने के उपरान्त हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि विभिन्न आम्नाओ और पद्धतियो को अपनाने पर भी, अन्ततोगत्वा वे बौद्ध परम्परा का आश्रय नही छोडते और यथासम्भव सभी पद्धतियो को बौद्ध बाना पहना देते है।

प्रारम्भिक तथा परवर्ती काल

किन्तु इनके साम्प्रदायिक विकास पर दृष्टि डालते समय एक विशेष प्रवृत्ति का आभास मिलता है। प्रारम्भ मे सरहपा आदि मे जहाँ वाह्य प्रवृत्ति की निन्दा कीगई है, वहाँ काण्हपा आदि मे वाह्य अनुष्ठानो पर अधिक बल दिया गया है। उन्होने बाह्य अनुष्ठान, विन्यास, चिन्ह आदि अपनाए है। सरहपा के चर्यापदो मे नैरात्म-दर्शन पर अधिक वल है, काण्हपा में अनुष्ठान और गुह्यचर्या पर। यद्यपि केवल इतने

मात्र से यह कहना कि सरहपा की चर्या मे अनुष्ठानो का सर्वथा वहिष्कार है, उतना ही भ्रामक है जितना यह कहना कि काण्हपा आदि मे प्रज्ञोपाय ज्ञान की चर्चा ही नही थी। किन्तु यह अवश्य है कि बाद में बौद्ध तान्त्रिक साधक इन अनुष्ठानो के पीछे की दार्शनिक पृष्ठभूमि भूल रहे थे। बाद में मुनिदत्त, अद्वय वज्र तथा काण्हपा की शिष्य मेखला ने दोहो और पदो की जो टीकाएँ लिखी और उनमे दर्शन-पक्ष पर जो इतना बल दिया वह निसन्देह इस बात का परिचायक है कि सम्प्रदाय के आम लोग केवल अनुष्ठान चमत्कार और मैथुन में ही प्रवृत्त हो गये थे।

इस प्रकार की परिणति लगभग सभी तान्त्रिक सम्प्रदायो मे दृष्टिगोचर होती है। इस दृष्टि से द्विवेदी जी ने भारतीय धर्म साधनाओ के इस तान्त्रिक युग को मोटे तौर पर दो कालो मे विभाजित किया है। पहला काल ८वीं से १० वी शती का है जब इन सम्प्रदायो मे उत्साह है, उदारता है, लोकधर्म के प्रति जागरूकता है और दूसरा १० से १२ वी शती जब एक शिथिलता आ जाती है। परम्परा-बद्धता, अनुष्ठान-बहुलता और चिन्ता-पराधीनता आ जाती है। यह टीकाओ का काल है।[७६] सिद्ध सम्प्रदाय में भी इस विश्लेषण की छाया मिलती है। बाद के तान्त्रिक साहित्य मे वह उत्साह और बल नही रह गया है जो सरह के दोहो मे मिलता है।

इस दृष्टि से अद्वयवज्र की स्थिति बहुत महत्वपूर्ण है। इसलिये नहीं कि वे सरहपा के दोहो के टीकाकार है वरन् इसलिये कि उनमे हमे इन घोर तान्त्रिक

अद्वयवज्र की महत्वपूर्ण स्थिति

अनुष्ठानो और बिना उनका आध्यात्मिक अर्थ समझे उन्हे केवल उच्छृङ्खल अनाचार रूप मे ग्रहण करने के विरुद्ध प्रतिक्रिया मिलती है जो उन्हे माध्यमिक दर्शन और सुधारवादी मर्यादा की ओर प्रेरित करती। वे स्वत योगी थे, उनका दूसरा नाम अवधूतीपा था। किन्तु वे दर्शन के पक्ष का भी तिरस्कार नही करते थे इसलिये उन्होने स्थान स्थान पर माध्यमिक मत का प्रतिपादन किया है। वे उच्छृङ्खलता पर एक रोक लगाकर पारमिताओ के पालन द्वारा आत्मपरिष्कार पर वल देते थे। इसलिये उन्होने उन्मत्त व्रतियो को भी, आदि-कर्म के पालन का उपदेश दिया था। जो पारमिताओ का पालन नही करते थे और जीवन की अनित्यता की ओर संकेत कर केवल रस और महामुद्रा का

उपभोग करते हैं, वे चार्वाक के अनुयायी हैं सच्चे तान्त्रिक नही।[७७] इस प्रकार उन्होने बौद्ध सम्प्रदाय से अनुशासनहीनता और भौतिक कुप्रवृत्तियो का परिहार कर उसे पुनर्गठित करने का प्रयास किया और इसके लिये वहुत से ग्रथ लिखे।[७८] यदि अद्वयवज्र मैत्रीगुप्त ही है तो तारानाथ की साक्षी से भी यह ज्ञात होता है कि तान्त्रिक गुह्यानुष्ठानो के कुत्सित अश का विरोध करते थे। सम्भवत वौद्ध धर्म ग्रहण करने के पूर्व वे वैष्णव थे और इसी से अनुशासन और विनय की प्रवृत्तियाँ उनमे शेष रह गई थी और वे अधिक सुसस्कृत थे और परम्परा का उच्छेद कर उच्छृङ्खलता को प्रश्रय देने के विरोधी थे। उनके समकालीन रत्नाकर शान्ति, दीपकर आदि आचार्य भी बौद्ध तान्त्रिको को इस बढती हुई अनैतिकता के घोर विरोधी थे और पारमिताओ की नैतिक अनुशासनबद्धता की ओर लौट रहे थे। किन्तु सम्प्रदाय के सामान्य साधक निरन्तर नैतिक पतनो की ओर बढ रहे थे। राग की राग से विशुद्धि या शमन न होकर विकृति ही हो रही थी।

जव तक सिद्धो का अन्य साहित्य प्रकाश मे नही आता तब तक उनके सम्प्रदाय के परिणित काल का स्पष्ट चित्र हम नही अकित कर सकते किन्तु कुछ वाह्य प्रमाण ऐसे अवश्य मिलते हैं कि उनकी प्रवृत्तिमयी साधना उनके सामान्य अनुयायियो को राग, लिप्सा और द्वेष की ओर ले गई थी। नैतिक वन्धन इतने ढीले हो गये थे कि अनाचार की सीमा तक पहुँच चुके थे। इस अनाचार की चरम सीमा ओदन्तपुरी विहार मे पहुँच चुकी थी।

तारानाथ का कहना है कि उन्होने तान्त्रिक पद्धतियो को लज्जाजनक सीमा तक विकृत कर दिया था। वे पतित हो गये थे। उद्भ्रान्त हो गये थे। कई स्थानो पर सिन्धु और सिंहल के भिक्षुओ ने हेरुक की मूर्ति चुराकर उसकी चाँदी बाजार मे बेंच दी थी और इसके दडस्वरूप तत्कालीन शासक ने उन्हें प्राणदड दिया था।[७९] तारानाथ ने एक दूसरे स्थल पर यह भी सकेत किया है कि वहुत से ऐसे भिक्षु थे जो तत्रो मे भी निषिद्ध-गर्हित क्रियाओ में भाग लेने के कारण वज्रयानी परम्परा से भी बहिष्कृत कर दिये गये थे और यवनो मे जाकर मिल गये थे। ऐसे एक भिक्षु का उल्लेख मिलता है जिसका नाम शुलिक था और यवनो से मिलने के बाद उसने अपना नाम भाठर रख लिया था। उसका शिष्य पैखम्भ (सम्भवत यह पैगम्बर का तिब्बती अपभ्र श रूप है) हुआ जो मक्के गया और म्लेच्छो को उभार कर बौद्धो का कत्लेआम कराने लगा।[८०]

बौद्धों के दूसरे परम शत्रु उस समय वैष्णव थे। वैष्णवो ने बौद्धो पर अत्याचार तो नही किया किन्तु वैष्णव दर्शन के आगे बौद्ध भिक्षु कापा करते थे। वैसे तारानाथ ने यह भी लिखा है कि तीर्थिको ने उत्तर पश्चिम दिशा से भारत मे प्रवेश किया और जालन्धर से मगध तक के बौद्ध मन्दिरो को जलाया।[८१] किन्तु यह साम्प्रदायिक प्रतिद्वद्विता के कारण गढी हुई कथा मालूम पडती है। उसका केवल यही अश सत्य है कि वैष्णव जीवन-दर्शन वज्रयानी जीवन-दर्शन से कही अधिक सुलझा हुआ था। उसी समय बगाल के पाल तथा चन्द्र वश को अपदस्थ कर जो वश स्थापित हुए उनमे एक वश परम वैष्णव था और दूसरा शैव।

वैष्णव तथा शैव इन दोनों सम्प्रदायो की ओर से बौद्ध तान्त्रिको का घोर विरोध हुआ और सहज-पद्धति के गुह्य-अनुष्ठानो का दोनो ने बहिष्कार किया। सिद्धो की साधना मे से केवल योग पद्धति और हठयोग द्वारा सहज समाधि का अश नाथ योगियो ने अपनाया जो शैव थे और इन शैवो ने मैथुन और नारी सग का पूर्ण बहिष्कार किया। सहज-साधना मे से अनुष्ठानो के अश और कुत्सित गुह्य आचारो का बहिष्कार कर केवल सहज भाव के प्रेम को वैष्णवो ने अपनाया।

सिद्धो के वज्रयान के उन्मूलन मे यवनो और वैष्णवो से भी अधिक उन शैव हठयोगियो का हाथ रहा है जो आदि-नाथ शिव के अनुयायी थे। गोरख-नाथ नामक एक महान धर्माचार्य ने इन कुत्सित अनुष्ठानो के विरुद्ध विद्रोह किया। गोरखनाथ मे अदम्य साहस, निर्भीकता, सगठन शक्ति और वैराग्य था। उन्होने समस्त देश का पर्यटन किया। सभी प्रान्तो मे अपने केन्द्र स्थापित किये। योगियो का सगठन सैनिक आधार पर किया और तान्त्रिक साधनाओ का पूर्ण-तया मूलोच्छेदन कर दिया। इसके लिये उन्हे स्वत. अपने गुरु का भी विरोध करना पडा।

उनके गुरु मत्स्येन्द्र बौद्ध तथा शैव दोनो सम्प्रदायो द्वारा आदृत थे और दोनो पद्धतियो के आचार्य बताये गये है। इसीलिये उनके नाथ-पन्थ मे वज्रयानी सिद्धो की कितनी ही प्रक्रियाएँ और शब्दावली अन्तर्भुक्त हो गई थी जो बाद तक चलती रही, यद्यपि गोरख ने उनमे से तान्त्रिक अनुष्ठानो के अंश

श्रौर बौद्ध साम्प्रदायिक श्रश को या तो निकाल दिया या उनकी दूसरी व्याख्याएँ प्रचारित कर दी। इन्ही परवर्ती सम्प्रदायो की विकास-परम्परा के साथ-साथ विकसित होते हुए वहुत से वज्रयानी शब्द श्रौर प्रवृत्तियाँ नई लोकभाषा हिन्दी के योगेश्वरी तथा सन्त-साहित्य तक चली श्राई ।

ख

परवर्ती सम्प्रदायों का विकास

नाथ-सम्प्रदाय

गोरखनाथ तथा उनके सम्प्रदाय के विषय मे विभिन्न विद्वानो ने जो मत प्रस्तुत किए है वे भी प्रामाणिक सामग्री के अभाव मे अधिकतर अनुमानात्मक है। जहाँ तक बौद्ध सिद्ध-परम्परा और गोरखनाथ का सम्बन्ध है, कुछ मतो तथा किंवदन्तियो का उल्लेख कर देना आवश्यक है, यद्यपि उन्हें किसी प्रमाण के अभाव मे विश्वसनीय नही कहा जा सकता। बौद्ध किंवदन्तियो मे गोरखनाथ वज्रयानी साधक माने गये है जो बाद में शैव हो गये। तारानाथ उनका वज्रयानी नाम अनगवज्र बताता है और म० हरप्रसाद शास्त्री ने रमणवज्र नाम का उल्लेख किया है। उनका यह भी कहना है कि नेपाल के बौद्ध लोग गोरखनाथ पर बहुत क्रुद्ध है और उन्हे पहले बौद्ध धर्म का अनुयायी और बाद मे उसका शत्रु मानते है।[१] सिल्वियाँ लेवी ने नेपाल के बौद्धो मे प्रचलित एक दन्तकथा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार गोरख के समस्त अनुयायी पहले बौद्ध थे बाद में यवनो के भय से बौद्ध धर्म छोडकर ईश्वरवादी (शैव) हो गये। एक विद्वान ने तो असग अथवा नागार्जुन और गोरखनाथ को एक ही मानने का सुझाव रक्खा है।[२]

ये अधिकाश किम्वदन्तियाँ अप्रमाणिक है और इनके आधार पर किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचना अवैज्ञानिक होगा किन्तु ये किम्वदन्तियाँ इस बात की ओर अवश्य सकेत करती है कि बौद्ध साधनाए नाथ-परम्परा से बहुत घनिष्ट रूप से सम्बद्ध थी। स्वत. बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदाय के संस्कृत तथा अपभ्रंश साहित्य

मे शैव साधनाएँ और शैव प्रवृत्तियाँ प्रविष्ट हो चुकी थी जिनकी ओर हम पीछे सकेत कर चुके है। दोहा तथा चर्यापदो मे कई स्थलो पर सिद्धो के लिये, या गुरु के लिये या वज्रसत्व के लिए नाथ विशेषण का प्रयोग हुआ है। सरहपा ने उसे नाथस्वरूप कहा है जिसका चित्त विस्फुरित हो जाय 'जत वि चित्तहि विफ्फुरइ तत्त वि णाह सरूअ।'[३] काण्हपा भी उसे नाथ कहते है, जो मन को निश्चल कर ले 'जो णत्थु णिच्चल किअउ मण सो धम्मक्खर पास।' ऐसे ही साधक को काण्हपा वज्रधरनाथ भी कहते है[४] और वह गृहिणी (प्रज्ञा महामुद्रा) का स्वामी होता है। प्रज्ञोपाय-विनिश्चय-सिद्धि, साधनमाला तथा कुछ अन्य अमुद्रित कृतियो आदि मे नाथो का जो उल्लेख मिला है उसके आधार पर डा० वडथ्वाल का यह अनुमान है कि बौद्ध-परम्परा मे ही वज्रनाथी सम्प्रदाय का उद्भव हो चुका था और वज्रनाथी साधक केवल नाममात्र के लिये ही बौद्ध थे और उनमे नाथ शब्द गुरु के लिये (लामा का सस्कृत पर्याय) प्रयुक्त होता था क्योकि गुरु वज्रकायाधारी अजर और अमर माना जाता था।[५] डा० वडथ्वाल का मत है कि अधिकाश बौद्ध सिद्ध विचारधारा के अनुसार नाथपन्थी है किन्तु साप्रदायिक परम्परा के अनुसार बौद्ध।

इस प्रकार हम देखते है कि विद्वानो के मत दो सीमाओ पर है। कुछ लोग गोरखनाथ और उनके सम्प्रदाय को वज्रयान की शैव शाखा मानते है और कुछ लोग स्वत बौद्ध सिद्धो को प्रच्छन्न नाथपथी। इन दोनो ही मतो में अनुमान की प्रबलता अधिक है, वैज्ञानिक तर्कों का आश्रय कम और इसलिये दोनो मे से किसी भी मत को पूर्णतया ग्रहण नही किया जा सकता। अधिक से अधिक हम यह जान सकते है कि एक ही भूभाग मे बहुत दिनो तक शैव तथा बौद्ध तन्त्र और योग साधनाए समानान्तर रूप से चलती रही और कामरूप आदि कई केंद्र ऐसे भी थे जहाँ दोनो के ही तन्त्रपीठ होने के कारण दोनो पद्धतियो में पर्याप्त आदान-प्रदान हो रहा था जिसकी ओर हम पीछे कई बार सकेत कर चुके है।

इस सम्बन्ध मे यह भी ध्यान मे रखना आवश्यक है कि गोरखनाथ नाथ-सम्प्रदाय के प्रवर्तक नही थे। वे उसके अत्यन्त सबल प्रचारक आचार्य तथा सगठनकर्त्ता थे। यह नाथ परम्परा और कनफटी साधनाओ की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और किसी न किसी रूप मे पाशुपत लाकुलीश मत से इसका घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। पडित हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कहना है कि गोरखनाथ ने योगमार्ग को एक व्यवस्थित रूप दिया। उन्होने शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तो

के आधार पर बहुविस्तृत कायायोग के साधनो को व्यवस्थित किया, आत्मानुभूति और शैव परम्परा के सामंजस्य से चक्रो की सख्या नियत की। उन दिनो अत्यत प्रचलित वज्रयानी साधना के पारिभाषिक शब्दो के साम्वृत्तिक अर्थ को बलपूर्वक .रमार्थिक रूप दिया और अब्राह्मण उद्‌गम से उद्‌भूत सम्पूर्ण ब्राह्मण विरोधी साधनामार्ग को इस प्रकार संस्कृत किया कि उसका रूढि विरोधी रूप ज्यो का त्यो बना रहा किन्तु उसकी अशिक्षाजन्य प्रमादपूर्ण रूढियाँ परिष्कृत हो गईं।[७]

गोरखनाथ को शैव योग परम्परा किस रूप मे मिली थी और उसमे उन्होंने क्या सुधार किया था इसका कोई भी प्रामाणिक विवरण नही दिया जा सकता किन्तु उन्होंने बौद्ध तान्त्रिक प्रभावो का कडा विरोध किया था ऐसा आभास अवश्य मिलता है। डा० द्विवेदी भी उन पर ब्राह्मण प्रभाव विशेष मानते है।[८] गोरखनाथ तथा उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के विषय मे जो भी किम्वदन्तियाँ प्रचलित है उनसे यह आभास अवश्य मिलता है कि तान्त्रिक वामाचारी साधनाओ को लेकर गुरु शिष्य मे कुछ मतभेद अवश्य था। मत्स्येन्द्र के नाम से शैव-कौल-तन्त्र की जिन पुस्तको का सम्पादन डा० बागची ने किया है वे काफी प्राचीन है (११वी शती) और उन्हें मत्स्येन्द्र की पद्धति के अन्तर्गत न मानने का कोई कारण नही दीख पडता है। कौलज्ञान निर्णय, अकुलवीर, कुलानन्द तन्त्र तथा ज्ञानकारिका आदि कृतियो मे सहज-शून्य, वज्र आदि बहुत वज्रयानी शब्दो का प्रयोग मिलता है जिनका आगे यथास्थान उल्लेख किया जायगा। इन कृतियो का प्रमुख स्वर शैव है और अकुलवीर तन्त्र मे तो स्पष्टत· बौद्ध सम्प्रदाय का विरोध मिलता है।[९] किन्तु उसकी साधनापद्धति तान्त्रिक है और ज्ञात यह होता है कि इन्ही तात्रिक अशो का बहिष्कार कर गोरखनाथ ने अपने सम्प्रदाय का गठन किया होगा। इस आधार पर डा० द्विवेदी का यह मत समीचीन प्रतीत होता है कि गोरखनाथ की साधना का मूलस्वर शील, संयम और शुद्धतावादी है और उन्होंने तान्त्रिक उच्छृखलताओ का विरोध कर 'निर्मम हथौडे से साधु और गृहस्थ दोनो की कुरीतियो को पूर्ण कर दिया।'[१०] विरोध केवल बौद्ध तन्त्रो से ही नही शाक्तो और शैवो से भी था। 'योगि-सम्प्रदायाविष्कृति' की वाममार्ग तथा गोरखनाथ की कथा भी इस परम्परा की ओर अप्रत्यक्ष सकेत करती है।[११]

गोरखनाथ ने अपने सम्प्रदाय का सगठन करते समय बहुत से पूर्ववर्त्ती

सम्प्रदायो को अपने योग मार्ग मे स्वीकृत कर लिया था। डा० द्विवेदी का अनुमान यह है कि उनके पहले दो प्रकार के दल विद्यमान रहे होगे। क—ऐसे जो योगमार्गी थे किन्तु शैव या शाक्त नही थे, ख—वे जो शैवागमवादी थे किन्तु योगमार्गी नही थे। दोनो ही प्रकार के कई सम्प्रदाय जो पूर्ववर्त्ती थे गोरखनाथ के संगठन मे सम्मिलित हो गये और उनके प्रवर्तको को गोरखनाथ का शिष्य समझा जाने लगा।[१२] इनमें से वाममार्गी, शाक्त, बौद्ध, अघोर आदि सम्प्रदाय भी रहे होगे यहाँ तक कि उनमे कुछ जैन तान्त्रिक सम्प्रदाय भी अन्तर्भुक्त हुए हैं। डा० बरुआ ने आजीवको के कुछ सम्प्रदायो की तुलना नाथपन्थियो से की है और जैन परम्परा से नाथपन्थ का सम्बन्ध जोडा है।[१३] गोरखनाथ तथा काण्हपा की जो शैव कथाएँ मिलती हैं उनसे यह भी ज्ञात होता है कि किसी समय काण्हपा की पद्धति के वहुत से अनुयायी बौद्ध धर्म छोड कर शैव नाथपन्थ मे दीक्षित हो गये थे। इसी प्रकार अवधूत सम्प्रदाय ने भी किसी समय गोरखनाथ का नेतृत्व स्वीकार कर लिया। दत्तात्रेय को अवधूत सम्प्रदाय का मूल प्रवर्तक माना जाता है, कुछ लोग उसका सम्बन्ध बौद्धो की धूताग साधना से भी बताते हैं, किन्तु वह योगमार्ग था इसमे सन्देह नही।

नाथ सम्प्रदाय मे अन्तर्भुक्त धर्म साधनाए

इस समय गोरखनाथ के नाम पर जो भी ग्रन्थ प्रचलित है या उनके सम्प्रदाय मे जो भी प्राचीन ग्रन्थ सर्वमान्य है उनमे योगमार्ग के साथ-साथ कही कही तान्त्रिक प्रवृत्तियाँ भी मिल जाती हैं। गोरक्ष-सिद्धान्त-सग्रह मे षोडश-नित्यातन्त्र का उद्धरण देकर नाथो को तन्त्रो का भी प्रवर्तक मान लिया गया है।[१४] ज्ञात यह होता है कि बाद मे जो सम्प्रदाय नाथ पन्थ मे सम्मिलित हुए उनमे से कई तान्त्रिक प्रवृत्तियाँ और साधनाए अपने साथ लेते आये। हठ-योगप्रदीपिका मे महामुद्रा का जैसा उल्लेख है और वज्रोली, सहजोली आदि साधनाओ का जो वर्णन है वह स्पष्टत वज्रयानी परम्परा से प्रभावित मालूम पडता है।

यह वज्रयानी तान्त्रिक प्रभाव सूफियो तक भी पहुँच रहा था। ज्ञात यह होता है कि मुसलमानी आक्रमण के समय बहुत से ऐसे सम्प्रदाय सामूहिक रूप से मुसलमान हो गये जो मूलत तान्त्रिक साधनाओ मे विश्वास करते थे। ऐसे सम्प्रदायो ने यवन हो जाने के बाद भी गुप्त रूप से तान्त्रिक साधनाएँ जारी रक्खी। फीरोजशाह तुगलक के समय तक ऐसे मुस्लिम सम्प्रदायो का उल्लेख

मिलता है जिनमे रात्रि को तान्त्रिक चक्र की योजना होती थी और प्रत्येक साधक पत्नी, माता, भगिनी और पुत्री आदि के साथ उस भैरवी-चक्र मे प्रवृत्त होता था। तुगलक ने उनका कत्लेआम करा दिया था। पूर्वी भारत में दीनाजपुर के कुछ शाह मदार के अनुयायी मुसलमान जोगी है[१६] जिनमे सूफी, और योग-मार्ग का विचित्र सम्मिश्रण मिलता है।[१७] पजाब मे भी ऐसे मुसलमान जोगी मिलते है जो मुहम्मद के चमत्कार की गाथाएँ गाते है यद्यपि उनकी साधना-पद्धति योगमार्गी मालूम पडती है।[१८] योगमार्ग के माध्यम से बहुत से वज्रयानी शब्द और परम्पराएँ जायसी की सूफी परम्परा तक जा पहुँची है जिन पर हम आगे दृष्टिपात करेंगे। पूर्वी भारत मे यही परम्परा बाउल साधना के रूप मे विकसित हुई जिसमे सूफी-साधना, सहज-साधना और नाथ योग साधना का सम्मिश्रण हुआ है।

नाथ-पन्थ का प्रभावक्षेत्र केवल उत्तर-पूर्वीय भारत नही था। वह समस्त देश मे विस्तृत था और प्रत्येक प्रान्त मे वह नये सम्प्रदायो के सपर्क में आया था जिसकी कितनी ही प्रवृत्तियाँ उनमे समाविष्ट होती गईं। दक्षिण मे कुछ जोगी नाग पूजा करते है,[१९] महाराष्ट्र मे कुछ जोगी भैरव को पूजते है और गृहस्थ जीवन बिताते है।[२०] मलयाली गुरुकुल जोगी कालीपूजक है और मैथुन साधना मे विश्वास करते है,[२१] पजाब के रावल, लाकुलीश मत के पुराने अनु-यायियो का शैव रूप है। सामाजिक दृष्टि से पूर्वी भारत की बहुत सी योगी जातियाँ भी गृहस्थ थी।[२२] द्विवेदी जी का अनुमान है कि कबीर ऐसी ही किसी यवन वयनजीवी योगी जाति मे पैदा हुए थे। वज्रयानो सहज और शून्य आदि की परम्पराएँ इसी प्रकार कबीर को मिली होगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

सन्त-परम्परा

विद्वानो का अब इस विषय मे विशेष मतभेद नही रहा कि सन्त-परम्परा निर्गुण को मान्यता देते हुए भी केवल ज्ञानाश्रयी नही है, उसका मूल स्वर भक्ति का स्वर है। यह एक ऐसी विशेपता है जो गोरखनाथ तथा उनके अनुयायियो के साहित्य मे नही मिलती। डा० द्विवेदी स्पप्ट लिखते है, 'केवल एक वस्तु वे कही से नही ले सके। वह है भक्ति। वे ज्ञान के उपासक थे और लेशमात्र भावुकता को भी बर्दाश्त नही कर सकते थे।'[२३] इस दृष्टि से कबीर और गोरख के स्वरो-मे दो ध्रुवो का अन्तर आ गया था। कबीर, दादू, आदि का परिचय जिस नवीन भक्ति-साधना से

हुआ था, उसके प्रति उनमे विशेष उत्साह था, उन्होने एक नई निष्ठा, एक नई आस्था ग्रहण की थी जिसमे ज्ञान और योग गौण थे, भावना और भजन प्रमुख थे।

किन्तु फिर भी उन्होने योगमार्ग का परित्याग नही किया था। स्वत॰ कबीर को भक्ति की दीक्षा जिस गुरु से मिली थी उसने योग तथा भक्ति का समन्वय करने का प्रयास किया था। रामानन्द तथा उनके गुरु राघवानन्द जी, विशिष्टा-द्वैतवादी थे किन्तु परम्पराओ से ज्ञात होता है कि दोनो ही सिद्ध योगी थे। किम्वदन्ती तो यहाँ तक कहती है कि रामानन्द का अल्पायु मे मारक योग था। पहले वे किसी अद्वैतवादी गुरु के शिष्य थे जो उन्हे राघवानन्द को सौंप गया। राघवानन्द ने उन्हे पूर्णयोगी बना दिया और जिस समय उनका मारक-योग था, उन्हे पूर्ण समाधिस्थ हो जाने की आज्ञा दी। इस प्रकार काल उन्हे छू भी नही पाया।[२४] गुरु राघवानन्द के नाम पर सिद्धान्त-पचमात्रा नामक जो कृति डा० बडथ्वाल को मिली है उसमे भी उनकी परम्परा के किसी शिष्य ने उनके साधनामार्ग को योग और प्रेम का समन्वित रूप बताया है।[२५] ाजा दलजीतसिंह ने भी डा० मोहनसिंह की पुस्तक के प्राक्कथन मे रामानन्द पर गोरखनाथ के योगमार्ग के गहरे प्रभाव का उल्लेख किया है। राघवानन्द की शिष्य-परम्परा मे १७वी शताब्दी के किन्ही मिहीलाल ने भी उन्हे अवधूतवेश-धारी बताया है।[२६]

इस प्रकार कबीर को भक्ति की दीक्षा जिस गुरु से मिली, वह भी योग-मार्ग को भक्ति का विरोधी नही मानता था और इसलिये कबीर ने भक्ति के साथ-साथ योग को भी प्रश्रय दिया और योगमार्गी परम्पराओ मे जो भी वज्रयानी साधना-पद्धतियाँ, पारिभाषिक शब्द, प्रतीक और उलटवासियाँ चली आ रही थी वे सब को तथा उनके अनुयायी सन्तो को उत्तराधिकार रूप मे प्राप्त हुई। तब तक वज्रयानी सिद्धो का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव शेष रहा हो ऐसी कोई सम्भावना नही है। वास्तव मे कबीर तथा अन्य सन्तो ने ये प्रभाव छोटे-छोटे योगमार्गी सम्प्रदायो से ग्रहण किये जिनमें वज्रयानी परम्पराएँ किसी प्रकार शेष रह गई थी, किन्तु समय के साथ-साथ उनमे भी बहुत कुछ परिवर्तन और विकास हो चुका था।

ऐसे-ऐसे छोटे-छोटे सम्प्रदाय पूर्वी भारत या पश्चिमी भारत दोनो ही क्षेत्रो मे अवशिष्ट थे और साधारण निम्नवर्ग की जनता में उनका यथेष्ट प्रभाव था। कबीर तथा अन्य सन्तो का कार्यक्षेत्र निम्न वर्ग ही था, अत उन्हे उन्ही

सम्प्रदायो द्वारा स्वीकार शब्दावली अपनानी पडी होगी' किन्तु सन्तो ने उन्हें अपने स्वाधीन अर्थ दे दिये। लगभग यही गोरखनाथ ने अपने समय मे प्रचलित वज्रयानी सम्प्रदायो के लोकप्रिय पारिभाषिक शब्दो के साथ प्रयोग किया था। अत यह प्रभ.व वास्तव मे इस रूप मे नही था कि सन्तो ने वज्रयानी साहित्य पढा हो या सिद्धो के वचन सन्तो के समय तक ज्यो के त्यो प्रचलित हो और उन्होने उसमे से वहुत सा अश अपना लिया हो। वास्तविकता तो यह है कि जिस समय कवीर ने सहज शून्य आदि का व्यवहार किया उस समय उन्हें इसका लेशमात्र आभास भी न रहा होगा कि ये शब्द उन्ही सिद्धो के है जिनके विषय मे स्वत कवीर लिखते है 'पट्दरसन ससे पड्या अस चउरासी सिध।'[२७] भक्ति के आगे सिद्धि और सिद्धो के प्रति कबीर तथा परवर्ती सन्तो मे एक घोर उपेचा का भाव आ गया था, यहाँ तक कि पलटूदास भक्ति के मार्ग मे केवल सन्तो का ही गुज़र वताते है और स्पष्ट कहते है कि

सिध चौरासी, नाथ नौ बीचै सबै भुलान
बीचै सबै भुलान भक्ति की मारग छूटी
हीरा दिहिन है डारि लिहिन है कौडी फूटी।[२८]

इसी प्रकार एक ओर सन्त लोग चौरासी सिद्धो और नौ नाथो की उपेचा कर रहे थे किन्तु दूसरी ओर उन्ही सिद्धो द्वारा प्रयुक्त नाथो द्वारा नई व्याख्या से समन्वित पारिभाषिक शब्दो द्वारा योग प्रवृत्तियो को ग्रहण कर उसको एक नया अर्थ देने का प्रयास कर रहे थे।

किन्तु इन शब्दो का इतिहास सर्वथा एकागी रह जायेगा यदि हम केवल हिन्दी की नाथ और सन्त-परम्परा तक ही अपने अध्ययन को सीमित रक्खेंगे।

पूर्वी भारत के अन्य सम्प्रदाय

उस समय पूर्वी और पश्चिमी भारत मे कई ऐसे छोटे-छोटे सम्प्रदाय १२वी शती से १६वी शती तक जीवित थे जिनमें सहज, शून्य, निरजन आदि शब्दो को ग्रहण कर योग तथा भक्ति का समन्वय किया गया था। ये सम्प्रदाय तथा इनका साहित्य समय-समय पर प्रत्यच्च अथवा अप्रत्यच्च रूप से हिन्दी के नाथ तथा सन्त साहित्य को प्रभावित करता रहा है। अभी तक इन सम्प्रदायो का विस्तृत विवरण नही मिल पाया है किंतु पूर्वी भारत के धर्म-सम्प्रदाय और पचसखा सम्प्रदाय के विषय मे जो कुछ ज्ञात हुआ है वह हिन्दी सन्त-साहित्य में प्रयुक्त कई वज्रयानी

पारिभाषिक शब्दो के इतिहास पर सर्वथा नवीन प्रकाश डालता है। इनमे से धर्म सम्प्रदाय की परम्परा तो १२ वी शती तक मिल जाती है, किन्तु उडीसा का पचसखा सम्प्रदाय अपेक्षाकृत नवीन है, और उसके प्रवर्तको का समय १६वी शती माना जाता है।[२९] इन पाँच वैष्णव कवियो का नाम अच्युतानन्ददास, बलरामदास, जगन्नाथदास, अनतदास और यशोवन्तदास था। वसु महोदय द्वारा उद्धृत इनकी कविताओ मे स्थान-स्थान पर कृष्ण को शून्य रूप कहा गया है और शून्य के मध्य मे निरजन तथा निरजन में स्वत भगवान की स्थिति बताई है। वसु महोदय का यह मत है कि यह सम्प्रदाय प्रच्छन्न बौद्ध सम्प्रदाय है क्योकि प्रतापरुद्र नामक उडिया राजा बौद्धो का विरोधी था और उन पर अत्याचार करता था। उसी समय प्राणभय से बहुत से बौद्धो ने वैष्णव दीक्षा लेकर प्राण बचाये। किन्तु डा० दासगुप्त तथा डा० द्विवेदी इस से पूर्णतया सहमत नही है। डा० दासगुप्त का कथन है कि पचसखा तथा धर्मसम्प्रदायो मे कुछ बौद्ध प्रवृत्तियो और हिन्दू प्रवृत्तियो का मेल अवश्य हुआ है किन्तु वे वौद्ध-धर्म के उस रूप से आई थी जो शुद्ध बौद्ध रूप न होकर तान्त्रिक बौद्ध धर्म था और हिन्दू तन्त्रो से बहुत भिन्न नही था।[३०] डा० द्विवेदी का भी मत इसी पक्ष मे है कि इन सम्प्रदायो को प्रच्छन्न न कह कर केवल यह कहा जाना चाहिये कि इन्होने बहुत से ऐसे शब्दो को ग्रहण कर लिया था जिनका बौद्ध साधना से सुन्दर सम्बन्ध था।'[३१] आगे चल कर इस सम्प्रदाय मे सृष्टिकथा का जो रूप मिलता है (महादेवदास की धर्मगीता मे) वह यह बताता है कि धर्म-सम्प्रदाय की सृष्टि कथाओ को इस सम्प्रदाय मे भी मान्यता मिल गई।

धर्म सम्प्रदाय

धर्म-सम्प्रदाय पञ्चसखाओ के वैष्णव सम्प्रदाय से अधिक पुराना और अधिक महत्वपूर्ण है। पश्चिमी बङ्गाल, उडीसा, छोटा नागपुर से रीवा तक किसी समय धर्म देवता की पूजा प्रचलित थी और बङ्गाल के वीरभूमि जिले तथा उडीसा के कुछ भागो मे अब भी यह सम्प्रदाय जीवित है यद्यपि उसका रुप बहुत कुछ वैष्णव या शैव हो गया है। यह सम्प्रदाय किसानो, डोम, बागदी, मछुवे, बढई तथा इसी प्रकार की निम्न जातियो मे प्रचलित था। डा० दासगुप्त का मत है कि इस सम्प्रदाय से बौद्ध प्रभावो की परम्परा का सम्बन्ध है। सहजयानी महामुद्रा साधना या वज्रयोग का कोई भी विशेष प्रभाव इस सम्प्रदाय के साहित्य मे नही उपलब्ध होता, किंतु

क्रिया-संग्रह आदि वज्रयानी ग्रन्थो मे उपलब्ध तान्त्रिक अनुष्ठान-पद्धतियो से धर्म सम्प्रदाय के पुराने ग्रन्थो की विपय-वस्तु बहुत मिलती-जुलती है।[३२] उनका यह भी कहना है कि धर्म ठाकुर की अर्द्धांगिनी शीतलादेवी वास्तव मे बौद्ध देवी हारीति ही है जो वेश और नाम वदल कर धर्म सम्प्रदाय मे स्वीकृत कर ली गई है।[३३] यह धर्म ठाकुर वास्तव मे वौद्धो के बुद्ध, धर्म और सङ्घ मे से लिया गया धर्म है, ऐसा कुछ विद्वानो का मत था। डा० वसु तो धर्म पूजा मे प्रयुक्त शख को भी सङ्घ का ही प्रतीक मानते है।[३४] किन्तु उपरोक्त मतो का कोई विशेष प्रामाणिक आधार न होने के कारण डा० दासगुप्त इसे अस्वीकार करते है। वास्तव मे इस धर्म सम्प्रदाय का सयोजन १२वी शती के लगभग रमाई पण्डित के द्वारा किया गया है और उसमे उस समय जनता मे व्याप्त अनुष्ठानो, विश्वासो और देवी-देवताओ को एक नियमित शृङ्खलाबद्धता देकर धर्म ठाकुर के पूजा विधान मे सम्मिलित कर लिया गया है। यह धर्म सज्ञा भी वास्तव मे सथाल मुडा ओराव आदि आस्ट्रो-एशियायी जातियो मे प्रचलित एक शब्द का सस्कृत रूपान्तर है। वह शव्द है 'दुलि' जिसका अर्थ कछुआ होता है। यह शब्द उत्तरकालीन सस्कृत भापा मे भी ग्रहण कर लिया गया है और चर्यापदो मे भी एक स्थान पर कछुए के अर्थ मे इसका प्रयोग हुआ है। 'दुलि दुहि पिटा धरण न जाअ' (चर्यापद २)। टीकाकार यहाँ दुलि का साकेतिक अर्थ महासुख चक्र वताता है जिसमे द्वयाकार लीन हो जाते है। स्वार्थक प्रत्यय ओम जोडकर इसका रूप दुलोम, दुरोम, डुरोम आदि हो जाता है।[३५] यह डुरोम या कच्छप ओरावो और सन्थाल आदि जातियो का सर्वमान्य देवता था और यह ज्ञात होता है कि बाद मे इसे सस्कृत के धर्म शव्द के कच्छप रूप मे और कभी कच्छप को धर्म के वाहन के रूप मे परिकल्पित किया जाता रहा।[३६] महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री आदि विद्वान जो आदिवासियो की इस कच्छप पूजा और दुलि शव्द के इतिहास से अवगत नही थे वे धर्म ठाकुर के कच्छपरूप को बौद्ध स्तूप का ही रूपान्तर मानते रहे। किन्तु उन्होने ऐसा कई घटनाओ का उल्लेख किया जिनसे ज्ञात होता है कि वङ्गाल के पुरोहित धर्म ठाकुर को धीरे-धीरे शैव या वैष्णव देवता का रूप देते रहे।[३७] लगभग कुछ ऐसा ही इतिहास पुरी के जगन्नाथ का है जो मूलतया वौद्ध देवता थे या धर्म ठाकुर के ही वौद्ध रूपातर मात्र थे। धर्म-पूजा-विधान तथा गोविन्द-विजय आदि कृतियो मे इसका उल्लेख मिलता है।[३८]

कबीर पन्थ के साहित्य मे भी हमे यह कथा एक दूसरे रूप मे मिलती है। धर्म-पूजा-विधान मे कहा गया है कि बौद्ध जगन्नाथ ही बङ्गाल मे धर्म ठाकुर का रूप धारण करेंगे। कबीर-पन्थी ग्रथ लक्ष्मणबोध मे यह कथा इस प्रकार मिलती है

कबीर पन्थ और धर्म सम्प्रदाय

श्रीकृष्ण वचन

..

तब बोले अस गोविन्दराई। पेड़ एक तुम बेगि बढाई।
मट्टी धरो पेड़ के माई। सो पेड़ तुम देहु बहाई।
पेड़ सोइ उडीसा जाई। बौद्धावतार की माड मडाई।
ठाकुर कहा सो बलभद्दर कीना। एक पेड़ बनाय कर लीना।

अब कलियुग बैठेगा सोई। बौद्ध थापना हमरो होई।
जगन्नाथ मम नाम है सोई। हमरी थापना यही विधि होई।[३६]

जयदेव के ही समय से बुद्ध को अवतारो मे गिन लिया गया था और जगन्नाथ को कृष्ण का बौद्धावतार माना जाता था। कबीर-पन्थ मे सतगुरु कबीर का महत्व बढाने के लिये कुछ अन्य कथाएँ भी जोड दी गई और लक्ष्मणबोध मे निरजनगोष्ठी का हवाला देते हुए कहा गया है कि निरजन ने कबीर मे प्रार्थना की कि जब मेरा जगन्नाथ का अवतार होगा तब समुद्र मेरे मन्दिर को तोडेगा और आप उसे बचायें। सतगुरु कबीर ने उसे आश्वासन दिया और कई बार मन्दिर टूट जाने पर वे गये और समुद्र की ओर मुख कर बैठ गये। समुद्र ब्राह्मण के वेश मे आया और बोला 'महाराज, मै तो जगन्नाथ के मन्दिर को तोडने आया था। आप सम्मुख बैठे है तो सामर्थ्यविहीन हूँ।' इसी प्रसग मे एक तथ्य और महत्वपूर्ण है। उस बौद्ध-वैष्णव मन्दिर का पडा जब पूजन के हेतु आया तब कबीर का वेश यवन साधु का वेश था, अत वह मन मे हिचका। तब कबीर ने ऐसा चमत्कार किया कि समस्त मन्दिर मे कबीर की ही यवन वेश-धारी मूर्तियाँ दिखाई देने लगी। अन्त मे कबीर ने उस इन्द्रजाल का निवारण किया और आदेश दिया कि आज से इस मन्दिर मे जात-पात, छुआछूत आदि का कोई विचार नही होगा।[४०] इस कथा मे कबीर का महत्व बढाने के लिये

इसको यह रूप दिया गया है किन्तु इससे स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म का प्रभाव किस रूप मे उडीसा क्षेत्र में शेष रह गया था। हिन्दू-मुस्लिम एकता की उपरोक्त भावना भी कवीरपन्थी कथा से पुरानी है क्योकि धर्मपूजा विधान मे जगन्नाथ के मन्दिर मे साम्प्रदायिक भेदभाव भुलाने का आदेश मिलता है। यह भी ज्ञात होता है कि किसी समय धर्म-सम्प्रदाय का उच्चवर्गीय हिन्दुओ[४१] ने विरोध किया था और मुसलमानो ने उसको प्रश्रय दिया था।

कबीरपन्थ मे धर्म सम्प्रदाय से एक वस्तु और आई है, वह है सृष्टि प्रक्रिया और उसमें निरजन का स्थान। निरजन की प्रजापति ब्रह्मा के समानान्तर कल्पना कर निरजन और माया के सहगमन से समस्त सृष्टि के उद्‌भव की कथा धर्म सम्प्रदाय के शून्य-पुराण और परवर्ती मगल ग्रन्थो मे, उडीसा-वैष्णव साहित्य, बगाल के नाथ-साहित्य मे और कबीरपन्थ के साहित्य मे थोडे वहुत रूपान्तर से लगभग एक सी मिलती है। कुछ विद्वानो ने इस सृष्टि कथा का मूल स्रोत बौद्ध ग्रन्थो तथा हिन्दू पुराणो मे ढूँढने का असफल प्रयास किया है। किन्तु शरच्चन्द्रराय द्वारा सगृहीत[४२] ओरावो मे प्रचलित सृष्टिकथा इन कथाओ की मूल प्रेरणा प्रतीत होती है। कर्म और अड का इन कथाओ मे जो महत्वपूर्ण स्थान है, वह भी आदिवासियो की आदिम लोककथाओ का प्रभाव मालूम पडता है। डा० दासगुप्त ने पूर्वी भारत के इन छोटे-छोटे सम्प्रदायो की साहित्यिक परम्परा मे इन सृष्टिकथाओ के विभिन्न रूपो की समीक्षा की है[४३] और उनमे निहित बौद्ध परम्पराओ का भी सकेत किया है। कवीरपन्थ मे इस परम्परा ने जो रूप धारण किया उस पर डा० द्विवेदी ने 'कबीर' मे कुछ प्रकाश डाला है।[४४] यहाँ उसके विस्तार मे न जाकर शून्य अथवा सहज का इस सृष्टि-प्रक्रिया मे क्या स्थान है, इसका उल्लेख हम आगे करेंगे। जहा तक निरजन का प्रश्न है, डा० द्विवेदी ने कवीर-पन्थ के विकास के साथ निरजन की स्थिति मे परिवर्तनो की ओर सकेत किया है। यहाँ यह वता देना आवश्यक है कि इस दृष्टि से सन्तो की साहित्य परम्परा मे पश्चिमी क्षेत्रो मे निरजन का महत्व सदैव अक्षुण्ण रहा किन्तु पूर्वी परम्परा मे साम्प्रदायिक प्रतिद्वद्विता के कारण घटता चला गया। निरंजन शब्द का प्रयोग दोहाकोष मे जिन अर्थों मे हुआ है इसका विवेचन हम तीसरे अध्याय मे कर चुके है किन्तु यह सकेत कर देना आवश्यक है कि निरजन बौद्धो की अपेक्षा शैवो की परम्परा से अधिक घनिष्ट रूप से सम्बद्ध है, वैसे यह लगभग समस्त योगमार्गीय सम्प्रदायो की सम्मिलित सम्पत्ति हो गया था चाहे वे

बौद्ध सप्रदाय हो, जैन हो अथवा शैव हो। पाहुडदोहो मे वज्रयानी दोहो की ही भाँति 'सुण्ण निरजणु' को साधक की सर्वोच्च स्थिति माना गया है और इन्ही कारणो से हम निरजन का वज्रयानी साधना से उतना घनिष्ट सम्बन्ध नही मान सकते जितना शून्य, सहज, खसम आदि शब्दो का।

इन सम्प्रदायो का लोकभाषा साहित्य

समय की दृष्टि से इन पूर्वी भारत के सम्प्रदायो का अधिकाश साहित्य कबीर के बाद का साहित्य है किन्तु रमाई पंडित कबीर के पूर्ववर्त्ती थे (१२वी शती) और शून्य पुराणो मे जो विभिन्न पद्धतियो का सकलन है, उनमे बहुत सा अश कबीर से भी पूर्व का हो सकता है। डा० दासगुप्त इस सारी सामग्री की परीक्षा कर इस परिणाम पर पहुँचे है कि शून्यपुराण के कुछ अंश १२वी शती तक के हो सकते हैं, यद्यपि उनका उपलब्ध रूप बहुत बदला हुआ है, किन्तु धर्म-पूजा-विधान को वे बहुत बाद की कृति मानते हैं। उसके वाद 'धर्ममगल' आदि मगल-साहित्य की परम्परा चली है जिसका अनिवार्य प्रभाव हिन्दी के सन्त-साहित्य पर पडा है। सत्य तो यह है कि इनमे सारे सम्प्रदायो को वास्तव मे एक सूत्र मे बाँधने वाली शक्ति लोक-भाषा है। हम हिन्दी, वगाली, उडिया आदि के साहित्यो के बीच विचार और चिन्तन के क्षेत्र मे अन्तर-रेखाएँ नही खीच सकते। भाषा और व्याकरण का जो भी अन्तर रहा हो किन्तु एक सी शैली, एक सा स्वर, एक सी चिन्तन-पद्धति और एक ही पारिभाषिक शब्दावली लोकभाषाओ के समस्त धार्मिक साहित्यो मे फैल जाती थी, और प्रदेशो की सीमाएँ उसमें बहुत थोडे से अन्तर उत्पन्न कर पाती थी। वास्तव मे बौद्ध सिद्धो के उपलब्ध तथा नाथ-योगियो के अनुलब्ध लोकभापा के धार्मिक साहित्य से परवर्ती सम्प्रदायो के लोकभाषा के साहित्य की परपरा अविच्छिन्न रूप से जुडी हुई है। इस सम्बन्ध मे डा० द्विवेदी का यह भी मत विचारणीय है कि मध्यप्रदेश मे बौद्धो तथा नाथो के प्राचीन लोकभाषा साहित्य के न उपलब्ध होने का कारण यह है कि अपभ्र श काल के उत्तरार्द्ध मे मध्य देश के रूढिपूजक चिन्तको और मनीषियो ने इन सम्प्रदायो की लोक-प्रवृत्तियो और लोकभाषा की वृत्तियो को विशेष प्रश्रय नही दिया था।

वास्तव मे हिन्दी मे नाथ-योगियो का जो भी साहित्य मिलता है वह अपने वर्तमान रूप मे बहुत नया है। उसकी अधिकाश पाडुलिपियाँ १७वी

तथा १८वी शताब्दी के इधर की ही है। स्वत डा० बडथ्वाल ने इसे स्वीकार किया है।[४५] इसलिये भाषा आदि की दृष्टि से ये सर्वथा अविश्वसनीय हैं और ये वानिया गोरखनाथ की ही है, केवल समय के साथ इनमें परिवर्तन हो गया है, इस पर भी विश्वास करने का कोई आधार नही है। कुछ वानियो को तो स्वत डा० वडथ्वाल ने गोरख-कृत नही माना है, शेष के विपय मे भी कुछ कहा नही जा सकता। किन्तु इन नाथपन्थी बानियो मे बहुत पुराने प्रभाव शेष रह गये है इसमे सन्देह नही। नाथपन्थी ने यथासम्भव अपने साहित्य मे साधना-पद्धति का वह रूप सुरक्षित रक्खा है जो सन्तो और सिद्धो के वीच एक सेतु माना जा सकता है। डा० बडथ्वाल ने 'योग-प्रवाह' मे जिन आचार्यों की अमुद्रित बानियो का उल्लेख किया है, उनमें कभी-कभी और प्राचीन परम्पराएँ मिल जाती हैं। इसीलिये आगे प्रभाव-परम्परा का विवेचन करते समय अक्सर सन्तो के पहले नाथो के उद्धरण दिये गये है क्योकि सन्तो मे वज्रयानी शब्दो के अर्थ और साधनाओ के रूप अधिक स्वच्छन्दता से रूपान्तरित हो रहे थे जब कि नाथपन्थी वानियो मे उसके अधिक प्राचीन रूप सुरक्षित बच रहे थे। इस अध्याय के अगले अशो के उद्धरणो से उसके यथेष्ट प्रमाण मिलेगे।

नाथो के ही समान अभी प्रारम्भिक सन्तो के साहित्य के पाठ का ठीक-ठीक निरूपण नही हो पाया है। जहाँ तक कबीर का प्रश्न है डा० रामकुमार वर्मा का 'सन्त कवीर' इस दिशा मे स्तुत्य प्रयास है। उसके अतिरिक्त वीजक और कवीर-ग्रन्थावली मे सगृहीत दोहे और पद अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय है। वीजको मे से विचारदास के बीजक का उपयोग किया गया है क्योकि वह कवीर-चौरा की पुरानी प्रतियो पर आधारित वताया जाता है और सम्प्रदाय मे भी अधिक मान्य है। नानक के नाम से जो प्राणसंगली प्रचलित है उसका भी उपयोग आगे किया गया है, यद्यपि यह सकेत कर देना आवश्यक है कि उसकी प्रामाणिकता सदिग्ध है। बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित अधिकाश सन्त साहित्य अवैज्ञानिक ढग से सम्पादित हुआ है। किन्तु नाथो अथवा सन्तो के नाम पर प्रचलित कोई भी रचना हमारे लिये उपयोगी है क्योकि उसमें हमें सम्प्रदाय में प्रचलित चिन्तनधाराएँ मिलती है और कभी-कभी सम्प्रदायो में मान्य अप्रमाणिक कृतिया जो सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक के नाम से प्रचलित कर दी जाती है इन वज्रयानी शब्दो और साधनाओ के विकास पर अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है। आगे हम देखेंगे कि शून्य, सहज आदि शब्दो का जैसा

विचित्र रूपातर 'अनुराग-सागर' तथा 'बोधि-सागर' मे सगृहीत छोटी-छोटा कबीर-पन्थी कृतियो मे मिलता है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है और उसकी उपेक्षा नही की जा सकती।

इन समस्त परिस्थितियो पर विचार करने के उपरात हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि नाथ तथा सन्तो के हिन्दी साहित्य मे सिद्धो की साम्प्रदायिक और साहित्यिक परम्परा के अवशिष्ट तत्व कई अन्य परपराओ मे रूप बदलते हुए आये है। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष प्रभाव नही रहा है, वरन् उन रूपो मे अपने को अभिव्यक्त किया है —

क—कभी-कभी वज्रयानी तान्त्रिक प्रवृत्तिया शेष रह गई है यद्यपि उन्होने शैव अथवा वैष्णव रूप धारण कर लिया है और वही शब्दावली अपना ली है।

ख—कभी-कभी साधनाओ की शब्दावली वज्रयानी ही रही है, किन्तु अर्थ बदलते गये है।

ग—सबसे बडा प्रभाव शैली पर रहा है और उपमान-शृखला, रूपक-परपरा, प्रतीक, काव्यरूप और छन्द-योजना मे आश्चर्यजनक साम्य मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि वज्रयानी सिद्ध, नाथ और सतो मे एक विशेष काव्यशैली रूढ हो चुकी थी।

सन्तो मे, विशेषतया कबीर मे वज्रयानी परपरा से गृहीत शब्दावली को अपनी व्याख्याएँ देने की प्रवृत्ति अत्यन्त बलवती रही है और समय-समय पर समकालीन सम्प्रदायो के प्रभाव से इन शब्दो के प्रयोग मे नये विकास होते रहे है। अगले अश मे इन्ही शब्दो के अर्थ-विकास पर हम विचार करेंगे।

ग

वज्रयानी शब्दो की परम्परा

शून्य

सिद्धो के समस्त तत्वज्ञान की मूलभित्ति विज्ञानवाद की शून्य कल्पना थी (शून्यवाद की नही) जिसमे शून्य का तथता-रूप माना गया था। बौद्ध सिद्धो ने अपनी प्रज्ञोपाय योग-प्रणाली मे इसी शून्य को नैरात्मा बालिका, प्रज्ञा या महामुद्रा रूप मे ग्रहण किया और साथ ही महासुख चक्र मे इस शून्यता की स्थिति मानी।

इसी शून्य तथा इससे सम्बद्ध अन्य कल्पनाओ को ग्रहण करने के कारण नाथ तथा सन्त साधको का सिद्धो से स्पष्ट सम्बन्ध परिलक्षित होता है। किन्तु

अवौद्ध परम्पराओ मे शून्य

प्रमुख अन्तर सिद्धो के शून्य तथा परवर्ती सम्प्रदायो के शून्य मे यह है कि बौद्ध 'शून्य' की भाँति परवर्ती शून्य प्रतीत्य-समुत्पाद की तर्क-प्रणाली द्वारा प्रतिपादित तत्वज्ञान न रहकर परमतत्व के अन्य नामो की भाँति यह भी एक नाममात्र था जिसकी व्याख्या और विवेचना प्रत्येक सम्प्रदाय के चिन्तक अपने-अपने ढग से करते थे। वास्तव मे वहुत पहले से शून्य अबौद्ध परम्पराओं मे परमतत्व की एक सज्ञा के रूप मे परिकल्पित कर लिया गया था। महाभारत मे भीष्म ने विष्णु के सहस्र नामो का उपदेश देते हुए उनका एक नाम 'शून्य' भी बताया था और उस नाम की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने कहा था 'सर्व विशेष

रहित्वात् शून्यवत् शून्य '[1] अर्थात समस्त विशेषणो, गुणो, तथा प्रकृतियो से रहित होने के कारण वे शून्यवत है । हम पहले ही इस बात की ओर सकेत कर चुके है कि प्रतीत्यसमुत्पाद की तर्क प्रणाली का सबसे बडा अन्तर्विरोध यह है कि वह स्वत अपना अभाव या परमतत्व बुद्ध की भी शून्यता सिद्ध कर देती है, इसीलिये नागार्जुन को तथागत को प्रत्येक ज्ञान से परे बताना पडा और विज्ञान-वादी आचार्यों को भी माध्यमक सम्प्रदाय की शून्य-कल्पना मे सशोधन करना पडा । अबौद्ध परम्पराओ मे भी इसीलिये शून्य को प्रतीत्समुत्पाद की तर्क शृखला से विच्छिन्न कर ग्रहण किया गया । किन्तु नागार्जुन के बाद से ही शून्य की कल्पना बौद्ध प्रभाव के कारण इतनी व्यापक हो गई कि बौद्धो के ही समा-नान्तर विकसित होने वाले कई सम्प्रदायो मे शून्य परमतत्व के वाचक रूप मे स्वीकार कर लिया गया यद्यपि उसकी व्याख्या प्रत्येक सम्प्रदाय ने अपने पृथक् ढग से की (यद्यपि उनकी शब्दावली बहुत कुछ बौद्ध ढग की ही थी) । इसी प्रकार का एक दोहा जैन मुनि रामसिंह का भी मिलता है ।

सुण्ण ण होई सुण्ण दीसइ सुण्ण च तिहवणे सुण्ण ।
अवहरइ पाव पुण्ण सुण्ण सहावेण गओ अप्पा ।।[2]

किन्तु इसके पूर्व ही उन्होने परमतत्व की प्राप्ति के लिये १२ अनुप्रेक्षाओ की साधना से परमतत्व की प्राप्ति बताई है और उस परमतत्व को शिवपुरी सज्ञा दी है, इससे यह ज्ञात होता है जैन साधना तथा जैन तत्व-दर्शन मे ही उन्होने कुछ अजैन शब्द अपना लिये है और उन्हे जैन तत्व-दर्शन मे अन्तर्भुक्त कर लिया है ।

नाथ-साहित्य मे शून्य

नाथ-सम्प्रदाय मे भी शून्य इसी रूप मे ग्रहण किया गया है । उसे परम तत्व के रूप मे स्वीकृत किया गया किन्तु उसकी व्याख्या मे नाथ-परम्परा ने सशोधन कर दिया । शून्यवादियो तथा विज्ञानवादियो ने परम तत्व की जो व्याख्याए की थी, उनसे नाथ साहित्य मे उपलब्ध व्याख्या की तुलना करने से यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है ।

शून्यवादी व्याख्या '—'शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत् । उभयम् नोभयम् चैव प्रज्ञप्त्यर्थ तु कथ्यते ।'[3] विज्ञानवादी व्याख्या 'न सन्न चासन्न तथा न चान्यथा, न जायते व्येति न चावहीयते । न वर्धते नापि विशुध्यते पुनर्विशुध्यते तत्परमार्थ लक्षणम्'... [4] नाथ-साहित्य में उपलब्ध व्याख्या

'बसती न सुन्यम् सुन्यम् न बसती अगम अगोचर ऐसा। गगन सिषर महि बालक बोले, ताका नाँव धरहुगे कैसा।'[५]

उपरोक्त पक्तियो मे 'बसती' तथा 'न बसती' वास्तव मे द्वितीय श्लोक के 'न सन्' तथा 'न च असन्' और 'न सुन्यम्' तथा 'सुन्यम्' प्रथम श्लोक के शून्य तथा अशून्य की प्रतिध्वनि मात्र है। इसी प्रकार दूसरी पक्ति का 'ताका नाँव धरहुगे कैसा' भी 'प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते' का ही रूपान्तर है। किन्तु एक सर्वथा नया भाव है, 'गगन सिषर महि बालक बोलै' शून्य को इस रूप मे पूर्ववर्ती किसी भी बौद्ध सम्प्रदाय ने चित्रित नही किया है। यह नाथ-साहित्य का अपना सशोधन है। किन्तु यह निरर्थक सशोधन नही है। वास्तव मे इसके पीछे हठ-योगी परम्परा की एक महत्वपूर्ण दार्शनिक चिन्तना वर्तमान है।

'गगन शिषर महि बालक बोले' कह कर शून्य का सम्बन्ध शब्द या नाद तत्व से जोड दिया गया है। वास्तव मे शिव और शक्ति की कल्पना नाद और बिन्दु के रूप मे हठयोगी तथा तान्त्रिक सम्प्रदायो मे बहुत पहले से थी जिनमे नाद तत्व या शब्द ब्रह्म को समस्त सृष्टि का मूल कारण माना गया था। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय मे शब्द-ब्रह्म की विवर्त प्रक्रिया द्वारा इस ससार की उत्पत्ति बताई थी।[६] सिद्धो के समकालीन बौद्ध आचार्य शान्तिरक्षित ने शब्द-ब्रह्म की कल्पना को स्वीकार किया था और अपने तत्व-सग्रह मे नाश और उत्पाद का कारण शब्दमय ब्रह्म को बताया था।[७] इस प्रकार परमतत्व रूप मे नाद और शून्य की कल्पनाएँ बहुत पहले से ही समीप आ रही थी और नाथ-सम्प्रदाय मे शून्य को शब्द या परम नाद का पर्याय मान लिया गया। हठयोग-प्रदीपिका मे इसी नाद की चार अवस्थाओ को ४ शून्यो की वज्रयानी कल्पना से सम्बद्ध कर दिया गया जिस पर हम बाद मे विचार करेंगे। यही नाद पूर्णता का द्योतक है अत हठयोग-प्रदीपिका मे शून्य तथा पूर्ण भी एक ही अर्थ मे व्यवहृत हुए है।

अन्त. शून्यो बहि· शून्य शून्यकुम्भ इवाम्बरे
अन्त पूर्णो बहि पूर्ण पूर्ण कुम्भ इवार्णवे।[८]

और इसी द्वितीय पक्ति की प्रतिध्वनि हमे कबीर तथा जायसी की निम्न पक्तियो मे भी मिलती है।

कबीर : फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यहु तत कथौ गियानी।
जायसी : सुन्न समुद चख माँहि जल जैसी लहरैं उठें
उठि उठि मिटि मिटि जाहिं मुहमद खोज न पाइए।[९]

इसी नाद-तत्व की अभिव्यक्ति के लिये नाथ योगी सिंगी धारण करते थे और उसे बजाते थे क्योकि वह सिहनाद का प्रतीक थी। चर्यापदो के टीकाकार मुनिदत्त गोरख द्वारा प्रवर्तित इस परम्परा से परिचित थे क्योकि एक स्थान पर सिद्धो द्वारा कथित शून्यता के कलकल नाद को उन्होने अपनी टीका मे शून्यता सिंहनाद कहा है।[१०] और उससे समस्त शत्रुओ को त्रस्त बताया है तथा इसके लिये किसी पूर्ववर्ती श्लोक का प्रमाण दिया है। इससे स्पष्ट है कि बहुत पहले से ही शून्य तथा नाद की कल्पनाएँ निकट आ चुकी थी। शून्यता-सिंहनाद की ही भाँति नाथो की वाणी मे भी हमे शून्य की गर्जना का उल्लेख मिलता है और उसे ही अनहद नाद की ध्वनि कहा गया है—'सुनि गरजत बाजन्त नाद आलेष लेखत ते निज प्रवाणी।'[११]

यह नाद या शब्द सृष्टि का मूलकारण तथा परम तत्त्व, परम ज्ञान, परम स्वभाव था अत इस शून्य का भी वर्णन इसी रूप मे नाथ-सम्प्रदाय में किया गया है। उसे माता-पिता तथा सर्वस्व बताया गया है।

सुनि ज माई सुनि ज बाप। सुनि निरजन आपै आप ॥
सुनि के परिचै भया सथीर। निहचल जोगी गहिर गभीर ॥[१२]

इस परम तत्व के ज्ञान को दुर्लभ बताया गया है।

घटि घटि सुण्या ग्यान न होइ। बनि वनि चदन रूख न कोइ।[१३]

अन्य स्थलो पर भी शून्य का अस्तित्व निरन्तर बताया गया है।[१४] मन का स्वरूप शून्य बताया गया है[१५] और शून्य मे ही मन का वास बताया गया है।[१६]

सिद्धो के शून्य-तत्व की विवेचना करते हुए हमने यह देखा था कि उन्होने इस शून्य को द्वय की कल्पनाओ से मुक्त अद्वय-तत्व माना था। इसे अभाव तथा भाव दोनो ही परित्याग कर मध्यम तत्व के रूप में स्वीकार किया गया था। नाथ साहित्य मे भी इसका यही रूप है।

अमरा निरमल पाप न पुनि। सत रज विवरजित सुनि।[१७]

उपरोक्त चरणो मे प्रथम तो तिलोपा की 'णिम्मल सहजे पापण पुण्ण' की प्रतिध्वनि है किन्तु दूसरा चरण इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि शून्य के द्वय-विर्वाजित स्वरूप को स्वीकार करते हुए भी उस बौद्ध व्याख्या के अनुसार भाव अथवा अभाव की द्वयता से परे न बता कर सत और रज परे बताया गया है जो हिन्दू प्रभाव का द्योतक है।

परम तत्व के अतिरिक्त शून्य का व्यवहार नाथ-साहित्य मे सहस्रार चक्र मे स्थित ब्रह्मरन्ध्र के रूप मे भी हुआ है—

गगन मंडल मे सुनि द्वारा । बिजली चमकै घोर अन्धार ।[१८]

इस गगन मण्डल को शून्य मण्डल के रूप मे परिकल्पित किया गया है जहाँ अमृत झरता है—

सुनि मण्डल तहाँ नीझर झरिया । चंद सुरज ले उनमनि धरिया ।[१९]

इस गगन मण्डल तक पहुँचने का पथ शून्य द्वार है जिसे सिद्धो की परम्परा का अनुसरण करते हुए मध्यम पथ भी कहा गया है—

मधि निरन्तर कीजै बास । निहचल मनुवा थिर होइ सास ।[२०]

और इसे अध तथा ऊर्ध्व के मध्य में स्थित शून्य मार्ग कहा गया है।

अरध उरध बिच धरी उठाई । मधि सुनि मे बैठा जाई ।[२१]

तथा इसी मध्य-शून्य मे प्राण-पुरुष का वास बताया गया है। 'मध्ये प्राण पुरिस का बासा ।'[२२] गोरक्ष-पद्धति मे भी शून्य को महेश का वासस्थान बताया गया है। 'शून्यं प्रविशति गगने यत्र देवो महेश' [२३]

इस प्रकार हम देखते है कि नाथ साहित्य मे शून्य शब्द का व्यवहार तीन प्रसगो मे हुआ है।

क. परम तत्व नाद, परम ज्ञान, परम स्वभाव ।

ख. ब्रह्मरन्ध्र, दशमद्वार अथवा मध्यपथ तथा सहस्रार चक्र, गगन मण्डल ।

ग. शिव-लोक ।

परवर्ती सन्त तथा सूफी सम्प्रदायो मे हमे इन्ही तीनो परम्पराओ का विकास मिलता है और इन्ही तीनो प्रसगो मे शून्य का प्रयोग हुआ है।

सन्त साहित्य मे शून्य

सन्त परम्परा मे हम शून्य का विकास इन्ही रूपो मे पाते है।

१ परम तत्व नाद तथा परम ज्ञान के रूप मे ।

२. ब्रह्मरन्ध्र तथा सहस्रार चक्र के रूप मे ।

३. परम लोक के रूप मे ।

परम तत्व

जहाँ तक परम तत्व के रूप मे शून्य के विकास का सम्बन्ध है कम से कम नानक के ग्रन्थो मे शून्य तथा शब्द को एक ही माना गया है उसी से समस्त सृष्टि और भूतो तथा देवताओ की उत्पत्ति मानी गई है।

सुन्न शब्द ते उठै झकार। सुन्न शब्द ते ओ अकार।
सुन्न शब्द ते पवनु विचार। सुन्न शब्दि ते अग्नीचार।[२४]
उलटै मनु जबि सुन्नि समावै। नानक शब्दे शब्दि मिलावै।[२५]
सुन्न ते सम्भू आदि गुरु रचरण। नानक कहै उदासी लचरण।
सुन्न ते सम्भू होवे आदि। सुन्न ते नीलु अनीलु अनादि।
सुन्न लेख लिखिआ नीसानु। सुन्न ते सहज कला परवानु।
सुन्न ते कीता धरती आसमानु।[२६]

इस आदि-तत्व के रूप मे कबीर ने भी शून्य का वर्णन किया है यद्यपि उन्होने शब्द और शून्य की एकता की ओर इतना स्पष्ट संकेत नही किया है। उन्होने शून्य से ससार की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए दो रूपको का आश्रय लिया है जो हमे चर्यापदो मे भी मिल जाते है। पहला है तरुवर का रूपक और दूसरा है समुद्र का रूपक।

क सहज सु नि इकु बिरवा उपजि धरती जलहरु सोखिआ
कहि कबीर हउ ताका सेवक जिनि इहु बिरवा देखिआ।[२७]
ख उदक समु द सलिल की साखिआ नदी तरग समावहिगे
सु नहि सुनु मिलिआ समदरसी पवन रूप होइ जावहिगे।[२८]

ये दोनो रूपक सिद्धो द्वारा प्रयुक्त हुए है और तत्व दर्शन के अन्तर्गत ससार की विवेचना करते हुए हम इस ससार रूपी वृच और उसका उच्छेदन करने वाली वज्रकुठार का वर्णन कर चुके है। शून्य से उत्पन्न होने वाले भवसागर या भवनदी का भी वर्णन हम कर चुके है जिसमे पार उतरने के लिये साधक को सहजयान रूपी नौका का आश्रय लेना पडता है।

कबीर के तथा नानक के अतिरिक्त अन्य सन्तो के साहित्य मे आदि-तत्व के अर्थ मे शून्य का प्रयोग कम मिलता है किन्तु बहुत बाद तक शून्य सन्त-सम्प्रदाय मे आदि-तत्व के रूप मे प्रतिष्ठित रहा है। कबीरपथियो के 'पचमुद्रा' नामक ग्रन्थ मे समस्त तत्वो की उत्पत्ति शून्य से मानी गई है और अन्त मे सभी का विलयन शून्य मे माना गया है।

वायें रूप अकाश उपजाई, फिर अकाश पुन ताको खाई
आकाश शून्य ते उतपत जानौ, बहुरी शून्य मे जाय समानौ।[२९]

किन्तु इसके पूर्वापार प्रसंग को देखने से यह ज्ञात होता है कि यहाँ शून्य और शब्द के एकत्व को भुला दिया गया है और शून्य को केवल एक आकाश तत्व का प्रतीक मान कर उसी तत्व को प्रथम तथा अन्तिम तत्व मान लिया गया है। इस प्रकार वास्तव मे शून्य की परम-तत्व, परिकल्पना मे ह्रास हो गया है। वाद मे परम-तत्व का पद शून्य से छिनता हुआ प्रतीत होता है और 'भवतारण-वोध' मे सृष्टि के आदि मे शून्य का भी अनस्तित्व बताया गया है—[३०]

नहिं तब शून्य सुमेर न भारा। कूर्म न शेष धरे अवतारा।

क्योकि यदि शून्य शब्द है तो शब्द भी वाद मे तिरस्कृत हुआ और मायाजनित वताया गया।

शब्द कहौ तो शब्दहि नही। शब्द होय माया के छाही।[३१]

परम ज्ञान

जहाँ तक परम-ज्ञानरूप और स्वभावरूप मे शून्य की स्वीकृति का प्रश्न है। कवीर ने उसका रूप अद्वैत ज्ञान की भाँति माना है और उसके लिये उपमा भी वही कुम्भ की प्रयुक्त की है जो हठयोग प्रदीपिका मे शून्य को पूर्णता ज्ञान के रूप मे चित्रित करते हुई की गई है।

माइआ फाँस वन्ध नहि फारै अस मन सुनि न लूकै
आपा पदु निवारण न चीन्हिआ इन विधि अभिउ न चूकै
जिउ प्रतिविम्व विम्व कउ मिलिहै उदक कुम्भु विगराना
कहु कवीर ऐसा गुण भ्रम भागा तउ मन सुनि समाना [३२]

यहाँ पर यह स्पष्ट है कि सन्त शून्यज्ञान के सम्वन्ध मे प्रतीत्यसमुत्पाद से परिचित नही थे और शून्यता-ज्ञान उन्हें अद्वैत-ज्ञान के रूप मे प्राप्त हुआ था क्योकि सन्तो तक आने के पूर्व वह शैव सम्प्रदायो द्वारा स्वीकृत किया जा चुका था। इसीलिये वह यहाँ अद्वयज्ञान की अपेक्षा अभेद ज्ञान के रूप मे चित्रित किया गया है।

किन्तु सिद्ध जिस प्रकार शून्य में द्वयता का निपेध करते थे वह परम्परा

भी नाथ सम्प्रदाय मे होती हुई सन्तो मे अवशिष्ट थी यद्यपि उसका न तो उतना तार्किक विवेचन ही मिलता है, न उतना स्पष्ट निरूपण। स्वत कबीर ने शून्य मे जीवन तथा मरण का निषेध किया है—'जीवत मरै मरै पुनि जीवै ऐसे सुनि समाइया।'[३३] अन्य सन्तो मे भी यह भावना मिलती है जिसमे द्वयता का निषेध कर शून्य की स्थिति को अद्वय की मध्य स्थिति बताई गई है।

रैदास : पहले ज्ञान का किया चादना पाछे दिया बुझाइ
सुन्न सहज मे दोऊ त्यागे राम न कहुँ सुखदाइ[३४]

दादू : मरै न जीवै सहज सो पूरा पद निर्वाण
द्वैपष रहिता सहज सो सुख दुख एक समाण
सहज रूप मन का भया जब द्वै द्वै मिटी तरङ्ग
सहज सुन्नि मन राखिए इन दून्यूँ के माहि
लै समाधि रस पीजिये, तहाँ काल भय नाहि।[३५]

गुलाल : सुन्न असुन्न मे डोर बन्धाना, उडे हस चढि करत पयाना
मेटल सुन्न मिलल परगासा, जनम जनम कै पूजल आसा।[३६]

उपरोक्त उद्धरणो से स्पष्ट ज्ञात होता है कि कुछ द्वयताएँ जिनका निषेध किया गया है जैसे जीवन-मरण, शून्य-अशून्य, सुख-दुख ये सिद्ध परम्परा से ही चली आई है किन्तु सन्तो के सम्मुख न तो इनका अर्थ ही स्पष्ट है और न वह प्रतीत्यसमुत्पाद की निषेधात्मक प्रणाली ही है जिससे इन द्वयताओ का निषेध कर विज्ञानवाद मे 'अद्वयोहि परमार्थ' की व्याख्या दी गई थी। सुन्दरदास न तो इस अद्वय को दूसरी ही परिभाषाओ में चित्रित किया है—

पाप न पुन्य, न स्थूल न सून्य, न बोलै न मौन न सोवै न जागै।
एक न दोई, न पुर्ष न जोई, कहै कहाँ कोई, न पीछे न आगे।

....

तत्व अतत्व कह्यो नहिं जात जु शून्य अशून्य उरै न परै है।
ज्योति अज्योति न जान सकै कोउ, आदि न अन्त, जिवै न मरै है।[३७]

और इससे स्पष्ट है कि शून्य अशून्य आदि की द्वयताओ आदि का निषेध करते हुए भी उनकी शैली हिन्दू-परम्परा, विशेषत उपनिषदो की नेति

प्रणाली का अनुसरण कर रही है और अन्त मे जहाँ उन्होने इस परम-तत्व की द्वयताओ का निषेध करते-करते अन्त मे मौन को ही उसकी व्याख्या माना है तो उपनिषदो के 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह',[३८] की छाया मिलती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि सुन्दरदास ने परम-तत्व के अद्वय निरूपण मे सिद्धा और नाथो की परम्परा को तो ग्रहण किया है किन्तु उसका प्रतिपादन उन्होने प्रत्यच्च अपने उपनिषद तथा वेदान्त ज्ञान से किया है। सुन्दरदास सन्त परम्परा मे सबसे अधिक सुशिच्चित थे भी।[३९]

हिन्दी का सूफी साहित्य अभी तक बहुत कम प्रकाश मे आया है किन्तु जायसी की कृतियो मे शून्य का जो उल्लेख मिलता है वह सन्तो के शून्य तत्व तथा परम ज्ञान के लच्चणो से शब्दश मिलता-जुलता है। इतना ही नही, सन्तो की तुलना में जायसी की विवेचन शैली अधिक सुलझी हुई है और वे परम-तत्व के रूप में शून्य की भारतीय कल्पना से बहुत परिचित है।

उन्होने शून्य को परम-तत्व के रूप मे परिकल्पित किया जो पाप-पुण्य आदि द्वयताओ से विनिर्मुक्त सूक्ष्मतम तत्व है, स्वर और शब्द से भी परे है। समस्त स्थूल तत्वो की उत्पत्ति उसी से बताई गई है—

हता जो सुन्न म सुन्न, नाव न ठाँव न सुर सबद
तहाँ पाप नहिं पुन्न, मुहमद आपुहि आप मँह
आपु अलख पहिले हुत जहाँ, नाँव न ठाँव न मूरति तहाँ
पूर पुरान पाप नहिं पुन्नू। गुपुत ते गुपुत सुन्न ते सुन्नू[४०]

आदि किएउ आदेस, सुन्नहि ते अस्थूल भए
आपु करै सब भेस, मुहमद चादर ओट जेउ।[४१]

हेरत दिष्टि उघरि तस आई। निरखि सुन्न मह सुन्न समाई।
सुन्न समुंद चख माँहि जल जैसी लहरैं उठहि
उठि उठि मिटि जाहि मुहमद खोज न पाइए।[४२]

इहै जगत कै पुन्नि यह जप तप सत साधना
जानि परै जेहि सुन्न मुहमद सोई सिध भा।[४३]

भा भल सोइ जो सुन्नहि जानै। सुन्नहि ते सब जग पहिचाने।
सुन्नहि ते है सुन्न उपाती। सुन्नहि ते उपजे बहु भाँती।
सुन्नहिं माँझ इन्द्र बरम्हडा। सुन्नहि ते टीके नवखण्डा।
सुन्नहि ते उपजे सब कोई। पुनि बिनाइ सब सुन्नहि होई।
सुन्नम सुन्नम सब उतराई। सुन्नहि मह सब रहै समाई।[४४]

उपरोक्त उद्धरणो में 'सुन्न म सुन्न' तथा 'सुन्नम सुन्नम' विचारणीय हैं। परमार्थ का विवेचन करते हुए पूर्ववर्ती परम्पराओ मे 'शून्यमशून्यम्' शून्यम् तथा अशून्यम् दोनो का निषेध किया गया था। 'सुन्नम सुन्न' तथा 'सुन्नम सुन्नम' उसी 'शून्यमशून्यम्' के परवर्ती अवशेष प्रतीत होते है, यद्यपि शून्य तथा अशून्य दोनो के निषेध के रहस्य से जायसी अपरिचित है अत उन्होने उसे शून्य के ही अर्थ मे प्रयुक्त किया है, शून्य व अशून्य के युग्म के अर्थ मे नही।

पहले ही हम इस बात का सकेत कर चुके है कि शैव हठयोग परम्परा मे काया मे ही मण्डल के रूप मे या द्वार के रूप मे शून्य की स्थिति मान ली गई थी। इस दृष्टि से कई स्थान शून्य से विशेपत सम्बद्ध माने गये थे। एक तो भ्रूमध्य मे त्रिकुटी मे शिव का स्थान या शून्य का स्थान माना गया था।

शून्य मण्डल

आकाशे यत्र शब्द स्यात्तदाज्ञाचक्रमुच्यते
तत्रात्मानम् शिवम् ध्यात्वा योगी मुक्ति मवाप्नुयात।[४५]

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानम् योगीतत्र विलीयते।[४६]

इला तथा पिंगला के मध्य मे सुपुम्ना को तथा ब्रह्मरन्ध्र को भी शून्य-नाल तथा शून्य द्वार के रूप मे परिकल्पित किया गया था और इसी को मध्य-पथ भी कहा गया था।[४७] ब्रह्मरन्ध्र को पार करने के उपरान्त कमल के मध्य मे भी शून्यमण्डल परिकल्पित किया गया था जिसके विषय मे नाथ परम्परा पर विचार करते समय हम सकेत कर चुके है। सन्तो को इन स्थानो का परिचय है ऐसा अक्सर प्रतीत होता है। दरिया साहब त्रिकुटि के मध्य मे गगन मण्डल बताते है।

ताके कहिये ज्ञान गंभीरा, त्रिकुटी मद्ध जो परखे हीरा
ताके जोग यह जगत बखाना, जाके गगन मंडल अस्थाना।[४८]

तुलमी साहव भी त्रिकुटी मे शून्य की ज्योति का वर्णन करते हैं :

सुखमनि सुन्न जोति त्रिकुटी मे तुलसि दरद दिल दृगन मिटा।[४६]

ज्ञात यह होता है कि त्रिकुटी मे शून्य को इसीलिये स्थान दिया गया कि वे परम तत्व को वौद्ध शून्य से भी ऊँचा सिद्ध करना चाहते थे। इसीलिये समाधि का स्थान सन्तो ने भँवर गुफा मे माना जो त्रिकुटी से भी ऊपर स्थित है। भँवर गुफा का धनी सूर्य है जो अधिक वलशाली है।[५०] किन्तु फिर पलटू साहिव ब्रह्मरन्ध्र रूपी गुफा का उल्लेख करते है जहाँ से अमृत झरता है 'गगन गुफा के वीच पियाला प्रेम का चाखे।'[५१] तथा ब्रह्मरन्ध्र के पार गगन-लोक के रूप मे भी शून्य का विस्तार वताते है जो सहस्रदल कमल के मध्य मे है 'कमल मध्य कस शून्य रहाऊ।'[५२]

चर्यापदो से तुलना करने पर हम यह पाते है कि सिद्धो की साधना में त्रिकुटी का विशेप महत्व नही था। महासुख कमल मे अवश्य उन्होने भगवती प्रज्ञा अथवा नैरात्मा का वास माना था और इस मध्यम पथ को वे प्रज्ञा तथा उपाय के अद्वय का सहज-पथ अथवा अवधूती पथ मानते थे। रन्ध्र को वे दशम द्वार अथवा वैरोचन द्वार कहते थे। किन्तु वाद मे सन्तो ने इस शून्य-गुफा, शून्य-मण्डल और त्रिकुटी, ब्रह्मरन्ध्र तथा सहस्रदल कमल की कल्पनाओ को इतना घुलामिला दिया है कि ऐसा लगता है कि वे इनकी वास्तविक स्थितियो को भूल गये है और केवल परम्परा निर्वाह के लिये शून्य-मण्डल, शून्य-गुफा आदि का उल्लेख मात्र कर देते हैं। यह स्थिति न सिद्धो में है, न नाथो मे, उनके सम्मुख काया में स्थित इन शून्य मण्डल या गुफादिक की स्थिति वहुत स्पष्ट है।

किन्तु यदि स्थिति के सम्वन्ध की उलझन पर हम ध्यान न दें तो हम यह देखेंगे कि आदितत्व या परमज्ञान के रूप मे सन्तो ने शून्य का जितना प्रयोग किया उससे कई गुना अधिक उन्होने हठयोग के सन्दर्भ में गुफा, महल, मण्डप या कूप आदि मे शून्य का वर्णन किया है।

कबीर : सुनि गुफा महि आसणु बैसणु कलप बिबरजित पन्था।[५३]
दादू : सुन्न सरोवर हस मन मोती आप अनन्त
दादू चुगि चुगि चच भरि यो जन जीवै सन्त।

सुन्न सरोवर मीन मन नीर निरजन देव
दादू यहु रस बिलसिये ऐसा अलख अभेव ।
सुन्न सरोवर मन भँवर तहाँ कँवल करतार
दादू परिमल पीजिए सनमुख सिरजनहार ।[५४]

नानक : सुन्नि सरोवर सुरति समानी । नानक चूकी आवन जानी ।[५५]

गुलाल : सुन्न सरोवर घाट फूल इक पाइआ ।[५६]

पलटू : उलटा कूवा गगन मे तिस मे जरै चिराग ।[५७]
सुन्न सागर भरा सत्त के नाम से तेहि के बीच मे सुरत हल्ली ।[५८]

अन्य : सबहि शून्य मंह ध्यान लगाये, स्वाति सनेह सीप ज्यो लाये ।
तबहि निरजन जतन विचारा, शून्य गुफा ते शब्द उचारा ।
ररासु शब्द उठा बहु बारा, माया अच्चर माया सचारा ।
दोउ अच्चर कह सम के राखा, रामनाम सबहिन अभिलाखा ।[५९]

इसके अतिरिक्त सन्तो ने सहस्रार के मध्य शून्य स्थान को महल, मण्डप, शिखर, नगर, हाट आदि के रूप मे इस प्रकार वर्णित किया है ।

कबीर : अरध उरध मुख लागो कासु, सुन मडल, महि करि परगासु
ऊहाँ सूरज नाही चद, आदि निरजन करे अनन्द[६०]
सुन्न मडल मे घर किया, बाजे सबद रसाल ।
रोम रोम दीपक भया, प्रगटे दीन दयाल ।[६१]
घूंघट का पट खोल रे ।
सुन्न महल मे दियना बरिले, आसा से मत डोल रे ।[६२]

मीरा : त्रिकुटी महल बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री ।
सुन महल मे सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री ।[६३]

मलूकदास : सुन्न महल की जुगती बतावे केहि विधि कीजै सेवा ।[६४]
सुन्न महल मे महल हमारा निरगुन सेज बिछाई ।[६५]

भीखा : कायागढ के गगन भवन मे धुधुकि धुधुकि धुन नाम सुनाई ।[६६]
सुन्न शिखर पर माँडी छायो, इगला पिंगला चौक पुरायो
दुलहिन नाम सेवकरि पाई, नाद बिंद बहुतै भौजाई ।[६७]

गुलाल : सुन्न नगर मे आसन पाई जगमग जोति जगावै ।[६८]
शून्य शिखर सरोज फूलो बक नालहि जाव ।[६९]

चहुँ दिसि ते घन घेरि घटा आई सुन्न भवन डरपावन।[७०]
सुन्न शिखर पर माँडो छावो सहज के रूप लगाई।[७१]
चहूँ ओरि घन घोरि घटा आयो सुन्न भवन मन भावन।[७२]
सुन्न सिखर चढि जाइब हो वाजत अनहद तार।[७३]
सुन्न भवन में मण्डप निगमे सिव अस्थान।[७४]
सुन्न सहर झकझोर सुरति ढहराया।[७५]

अन्य सुन्न मडल मे वैसि साँच सो सुरति लगावे। (हरिदास)[७६]
सुन्न कहल अस्थान है जहं इस्थिर डेरा। (गरीबदास)[७७]

इसके अतिरिक्त दो एक स्थानो मे शून्य को वाघम्बर[७८] ध्वजा[७९] थाल[८०] आदि उपमानो से चित्रित किया गया है जहाँ उसका अर्थ वहुत स्पष्ट नही है।

इन उदाहरणो के अतिरिक्त अन्य भी कितने ही स्थलो पर सन्तो ने शून्य महल, गुफा आदि का उल्लेख किया है जिनमे इन्ही भावनाओ तथा रूपको को दोहराया गया है। इनका निरीक्षण करने से हम यह देखते है कि यद्यपि इनमे से कई अप्रस्तुत तो नये है किन्तु शून्य का सरोवर गुफा आदि के रूप मे सिद्धो द्वारा भी चित्रण हो चुका है जिनमे से सरोवर का रूपक (दोहा ३) गुफा का रूपक (दोहा १४) शिखर का रूपक (दोहा २५) काण्हपा के दोहाकोष मे स्पष्ट मिलता है। नगर का भी रूपक चर्यापदो मे पद सख्या १४ मिलता है किन्तु वह शून्य न होकर 'जिनपुर' है। इसी प्रकार मण्डप तथा विवाह आदि का रूपक भी १९वें चर्यापद मे मिलता है जिसमें काण्हपा पालकी पर चढ कर परिशुद्धा वधू से विवाह करते है किन्तु इस नगर और मण्डप की कल्पना आदि के साथ शून्य का विशेषण सन्तो ने जोडा है। बाघम्बर ध्वजा, थाल आदि को उन्होने इसलिये शून्य कहा है कि परम स्वभाव के या शून्य स्वभाव के है, किन्तु इस शून्य स्वभाव के अर्थ बौद्धो की सर्व-धर्म-शून्यता नही है।

इन रूपको मे जो गौण उपमान है उनका भी अपना विशेष अर्थ है और लगभग उन सभी को सन्तो ने अपनी पूर्व परम्परा से ग्रहण किया है। वे है कमल दीपक ज्योति, नीर और मेघ। काण्हपा ने अपने दोहो में 'पोक्खर' में 'कुसुमिअ अरविन्दए' तथा 'वरगिरिकन्दर' मे 'विमल सलिले' तथा 'गअण नीर' की स्थिति मानी है।[८१] ज्योति के रूप मे प्रभास्वर शून्य की ज्योति तथा

चन्डाग्नि की ज्योति भी सिद्धो ने चर्यापदो में बराबर वर्णित की है। हम उसका चौथे अध्याय मे विस्तृत विवेचन कर चुके है। जहाँ तक मेघ का सम्बन्ध है हम देख चुके है कि चर्यापदो मे करुणा का एक अप्रस्तुत मेघ भी है। किन्तु गुलाल के दोनो उद्धरणो में मेघ करुणा के अप्रस्तुत होकर नही आये है। वे केवल भौतिक प्रकृति-गत उद्दीपन विभाव मात्र है। मेघ का करुणा वाला अर्थ सन्तो को सम्भवत ज्ञात ही नही था क्योकि प्रज्ञोपाय की मैथुन कल्पना से वे अपरिचित थे। शून्य सरोवर मे, शून्य सागर या शून्य महल आदि मे जिस सुरति की ओर सकेत है वह भी सिद्धो द्वारा वर्णित सुरत-विलास का अर्थ नही देती। उस पर हम आगे विचार करेंगे।

सन्तो ने शून्य के साथ मण्डल का प्रयोग किया है और यह मण्डल शब्द महत्व रखता है। हम पहले देख चुके है कि तन्त्रो मे 'मण्डल' अनुष्ठानो का एक आवश्यक अग था और गुह्य साधनाओ मे मण्डल चक्र के अनुष्ठानो से ही साधक को दीक्षा दी जाती थी। वाद मे यह भी माना जाने लगा कि उत्तम मण्डल स्वत तथागत और उनकी शक्ति का युगनद्ध मण्डल है। अनुत्तर साधना मे यह भी मान लिया गया था कि सहज अथवा अनुत्तर की उपलब्धि के उपरान्त साधक बाह्य मण्डल कर्मों से विमुक्त होकर स्वत अपनी काया मे शून्य तथा वज्र का युगनद्ध सम्पन्न कर घर मे ही मण्डल स्थापित करता है।

जिम जल माझ चन्द सहि णउ सो सा सुणमीच्छ
णाउ सो मण्डल चक्क सुणण सहावे स्वच्छ।[८२]

यह मण्डल-कर्म पवन के निरोध से सम्पन्न होता था। जब सन्त शून्य-मण्डल अथवा गगन-मण्डल की बात करते है तो वे उसी परम्परा का अनुष्ठान करते हैं, यद्यपि वे उसके पुराने अर्थों का तिरस्कार कर चुके है और शायद इस मण्डल शब्द की तान्त्रिक परम्परा को विस्मृत भी कर चुके है।

एक महत्वपूर्ण तथ्य इन उद्धरणो मे और मिलता है। सिद्धो की योग-पद्धति मे बीज रूप मे 'एव' को ग्रहण करने का आदेश मिलता है। यह एव किस प्रकार शून्य और करुणा के युगनद्ध का द्योतक है इस पर हम प्रकाश डाल चुके है। किन्तु सन्तो ने शून्य गुफा में ररंसु 'रा' तथा 'म' माया का द्योतक के उदय की ओर सकेत किया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि उन्होने शून्य को अप-

शून्य की हिन्दू दीक्षा

नाते हुए भी उसे हिन्दू परम्परा से अलग करके नही माना था। वे बौद्ध परम्परा से उसे अलग कर परिशोधित कर चुके थे और उसे निर्गुण राम की साधना मे अंतर्भुक्त कर चुके थे। इसलिये कही-कही उन्होने शून्य सरोवर मे राम-रसायन की स्थिति मानी है।[८३] सिद्धो ने शून्य मे वज्र की स्थिति मानी थी। किन्तु सन्त वज्र को उस रूप मे विस्मृत कर चुके थे। सन्तो ने शून्य-महल मे राजाराम का प्रवेश माना या शिव का वास माना। इस प्रकार उनका शून्य जो काया मे मध्यपथ के रूप मे या अमृत गुफा के रूप मे स्थित था, बाह्य सृष्टि-योजना में वही शून्य शिव का परम लोक मान लिया गया।

नानक—सम्भू की नगरी सुन्न ते होई। नानक जो वसे सो जोगी होई।
सम्भू की नगरी सुन्न परगासी। को जोगी बसै अतीत उदासी।[८४]
कहँवा सिव कर आसन, कहँवा सिव कर ध्यान।
कहँवा सिव कर मण्डप, कहँवा सिव कर अस्थान।
अगमे सिव कर आसन, सक्तिहि सिव कर ध्यान।
सुन्न भवन मे मण्डप, निगमे सिव अस्थान।[८५]

कवीर-पन्थ के साम्प्रदायिक ग्रथो मे इस परम लोक या परम नगर के रूप मे शून्य की कल्पना का बहुत विकास हुआ जिसके विस्तार मे अधिकतर निरर्थक कल्पनाएँ ही अधिक मिलती है। किन्तु एक महत्वपूर्ण तथ्य अवश्य ज्ञात होता है। जिस प्रकार परम-तत्व के रूप मे शून्य बाद मे तिरस्कृत हो कर केवल गौण तत्व मान लिया गया था उसी प्रकार परम-लोक के रूप मे भी शून्य का बाद मे तिरस्कार हुआ। निरजन बोध मे निरजन देवता का वास शून्य मे माना गया है और यह सहज शून्य, सात द्वीप, नौ खण्ड, सात पाताल और इक्कीस ब्रह्माण्डो से भी परे माना गया है।

सप्त द्वीप पृथ्वी नौ खण्डा सप्त पाताल इक्कीस ब्रह्माण्डा।
सहज सुन्न मे कीन्ह ठिकाना, काल निरंजन सबही ने माना।[८६]

बाद में निरजन पराजित होकर गौण देवता रह गया और सत्यपुरुष को सर्वोच्च पदवी दी गई तब शून्य-लोक भी परम-लोक के पद से च्युत हो गया। परम-लोक और शून्य लोक की कल्पना शून्य से भी परे की गई।

सुन्न के परे पुरुष को धामा, तहं साहब है आदि अनामा।[८७]

किन्तु कबीर-पन्थ मे जहाँ पद और श्रेष्ठता की दृष्टि से शून्य की कल्पना में ह्रास हुआ है, वहाँ उसके विषय तथा संख्या का विस्तार भी हुआ है। संख्या

के विस्तार पर हम अलग विचार करेंगे किन्तु जहाँ तक विपय विस्तार का सबध है, दो एक रोचक तथ्य हमे अवश्य मिलते हैं।

'आगम निगम बोध' मे जहाँ नव लोको का वर्णन है वहाँ भूलोक, भुव लोक, स्व लोक तथा पितृलोक के उपरान्त शून्य लोक का वर्णन मिलता है।[८८] उसके बाद जम्बू, शाक, क्रौच, कुशा, शलमल्य, प्लक्ष तथा पुष्कर आदि सात द्वीपो के उपरान्त दश कोटि योजन तक कचन भूमि का वर्णन है जिस पर लोकालोक नामक पर्वत है।[८९] 'श्वास गु जार' मे जम्बू द्वीप के निकट ही सहज-शून्य नामक लोक का वर्णन मिलता है जिसमे सहज का वास है और सहज वास्तव मे काल-पुरुष का ही पर्याय है।[९०] इसी प्रकार शून्य डोर[९१] तथा शून्य सुरत[९२] का भी उल्लेख मिलता है। इसी शून्य शृ खला मे शून्य का विस्तार दो पलग (दो विश्व) के बराबर बताया गया है।[९३] इस पलग का अर्थ पर्यंक है या पालग (पलका, एक विश्व का विस्तार), यह स्पष्ट नही होता। किन्तु उसका अर्थ पर्यक प्रतीत होता है क्योकि उसी प्रसग में नारी या शक्ति का भी उल्लेख है। यह पर्यंक की कल्पना भी हमे शबरपा के चर्यापद मे मिलती है जहाँ वे शबर बालिका से समागम के लिये वज्र पर्यंक विछाते है। किन्तु यहाँ पर ज्ञात होता है कि पलग तथा पलका की कल्पनाओ का सम्मिश्रण हो गया है।

जहाँ तक सख्या की दृष्टि से शून्य के विकास का सम्बन्ध है, सन्त साहित्य मे शून्य की स्थिति बहुत बदल गई है। हम पहले इस बात पर विचार

शून्यो के भेद सख्या तथा रग

कर चुके है कि वज्रयानी साहित्य मे चार प्रकार के शून्य माने गये है शून्य, अतिशून्य, महाशून्य तथा सर्वशून्य। पहला शून्य प्रज्ञा है, दूसरा वज्र है, तीसरा प्रज्ञोपाय युगनद्ध है तथा चौथा सर्वशून्य है। इसी को कान्हपा ने अपने दोहकोप मे शून्य कमल की ४ पाखुरियो के रूप मे वर्णित किया है। वास्तव मे साधना-पद्धति में केवल प्रथम तीन शून्यो को पार करना पडता है, चतुर्थ शून्य तो उपलब्धि है जैसा शबरपा के (५०वें) चर्यापद की टीका मे मुनिदत्त ने भी सकेत किया है।

चार शून्यो की यह कल्पना हिन्दू हठयोग पद्धति मे भी ग्रहण की गई

थी। किन्तु प्रज्ञा तथा उपाय की बौद्ध भावना का तिरस्कार कर उन्होंने शून्य और शब्द का एकात्म सिद्ध किया था अत हठयोग-प्रदीपिका मे शून्य, अतिशून्य तथा महाशून्य को तीन प्रकार के शब्दो का विशेषण मान लिया गया था। शून्य वह शब्द है जो हृदाकाश मे उत्पन्न होता है कि जिस समय साधना की आरभिक अवस्था होती है। इसको आरभ अवस्था कहा गया है और इस अवस्था मे ब्रह्म-ग्रन्थि का छेदन होता है। द्वितीय अवस्था घटावस्था है जिसमे विष्णु-ग्रन्थि का जालन्धरबन्ध द्वारा छेदन होता है। इस समय विशुद्धाकाश मे, कण्ठ स्थान मे अतिशून्य शब्द उत्पन्न होता है। तृतीय अवस्था परिचय अवस्था है जिसमे भ्रूमध्याकाश में महाशून्य शब्द की उत्पत्ति होती है। इन समस्त अवस्थाओ को केवल एक श्री गुरुनाथ मात्र जानते है।[६४]

नाथ-पन्थ की जो बानियाँ अभी तक उपलब्ध है उनमे इन चार शून्यो का विशेष विवरण नही है। केवल कु भरी पा के विराट-पुराण मे परम शून्य, अर्धशून्य, पचमी शून्य आदि का कुछ अस्पष्ट उल्लेख है जिससे कुछ विशेष अर्थ भी स्पष्ट नही होता है।

पर्म्म शून्य च रमत्ते जोगी।
चोषटि दल कमल, कमल मध्ये श्री गोरखनाथ देवता।
चतुर्दलम् कालम् च ऊरध क
अर्थ सून्य मध्ये खेचरो मुद्रा वसते
पचमी निरालम्भव सून्य मध्ये उनमनी मुद्रा वसते....[६५]

इन पक्तियो मे कई प्रकार के शून्य और विभिन्न शून्यो से विभिन्न मुद्राओ और कमलो का कुछ सम्बन्ध तो अवश्य प्रतिभासित होता है किन्तु हठयोग-प्रदीपिका मे स्वीकृत शून्य, अतिशून्य तथा महाशून्य की पद्धति से कु भरीपाव बहुत परिचित नही ज्ञात होते। राग रामग्री के एक पद में सुनार का रूपक बाँध कर स्वर्ण विशोधन को प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए अवश्य तीन शून्यो के रहनी के उपरान्त चतुर्थ शून्य 'सहज' मे समाने की साधना का उल्लेख आया है जो हठयोग-प्रदीपिका के चार शून्यो के अनुसरण मे है।

अरधै सोना उरध सोना, मध्ये सोन सोना
तीनि सुन्य की रहनी जानै ता घटि पाप न पुना
आपे गोरख जोपण बैठा तब सोना सहज समाना

सन्तो मे से कुछ ने शून्य, अतिशून्य तथा महाशून्य की हठयोग-प्रदीपिका

में वर्णित पद्धति को अवश्य ग्रहण किया है। विशेषत राधास्वामी मत के प्रवर्तक सन्त शिवदयाल स्वामी जी महाराज ने इन चार शून्यो की कल्पना से प्रभावित होकर त्रिकुटी स्थान मे भँवर गुफा के तनिक नीचे दो प्रकार के शून्यो के अस्तित्व का वर्णन किया है। पहले साधक गगन मण्डल का ताला खोल कर शून्य शिखर के मन्दिर मे झाकता है। वही मानसरोवर की निर्मल धारा है। उसके बाद भँवर गुफा के प्रवेश स्थान पर महाशून्य का थाना है जिसे तोड कर साधक भँवर गुफा मे प्रवेश पा सकता है।

सुन्न सिखर का मन्दिर झाके अद्भुत रूप दिखावे।
महासुन्न का नाका तोडे भँवर गुफा ढिग जावे ॥[६६]

उन्ही का अनुसरण करते हुए उनके उत्तराधिकारी हुजूर महाराज साहेब सन्त सालिगराम भी शून्य तथा महाशून्य के परे परम तत्व की स्थिति बताते हैं।

सुन्न और महासुन्न के पारा निरखा सूरज सेत स्वरूप।
सत्त पुरुष का दर्शन करके पहुँची राधास्वामी धाम अनूप ॥[६७]

त्रिकुटी मे जिस महाशून्य की स्थिति मानी जाती थी उसे तो इन्होने नही माना किन्तु हृदाकाश, विशुद्धाकाश और ब्रह्म-ग्रन्थि तथा विष्णु-ग्रन्थि आदि की कल्पनाएँ इन सन्तो ने विस्मृत कर दी है।

किन्तु इनके बहुत पहले दादू ने इन चारो शून्यो को एक नये रूप मे स्वीकृत किया था। उन्होने काया शून्य, आत्मशून्य, परम शून्य तथा सहज शून्य, इन चार शून्यो का वर्णन किया है जिनमे से पहले तीन सगुण तथा साकार है और अन्तिम शून्य निर्गुण तथा निराकार है।

तीनि सुन्नि साकार की चौथी निरगुण नाम
सहजै सुन्नि मे रमि रह्या, जहाँ तहाँ सब ठाम ॥
काया सुन्नि पच का बासा, आतम सुन्नि प्राण परगासा
परम सुन्नि ब्रह्म सौ मेला, आगे दादू आप अकेला।
सहज सुन्नि सब ठौर है, सब घर सब ही माँहि
तहाँ निरजन रमि रह्या, कोई गुण व्यापे नाहि ॥[६८]

कायाशून्य, आत्मशून्य तथा परमशून्य दादू की निजी कल्पना प्रतीत होती है जिसका आधार सिद्धो की नाथ सम्प्रदाय तथा हठयोग पद्धति द्वारा पूर्वागत चतुर्शून्य कल्पना है। किन्तु एक महत्वपूर्ण तथ्य यह अवश्य है कि इन

चारो शून्यो के लक्षण सिद्धो के चार शून्यो से अवश्य बहुत मिलते-जुलते हैं। वज्रयान मे प्रथम शून्य को सम्वृत इन्द्रिय-ज्ञानयुक्त माना था, दादू ने भी उसमे पचेन्द्रियो का वास माना है। द्वितीय शून्य उसमे आलोकरूप वज्र माना गया है, यहाँ भी वह प्राण-प्रकाश से युक्त है, तृतीय शून्य प्रज्ञा तथा उपाय के युगनद्ध का द्योतक माना गया था। यहाँ भी तृतीय परम शून्य मे ब्रह्म से मिलन माना गया है और उसके उपरान्त सहज-शून्य है जो परम तत्व है। इस प्रकार दादू के चार शून्यो की कल्पना विचित्र ढग से सिद्धो की कल्पना के बहुत निकट जा ठहरती है। पीछे हमने शून्य की हिन्दू दीक्षा की ओर सकेत किया है। दादू ने भी अपने चतुर्थ तथा सर्वोपरिशून्य को ब्रह्मशून्य की संज्ञा दी और उसे निरजन ब्रह्म का ही पर्याय मान लिया।

ब्रह्म सुन्न तहँ ब्रह्म है निरंजन निराकार।
नूर तेज तहँ ज्योति है, दादू देखनहार ॥[९९]

बाद में कबीर-पन्थ के साम्प्रदायिक साहित्य में शून्य की संख्या मे कल्पनातीत वृद्धि हुई है। कबीरबानी मे पहले सात की सख्या को महत्व दिया गया है और सात कमल, सात सुरति तथा सात शून्य परिकल्पित किये गये हैं, ये कुल मिलाकर २१ ब्रह्माण्ड होते है और वे इक्कीसो ब्रह्माण्ड निरजन ज्ञान से भरे हुए हैं।

सात शून्य का सकल पसारा। सात शून्य ते कोई न न्यारा।
सप्त कमल, अरु शून्य सत, सात सुर्त स्थान।
इक्कीसो ब्रह्माण्ड मे आप निरजन ज्ञान ॥[१००]

किन्तु इन सात शून्यो का कोई लक्षण नही बताया गया है और इस सख्या-वृद्धि के पीछे कोई विशेष सकेत न होकर केवल सख्या-प्रेम ज्ञात होता है क्योकि बैकुण्ठ के विस्तार मे १८ करोड शून्यो की शृङ्खला का वर्णन मिलता है और मुक्ति के भी आगे जो अनहद ज्योति का स्थान बताया गया वह असख्य शून्य का विस्तार बताया गया है और तब असख्य शून्य परिकल्पित किये गये।[१०१] कुछ इन्ही शून्यो की तुलना मे बेशून्य भी कल्पित किये गये। अन्त मे इन सबो को पूर्वोक्त सात शून्यो मे ही समाहित करने का प्रयास किया गया और उसकी गणना इस प्रकार बताई गई।[१०२]

असख्य शून्य ४ + बेशून्य २ + शून्य १ = ७ शून्य

ये सात शून्य, सूर्य की किरणो के सात रगो से समन्वित कर दिये गये और अखिल सृष्टि उन्ही रगो का प्रसार मान ली गई। 'सात सुन्न हैं सातौ रंगा उठत तान बहु ताना।'[१०३] कुछ रग थे 'शून्य स्वेत पीत सब्ज लाल दिखाय रग जगाल हो।'[१०४]

शून्य का तिरस्कार

इस प्रकार हम देखते है कि धीरे-धीरे शून्य का ज्ञानपरक और तात्विक अर्थ भुला दिया गया और वह केवल एक निरर्थक पौराणिक कल्पना मात्र बन कर रहा गया। रैदास ने इस शून्य चेतना द्वारा मन के शोधन का उपदेश दिया था। 'हम मानो अखिल सुन्न मन सोध्यो सब चेतन सुधि पायी।'[१०५] किन्तु बाद मे वह केवल एक रूढ सज्ञा मात्र रह गया। अपना समस्त तात्विक अर्थ खो बैठा और बैकुठ आदि की उन कल्पनाओ का वाहक बना जिनके प्रति कबीर ने विद्रोह किया था तथा उनकी निन्दा की थी जो रामभक्ति से विहीन केवल शून्य का आश्रय लिये बैठे थे।

मनमथ मरै न जीवई जीवहिं मरन न होय।
सुन्न सनेही राम बिनु चलै अपन पा खोय।[१०६]

कबीर के पहले सिद्धो ने भी शून्य, केवल शून्य की निन्दा की है, किन्तु जैसा हम देख चुके है कि उसका कारण यह था कि वे महायान के अनुयायी थे जिसमे शून्य से भी अधिक करुणा को भी महत्व दिया गया था और जब तक चित्त करुणा से समन्वित न हो तब तक साधक प्रत्येकयान या श्रावकयान मे ही गिना जाता है, महायान मे नही। इसीलिये निष्करुण शून्य को सरहपा ने त्याज्य बताया था और कहा था कि बिना विषयो की विशुद्धि के निष्करुण शून्य मे विचरण करने वाला मन जहाज के काग की तरह पुन-पुन भव मे गिरता रहता है।

विसअ विसुद्धे णउ रमइ केवल सुण्ण चरेइ
उड्डी वोहिअ काउ जिम पलुहिअ तिह वि पडेइ॥[१०७]

इस प्रकार हम देखते है कि शून्य को करुणा से सयुक्त करने का आग्रह कबीर मे शून्य को भक्ति (रामभक्ति) से समन्वित करने के आग्रह मे बदल गया।

तब तक करुणा की कल्पना और उसके प्रज्ञोपायार्थ विस्मृत किये जा चुके थे। अन्ततोगत्वा राम की भक्ति ने शून्यता ज्ञान के महत्व को आच्छादित कर लिया। भक्ति प्रमुख हो गई, शून्य गौण। इसीलिये सन्तो ने यह स्पष्ट कहा :

सुन्न सुन्न सब करै पुकारा, सुन्न न होखहि हंस उबारा।
सुन्न न धरती सुन्न न पानी, सुन्न कतहि नहि देखिय ज्ञानी।[१०८]

क्योकि केवल शून्य परमार्थ नही है, परमार्थ हरि भक्ति तो कुछ और है जिसके विना शून्य को भी रैदास ने भ्रमात्मक बताया है।

भरम तौ लो जानिये सुन्न की करै आस।[१०६]

सहज-शून्य

इसी शून्य को सन्त कही-कही सहज विशेषण से भी जोड देते हैं और हमे यह देखना है कि सहज उपाधियुक्त शून्य से उनका क्या तात्पर्य था। शून्य के चार प्रकारो पर विचार करते समय हम यह देख चुके है कि सिद्ध सहज-शून्य चतुर्थ शून्य को कहते थे जो परम अवस्था है, परम तत्व है जिसमे प्रज्ञा तथा उपाय का पूर्ण अद्वय हो जाता है और किसी प्रकार की द्वैत-सीमा उसे आबद्ध नही करती। उसी को मध्यस्थिति या मध्यमार्ग भी कहा गया था क्योकि इसमे साधक प्रज्ञा या उपाय इन दोनो मे से किसी एक को नही ग्रहण करता दोनो का अद्वैत या युगनद्ध सम्पन्न कर लेता है। केवल मात्र शून्य से यह स्थिति अधिक ऊँची है क्योकि इसमें वज्रयोग द्वारा प्रज्ञा तथा उपाय की द्विविधा नष्ट हो जाती है।

नाथ योग-पद्धति मे प्रज्ञा तथा उपाय की बौद्ध भावना का तिरस्कार किया जा चुका था किन्तु त्रिकुटी मे शून्य-समाधि द्वारा मन को प्रसन्न बनाने और अमृतपान कर चित्त को दृढ और काया को अमर बनाने की कल्पना चली आ रही थी। गोरखबानी में कुछ पक्तियाँ ऐसी मिलती हैं जिनमे शून्य से ऊपर सहज-शून्य की कल्पना की गई है और यह बताया गया है कि केवल मात्र शून्य मे तो आवागमन (आना जाना) लगा ही रहता है किन्तु जिस शून्य मे चित्त समाकर स्थिर हो जाता है वह सहज-शून्य है।

गोरख मछीन्द्र से पूँछते है—स्वामी कैसे आवै कैसे जाइ, कैसें चीया रहै समाइ
कैसे मन तन सदा थिर रहै, सतगुरु होइ सो बूझया कहै।
तो मछीन्द्र उत्तर देते है—अवधू, सुने आवै सुने जाइ, सुने चीया रहै समाइ
सहज-सुनि तन मन थिर रहै, ऐसा बिचार मछिन्द्र कहै।[110]

यद्यपि इस स्थल पर शून्य और सहज-शून्य के अन्तर को बहुत स्पष्टता से नही रक्खा गया है किन्तु शून्य के साथ आने जाने (आवागमन) की कल्पना तथा सहज शून्य में तन-मन की स्थिरता का उपदेश कर मछीन्द्र ने सहज-शून्य को केवल शून्य से श्रेष्ठ सिद्ध किया है, यद्यपि इसमें प्रज्ञोपाय के सहज (युगनद्ध-जनित) अद्वैत का कोई उल्लेख नही है।

दादू की बानी में सहज-शून्य की कल्पना अधिक स्पष्ट है जिस पर हम पीछे विचार कर चुके है। वे तृतीय शून्य में ब्रह्म तथा जीव का मिलन मानते है जो प्रज्ञा तथा उपाय के मिलन की ही समानान्तर भावना है। सहज-शून्य मे तत्व अकेला रह जाता है। वही परम तत्व है, मध्यमार्ग है।

'सहज सुन्न मन राखिये इन दून्यू के माँहि।'[111] और इस पथ में चित्त को दादू ने निराधार कहा है—'निराधार मन रहि गया आतम के आनन्द।'[112] और यह निराधार विशेषण भी सिद्धो के निरालम्ब विशेषण का ही प्रतिरूप है—'सोहिअ चित्त निराल दिएणा।' इसमे आवागमन भी समाप्त हो जाता है—'दुइ बिच राम अकेला आपै आवण जाण न देई'। जो वास्तव मे सिद्धो के इस कथन की प्रतिध्वनि है—'जेण तुटअ अवणा गवणा।' (चर्यापद २१)

किन्तु अन्य सन्तो के सम्मुख केवल शून्य तथा सहज-शून्य का यह भेद इतना स्पष्ट नही था। इसलिये उनकी बानियो मे हमे दोनो प्रकार के स्थल मिलते है। जहाँ उन्होने सहज और शून्य मे थोडा अन्तर माना है, और ऐसे भी स्थल मिलते है जहाँ सहज-शून्य का प्रयोग सर्वोपरि शून्य के रूप में किया गया है किन्तु शून्य और सहज-शून्य की अन्तर-रेखा उतनी स्पष्ट नही है। इसी कारण कुछ उलझनें भी पैदा होती हैं जिनकी ओर द्विवेदी जी ने सकेत किया है।[113]

जहाँ तक कबीर का प्रश्न है उन्होने अधिकतर सहज-शून्य को परम तत्व या परम ज्ञान के ही अर्थ मे प्रयुक्त किया है—

उलटि जाति कुल दोउ बिसारी। सुन्न सहज महि बुनत हमारी।[११४]
नहिं जल नहिं थल नहिं थिर पवना। को धरे नाम हुकुम को बरना॥
नहिं कुछ होत दिवस अरु राती। ताकर कहहुँ कवन कुल जाती॥
सुन्न सहज मन सुमिरते प्रगट भइ एक जोति॥[११५]

यहाँ पर कबीर ने सहज-शून्य को सर्वोपरि शून्य (परमतत्व) के अर्थ मे प्रयुक्त किया है, यद्यपि वे शून्य के चार विभेद और प्रथम तीन शून्यो से सहज-शून्य की श्रेष्ठता के सिद्धात से परिचित थे, इसका कोई भी आभास नही मिलता। अन्य कुछ स्थलो पर गुलाल साहब का भी एक ऐसा पद मिलता है जिसमे सहज-शून्य का परमतत्व के रूप मे चित्रण है।

मन सहज सुन्न चढि कर निवास
रूपरेख तँह जाँति पाँति नहिं छय अमूरति करत बास
कह गुलाल तह मारयो बानी, घर आयो मन सहजे मारि॥[११६]

इस पद में एक बात अवश्य ध्यान देने को है। अंतिम पक्ति मे मन को सहज पद्धति द्वारा मारने का सकेत है और तब घर (सहज-शून्य) मे आने का विवरण मिलता है। अर्थात् सहज पद्धति है, शून्य उपलब्धि। उसी पद्धति के कारण इस शून्य को सहज-शून्य कहा गया है। इसी को काण्हपा ने 'चिअ सहजे सूण सम्पुण्णा' (पद ४२) कहा है, किन्तु काण्हपा सहज से जो प्रज्ञोपाय अद्वैत का अर्थ लेते हैं वह सन्तो तक आते आते लुप्त हो गया है, किन्तु सहज द्वारा शून्य मे समाया जाता है—यह सन्तो को याद रह गया था। यह उन्होने अपनी गुरु परम्परा से पाया था—'जन गुलाल सतगुरु को चेला सहजहि सुन्न समावे।'[११७] यहाँ भी शून्य के साथ सहज शब्द का ऐसे प्रयोग किया गया है कि दोनो में एक क्षीण अन्तर ध्वनित अवश्य होता है यद्यपि उसका स्पष्ट विवेचन नही मिलता। एक स्थल पर यदि शून्य नगर है तो सहज उसमे स्थित घर।[११८] दूसरे स्थल पर उसी अद्भुत शून्य नगर मे सहज को ध्वनि रूप मे परिकल्पित किया गया है।[११९] पलटू वीतरागी उसे बताते है जो शून्य समाधि में ध्यानमग्न होकर सहज का ध्यान करे —

शून्य समाधि मे ध्यान को लाइ कै, सहज का ख्याल सोई वीतरागी।[१२०]

सहज शून्य का एक दूसरा रोचक प्रयोग कबीरपन्थी साहित्य में मिलता है। यह सहज शून्य परम-पद था, 'घर' माना गया था जहाँ जीव द्वैत से मुक्त होकर निरजन रूप मे पहुँचता है। किस प्रकार इस निरजन के साथ देवता की भावना जुडी और कालान्तर मे साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण निरजन को नीचा सिद्ध किया गया इस पर काफी प्रकाश डाला जा चुका है। (द्विवेदी-कबीर) सहज-शून्य मे निरजन मन की स्थिति मानी गई थी अत सहज-शून्य निरजन देव का लोक माना गया—

सहज सुन्न मे कीन्ह ठिकाना, काल निरजन सबही ने माना।[१०१]

और बाद मे तो निरजन, कालनिरजन होकर लोक को त्रासदायी हो गया। पल भर मे सहज-शून्य लोक से जम्बू द्वीप मे आकर साधको को सहज रूप धारण कर भ्रम मे डालने लगा। सहज के साथ साधको की साधना मे वायु-व्याधा डालकर चन्द्र सूर्य के मिलन से प्राप्त होने वाले अमृत को अशुद्ध करने लगा और इस प्रकार वह सहज-शून्य जो परम तत्व था, परम पद था धीरे धीरे वह साधना मे बाधक माना जाकर तिरस्कृत कर दिया गया।

वज्र

सिद्धो की साधना में शून्य का पूरक-तत्व वज्र था जो पुरुषरूप मे बोध-चित्त मे जाग्रत होकर नैरात्मज्ञान मे लीन होने के लिए अग्रसर होता था। यह मणि, अश्म तथा अस्त्र के वैदिक अर्थों का परित्याग कर किस प्रकार वज्रयान मे परम-तत्व का अर्थ देने लगा था और सिद्धो ने अपनी प्रज्ञोपाय साधना मे किस प्रकार इसे पुरुष, पति या उपाय से समन्वित कर वज्रास्त्र योग या कुलिश-कमल योग की साधना का उपदेश दिया था, इस पर हम विस्तार मे विचार कर चुके है। किन्तु परवर्ती सम्प्रदायो के साहित्य मे यह वज्र बिल्कुल विस्मृत कर दिया। नाथो की अद्यावधि उपलब्ध बानियो मे कही भी वज्र का उल्लेख नही है। हठ-योग-प्रदीपिका मे भी शून्य का वर्णन तो है किन्तु वज्र वहाँ भी भुला दिया गया है। इसका एक प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि वज्रयान मे वज्र को जो प्रमुखता मिली थी, बाद के सहजाम्नाय तथा कालचक्र-पद्धति मे उसमें

थोडा ह्रास हुआ। बाद मे वज्र के साथ मुद्रामैथुन साधनाओ का जो विशेष सम्वन्ध रहा उसके कारण शुद्धतावादी गोरखपन्थी योगियो ने इसको विशेष आदर नही दिया। किन्तु फिर भी एक विचित्र ढग से यह परवर्ती साधनाओ मे वचा रह गया।

वज्रयानी योग की शव्दावली ब्रह्म मे रन्ध्र को दशमद्वार या वैरोचन द्वार कहते थे। नाथ तथा सन्त परम्परा मे त्रिकुटी मे शून्य-मण्डल या शून्य महल की कल्पना की गई थी, जिस पर हम विचार कर चुके है। उस शून्य-मण्डल के समीप यह दशमद्वार स्थित है और उस द्वार में जो कपाट लगे हुए है वे वज्र-कपाट है।

कवीर—धरे ध्यान गगन के माहि लाये वज्र किवार
देखि प्रतीमा आपनी तीनिउँ भये निहाल।[१२३]
नानक—अउघट घाट विपम है बाट। गुरुमुख खोले वज्र-कपाट॥[१२४]
भीखा—जडि ताला वज्र-कपाट को तह वैठे आतमराम।[१२५]

इस दशम द्वार के कपाटो का उल्लेख गोरखवानी मे भी है किन्तु इसमे 'वज्र' विशेपण नही है।

दसवें द्वारे देइ कपाट, गोरख षोजी और बाट।[१२५]

सन्तो ने कपाट के साथ वज्र विशेषण का प्रयोग तो अवश्य किया है किन्तु वे सिद्धो की वज्र-कल्पना को भूल चुके थे और वज्र के अर्थ यहाँ 'दृढ' और अटूट ही है।

सूफी साहित्य मे वज्र का प्रयोग कई रूपो मे मिलता है। वे इस वज्र कपाट की कल्पना से तो परिचित थे ही, जैसा जायसी की निम्न पक्तियो से प्रगट है

पवरी नवौ वज्र कै साजी, सहस-सहस तहं बैठे पाजी
नवौ खण्ड नव पवरी औ तहं वज्र-केवार[१२६]

किन्तु इसके अतिरिक्त वज्राग्नि का उल्लेख भी पद्मावत मे प्राप्त होता है। यह वज्राग्नि सम्भवत नाथयोगियो की ब्रह्माग्नि तथा चर्यापदो की चण्डाग्नि की ही भाँति सुषुम्ना या अवधूत मे प्रज्वलित होने वाले आलोक का ही दूसरा नाम मालूम होता है। यह वज्राग्नि पद्मावात मे आकर प्रेम की विरहाग्नि

के रूप मे परिणत हो गई और उसका सम्बन्ध हनुमान द्वारा लका मे लगाई हुई आग से भी जोड दिया गया—

विरह आगि वज्रागि असूझा, जरै न सूर वुझाए वूझा
तेहि के जरत उठै वज्रागी, तीनौ लोक जरै तेहि आगी
अबहुँ की धरी चिनगि तेहिं छूटहिं, जरि पहार पाहन सब फूटहिं
देवता सबै भसम भये जाहिं, छार समेटे पाउब नाही
धरती सरग होहि सब ताता, है कोई एहिं राख विधाता
मुहमद चिनगी अनग की सुनि महि गगन डेराइ
धनि विरही औ धनि हिया जेहि सब आग समाइ।[127]

'मृगावती' में सिद्धो के वज्र-चित्त से बहुत कुछ मिलता जुलता हुआ शब्द वज्र-करेजा का भी प्रयोग मिला है और प्रसग से यह ज्ञात होता है कि 'वज्र-करेजा' के अर्थ केवल दृढ हृदय नही वरन् 'योग में प्रवृत्त होने वाला चित्त' है।

कीगरी लिये वियोग बजावइ। सभही सुन वोही देषइ आवइ।
सुन वियोग सबही एन बोला। भाइहु राग आसन हरि डोला।
जेइरे सुनीउ से भुलीउ चित न रहीउ काहि
वज्र करेजा जाहि कर, भावयोग उर ताहि ॥[128]

किन्तु इस प्रसग में भी सिद्धो का बौद्ध अभिप्राय अर्थात् 'करुणा या उपाय समन्वित चित्त' न लिया जाकर केवल योग-प्रवृत्त चित्त मात्र माना गया है और इसका बौद्ध अर्थ कुतुबन के सामने स्पष्ट था, इसका कोई प्रमाण नही है। पद्मावत मे एक स्थान पर आठ वज्रो का उल्लेख है।[130] किन्तु गुह्य-समाज-तन्त्र के वज्र-चतुष्टय अथवा चर्यापदो के काय वाक् चित्त तथा ज्ञान वज्र से इन आठो वज्रो का कोई सम्बन्ध नही ज्ञात होता। एक स्थान पर जायसी ने सृष्टि के निर्माण का वर्णन करते हुए शून्यत्व के बाद वज्र-बीज का उल्लेख किया है जिससे यह ज्ञात होता है कि वज्र की बौद्ध कल्पना किसी न किसी रूप मे उस समय भी जीवित अवश्य थी—

सरग न धरति न खभमय बरह्म न बिसुन महेश
बजर-बीज बीरौ अस ओहि न रग न भेस ॥[131]

किन्तु चित्त के लिये वज्र के पर्याय मणि या चित्त के लिए वज्रयान के पहले से भी होता आया किन्तु वज्रयान मे इसको एक विशिष्ट साम्प्रदायिक अर्थ

दिया जाने लगा था। सिद्धो की साधना मे प्रज्ञोपाय योग या सहज साधना द्वारा चित्त को मणि अथवा हीरा बनाने का आदेश मिलता है। सन्त वज्र के या मणि के उस अर्थ को तो भूल चुके थे किन्तु सहज पद्धति के साथ चित्त को मणि अथवा हीरा बनने की प्रक्रिया उनकी परम्परा मे अवशिष्ट रह गई थी और कई स्थानो पर सहज और तत्व रूपी मणि का एक साथ प्रयोग सन्तों के साहित्य मे मिलता है—

कबीर—हीरै हीरा बेधि पवन मनु सहजे रहिआ समाई
सगल जोति इन हीरैं बेधी सतिगुर बचन मै पाई।
हरि की कथा अनाहद बानी
हसु हुइ हीरा लेइ पछानी॥
कहु कबीर हीरा अस देखिओ जग मह रहा समाई
गुपता हीरा प्रकट भईयो जग गुरु गाम दिआ दिखाई।[१३२]
रैदास—पीवत डाल फूल फल अम्रित, सहज भई मति हीरा।[१३३]

इन सन्तो ने वज्र का बौद्ध अर्थ भुला दिया था, किन्तु कुछ उल्लेख ऐसे मिलते है। किसी न किसी रूप मे वज्र-योग की पद्धति अवशिष्ट थी और कुछ ऐसे योगी थे जो अपने को वज्र-यति कहा करते थे। वे सम्भवत गृहस्थ और विवाहित भी होते थे और वज्रयानियो की ही किसी अवशिष्ट शाखा के अन्तर्गत माने जाते थे। ऐसे ही वज्रयोगियो पर बालानाथ के नाम से प्राप्त एक बानी में बडा तीव्र व्यग मिलता है—

पहिली कीए लडका लडकी, अबही पन्थ मे पैठा
बूढे चमडे भसम लगाई, वज्र-जती ह्वै बैठा॥[१३४]

खसम

सन्तो के साहित्य मे जो शब्द सिद्ध-साहित्य से आये है उनमे अर्थ-विकास की दृष्टि से सम्भवत 'खसम' शब्द सबसे अधिक रोचक है, इस तथ्य की ओर द्विवेदी जी पहले ही सकेत कर चुके है।[१३५] सिद्धो की साधना पर विचार करते समय हम यह देख चुके है कि बोधिचित्त की साधना मे सिद्ध मन को शून्य

या खसम स्वभाव धारण करने का अभ्यास करते थे। मन स्वत शून्य रूप होकर शून्य में या 'ख' मे मिल जाता है। सरहपा कहते हैं—

सव्वरूअ तहिं खसम करिज्जइ, खसम सहावें मणवि धरिज्जइ ॥[१३६]

भगवती प्रज्ञा का स्वरूप भी खसम है—

मणह भअवा खसम भअवइ
दिवा रात्ति सहजे रहिअइ ॥[१३७]

गोरक्ष-पद्धति तथा हठयोग-प्रदीपिका मे भी योग साधना मे इसी गगनोपम अवस्था या ख-अवस्था मे मन को विलीन करने का उपदेश मिलता है—

निर्मलम् गगनाकारम् मरीचिजल सन्निभम्
आत्मानम् सर्वगम् ध्यात्वा योगी मुक्तिवाप्नुयात् ॥[१३८]
खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु
सर्वं च खमय कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत ॥[१३९]

गोरखबानी मे स्थान-स्थान पर गगन-शिखर या गगन-मण्डल का उल्लेख है किन्तु खसम शब्द का प्रयोग नही है। किन्तु सन्तो ने बराबर इस शब्द का प्रयोग किया है और वे उस खसमावस्था या शून्यावस्था मे लीन होने की ओर सकेत करते हैं—

कबीर—इस संगति नाही मरणा, हुकुम पछानि ता खसमै मिलणा[१४०]

खसम बिनु तेली को बैल भयो।
बैठत नाहिं साधु की सगति नाधे जनम गयो
खसमहिं छाडि विषय रग राते पाप के बीज बयो ॥[१४१]

किन्तु इसी शब्द का प्रयोग एक दूसरे अर्थ मे सन्तो ने किया है जिसका आधार अरबी का शब्द खसम बताया जाता है जिसके अर्थ पति होते हैं। पति या स्वामी के अर्थ मे सन्तो ने बरावर खसम शब्द का प्रयोग किया है—

कबीर—खाखा चाहै खोरि मनावै, खसमहिं छाडि दसो दिसि धावै।[१४२]

इस खसम या पति के प्रति साधक को सदैव पतिव्रता की भाति अटूट भक्ति और लगन रखनी चाहिए, इस पति के अतिरिक्त पर-पुरुषो की ओर अपना ध्यान लगाना निन्दनीय है। कबीर की तो उसमे अटल आस्था है और वे कहते

है कि केवल दो अक्षर सोह का जप करते रहो, अगर सचमुच प्रभु खसम है तो वह हमे धारण करेगा। 'कहु कबीर आखर दुई भाखि। होइगा खसमु त लेइगा राखि ॥'[१४३] इसी प्रकार पलटू साहब भी चेतावनी देते हैं—

'खसम रहा है रूठि नही तू पठवै पाती।'[१४४] और गुलाल अपने खसम के प्रति निष्ठा त्याग कर पर-पुरुप के पास जाने के लिये साधकरूपी नारी की प्रताडना करते हैं—

काह कहौ कछु कहत न आवै, नाहक जग बौराई हो
अपने खसम नेक नहिं जानै पर पुरुष पह जाई हो।[१४५]

वास्तव मे सन्त इसे पतिरूपी परम ज्ञान या परम तत्व के अर्थ में प्रयोग करते थे और उसके सांकेतिक अर्थ से पूर्णतया परिचित थे। जैसा निम्नांकित उदाहरणों से स्पष्ट है—

कबीर—होय भिस्त जो चित न डोलावै, खसमहिं छाडि के दोजक धावै
बिन गुरु ज्ञाने दुंदभी खसम कही मिलि बात
जुग जुग कहवैया कहै, काहु न मानी बात ॥[१४६]

सच्चे तत्वज्ञान के अतिरिक्त अन्य वाह्योपचार-प्रधान सम्प्रदायों मे, जो तत्वज्ञान है वह झूठा खसम है या उपपति है, लगवारा है, उसका परित्याग करना ही उचित है—

कबीर—एक से ब्रह्मौ पन्थ चलाया। एक से हंस गोपालहिं गाया।
एक से सिम्भू पंथ चलाया। एक से भूत प्रेत मन लाया।
एक से पूजा जैनि विचारा। एक से निहुरि निमाज गुजारा।
कोइ काहू का हटा न माना। झूठा खसम कबीरन जाना।
तनि मनि भज रह मोरे भक्ता। सन्त कबीर सत्त है वक्ता।
आपुहि देवा आपुहि पाती। आपुहि कुल आपुहि है जाती।
सर्वभूत संसार निवासी। आपुहि खसम आपु सुखबासी।
कहइत मोहिं भइल जुग चारी। काके आगे कहौं पुकारी।

साचहि कोई न मानई, झूठा के सग जाय
झूठहि झूठा मिलि रहा, अहमक खेहा खाय।[१४७]

यह झूठा खसम वास्तव मे तत्व-ज्ञान-रहित वाह्याचार मात्र है जैसा पलटू साहव का कथन है—

माटी देवखरि बाधि मुए की पूजा लावै
जीवत जिउ को मारि ग्रानि कै ताहि चढावै
पलटू जिव को मारि कै बल देवतन को देत
गरदन मारै खसम की लगवारन के देत ॥[१४८]

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या खसम की अवस्था रूप के अतिरिक्त स्वामी या प्रभू के रूप मे कल्पना सन्तो की अपनी कल्पना है जिसकी मूल प्रेरणा अरबी का खसम शब्द है, या वे किसी पूर्व परम्परा से प्रभावित है। सरहपा ने एक स्थल पर खसम शब्द के साथ नाथ (पति) विशेषण का प्रयोग किया है और उसे अव्यय, अचिन्त्य, परमप्रभु तथा महासुखनाथ के रूप मे स्मरण किया है उसे, अवाच्य तथा अचिन्त बताकर उसके दर्शन का उपदेश दिया है—

अक्खह अच्चेय परम पहु खसम महासुह नाह
जो आवाअ अचित्त वि तस्स च्चक्खु करेह ॥[१४९]

इस दोहे की सस्कृत छाया मे बागची ने नाह का अर्थ "नास्ति" दिया है जिसकी पद से सगति नही बैठती। डा० शाहिदुल्ला ने तिब्बती रूपान्तरो से तुलना कर यह दिखाया है कि नाह नाथ का रूपान्तर होता है और नास्ति का रूपान्तर नत्थि होता है।[१५०] इसलिए यहाँ भी नाह का अर्थ नाथ ही ठीक बैठता है तथा पहु का तत्सम प्रभु भी अधिक उपयुक्त है। इस खसम को यहाँ सिद्धो ने परम-तत्व अथवा गगनोस्वभाव या शून्य-स्वभाव का मानवीकरण कर उसे नाथ या प्रभू के रूप मे भी परिकल्पित कर लिया है। अरवी शब्द खसम इस कल्पना की मूल प्रेरणा नही, है यद्यपि उससे इस प्रयोग को और भी वल अवश्य मिला होगा। जहाँ तक कवीर का प्रश्न है इस परमतत्व खसम का अर्थ राम था, अन्य कोई नही—

आपै पावक आपै पवना, जारै खसम त राखै कवना
राम जपत तन जर की न जाय, राम नाम चितु रहआ समाय[१५१]

किन्तु कबीरपन्थी साहित्य में बाद मे स्वत सद्गुरु कवीर को ही खसम मान लिया गया है और उसके शिष्य धर्मदास को यह कहते दिखाया गया है कि—

बाजा बाजा रहित का परा नगर मे शोर
सतगुरु खसम कबीर है, नजर न आवै और।

और मलूकदास से भी कहलवाया गया है कि कृष्ण, जगन्नाथ आदि सब कबीर के अवतार है और कबीर ही वास्तविक खसम है।[१५२]

किन्तु स्वामी, पति और नाथ राम के प्रति भक्ति और पातिव्रत्य का उपदेश देते-देते कभी-कभी ये सन्त उलटबासियो मे इसी पति की हत्या करने या इस को खाने की ओर भी सकेत करने लगते हैं। इसका अर्थ बहुत स्पष्ट न होने के कारण कुछ कठिनाई पडती है जिसकी ओर द्विवेदी जी ने भी सकेत किया है।[१५३] ऐसा ही एक पद है—

खसम की मृत्यु

माई मै दूनो कुल उजियारी
बारह खसम नैहरे खाय।, सोरह खायो ससुरारी

इसी का समानान्तर भाव पलटू की दो कुण्डलियो मे मिलता है जहाँ न केवल खसम की मृत्यु का वर्णन है, वरन् खसम की मृत्यु पर गृहिणी का उल्लास भी प्रदर्शित किया गया है—

खसम विचारा मरि गया जोरू गावै तान
जोरू गावै तान फिरा अहि बात हमारा
झूठ सकल संसार माग भरि सेंदुर पारा
हम पतिबरता नार खसम को जियतै मारी
वाको मूडौ मूड सरबर जो करै हमारी
दुतिया गई है भाग सुनौ अब राँध परोसिन
पिया मरे आराम मिला सुख मे कह दिन दिन
पलटू ऐसे पद कहै बूझै सो निरबान
खसम विचारा मर गया जोरू गावै तान

खसम मुवा तो भल भया सिर की गई बलाय
पलटू सोइ सुहागिनी जियतै पिय को खाय॥[१५४]

इन पंक्तियो का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है यदि हम वहाँ खसम

से परमज्ञान की उपलब्धि के उपरान्त शून्य-स्वभाव धारण कर निर्वाण प्राप्त कर लेने वाले चित्त का अर्थ लें। लगभग इन्ही शब्दो मे मरण का रूपक बाँधते हुए, अपने पति की मृत्यु पर प्रसन्न होने वाली पत्नी के रूप मे साधक का चित्रण अक्सर सिद्धो के दोहो में भी मिलता है और सरहपा ने इसे योगिनीचार अथवा योगिनी-मार्ग कहा है—

घरवइ खज्जइ घरिणिएहि जहि देसहि अविआर
माइए पर तहि कि उवरहि विसरिअ जोइणि-चार
घरवइ खज्जइ सहजें रज्जइ किज्जिअ राअ विराअ
णिय पास वइट्ठी चित्ते भट्ठी जोइणि'महु पडिहाअ

एक्कु खाइ कवर अएण वि पोडइ
वाहिरें गइ भत्तारह लोडइ।[१५५]

इसकी टीका मे अद्वयवज्र ने स्पष्ट कहा है कि यह गृहपति (मन) का मरण नही है केवल उसको सहज स्वरूप मे स्थित कर देना मात्र है। उस सहजस्वरूप मे द्वैत नही रहता (दुतिया गई है भाग) और चित्त निर्वाण उपलब्ध कर लेता है (बूझै सोइ निरबान)। चर्यापदो मे भी शवरपा (पद ५०) अपनी मृत्यु का वर्णन देते है जिसका अर्थ शून्यता मे लीन होना है और कुक्कुरीपा भी अपने पद (सख्या २०) मे इसी स्थिति की ओर सकेत कर चुके है। इन दोनो चर्यापदो मे गृहपति की मृत्यु के दार्शनिक सकेतो पर हम पीछे विचार कर चुके है।[१५६] कबीर भी इसी मरण की सहजमयता की ओर सकेत करते हुए कहते है—

जिह मरनै सभु जगत तरासिआ, सो मरना गुरु सवद प्रकासिआ
मरनो मरन कहै सभु कोई, सहजे मरै अमरु होइ सोई
कहु कबीर मनि भइया अनन्दा, गइया भरमु रहिआ परमानन्दा[१५७]

सहज

सहज शून्य पर विचार करते समय हम इस तथ्य की ओर सकेत कर

चुके हैं कि 'सहज' शब्द उसी अर्थ मे नाथ तथा सन्त योगियो द्वारा नही ग्रहण किया गया था, जिस अर्थ मे वज्रयानी सिद्ध इसका प्रयोग करते थे।

शैव पद्धतियो ने ११वी शती मे ही सहज शब्द को स्वीकार कर लिया था किन्तु उसके अर्थ बदल दिये थे। हम पहले ही इस तथ्य की ओर सकेत कर चुके है कि सहज शब्द का 'स्वाभाविक' अर्थ मे प्रयोग बहुत पहले से धर्म-साधनाओ मे होता आ रहा था और इस बात की पूरी सम्भावना है कि बौद्ध तथा शैव दोनो प्रकार की पद्धतियो ने इस शब्द को किसी तीसरी परम्परा से ग्रहण किया हो। मत्स्येन्द्र के योगिनीकौल-मार्ग तथा वज्रयानी सिद्धो के सहजाम्नाय की तुलना करने से यह ज्ञात होता है कि दोनो मे ही सहज शब्द का प्रयोग स्वाभाविक प्रवृत्तिमूलक मार्ग के अतिरिक्त ऐसी साधना पद्धति के अर्थ मे होता था जिसमे पुरुष-तत्व तथा शक्ति-तत्व का समागम किया जाय। ये दोनो तत्व बौद्ध पद्धतियो मे प्रज्ञा तथा उपाय और योगिनीकौल-मार्ग मे शक्ति तथा शिव के नाम से प्रख्यात थे। योगिनीकौल-मार्ग का नाथ-सम्प्रदाय से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है अत. उसमे सहज का अर्थ क्या है इस पर विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा। कौल-ज्ञान-निर्णय के अष्टम पटल मे सहजा, कुलजा, अन्त्यजा तथा महादेवी, इन चार शक्तियो का उल्लेख है जिनमे से सहजा स्वकीया है और साधक की गृहिणी रूप मे चित्रित है। किन्तु साधना में इस सहज शक्ति को शरीरस्थ कर अन्दर ही उपलब्ध करना चाहिए 'कुरुते देहमध्ये तु सा शक्ति सहजा प्रिये'।[१५८] शरीर के अन्दर स्थित इस शक्ति को सिद्ध कर लेने वाला फिर अन्तर्मुख हो जाता है, निश्चल हो जाता है, धारणा, ध्येय आदि से मुक्त हो जाता है, सहज तत्व मे रमण करता है और आत्म तथा पर का भेद भुला देता है।[१५६] उसी को अकुल-वीर कहते हैं, वही सहजानन्द की प्राप्ति करता है। किन्तु यह सहजानन्द, यह सहज तत्व, यह सहज स्वरूप बौद्ध 'सहज' से अलग हैं क्योकि न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, अर्हन्त, सोम-सिद्धान्तवादी सभी को शास्त्रजाल से सन्तुष्ट, विकल्प-बहुल, मिथ्यावादी बताया गया है।[१६०]

इस कथन मे साम्प्रदायिक प्रतिद्वद्विता का आभास अधिक है। वास्तव मे यदि प्रज्ञा तथा उपाय को शक्ति और शिव की सज्ञा दे दें तो वज्रयानी सहज और कौल ज्ञान के सहज मे कोई अन्तर नही रहता क्योकि इसी प्रसग मे आगे यह कहा भी गया है कि अकुलवीर साधना द्वारा जो समरस मे प्रतिष्ठित हो जाता है वही ब्रह्म है, वही शिव है, वही सोम हैं, वही अर्हन्त है, वही बुद्ध है।[१६१]

किन्तु फिर भी योगिनीकौल-मार्ग मे सहज को शैव रूप दे देने का एक परिणाम अवश्य अनुमानित किया जा सकता है। वह यह कि नाथपन्थी योगियो को यह सहज-भावना शैवो से ही प्राप्त हुई होगी अत उन्होने इसे बौद्ध नही माना और सहज से वे बराबर शक्ति तथा शिव के सगम का अर्थ लेते रहे, किन्तु उसे उन्होने देहस्थ शक्ति या देहस्थ मुद्रा खेचरी को उपलब्ध करने के अर्थ मे लिया होगा।

नाथ-सम्प्रदाय की बानियो मे सहज का प्रयोग हमें निम्न रूपो मे मिलता है क-परम तत्व रूप में सहज। ख-परम ज्ञान, परम स्वभाव या परम स्वभाव। ग-देह के अन्दर योगिनी या शक्ति से सगम लाभ करने की योग पद्धति। घ-सहज समाधि। ङ-परम पद, परम सुख अथवा आनन्द के रूप मे सहज, च-जीवन पद्धति के रूप मे सहज।

क-परम तत्व के रूप मे नाथ योगी पाँचो तत्वो का सहज से ही उद्भव और अन्त मे सहज मे ही विलयन मानते हैं

एही राजा राम आछै सर्वे अग बासा,
येही पाँचौ तत बाबू सहजि प्रकासा।
ये ही पाँचौ तत बाबू सहजि समाना।
बदत गोरष इमि हरिपद जाना।[१६२]

कणेरी पा और नागा अरजन (नागार्जुन) के सम्वाद में भी सहज का यही रूप मिलता है -

कणेरी का प्रश्न—कहाँ से उगै कहाँ से आथ्वै कहाँ थें रैनि विहाई
पूछै कणेरी नागा अरजन प्यड छाँडि प्राण कहाँ समाई
नाग। अरजन—सहजै अवना सहजै गवना। सहजै सहजै वहै पवना
'सहजै सहजै फीरै बाई। सहजै ससजै थिरै कायी[१६३]

गोरख-मछीन्द्र के सम्वाद मे भी सहज को परमतत्व रूप मे इस प्रकार की व्याख्या मिलती है·

गोरख—स्वामी राति न होती दिन कहाँ थें आया
दिन प्रसरया राति कहाँ समाया ..?
मछीन्द्र—अवधू राति न होवी दिन सहजै आया
दिन प्रसर्या राति सहजै समाया।[१६४]

ख-इस सहज को आत्मगत कर साधक को भी सहज स्वरूप धारण करना चाहिए। यह सहज रूप, सहज ज्ञान या सहज स्वभाव उन समस्त द्वयताओ से विवर्जित है, भाव, अभाव, आदि की द्विविधा इसमे नष्ट हो जाती है और अविनाशी तत्व की प्राप्ति होती है

गोरख—दुबध्या मेटै कैसें रहै। सतगुरु होइ सु बूझया कहै ॥...
मछीन्द्र—दुबध्या मेटि सहज मे रहै। ऐसा बिचार मछीन्द्र कहै ॥[१६५]
सहज सुभाइ मिले अबिनासी।[१६६]

ग-शिव और शक्ति के सयोग की सहज पद्धति

इस मैथुन के रूपक मे सम्पन्न की जाने वाली योग साधना का विशेष महत्व है। वास्तव मे सहज का तात्रिक अर्थ यही था और वज्रयानी सिद्धो ने भी इसे इसी रूप मे ग्रहण किया था। नाथ-योगियो मे वज्रयानियो की भाँति नारीरूपी तरुणी मुद्रा से समागम कर महामुद्रा सिद्धि करने की प्रथा थी या नही, इस पर हम बाद मे विचार करेंगे, किन्तु हठयोग की साधना मे वे सहज पद्धति को शिव-शक्ति के मिलन या जोगी द्वारा जोगिनी से मिलन के रूपको मे रखकर पूर्ववर्ती तान्त्रिक परम्परा का निर्वाह करते थे।

ये शक्ति और शिव वास्तव मे नाद और बिन्दु है 'सक्ति रूपी रज आछे, सिव रूपी व्यन्द।'[१६७] इनमे से शक्ति का वास कुडलिनी के रूप मे एक दूसरे स्थल पर नीचे बताया गया है और शिव का वास ऊपर, 'अवधू अरधै बसै सक्ती उरधै बसै सीव।'[१६८]

दूसरे स्थल पर इसी सहज समागम को जोगी तथा जोगिनि के परिणय के रूप मे चित्रित किया गया है।

माहरा रे बैरागी जोगी, अहनिसि भोगी, जोगिणि सग न छांडै
मानसरोवर मनसा झूलन्ति आवै गगन मडल मठ माडै रे ॥
कौण अस्थानिक तोरा सासू नै सुसरा कौंण अस्थान तोरा बासा
कौण अस्थानक तूनें जोगिणि भेंटी कहा मिला घर बासा
नाम अस्थान क मोरा सासू नै ससुरा ब्रह्मा अस्थान क मोरा बासा
इला प्यगुला जोगन भेंटी सुषमन मिल्या घर बासा।[१६९]

घ-पवन का निरोध कर अपनी इन्द्रियो को पूर्णतया वश में करने को सहज समाधि के रूप मे चित्रित किया गया है जो सिद्धो की 'पग्गोपाग्र

समाहि' (प्रज्ञोपाय समाधि) का ही परवर्ती रूप प्रतीत होता है। इसी को सहज ज्ञान के वाणिज्य के रूप मे चित्रित किया गया है जिसमे गुरु गोरखनाथ सहज के व्यापारी है, पाँच इन्द्रिय रूपी बैल और नौ रन्ध्र रूपी गायें वेचने आये है। जब वे इन्द्रियाँ वशीभूत होकर सहज रूपी बाखर मे आ गईं तब मन उडियानी (उड्डियान बन्ध) की साधना करने लगा।[१७०]

इसी समाधि को अगीठी के रूपक से भी चित्रित किया गया है

दिपणि हमारी डीबी पाकै अगनि बलै मुलतानं
ऐसे हम जोगेसर निपना प्रगट्या पद निर्वान
वाफ न निकसै बूंद न ढलकै सहज अगीठी भरि भरि राधै
सिध समाधि योग अभ्यासी तब गुरु परचै साधै ॥[१७१]

ङ-इसी सहज को परम पद निर्वाण के भी अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है

सहज पद परम नृबान, साभलि गोरष पद निरवान।
देत कहै हम सहज समान, साभलि गोरष पद निरवान।[१७२]

च-किन्तु इन सबो के अतिरिक्त सहज जीवन-पद्धति के रूप मे भी सहज का प्रयोग मिलता है, वह सहज जो वाह्य अनुष्ठानो, वाह्याचारो और विधि-निषेधो तथा अतिचारो से मुक्त मध्यम सहज मार्ग का अर्थ देता है। यह अर्थ विशेष महत्वपूर्ण है क्योकि सन्त परम्परा मे योगपरक या मैथुन परक अर्थ के बजाय इसी अर्थ को व्यापक रूप से ग्रहण किया गया है

अवधू सहजै लेणा सहजै देणा सहजै प्रीति ल्यौ लाई
सहजै सहजै चलेगा रे अवधू तो बासण करेगा समाई।[१७३]
हबकि न बोलिबा हबकि न चलिबा धीरे धरिबा पाव
गरव न करिबा सहजै रहिबा भणत गोरख राव ॥[१७४]

'सहज रहिबा' या 'सहज रहनी' सन्तो का विशेष आग्रह है। प्रज्ञा और उपाय के युगनद्ध के रूप मे सन्त का सहज अर्थ सभवत भूल चुके थे किन्तु परम तत्व का स्वभाव सहज है इसे वे अवश्य जानते थे। शिव और शक्ति के सगम के रूप मे सन्तो ने इस सहज तत्व की व्याख्या की है

कबीर—सिव सकती दिसिं कोण जु जोवे, पछिम दिसा उठे धूर ॥[175]

केशवदास—तन मन प्रान दान दे पिय को सहज सरूपम पाई हो

दरस परस पतिबरता पिव की सिव घर सक्ति बसाई हो।[176]

इसी सहज से वे समस्त तत्वो की उत्पत्ति मानते थे और अन्त मे इसी में सबका विलयन भी। इस 'सहज' नाम को वे अक्सर सहज-शून्य अक्सर परमतत्व 'शब्द' और अक्सर परमपुरुष ब्रह्मा के लिये भी प्रयुक्त करते थे।

परमतत्व

पीछे 'सहज' पर विचार करते समय हम यह देख चुके है कि सहज का प्रयोग स्वाभाविक वृत्ति के रूप मे ४०० ई० से भी पहले से मिलता है और १२०० ई० तक इस अर्थ मे सहज के प्रयोग की परम्परा मिलती है। हमने यह भी सकेत किया था कि सिद्धो ने इसी सहज को ग्रहण कर अपने प्रज्ञोपाय युगनद्ध के सिद्धात के अनुसार इसकी नई बौद्ध तान्त्रिक व्याख्या (युगनद्धजनित) कर दी थी। शैव तन्त्र (योगिनी-कौल-मार्ग) तथा शैव योग (नाथ सम्प्रदाय) पद्धतियो मे इस सहज को शिव और शक्ति या नाद और विन्दु के संगम के रूप मे माना गया। सन्तो तक आते-आते इसकी यह मिथुन-परक व्याख्या तिरस्कृत कर दी गई और कबीर ने अपनी स्वाधीन चिन्तना के गौरव के अनुरूप 'सहज' को विभिन्न मतवादों की संकीर्णताओ से परे उस परम तत्व के रूप में माना जो समस्त वाह्याचारों से मुक्त मनुष्य की सहज स्वाभाविक अनुभूति मे प्रस्फुटित होता है और जिसकी उपलब्धि एक सहज सन्तुलित जीवन पद्धति द्वारा ही हो सकती है, विभिन्न मतवादों की संकीर्णता मे उलझ कर नही। अपने एक 'शब्द' मे संसार के पागलपन का चित्रण करते हुए वे कहते है कि सहज आतम-तत्व को छोड कर संसार न जाने किन भ्रम छलनाओ के पीछे दौड रहा है।

सन्तो देखत जग बौराना
साच कहौं तो मारन धावै झूठहिं जग पतियाना
नेमी देखा धरमी देखा प्रात करहिं असनाना
आतम मारि पषानहिं पूजहिं उनिमह किछउ न ज्ञाना
हिन्दू कहहिं मोहि राम पियारा तुरुक कहहिं रहिमाना
आपस में दोउ लरि मूये मरम न कोई जाना

क्योकि ये सब तो वाह्याचार है, साम्प्रदायिक सकीर्णताएँ हैं। वास्तविक

तत्व तो इन सीमाओं मे बध ही नही पाता वह तो सहज तत्व है, उसमे सहज द्वारा ही समाया जा सकता है

> कहहि कबीर सुनहुं हो सन्तो ई सभ भरम भुलाना
> केतिक कहौ कहा नहिं मानै सहजै सहज समाना।[१७७]

और इसी कारण से रैंदास बहुत स्पष्ट ढग से कहते है कि विना सहज के सिद्धि नही हो सकती और यह सहज वाह्याचारो के अभ्यास या केवल नीरस तर्क-ज्ञान से नही सिद्ध होता।

> माई रे सहज बन्दौ लोइ, बिन सहज सिद्धि न होई।
> रैंदास दास ह्वै करि रह्यो सहज समाई।[१७८]

पीछे सिद्धो के सहज पर विचार करते समय हम यह देख चुके है कि न केवल वज्रयान वरन् लगभग प्रत्येक पद्धति मे एक परिस्थिति ऐसी मानी जाती थी जिसके उपरान्त वाह्य अनुष्ठान, नैतिक मर्यादा आदि का बन्धन टूट जाता था और फिर साधक केवल चित्तगत साधना ही करता था। जव सिद्धो ने यह कहा 'मणह भअवा खसम भअवइ, दिवा रात्ति सहजे राहिअइ' तो उनका भी सकेत इसी ओर था किन्तु चित्तवृत्ति को इस तरह नियोजित करने मे योग की साधनाएँ सहायक मानी जाती थी क्योकि उनमे चित्तवृत्तियो का निरोव होता है। इस प्रकार सहज उस योग-पद्धति का भी वाधक हो गया था जो उस सहज वृत्ति के नियोजन मे सहायक होती है। नाथ योगियो ने भी उस सहज योग-पद्धति का शैव रूप अपनाया था।

सन्त भी इस सहज-योग से अपरिचित नही थे और सहज को स्वाभाविक वृत्ति मानते हुए भी वे योग साधनाओ को सहज साधना का आवश्यक अग मानते थे। उनकी इस योग साधना मे प्रज्ञा तथा उपाय के सगम की भावना तो तिरस्कृत हो गई थी किन्तु वे अपनी पद्धति को, उसके अन्तर्गत जप, ध्यान, समाधि आदि को सहज जप, सहज ध्यान तथा सहज समाधि ही कहते थे। इस प्रकार सहज की भावना को सन्तो ने उसके स्वाभाविक मानवीय अर्थ मे लेते हुए भी परम्परा से चला आने वाला उसका योग-परक अर्थ भी सर्वथा भुला नही दिया था।

सन्त साहित्य का अध्ययन करने से उसमे भी हमे सहज का प्रयोग लग-

भग उन्ही ६ रूपो मे मिलता है, जिनमे वह नाथो की बानी मे प्रयुक्त हुआ है। उनमे से प्रत्येक पर हम पृथक् विचार करेंगे ।

क-सहज तत्व

जो आदि तत्व है जिसमे से सब उत्पन्न हुआ जिसमे सब समा जाता है -

कबीर—सहज की अकथ कथा है निरारी

तुलि नहि चढै न जाइ मुकाती हलुकी लगै न भारी
अरध उरध दोऊ तह नाही राति दिवसु तह नाही ।
जलु नहि पवनु पावकु पुनु नाही सतिगुरु तहा स साही
अगम अगोचरु रहै निरन्तरि गुरु किरपा ते लहीऐ
कहु कबीर हउ भइआ दिवाना मुसि मनुआ सहजि समाना
जो किछु होआ सु तेरा भाणा, जो इव बूझै सु सहजि समाना[१७९]

दादू— ज्ञान गहै गुरुदेव का दादू सहजि समाइ
.. ..
सोना पारस परसता सहज समाना सोइ
.. ..
पिंजर पिंड शरीर का सुवटा सहजि समाइ
रमिता सेती रमि रहै बिमल बिमल जस गाइ ।।
. .. .
काटै करम सहज सूँ बाधै सहजै रहै समाई ।।[१८०]

सिद्धो और नाथो के बाद सन्तो ने सहज की परमतत्व वाली भावना मे एक नया अध्याय जोडा है । सन्त परम्परा निर्गुणवादी होते हुए भी सगुण भक्तिवाद के बहुत निकट थी और उसकी भाव-साधना तो भक्ति ही की थी, योग की या तन्त्र की नही । इसलिए सन्त परमतत्व को एक वैयक्तिक ईश्वर के रूप मे मानते थे जो स्वत इच्छामय है, भक्तो पर कृपालु है, अनुरागी है । बौद्ध सिद्धो ने भी तथागत की तीन कायाओ मे चौथी सहजकाया की कल्पना जोड कर इस परम्परा का सूत्रपात कर दिया था किन्तु उनकी भाव-साधना मे जीव स्वत बुद्ध बन जाता है अत. सहजरूपी तथागत का उतना महत्व उनकी साधना-पद्धति मे नही था जितना सहजरूपी राम का महत्व सन्त-परम्परा मे विकसित हुआ । इस

सहजतत्व का राम रूप मे उल्लेख हमें नाथो की बानियो मे भी एक स्थान पर मिलता है 'एही राजा राम आछै सर्बे अग बासा, एही पाचौ तत वावू सहज प्रकासा।'[१८१] किंतु ये पक्तियाँ कबीर के बहुत बाद की मालूम होती है और निर्गुण राम की सहज रूप मे जो कल्पना सन्त-साहित्य मे विकसित हुई उसी से प्रभावित प्रतीत होती है क्योकि कबीर ने स्पष्ट कहा था कि जिस सहज-समाधि से उन्मुनी मुद्रा जाग्रत होती है, उसी से रघुराई भी मिलते है 'सहज समाधी उन्मुनि जागै, सहज मिलै रघुराई'[१८२] और उनके ये 'रघुराई' अपने भक्तो को जो सुहाग देते है वह भी 'सहज सुहाग' है। 'कहत कबीर मै कछु नहि कीन्हा, सहज सुहाग पिया मोहि दीन्हा'।[१८३] और इसी 'सहज सुहाग' को पाकर सन्त केशवदास अपने प्रिय का सहज स्वरूप धारण कर लेते है 'म्हारे हरिजू सुं जुरल सगाई हो। तन मन प्रान दान दै पिय को सहज सरूपम पाई हो।'[१८४] दादू की बानियो मे हमे सहज के प्रसग मे राम का उल्लेख कई स्थानो पर मिलता है ।

राम सबद मुख लै रहै पीछे लागा जाइ
मनसा बाचा कर्मना तेहि तत सहज समाइ

सहजै सुमिरण होत है रोम रोम रमि राम
चित्त चहट्या चित्त सो यो लीजै हरि नाम[१८५]

कबीर-पन्थ के परवर्ती ग्रन्थो मे सहज की ईश्वररूप-परिकल्पना मे प्रचुर विकास हुआ। राम के अतिरिक्त दूसरे प्रमुख वैष्णव देवता कृष्ण को भी सहज रूप मे स्थित बताया गया। उग्र-गीता मे श्रीकृष्ण सतगुरु कबीर से कहते है

बहुत लोग मानुष मोहि जानै। दुख सुख व्यापक माही सानै ॥
एक भाव मै सबसो रहेऊ। जैसे अग्नि भाव सो कहेऊ ॥
सब कह लागै एक सम भाई। ऐसे रहौं मै सहज समाई ॥[१८६]

इस स्थल मे कृष्ण का सम और सहज स्वरूप निस्सन्देह गीता मे वर्णित सम स्वरूप की प्रतिध्वनि है क्योकि यह कृति भी गीता का अनुकरण मात्र है।[१८७]

कबीर-बानी मे इसी सहज को ब्रह्म की सज्ञा दी गई है और सहज ब्रह्म के पाँच तत्व बताये गये है जिनसे पाँच ब्रह्मो की उत्पत्ति बताई गई है स्नेही ब्रह्म, इच्छा ब्रह्म, मूल ब्रह्म, सोह ब्रह्म और ब्रह्माड। यह तथागत के पाँच स्कन्धो से पाँच ध्यानी बुद्धो की उत्पत्ति से बहुत कुछ मिलती-जुलती हुई कल्पना है

किन्तु पाँच की सख्या के अतिरिक्त अन्य कोई समता की बात नही दृष्टिगोचर होती।[१८८] इन्ही पाँच ब्रह्मो तथा छठें ब्रह्मा सहज को सत्य पुरुष तथा निरजन के बीच के लोको मे स्थित माना गया है और छठें ब्रह्मा से मायायुक्त ब्रह्म निरजन की उत्पत्ति मानी गई।[१८९] इसी सहज पुरुष के समानान्तर सहज श्रुति, सहज अकुर, सहज द्वीप आदि की कल्पनाएँ भी साम्प्रदायिक ग्रन्थो मे विकसित हुई।

एक सुरति एक अकुर कहाई, तिहि को नाम सहज श्रुति भाई[१९०]
प्रथम पुर्ष सोहग, दूसरे सहज सोहग, तीसरे इच्छा सोहग[१९१]

इसी मे और वृद्धि हुई। पहले सहज पुरुष और निरञ्जन पुरुष के बीच मे पाँच पुरुष माने गये थे, 'पञ्चमुद्रा' मे यह अन्तर और भी बढाकर बताया गया था और सहज तथा निरञ्जन पुरुष के बीच मे ६ पुरुष प्रमाण का अन्तर माना गया और आदि पुरुष की स्थिति उसके भी आगे बताई गई।

निरञ्जन और सहज लो नौ पुर्ष प्रमान
आदि पुर्ष आगे कहो जितने सब उतपान।[१९२]

किन्तु उसके बाद सहसा सहज का पद नीचे उतरने लगा। सहज पुरुष को ही माया शवलित निरञ्जन[१९३] माना गया और उसी को गौण देवता कूर्मराय[१९४] भी परिकल्पित किया गया। यह कूर्म वास्तव में 'धर्म' सम्प्रदाय का कूर्म था। 'सहज' वही कूर्म मान लिया गया और धर्म को उससे अलग परिकल्पित कर लिया गया। धर्मराय के हाथो कूर्म की बहुत बुरी पराजय हुई जिसमें कूर्मराय का मस्तक काटकर उनका उदर-विदारण कर दिया गया। इस प्रकार परवर्ती पन्थ की गाथाओ मे सहज अपने मूल रूप से इतनी दूर जा पडा कि यह मूलत सिद्धो का प्रज्ञोपाय युगनद्ध का ही सहजतत्व है, इसकी कल्पना भी नही की जा सकती।

ख-सहज ज्ञान तथा सहज स्वभाव

इस सहज तत्व मे समाहित होने के लिये मन को सहज स्वरूप का बनाना चाहिये जो केवल सहज ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। यह ज्ञान दो पक्षो के मध्य का ज्ञान है। सिद्धो ने इसे शून्य, अशून्य, प्रज्ञा और उपाय, भाव, अभाव, भव निर्वाण आदि दो पक्षो से पृथक् मध्य का ज्ञान बताया था। कबीर भी द्वयता का भ्रम त्याग कर मध्य में चलने वाली मति को सहज ज्ञान की सज्ञा देते है।

जा तिसु भावै ता लागै भाइ, भरमं भुलावा विचहु जाइ
उपजै सहज गिम्रान मति जागै, गुर प्रसादि अंतर लिव लागै ।[१६५]

और जब कबीर उसमे पाप पुण्य दोनो एक समान बताते है, 'पाप पुन दुइ एक समान, निज पारसु तजहु गुन आन' [१६६] तो यह स्पष्टत सिद्धो के 'णिम्मल सहजे पाप ण पुण' की प्रतिध्वनि मालूम होती है।

दादू ने इस सहज ज्ञान या सहज स्वभाव का अधिक विस्तृत विवेचन दिया है जिसमे उन्होंने सहज को अपने स्वामी (प्रभु) का स्वभाव बताया है और उसे धरती अम्बर, धूप छाह, पवन पानी, चन्द्र सूर्य, सुख दुख, जागृति और सुषुप्ति, तथा पाप पुण्य इन द्वयताओं से विवर्जित बताया है .

तह धरती अम्बर नाही, तह धूप न दीसै छाही
तह पवन न चालै पाणी, तह आपै एक विनाणी
तहं चन्द न ऊगै सूरा, मुख काल न वाजै तूरा
तह सुख दुख का गम नाही, वो तै अगम अगोचर माही
तह काल काया नहिं लागै, तह को सोवै को जागै
तह पाप पुण्य नहिं कोई, तहं अलख निरञ्जन सोई
तहं सहज रहै सो स्वामी, सब घटि अन्तरयामी ॥[१६७]

इस द्वयता-विवर्जित सहज-स्वरूप स्वामी का स्वरूप है अत मन (सेवक) को भी यही स्वरूप धारण करना चाहिए ।

बाबा को जन ऐसा योगी
अञ्जन छाडै रहै निरञ्जन सहज सदा वियोगी
छाया माया रहै विवर्जित प्यंड ब्रह्मण्ड नियारे
चन्द सूर थे अगम अगोचर सो गहि तत विचारे
पाप पुण्य लिपै नहिं कबहूँ दोई पख रहिता सोई ।[१६८]

इस सहज-ज्ञान को निष्पक्ष ज्ञान बताते हुए मन द्वारा धारण कर लिये जाने पर इसे सम स्वभाव के रूप में चित्रित किया गया है जिसमे शीत उष्ण, सुख दुख, इन दोनो को त्याग कर मध्यपथ मे सम भाव धारण करने का विधान है .

सहज रूप मन का भया जब द्वै द्वै मिटी तरङ्ग
ताता सीला सम भया तब दादू एकै अंग

मति मोटी उस साध की द्वै पष रहत समान
दादू आपा मेटि करि सेवा करै सुजान ।[199]

नानक ने भी इसी सहज स्वभाव को सर्वोपरि स्वभाव बताया है जो साधुओ के लिए शोभनीय है । इसके लिये वे ६८ हाटो मे से एक सहज हाट की कल्पना करते है जिसमे मन सहज स्वभाव मे स्थित रहता है ।

सहज हाटि मन कीआ निवासु । सहज सुभाव मनि कीआ प्रगासु ।
सहज सुभाय कौ जै जैकारा । सहज नाथु हरि लगै पिआरा ।
जो कछु करै सो सहज सुभाय । सहज सहज हरि के गुन गाय ।
सहज सुभाय का इही विचारू । सहज सुभाय मन होइ उद्धारू ।[200]

इस सहज स्वभाव मे जिन दो पक्षो का त्याग बताया गया है उनमे से लगभग सभी सिद्धो के पदो मे मिलते हैं ।

सुख-दुख=सअ समाहि अ काहि करिअइ, सुख दुखे तें निचित मरिअइ ।
(चर्यापद १)

रवि-शशि=चान्द सुज वेणि पखा फाल । (चर्यापद ४)

पाप-पुण्य=पाप पुरण वेणि तोडिअ सिकल मोडिअ खम्भा ठाणा ।
(चर्यापद १६)

जन्म-मरण=जाम मरण भव कइसण होइ । (चर्यापद २२)

आवागमन=मोह विमुक्का जइ मणा, तबें टुटइ अवणा गमणा ।
(चर्यापद ४६)

छाया-माया
तथा काया=छाआ माआ काअ समाणा,वेणि पाखे सोंइ विणाणा । (चर्यापद ४६)

इस प्रसग मे एक अन्य शब्द पर भी ध्यान देना आवश्यक है । चर्यापद मे विणाणा तथा दादू के पद मे बिनानी (ताहँ पवन न चालै पाणी, तह आपै एक विनाणी) का इसी प्रसग मे प्रयोग हुआ है । यह विनण वास्तव मे विज्ञान का अपभ्र श रूप है और 'विज्ञान' वास्तव मे बौद्ध विज्ञानवादी चिन्तना के तथता ज्ञान से आया है । उसी तथता विज्ञान या विज्ञप्ति मात्रता तत्व को शून्य अशून्य, आदि से विवर्जित बताया गया था जिसपर हम विचार कर चुके है । अत तत्व-ज्ञानी को विज्ञानी (विणाणी) कहते थे । यह विणाणी शब्द तत्वज्ञानी के अर्थ मे वरावर प्रयुक्त होता रहा यद्यपि तत्वज्ञान का बौद्ध रूप यथावत् नही स्वीकार किया गया । नाथपन्थी वानियो मे भी यह बिनाणी शब्द इसी अर्थ मे मिलता है :

गगन सिषर महि शब्द प्रकास्या, तह बूझै अलष विनाणी ॥[२०१]
अलष विनाणी दोइ दीपक रचिलै . ...
चन्द सूर दोउ निज घरि राष्या ऐसा अलप विनाणी ॥[२०२]

इस प्रकार इन द्वयताओ का परित्याग कर मध्य तत्व के रूप मे यह सहज ज्ञान और सहज स्वभाव निस्सन्देह सिद्ध परम्परा से ही आया है, यद्यपि धीरे धीरे उसका तान्त्रिक अभिप्राय तिरोहित होता गया और सन्त लोग उसे गीता के सम स्वभाव के अर्थ मे प्रयुक्त करने लगे। यह सन्तो की अपनी मौलिक उद्-भावना थी या वैष्णव प्रभाव, इस पर हम आगे विचार करेंगे, किन्तु कही-कही सन्तो ने वास्तव मे इस दो पक्ष का त्याग कर मध्यवर्ती सहज स्वभाव अपनाने की सर्वथा मौलिक व्याख्या दी है। वे हिन्दू और मुसलमान इन दोनो पक्षो के मध्य मे अपनी सहज स्थिति बताते है। वही निष्पक्ष सन्त स्वभाव है .

हिन्दू तुरुक न होइबा साहिब सेती काम
पट दरसन के सग न जाइबा निर्पप कहिवा राम ॥
करणी हिन्दू तुरुक की अपणी-अपणी ठौर।
दुहुँ बिच मारग साध का सन्तो की रह और ॥[२०३]

इस सहज-स्वभाव को सन्तो ने भक्ति भावना के अर्थ मे भी प्रयुक्त किया है जो उनका अपना प्रयोग है क्योकि बौद्ध तथा नाथ योगी दोनो ही इस भावना से अपरिचित थे। कबीर ने अपने मन को सहज स्वभाव मे स्थित वताया है क्योकि राम ने उन्हे अपना करके मान लिया है

अब मोहि रामु अपुना कर जानिआ
सहज सुभाउ मेरा मनु मानिआ।[२०४]

इस भक्तिभाव की आनन्दमयी आत्मवेली से दादू का भी गगन गृह आच्छादित है

वेली आनद प्रेम समाइ
सहजै मगन रामरस सीचै दिन दिन वधती जाइ
सतगुरु सहजै वाही बेलि सहजि गगन पर छाया
सहजै सहजै कूपल मेल्है जाणै अवधू राया
आतम बेली सहजै फूलै सदा फूल फल होई
कायाबाडी सहजै निपजै, जाणै विरला कोई।

मन हट वेली सूकण लागी सहजै जुगि.जुगि जीवै
दादू वेलि अमर फल लागै सहजि सदा रस पीवै ।[२०५]

इस प्रकार यह सिद्धो के प्रज्ञोपाय अद्वैत का सहज स्वभाव अन्त मे भक्त स्वभाव मे परिणत हुआ जिसमे राम के प्रति अनन्य भक्ति रखते हुए स्वयम् को उन्ही को अर्पित कर सारी द्विविधा से मुक्त होना ही सहज स्वभाव माना गया है।

ग-सहज, साधना पद्धति के रूप मे

इस सहज स्वभाव की सिद्धि हठयोग द्वारा की जाती थी। सिद्धो में यह हठयोग महामुद्रा के मैथुन से सम्बद्ध था किन्तु नाथयोगियो मे प्रमुखतः यह शिव और शक्ति के देहस्थ योग के रूप मे स्वीकृत हुआ। सन्तों मे हमें इस पद्धति के लिये वरावर सहज-योग नाम का प्रयोग मिलता है यद्यपि उसके दो अर्थ हैं। कही कही वह हठयोग की साधनाओ के लिये प्रयुक्त हुआ है, कही-कही शुद्ध भावयोग के अर्थ मे।

हठयोग के अर्थ मे

दादू—पच वाइ ते सहज समावै, समहरि के घर आणै सूर
सीतल सदा मिलै सुखदाई, मनहद सवद वजावै तूर
वकनालि सदा रस पीवै तव यह मनवां कही न जाइ
विगसै कवल प्रेम जव उपजै व्रह्मा जीव की करै सहाइ ।[२०६]

एता कीजै आप यै तन मन उनमुनि लाइ।
पच समाधी राखिये, दूजा सहज सुभाइ।
सहज जोग सुख मै रहै दादू निर्गण जाणि।
गगा उलटी फेरि करि जमुणा माहैं आणि ॥[२०७]

भीखा—जोग जुक्ति कै हिंडोलन गुरु सहज लखावत
चाँदै राखि सूर पौढावल पवन डोरि पै धावल।
अर्ध उर्ध मुख पावल पुलकि पुलकि छवि भावल ।[२०८]

वाह्याचार मुक्त भावयोग के अर्थ मे

कवीर—तन को जोगी सव करै, मन को विरला कोय
सहजै सव सिधि पाइये जो मन जोगी होय

सहज सहज सब कोइ कहै सहज न चीन्है कोय
जा सहजै साहब मिले सहज कहावै सोय।।
सहज मिलै सो दूध सम मागा मिलै जो पानि
कह कबीर वह रक्त सम जामै ऐंचा तानि ।।[२०९]

किस प्रकार यह वाह्याचारमुक्त भावयोग कबीर तथा अन्य सन्तो द्वारा भक्ति का पर्यायवाची मान लिया गया था, इसकी ओर सकेत किया जा चुका है।

घ-सहज समाधि

हठयोग तथा भावयोग के समानान्तर ही सहज-समाधि का प्रयोग भी सन्तो में योग-समाधि तथा भाव-समाधि दोनो अर्थों मे मिलता है। हठयोग की समाधि के अर्थ मे नाथयोगी परम्परा की उन्मुनी, प्रयुक्त हुई है। यह उन्मुनी-अवस्था हठयोग-प्रदीपिका मे शून्य और अशून्य से परे अमनस्क (अमनसिकार) की ही अवस्था बताई गई है और टीका मे इसे जल मे मिले हुए लवण की भाँति आत्मस्थ रूप बताया गया है।[२१०] नाथपन्थी वानियों में भी इसी को तत्वसार बताया गया है, 'मन पवना लै उनमनि धरिबा ते जोगी ततसार।'[२११] सन्तो ने भी इसी उन्मन समाधि को सहज-समाधि बताया है।

कबीर—तीन महि होती कोटि उपाधि। उलटि भई सुख सहज समाधि
सहज समाधी उनमुनि जागै सहज मिलै हरि राई।[२१२]
सहज सुन्न मे रहै समाना सहज समाधि लगावै।[२१३]
उनमुनि रहै ब्रह्मा कौ चीन्है परम तत्त को ध्यावै ।।[२१४]

पलटू—फूटि गया असमान सबद की धमक मे
लगी गगन में आग सुरति की चमक मे
सेसनाग और कमठ लगे सब काँपने
सहज समाधि कि दसा खबरि नहिं आपने।[२१५]

इस सहज-समाधि की योग साधना मे गगा यमुना के बीच की सुषुम्ना को सहज पथ या सहज हाट माना गया है 'गग जमुन उस अन्तरै सहज सुन्नि ल्यौ घाट'[२१६] जो अवधूतिका को गगा जमुना के बीच बहने वाली नौका मानने वाली सिद्ध कल्पना के बहुत निकट है।

वास्तव मे यही सहज समाधि या उन्मुनी अवस्था भावात्मक स्तर पर सहज-वृत्ति बन जाती है जो मनुष्य को स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुरूप होती है

जिस पर हम आगे उनमुनि रहनी, या सहज-रहनी के अन्तर्गत विचार करेंगे। वह भाव-समाधि और भी सूक्ष्म है क्योकि वह अन्तिम साध्य है और हठयोग की सहज-समाधि से परे की वस्तु है.

जोग ना जुगत ना प्रानायाम ना सुन्न मे ध्यान न धरत ध्यानी
नाहि कछु ज्ञान है नाहि बैराग है जाय ना सकै तह पवन पानी
इडा ना पिंगला नाहि कछु साधना सुरत ना सबद ना उठत बानी
झिलमिली जोति न नाहि है उनमुनी चाद न सूर ना ब्रह्म-ज्ञानी
सहज समाधि के परे की बात है दास पलटू कोई सन्त जानी।[२१७]

ड.-परम पद

सन्तो का यह परम पद भी सहज निर्वाण है.

मरै न जीवै सहज सो पूरा पद निर्वाण।[२१८]

परम पद के रूप मे सहज का जो अगम, अगोचर रूप वर्णित किया है वह सिद्धो के वर्णन से शब्द-शब्द मिलता है

कबीर—जिहि वन सीह न सचरे, पषि उडै नहिं जाइ
रैनि दिवस का गम नही तह कबीर रह्या ल्यौ लाइ।[२१९]

दादू—चल दादू तहं जाइये जहं सूर नहि जाई
राति दिवस का गम नही सहजै रह्या समाइ।[२२०]

सरहपा—जाहि मण पवण ण सचरइ रवि ससि नाह पवेस
तहि बढ चित्त विसाम करु सरहे कहिअ उएस।[२२१]

परम पद निर्वाण तथा नाथ और सन्त साहित्य मे उसके वर्णन पर हम आगे विचार करेंगे।

सिद्धो के सम्बन्ध मे सहज-पद्धति पर विचार करते समय हम यह देख चुके है कि एक परिस्थिति ऐसी आती है जब मन्त्र, तन्त्र, जप, होम, मंडल-कर्म आदि वाह्य-अनुष्ठानो से साधक मुक्त हो जाता है और केवल अपने मन को एक रूप-विशेष मे नियोजित कर दिन रात सहज रूप मे रहता है। इसको काण्हपा ने 'एक्कु ण किज्जइ तन्त ण मन्त' और तिलोपा ने 'मणह भअवा खसम भअवइ, दिवारात्ति सहजे रहिअइ' के रूप मे प्रस्तुत किया है। किन्तु इस स्थिति तक पहुँचने के लिये कुछ विशेष साधनाओ का विधान था। तन्त्र पद्धति

सहज रहनी या सहज जीवन-पद्धति

के अनुसार महामुद्रा सिद्ध कर लेने के उपरात यह सहज जीवन-पद्धति व छनीय समझी जाती थी और शुद्ध हठयोगी साधना मे यह स्थिति उन्मनी अवस्था के उपरान्त आती थी।

सन्त महामुद्रा साधना तो भूल चुके थे किन्तु उन्मनी समाधि की स न वे अवश्य करते थे और उसके उपरान्त सहज-स्वभाव धारण करने का उ देश देते थे। उनका यह सहज-स्वभाव और उसका निरूपण तन्त्र तथा योग के अति रिक्त एक तीसरी पद्धति से प्रभावित था, वह थी-वैष्णवी पद्धति। भक्ति मार्ग शरणागति और आत्मार्पण की भावना ही प्रधान थी, अत उनमे उन सभी कर्मों को सहज माना गया था जो अनासक्त भाव से किये जायँ, जिनके फल तथा कु फल में कर्त्ता की मति सम हो, वह सुख दुख आदि के मोह मे ग्रस्त न होवे। वे कर्म भौतिक होते है. सासारिक होते है किन्तु अनासक्त बुद्धि से किए जाने पर साधक को नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त कराते है। इसी प्रसग में गीता में कहा गया था

यत' प्रवृत्तिर्भूतानाम् येन सर्वमिदम् ततम्
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिम् विन्दति मानव ॥

सहज कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निमिवावृत ॥

असक्तबुद्धि सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृह
नैष्कर्म्यसिद्धि परमा सन्यासेनाधिगच्छति ॥[२२२]

गीता मे यह भी बताया गया था कि यदि वैसे चित्त प्रभु मे स्थिर नही रहता तो यह स्थिति अभ्यास योग से भी आ सकती है

अथ चित्तम् समाधातुम् न शक्नोषि मयि स्थिरम्
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुम् धनजय ॥[२२३]

इसी अभ्यास योग को तन्त्रो में महामुद्रा साधना और योग मे सहज योग उन्मुनी समाधि के रूप मे सिद्धो नाथो और सन्तो ने ग्रहण किया था। किन्तु वैष्णव चिन्ताधारा मे एक और मार्ग बताया गया था, वह यह कि अपने समस्त कर्म कृष्ण को अर्पित कर दिए जाय 'तदर्पिताखिलाचार सन् कामक्रोधाभिमाना-दिकम् तस्मिन्नेव करणीयम्।'[२२४] ऐसा व्यक्ति जो कुछ बोलता है वही हरिनाम है, जितनी दूर चलता है, वही तीर्थ है, जो कुछ करता है, वही पूजा है। इसमे किसी योग, किसी तन्त्र, किसी जप-तप की आवश्यकता नही केवल मन भगवान के प्रति अर्पित रहना चाहिए।

कबीर योगाभ्यास द्वारा सिद्ध होने वाली सहज-रहनी की तुलना मे इस वैष्णव सहज जीवन-पद्धति से कही अधिक प्रभावित थे जैसा उनके इस पद से ज्ञात होता है :

साधो सहज समाधि भली
गुरु प्रताप जा दिन से जागी, दिन दिन अधिक चली
जह जह डोलौं सो परिकरमा, जो कुछ करौं सो सेवा
जब सोवौ तव करौ डंडवत, पूजौं और न देवा
कहौ सो नाम, सुनौ सो सुमिरन, खाव पियौं सो पूजा
गिरह उजाड एक सम लेखौ, भाव मिटावौ दूजा

इस सहज भावयोग मे किसी प्रकार के वाह्य दिखावे के अनुष्ठान अथवा आचारो की आवश्यकता नही है :

आख न मूंदो कान न रूधौं तनिक कष्ट नहि धारौ
खुले नैनि पहिचानौं हंसि हंसि सुन्दर रूप निहारौ ।

योग की उनमुनी समाधि भी इस भक्ति भाव में अन्तर्मुख हो जाती है :

कह कबीर यह उनमुनी रहनी सो परगटि करि गाई
सुख दुख से कोई परे परम पद तेहि पद रहा समाई ।।[२२५]

और वास्तव मे वह पद विष्णु का पद था, राग का पद था जिसने अपने वामनावतार में तीन पगो से वसुधा नाप ली थी । समस्त भारतीय सस्कृति पर वैष्णवता लता-वितान की भाति आच्छादित हो गई थी । कबीर का समस्त तत्व चिन्तन जिसकी जडें सिद्धो से आने वाली परम्परा मे थी वह सहज-चिन्तन रूपी बेलडी वास्तव मे राम का गुणगान बन गया था, राम के गुन की बेलड़ी बन गई थी

राम गुन बेलडी रे अवधू, गोरषपाथि जाणी ।
नाति सरूप न छाया जिसके बिरध कौ बिन पाणी ।।
सहज बेलि जब फूलण लागी डाली कूपल मेल्ही ।
काटत बेली कूपले मेल्ही सीचताडी कुमिलाणी ।।
कहैं कबीर तें बिरला जोगी, सहज निरन्तर जाणी ।[२२६]

इस पद मे यह उल्लेख आया है कि सहज रूपी बेल से गोरष के अनुयायी भी अपरिचित नही थे । गोरखबानी मे वर्णित हुए 'सहज' की विवेचना हम कर चुके है और यह भी सकेत कर चुके हैं कि कुछ स्थलो पर तान्त्रिक अथवा योग साधनाओ वाले तात्पर्य से सर्वथा विनिर्मुक्त शुद्ध सहज जीवन-पद्धति

के रूप मे भी गोरखपन्थी सहज को मान्यता देते थे। फिर कबीर मे क्या विशेषता है जो उनको वैष्णव सहज-चिन्तन के अधिक निकट कहा गया है ?

वास्तव मे गोरख की साधना-पद्धति मे पुरुष के ३२ लक्षण बताए गए है जिन्हे ग्राठ परीक्षाग्रो मे विभाजित किया गया है। उनमे से सहज परीक्षा के अन्तर्गत वृहत, शीतल, सुखद और स्वभाव ये चार लक्षण बताये गये है।[२२७] गोरखबानी मे 'बत्तीस लछन' मे इसे अष्टाग और पारछ्या बताया गया है और सहज मे उपर्युक्त चार लक्षणों को 'सुमती, सुहृदी, सीतल और सुषदाई' बताया गया है। ध्यान, धारणा, समाधि आदि 'सुनि पारछ्या' के अन्तर्गत है और सहज उनसे मुक्त है।[२२८]

किन्तु कबीर ने इसमें एक तत्व और जोडा था. भक्ति और प्रभु के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण, समस्त कर्मों को कृष्णार्पित कर फलाफल से निरपेक्षता और नाथयोगियो का इस तत्व से परिचय नही हुआ था, या उन्होने इसे स्वीकार नही किया था।

किन्तु एक बात की ओर कबीर ने सकेत किया था कि सहज-सहज तो सभी कहते है किन्तु जानता कोई भी नही। सहज वही है जिससे साहब मिले और साहब तभी मिलता है जब साधक अपने को पूर्णतया अर्पित कर दे। किन्तु कालान्तर मे सन्त परम्परा के बहुत से साधक ऐसे हुए जो सहज के इस गम्भीर अर्थ को भूल गये और वे सहज-पद्धति का अर्थ वह पद्धति समझने लगे जिसमे कुछ भी न करना पडे। और इसका परिणाम हुआ कि वह उदात्त सहज-चिन्तन जिसने गीता से लेकर, सिद्धो और नाथ परम्परा मे होते हुए कबीर तक को अनुप्रेरित किया था, जिसने तन्त्र, योग, और भक्ति तीनो की पद्धतियो मे सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त किया था, वही 'सहज' भिक्षा से भरपेट भोजन कर केवल पलग पर लेटे रहने का वाचक हो गया और जीवन मस्ताने (लगभग १८०० ई०) ने कहा .

जब दो खात दारि पैसा भर कैसी फरकत बोटी है।
सहज सुभाय रहत निसिबासर रहत पलग पर लोटी है॥[२२९]

इस प्रकार यह सहज-चिन्तन और जीवन-पद्धति अन्ततोगत्वा इस स्तर तक उतर आई और उसका सारा महत्व समाप्त हो गया।

घ

साधना-पद्धति की वज्रयानी प्रवृत्तियाँ और शब्दावली

गुरु

इस साधना मे प्रवृत्त होने के पूर्व गुरु कर लेना आवश्यक है क्योकि मध्यकालीन योग तथा तन्त्र साधनाओ मे यह सर्वमान्य धारणा थी कि कभी भी निगुरे को सिद्धि प्राप्त नही हो सकती। बाद मे जिन सम्प्रदायो मे योग तथा तंत्र की गुह्य साधनाओ का परित्याग भी कर दिया गया है, उनमे गुरु का यह महत्व परम्परागत रूढि सा बन गया है। कबीर तथा अन्य सभी परवर्ती सन्तो ने गुरु का यह महत्व बराबर स्वीकार किया है। किन्तु गोरखपन्थी बानियो तथा सन्तो की बानियो मे इस विषय मे एक विशेष अन्तर है। नाथपन्थी बानियो का गुरु योगशास्त्र का ज्ञाता है।[1] सन्तो का गुरु वैष्णव है, और शब्द सुरति के साथ-साथ वह हरिभक्ति का भी मधुर उपदेश देता है।[2] गुरु के विषय मे श्रद्धा उस समय इतनी प्रचलित थी अत. सन्तो ने या नाथपन्थियो ने यह वज्रयानी सिद्धो से ही प्रभावित होकर ग्रहण की इसका कोई प्रमाण नही है। हाँ, नाथपन्थियो मे कई स्थलो पर ऐसा ज्ञात होता है कि शिष्य गोरखनाथ अपने गुरु मछीन्द्रनाथ को उपदेश दे रहे हैं।[3] यह परम्परा-विरुद्ध सी बात लगती है किन्तु इसके मूल में सम्भवत. उस घटना की स्मृति है जिसमे कहा जाता है कि गोरखनाथ ने योगिनियो के जाल से मछीन्द्र को मुक्त कराकर तान्त्रिक अनुष्ठानो का बहिष्कार किया था।

सन्तो की बानियो मे 'गुरुदेव के अंग' को सर्वप्रथम स्थान दिया जाता

है। यह उनके अतुल महत्व का परिचायक है। जहाँ तक गुरु के लक्षण, शिष्य के लक्षण आदि आदि अगो का प्रश्न है वे तान्त्रिक ग्रन्थो की अनुसरण-परम्परा का आभास देते है यद्यपि इन सन्तो का गुरु न तान्त्रिक गुरु है और न वज्र-यानी। वह निस्सदेह ऐसा गुरु है जिसने शब्द-सुरत-योग और भक्तियोग इन दोनो की समन्वित साधना की है क्योकि उसने शिष्य को भी दोनो ही पद्धतियो का उपदेश दिया है

योग—दौ लागी साइर जल्या पषी बैठे आइ
दाधी देह न पालवै सतगुर गया लगाय।[४]
भक्ति—सतगुरु हमसू रीझि करि एक कह्या परसग
बरसा बादल प्रेम का भीजि गया सब अग।[५]

भक्ति और योगमार्ग का यह पूर्ण एकात्म राघवानन्द तथा रामानन्द की गुरु परम्परा को ओर सकेत करता है क्योकि उनके मार्ग मे अवधूतो की योग पद्धति तथा वैष्णव भक्ति इन दोनो का समन्वय हो गया था।[६]

इस प्रकार गुरु के महत्व की परम्परा सतो ने वज्रयानी सिद्धो से नही ली थी किन्तु गुरु-वचन के लिये बाण का उपमान तथा वज्र विशेषण अवश्य सिद्धो तथा सन्तो मे समान रूप में मिलते है। चर्यापदो मे गुरु-वचनो को बाण या वज्रकुठार बताया गया है जिस पर हम पीछे विचार कर चुके है। सन्तो मे भी यह उपमान प्रयुक्त हुआ है :

गुरु कै बाणि बजर कल छेदी प्रगटिया पदु परगासा
सकति अधेर जेवडी भ्रमु चूका निहचलु सिव धरि वासा ॥[७]
सतगुरु मारया बाणि भरि धरि करि सूधी मूठि
अगि उघाड़ै लागिया गइ दवा सू फूटि ॥[८]

अद्वयवज्र ने अपने प्रेमपचक मे सदगुरु को दूती बताया है, जो वधू प्रज्ञा तथा वर उपाय की मध्यस्थता कर दोनो का मिलन सम्पन्न करा देता है। सन्तो मे ज्ञानवधू तथा साधकरूपी वर का मध्यस्थ गुरु को माना गया है :

सन्तन किया वियाह दुलहिनी ज्ञान की।
सतगुरु दिया कराय बेटी जजमान की।[९]

अनाडी गुरु के निषेध का एक दोहा तो सरहपा, कबीर, दादू तथा अन्य कितने ही सन्तो मे बिल्कुल समान रूप मे मिलता है :

सरहपा—जाव ण अप्पा जाणिज्जइ ताव ण सिस्स करेइ
अंधे अन्ध कढावइ तिम वेण्ण वि कूप पड़ेइ।[१०]
कबीर—जाका गुरु भी अन्धला चेला खरा निरन्ध
अन्धै अन्धा ठेलिया दून्यूं कूप पडन्त।[११]
दादू—अन्धे अन्धा मिलि चले दादू बाधि कतार
कूप पडे हम देखता अंधे अंधा लार।[१२]

देह

वज्रयानी सिद्धो के साधना केन्द्रो पर विचार करते समय हमने यह देखा था कि तन्त्रपीठो में जालन्धर, कामरूप, ओडियन तथा श्रीहट्ट प्रमुख तन्त्रपीठ माने जाते थे। इस वाह्य तन्त्रपीठो की स्थिति काया मे भी मानी गई थी और बौद्ध हठयोग साधना मे इन तन्त्रपीठों की स्थिति काया के अन्दर भी बताई गई है। चर्यापदों में केवल उड्डीयान तथा कामरूप का उल्लेख मिलता है। कुक्कुरीपा की चर्या में अर्द्धरात्रि को प्रज्ञाज्ञानाभिषेक के समय अवधूती रूपी बधू अभिसार के लिये कामरूप जाती है जिसकी व्याख्या टीकाकार ने 'महा सुख-चक्र स्थान' में, की है।[१३] चौथे चर्यापद में भी मणिकूल (मणिमूल,मूलस्थान) से उद्‌बुद्ध होकर वज्रचित्त के उडीयान या उर्ध्व महासुखस्थान में समाहित होने की साधना का वर्णन है।[१४]

देहस्थ सिद्ध पीठ

शैव पद्धतियो मे भी ये तन्त्रपीठ काया में स्थित माने गये थे और उनके नाम पर उड्डियानबन्ध, मूलबद्ध आदि प्रक्रियाएँ प्रचलित थी, यद्यपि स्थिति आदि में सम्भवत· थोडा सा अन्तर था। सिद्ध-सिद्धान्त-सग्रह मे त्रिधावर्त, भगमंडलादि की आकृति वाले ब्रह्मचक्र (मूलाधार चक्र) मे कामरूप पीठ की स्थिति बताई गई है। उड्डियान पीठ की स्थिति स्वाधिष्ठान चक्र मे मानी गई है।[१५] हठयोग-प्रदीपिका में उड्डियान बन्ध के द्वारा सुषुम्ना को जाग्रत करने का विधान मिलता है और उसी प्रसग में प्राण को महाखग भी कहा गया है।[१६] इसी प्रकार मूलबन्ध और कंठस्थान से सम्बद्ध जालन्धरबन्ध का भी उल्लेख हठयोग-प्रदीपिका मे मिलता है।[१७]

गोरखवानी मे भी उड्डियान, श्रीहट्ट (सुरहट), मुलतान (मूलस्थान) कामरूप (कावरू) आदि का उल्लेख मिलता है। एक पद मे पाच इन्द्रिय रूप बैल तथा नौ रन्ध्रो की गायो को बाखर मे लाकर सहज स्वभाव द्वारा मन के उड्डीयान गमन का उल्लेख है

सहज गोरषनाथ वाणिज कराई, पचबलद नौ गाई
सहज सुभावै बाषर ल्याई, मोरे मन उडियानी आई ॥
सुरहट घाट आम्हे बणिजारा, सुंनि हमारा पसारा।
लेख न जाणौ देख न जाणौ एद्वा बणज हमारा ॥[१८]

इसी प्रकार मूलस्थान (मुलतान) मे प्राणायाम द्वारा ब्रह्माग्नि के प्रज्वलित होने का वर्णन मिलता है .

दिपणि हमारी डीबी पाकै अगनि वलै मुलतान
ऐसे हम जोगेसर निपना, प्रगट्या पद निर्बानं ॥[१९]

श्रीहट्ट के बीच मे कामरूप, (अर्थात् सम्भवत भगमण्डलाकार मूलाधार के मध्य मे कामरूप पीठ) को प्राणायाम द्वारा विजित करने का सकेत इन पक्तियो मे मिलता है

उलटि यन्त्र धरे पिषर आसन करे कोटि सन छूटता घाव नाही
सिलहट मध्ये कावरू जीतले निर्मल धुनि गगन माही ॥[२०]

श्रीहट्ट आदि की स्थिति का विशेष विवरण नही मिलता किन्तु कामरूप की स्थिति अवश्य बदल गई है। बौद्ध साधना में कामरूप सर्वोच्च महासुखचक्र माना गया है किन्तु सिद्ध-सिद्धान्त-सग्रह मे वह प्रथम चक्र, मूलाधार में स्थित कर दिया गया है। ज्ञात होता है कि इस सम्बन्ध मे विभिन्न शैव पद्धतियो की विभिन्न धारणाए थी। बौद्ध पद्धतियो में भी परस्पर मतभेद था जिस पर हम पहले विचार कर चुके है।

सरहपा ने हठयोग साधना के प्रसग मे इसी शरीर मे गगा तथा जमुना और प्रयाग तथा वाराणसी तीर्थों की स्थिति बताई थी जिस पर हम पीछे विचार कर चुके है। वास्तव मे तत्व-प्राप्ति देह मे ही होने के कारण देह का अतुल महत्व उन परवर्ती सम्प्रदायो मे भी माना गया जो योग से सम्बन्धित थे।

देह का महत्व

सन्तो ने भी देह मे ही समस्त तीर्थों और देवताओ की स्थिति का उल्लेख किया है .

काया माहैं सागर सात। काया माहै अविगत नाथ ॥
काया माहै नदिया नीर। काया माहै गहिए गभीर ॥
काया माहै सरवर पाणी। काया माहै वसै बिनाणी ॥
काया माहै नीर निवान। काया माहैं हस सुजान ॥
काया माहै गङ्ग तरङ्ग। काया माहै जमना सङ्ग ॥
काया माहै सुरसती। काया माहैं द्वारामती ॥
काया माहैं कासी थान। काया माहैं करै सनान ॥
काया माहै पूजा पाती। काया माहैं तीरथ जाती ॥
काया माहै मुनियर मेला। काया माहै आप अकेला ॥[२१]

इस प्रसग मे यह सकेत कर देना आवश्यक है कि सिद्धो की देह मे स्थित प्रयाग, वाराणसी आदि की कल्पना भी हिन्दू परम्परा का प्रभाव प्रतीत होता है क्योकि उन्होने किसी बौद्ध तीर्थ का रूपक नही ग्रहण किया है। प्रयाग, वाराणसी हिन्दुओं के ही तीर्थ थे, बौद्धो के नही। गङ्गा यमुना भी हिन्दुओ मे आदृत है बौद्धो मे नही। सन्तो ने सम्भवत उसी अबौद्ध परम्परा से प्रभावित होकर देह मे ६८ हाटो की कल्पना की है। यह '६८ हाट' वास्तव मे हिन्दुओं के ६८ तीर्थों का देहस्थ रूप था।

जीउ बटाऊ जन्म हाट। काया बस्ती अठसठ हाट।[२२]

किन्तु जहाँ इन हाटो का विस्तृत विवरण दिया गया है वहाँ हठयोग के चक्रो-नाडियो आदि का संकेत मिलता है। नानक ने प्रथम हाट का नाम अनन्त, द्वितीय का नाभि-कमल, तृतीय का भण्डार, चौथे का उद्यम-उदन्त, पाँचवें का बंकनाल रक्खा है और इसी तरह समस्त हाटो का नाम और वर्णन हठयोग से सम्बद्ध है। अन्त मे वेणी या सङ्गम हाट का उल्लेख है जहाँ इडा, पिंगला और सुषुम्ना का पूर्ण मिलन हो जाता है और मन सहज ही अडसठ तीर्थो का पुण्य फल पा लेता है।

बेनी हाट जबै मनु जाय। मनु तहिं बेनी कर्म कमाय
बेनी सङ्गम जब मनु जाता। तन अडसठ सहजै ही न्हाता।[२३]

साधना-पद्धति की वज्रयानी प्रवृत्तियाँ और शब्दावली

सिद्धो ने जहाँ वाह्यतीर्थों का निषेध किया है वहाँ शरीर को ही जिनपुर माना है। उसी मे ध्यानी बुद्धो का वास माना है। यह परम्परा जैनो ने भी अपनाई थी, देह रूपी देवालय मे शक्तियो सहित जो देव वास करता हैं, वह शिव कौन है ?

देहा देवलि जो वसइ सत्तिहिं सहियउ देउ
को तहिं जोइय सत्तिसिउ सिग्घु गवेसहिं भेउ।।[२४]

उसी शिव और शक्ति के कारण यह देह देवालय है, तीर्थो मे भी अधिक पवित्र है। उस शिव और शक्ति का वास नाथ योगियो और सन्तो ने भी देह में माना था। उसके लिये उन्होने देह को 'अरध' तथा 'उरध' मे विभाजित किया था।। 'अरध उरध' विभाजन, उनमे शिव और शक्ति का वास तथा वज्रयानी परम्परा द्वारा मान्य बुद्ध का देह मे वास, इनके विकास-क्रम पर हम अब विचार करेंगे।

अरध उरध ये श्वास गति की दो सीमाएँ है। जहाँ से श्वास निरोध कर विन्दु को स्थिर किया जाता हैं, और वह स्थल जहाँ तक उस विन्दु को पहुँ-

देह मे अरध उरध

चाया जाता है। प्रथम स्थन है मूलस्थान या मूलाधार चक्र और अन्तिम स्थान है सहस्रार चक्र। इन्ही दोनो को अध और ऊर्ध्व भी कहा जाता था। वाद मे चार चक्रो के स्थान पर षट-चक्र-पद्धति ग्रहण की गई किन्तु प्रथम और अन्तिम चक्र वही माना गया और इसी कारण अर्ध और ऊर्ध्व की कल्पना नाथ और सन्त परम्परा मे यथावत् चली आई, केवल उसको वौद्ध के वजाय शैव रूप मे ग्रहण किया गया।

वज्रयानी दोहो मे इस अध और ऊर्ध्व का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। सरहपा ने कहा है कि जो अध और ऊर्ध्व का भेद न जानकर दोनो का युगनद्ध नही सम्पन्न करते वे दोनो के वीच मे भ्रम मे पडकर नष्ट हो जाते हैं।

अधउध मज्झें सअल मूअ णासी[२५]

इसी अध को आलोक से उद्घाटित कर, चण्डाग्नि प्रज्ज्वलित कर ध्यान स्थित होने का उपदेश तिलोपा ने दिया है

अध उघाड्यि आलोअणें होइ रे थित्ति ।।[२६]

योगिनी-कौल-मार्ग की पद्धति में भी 'अध-ऊर्द्ध' में हंस के रमण का उल्लेख मिलता है।[२७] अध मे विन्दु जाग्रत कर ऊर्द्ध की ओर विन्दु को प्रेरित करने के कारण ही साधक को ऊर्ध्व रेतस् कहा जाता था।

गोरखवानी मे इस अध और ऊर्ध्व के कई उल्लेख मिलते है। एक स्थान पर अध और ऊर्ध्व के मध्य मे शून्य का वास (त्रिकुटी) का उल्लेख है : 'अरध उरध विच धरी उठाई, मधि सुनि मे बैठा जाई।'[२८] यहाँ पर अरध शब्द वास्तव मे उरध की तुलना मे अध का ही रूपान्तर है :

दूसरे स्थल पर पूर्वोक्त योगिनी-कौल-पद्धति के हंस रमण वाली पंक्ति की छाया ही मिलती है

यो० कौ० अधोर्द्ध रमते हंसो द्वादशान्ते लयं पुन: ॥

गोरखवानी अरधन्त कवल उरधत मध्ये प्राण पुरिस का वासा
द्वादस हंसा उलटि चलैगा, तब ही जोति प्रकासा ॥[२९]

एक अन्य स्थल पर अरध और उरध के मध्य में पवन को कुम्भक द्वारा स्थिर कर ब्रह्मरन्ध्र को उद्घाटित करने का विधान है :

अरधै उरधै लाइलै कूची, थिर होवै मन तहाँ थाकीले पवना
दसवा द्वार चीन्हिले छूटै आवागवना ॥[३०]

सन्त परम्परा में भी इस अरध उरध की कुम्भक साधना का उल्लेख मिलता है

अरध उरध मुखि लागो कासु
सुंन मंडल महि करु परगासु ॥
उहा सूरज नाही चन्द
आदि निरंजनु करै अनन्द ॥[३१]
धधा अरधहि उरध निवेरा
अरधहि उरधह माझि बसेरा
अरधह छाडि उरध जउ आवा
तउ अरधहि उरध मिलिआ सुख पावा ॥[३२]

चौपड माही चौहटे अरध उरध बाजार
कहै कबीरा रामजन खेलौ सत विचार ॥
पासा पकड्या प्रेम का सारी किया सरीर
सतगुरु दाव बताइया खेलै दास कबीर ॥[३२]

इनमे से अन्तिम उद्धरण का एक विशेष महत्व है क्योकि उसमे कबीर ने कुम्भक प्राणायाम के साथ साथ अरध-उरध साधना मे प्रेम या भक्ति का तत्व भी जोड दिया है जो उनके परम वैष्णव स्वभाव के सर्वथा अनुरूप है ।

काया मे प्रज्ञा-उपाय या शिव-शक्ति

किन्तु शैव परम्परा मे इस अध और ऊर्ध्व की कल्पना मे एक सशोधन हो गया था जिस पर दृष्टिपात करना आवश्यक है प्रज्ञोपाय योग मे प्रज्ञा का वास नैरात्मा के रूप मे महासुखचक्र मे माना गया था और उपाय अथवा वज्र का स्थान नीचे मणिमूल मे । शैव परम्परा में यह क्रम उलट गया । मूलाधार (अरध) मे शक्ति कुंडलिनी रूप मे स्थित बताई गई और ऊर्ध्व मे शिव का वास मानकर उसे कैलाश कहा जाने लगा । मछिन्द्र-गोरख-बोध मे शिव और शक्ति के वास का स्पष्ट उल्लेख आता है

गोरख— स्वामी कहा बसै सक्ती कहा बसै सीव
कहा बसै पवना कहाँ बसै जीव
कहा होई इनका परचा लहै ।
सतगुरु होइ सु बूझ्या कहै ॥

मछीन्द्र— अवधू अरधै बसै सक्ती, उरधै बसै सीव
भीतरी बसै पवना अतरी बसै जीव
निरन्तर इनका परचा लहै । ऐसा विचार मछीन्द्र कहै ।[३४]

इसी शक्ति और शिव का उल्लेख सन्तो ने भी किया है

कबीर— सिव सक्ती दिसि कोण जोवै पछिम दिसा उठै धूरि[३५]
पलटू— चलै न सिव कै जोर जाय जब सक्ती लीन्हा ॥
फिर सक्ती ना रही मिली जब सिव मे जाई
सिव भी फिर ना रहे सक्ति के सीव कहाई ॥[३६]

केशवदास—अरध उरध के मध्य निरन्तर सुखमन चौक पुराई हो
रवि ससि कु भक अमृत भरिया गगन मडल मठ लाई हो
साध सन्त मिल कियो बसीठी, सतगुरु लगन लगाई हो
दरस परस पतिवरता पिव की, सिव घर सक्ति बसाई हो[३७]

जायसी ने भी तन मे अरध और उरध मे बसने वाले शक्ति और शिव का उल्लेख किया है और सिंघल जाने के पूर्व अपने मन मे या चित्त मे इस शक्ति और शिव को एकात्म कर लेने का निर्देश किया है .

गजपति यह मन सकती सीऊ । पै जहि पेम कहाँ तेहि जीऊ ॥
जौ पहिलै सिर पै पगु धरई । मुए केर मीचहु का करई ॥
सुख सकलपि दुख सावर लीन्हेउ । तो पयान सिंघल कह कीन्हेउ ॥[३८]

यहाँ पर कबीर की ही भाँति जायसी ने शिव और शक्ति के अद्वैत की साधना मे कुभक प्राणायाम के बजाय प्रेम को महत्व दिया है । इस प्रकार अरध और उरध को शैव रूप दे देने के उपरान्त उसकी साधना मे हठयोग के साथ-साथ भावयोग की पद्धति स्वीकार कर उसे भक्ति की सहायक साधना मान लिया गया और प्रेम को प्रमुख स्थान दिया गया । किन्तु इसी शक्ति और शिव के संयोग मे सहज-तत्व की उत्पत्ति होती है इससे कबीर भी भली भाँति अवगत मालूम पडते है .

काटि सकति सिव सहज प्रकासिश्रो एकै एक समाना ना
कहि कबीर गुर भेट महासुख भ्रमत रहे मनु माना ना ॥[३९]

वज्रयानी सिद्धो ने बुद्ध को चारो चक्रो मे प्रतिष्ठित कर साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण हरि, हर, ब्रह्मा को बहुत गौण स्थान देकर तीन अत्यन्त शुद्ध नाडियो का अधिष्ठाता माना था । धामपाद के चर्यापद मे हरि, हर और ब्रह्मा इन तीन नाडियो का उल्लेख मिलता है ·

मानव देह मे हिन्दू देवता

दाढइ हरिहर ब्राह्मण नाडा नवगुण शासन पाडा ॥[४०]

टीका मे मुनिदत्त ने सन्ध्यावचन के अनुसार मूत्रनाडी को हरि, शुक्र नाडी को हर और विट नाडी को ब्रह्मा वताया है । चडाग्नि के प्रज्वलित होने से ये तीनो नाडियाँ जल कर राख हो जाती है और केवल उपाय तथा प्रज्ञा, बुद्ध

तथा उनकी शक्ति शेष रहते है। इस कल्पना के पीछे साम्प्रदायिक तिद्वन्दित का स्पष्ट आभास प्रतीत होता है।

लगता यह है कि परवर्ती हिन्दू परम्परा ने बुद्ध को गौण स्थान देक इसका प्रतिशोध लिया है, यद्यपि फिर भी उन्होंने बुद्ध को उस प्रकार अपम। नही किया जैसा बौद्धो ने हिन्दू देवताओ को किया। ये तीनो हिन्दू देवता क मे स्थित माने गये और सच्चा सतगुरु वह बताया गया जो राम से इसी मे मिलन करा दे

साचा सतगुरु राम मिलावे, सब कुछ काया माँहि दिखावै
काया माँहि तीन्यू देव । काया माहै अलख अभेद ॥[४१]

राम का यह महत्व परवर्ती नाथ योगी भी स्वीकार करने लगे थे

एही राजा राम आछै सर्वे अग वासा
एही पाँचौ तत वावू सहज प्रकासा ॥[४२]

वगाल के नाथ योगियो मे काया मे स्थित देवताओ मे बुद्ध का लोप गया है और धीरे-धीरे शैव देवताओ के अतिरिक्त वैष्णव देवताओ का मह बढता हुआ दृष्टिगोचर होता है .

मानव देहेर खबर जान रे मन
देह रे उत्तर दक्खिन पूर्व पश्चिम कोथाय वृन्दावन।[४३]

...

चूडते चूडामणि ब्रह्ममूल स्थिति, पाट मध्ये महाविष्णु केरछे वसति।
चक्खेते कालाचार सदाइ करे ध्यान, कर्णेते चैतन्य गोसामी हयेछे सावधान

उपरोक्त पद मे देह को आठ मुकामो मे विभाजित किया गया है शिव तथा शक्ति को भग और लिंग मे स्थित माना है किन्तु वैष्णव देवत और आचार्यों को अधिक महत्व दिया गया है। इस प्रकार कायावासी देवत मे भी धीरे-धीरे बौद्ध परम्परा शैव परम्परा द्वारा पराजित होकर वैष्णव ९ मे विलीन हो जाती है, वैष्णव देवता सर्वप्रमुख हो जाते है।

चक्र तथा नाड़ियाँ

नाथ-योग-पद्धति तथा सन्तो की योग-साधना इस दृष्टि से सर्वथा

थी कि उसमे चक्रो की सख्या, नाम तथा रूप ग्रादि हिन्दू पद्धति के ग्रनुसार थे।

चार चक्र

हिन्दू योग परम्परा के षट-चक्र, उनके नाम, उनकी स्थिति उनके कमल दलो की सख्या ग्रादि की तुलना हम पहले ही बौद्धो के चार चक्रो से कर चुके है (ग्रध्याय ३ ग)। किन्तु बौद्धो की काया मे चार चक्र मानने वाली परम्परा भी किसी न किसी रूप मे जीवित ग्रवश्य थी, क्योकि जायसी काया मे चार बसेरो के ग्रतिरिक्त चार चक्रो का भी उल्लेख करते है।

चारिहुँ चक्र फिरै मन खोजत, दड न रहै न थिर मार
होइ के भसम सग धावौ, जहाँ सो प्रान ग्रधार।[४५]

यह कहा जा सकता है कि यहाँ चार की संख्या का व्यवहार सूफियो की साधना की चार ग्रवस्थाग्रो के लिये किया गया है।[४६] किन्तु इस पूरे प्रसंग मे योग-साधना का ही रूपक है, सूफियो की प्रेम साधना का नही। यहाँ पर इन चार चक्रो का ग्रर्थ समझने के लिये हमे सूफी योग-साधना मे स्वीकृत चक्र-प्रणाली पर भी एक दृष्टि डालनी होगी। सूफियो के नक्शबन्दी सम्प्रदाय के शेख ग्रहमद (११०० ई०) ने मनुष्य के शरीर मे नाभि से गर्दन तक ६ ग्रवस्थान बताये है। नफ्स जो नाभि के नीचे है, कल्ब जो छाती की बायी ग्रोर है, रूह जो छाती मे बाई ग्रोर है, सिर्र जो छाती के बीचोबीच है, खफी जिसका स्थान ललाट मे है ग्रौर ग्रख्फा जो मस्तिष्क मे है। हिन्दुग्रो की षटचक्र परम्परा से इसकी तुलना करने पर हम यह देखते है कि हिन्दुग्रो में मूलाधार चक्र मेरु के मूल मे स्थित है, जबकि सूफियो के प्रथम चक्र की स्थिति नाभि के पास है, जहाँ हिन्दुग्रो का तीसरा चक्र मणिपूर स्थित है। हिन्दू परम्परा में हृदय के समीप केवल एक चक्र है ग्रनाहत, जब कि सूफी परम्परा मे ३ चक्रों की स्थिति हृदय मे ही है। कठ के समीपवर्ती विशुद्धाख्य चक्र का सूफियो की इस परम्परा ने कोई उल्लेख नही किया।[४७]

बौद्ध परम्परा से नक्शबन्दी सम्प्रदाय के चक्रो की तुलना करने पर हम ग्रधिक समानता पाते है। बौद्ध परम्परा मे भी प्रथम चक्र नाभि के पास स्थित बताया गया है जो भगवान तथागत की निर्माण-काया का वासस्थान है। हेवज्र-तत्र की कुछ पाडुलिपियो मे प्रथम चक्र की स्थिति उपस्थ मूल मे भी बताई गई है किन्तु नाभि वाली परम्परा सर्वमान्य थी। इस दृष्टि से सूफियो का प्रथम चक्र नफ्स, वज्रयानियो के प्रथम चक्र नाभि-कमल का ही रूपान्तर प्रतीत होता है।

उसके उपरान्त तीन चक्र हृदय प्रदेश मे ही स्थित हैं। हृदय प्रदेश . इतना महत्व हिन्दू परम्परा मे कभी नही दिया गया किन्तु योगाचार की परम्प मे अन्तिम चक्र 'मनोवस्तु' हृदय प्रदेश मे ही माना गया था और नाभि मे लेक हृदय तक ही समस्त चक्रो की स्थिति मानी गई थी।[४८] वज्रयानी परम्परा अन्तिम चक्र मस्तिष्क मे माना गया किन्तु मन का महत्व भी कम नही हु क्योकि वे आत्मा के बजाय चित्त को ही अधिक महत्व देते थे। मन का व महत्व सूफी परम्परा मे हृदय प्रदेश के तीन चक्रो के रूप मे अवशिष्ट गया। खफी भ्रूमध्य मे स्थित सम्भोग चक्र या आज्ञा चक्र का ही रूपान्तर .ती होता है। सेकोद्देश टीका मे नारोपा ने सम्भोग की स्थिति ललाट मे ही मा है।[४९] अतिम चक्र हिन्दू वज्रयानी तथा सूफी तीनो परम्पराओ मे मस्तिष्क माना गया है। यदि हम कल्ब, रूह और सिर्र को एक ही चक्र के तीन दल सम ले तो सूफियो में स्तर की दृष्टि से चार ही खड माने जायँगे। नाभि (नफ्स हृदय (रूह, कल्ब, सिर्र), ललाट (खफी), मस्तिष्क (अख्फा)। चार चक्रो। इसी योजना से जायसी परिचित रहे होगे, सिद्धो की प्रत्यक्ष चार चक्रो की .ोज से नही। किन्तु इस सूफी परम्परा पर बौद्ध प्रभाव का आभास का अनुमान का जा सकता है। जहाँ तक नाथ योगियो और सन्तो का प्रश्न है वे षट्चक्र से परिचित थे, चार चक्रो को उन्होने कही मान्यता नही दी।

चक्रो ही के समान नाडियो के सम्बन्ध मे भी नाथ साहित्य और साहित्य मे हिन्दू योग परम्परा का आश्रय लेकर बौद्ध नामो का तिरस्कार किया है। किन्तु जहाँ चक्र योजना मे हिन्दू तथा बौद्ध परम्परा मे केवल नाम वरन् सख्या और स्थिति मे भी अन्तर है, व नाडियो के सम्बन्ध मे इतना अन्तर नही है। वे ही नाडि है, उनकी लगभग वैसी ही स्थिति है केवल उनका नाम दूसरा हैं।

नाडियाँ

बौद्ध सिद्धो ने तीन नाडियाँ, ललना, रसना तथा अवधूती मानी थी हिन्दू हठयोग परम्परा में इन्ही नाडियो को इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना नाम । गये है। इनकी स्थिति इनके लिये प्रयुक्त उपमान तथा इनमे सम्बद्ध शक्ति नाडी तथा दशमद्वार का विवरण हम पहले ही दे चुके है।[५०] दोनो की तुल इस प्रकार है

ललना (हिन्दू नाम इडा), उपमान गगा, चद्र, प्रज्ञा, शक्ति, (स्थिति वाम), रसना (हिन्दू नाम पिंगला), उपमान यमुना, सुर्य, उपाय, शिव (स्थिति दक्षिण)

इन दोनो के मध्य मे अवधूती या सुषुम्णा हैं जो सरस्वती है, सगम है, औघट घाट है, ब्रह्माग्नि या चडाग्नि-वाहिनी हैं। अवधूती को ब्रह्म-चक्र से शखिनी नामक एक नाडी सम्बद्ध करती है जिसे बकनाल कहते हैं। इसी बकनाल से होकर अमृत झरता है और जिस रन्ध्र से अमृत आता है उसे दशम द्वार कहते है। दशम द्वार का वर्णन चर्यापदो मे भी आता है 'दशमि दुआरेते चिन्ह देखा-इआ'।[५१] इन्ही नाडियो में पवन निरुद्ध कर सुपुम्णा मे श्वास सचालन द्वारा दशम द्वार उद्‌घाटित कर अमृत पीने की साधना नाथो तथा सन्तो की योग साधना रही है जिस पर हम आगे विचार करेंगे। इन नाडियो का उल्लेख नाथ और सन्त साहित्य मे विभिन्न रूपको के साथ आया है।

गोरखबानी अहंकार तूटिबा निराकार फूटिबा सोपीला गंग जमन का पानी
चद सूरज दोउ सनमुषि राषीला कहो हो अवधू तहाँ की सहिनाणी[५२]

कबीर जइ किछु अहा तहा किछु नाही पच ततु तह नाही
इडा पिंगला सुखमन बदे ए अवगत जाही।[५३]
उलटी गग जमुन मिलावइ, विनु जल सगम मन महिं न्हावउ।[५४]

नानक इडा पिंगला सुष्मन सूझी। तब मन सहज कथा सब बूझी
सुख का हाट सुष्मना कीन्हा। नानक तहिं सुख डेरा लीना
वेनी हाट जबै मनु जाय। मन तहिं वेनी कर्म नहाय।[५५]

रैदास ऐसा ध्यान धरौ बरौ बनवारी, मन पवन दै सुखमन नारी।[५६]
जायसी गही पिंगला सुखमन नारी, सुन्न समाधि लागिगौ तारी।[५७]
भीखा इगल पिंगला वुतै सुन्न मेटानो, सुखमन भयो उँजियार।[५८]

इनका संगम त्रिकुटी में माना जाता था और इस त्रिकुटी सधि से ही शून्य-समाधि का विशेष सम्बन्ध नाथ तथा सन्त परम्परा में माना गया था, इसकी ओर हम पीछे शून्य पर विचार करते समय सकेत कर आये है। प्राणायाम द्वारा पवन निरुद्ध कर, पंच तत्वो को चित्त मे ही स्थित कर ये नाथ योगी तथा सन्त हठयोग की साधना करते थे।

पंचतत्व-धारणा

सिद्धो की साधना-पद्धति का विवेचन करते समय यह सकेत किया चुका है कि पच महाभूतो को ध्यान की एकाग्रता द्वारा अन्तस्थ कर चित्त में उनका उदय सम्पन्न करना एक प्रमुख अभ्यास रहा है जो योगाचार के समय ही स्वीकृत किया जा चुका। गोरख ने इस भावना को हिन्दू परम्परा से ग्रह किया था। गोरक्ष पद्धति मे इस साधना का स्पष्ट विधान मिलता है।

हृदये पञ्चभूताना धारणा च पृथक पृथक्
मनसो निश्चलत्वेन धारणा समभीयते ॥[५६]

यदि हम धातुओ के उदय होने के क्रम की तुलनात्मक समीक्षा करें हम देखेंगे कि बौद्धसिद्धो की क्रम योजना योगाचार से भिन्न है और गोरक्ष पद्धति के अधिक निकट है। योगाचार में पहले तेज, फिर आप्, फिर वायु, ि गगन और अन्त मे पृथ्वी, का उदय बताया गया है। काण्हपा के टीकाकार पहले पृथ्वी, फिर आप्, फिर तेज, तब वायु और अन्त मे गगन का उदय ब‸ है।[६०] गोरक्षपद्धति में भी बिल्कुल यही क्रम है किन्तु बीजाक्षरो और देवत का वर्णन उसे सर्वथा हिन्दू पद्धति सिद्ध करता है। ज्ञात यह होता है कि क‸ और उनका टीकाकार भी पूर्वागत हिन्दू योगपरम्परा के अधिक निकट थे उसी क्रम को ग्रहण कर उन्होने उसे प्रज्ञोपायात्मक बौद्ध व्याख्या दे दी थी।

गोरखबानी मे इसी पचतत्व की अन्तस्थ साधना का उल्लेख मिलता है

देखे ये तत सून्य अकास, पच तत्त मैं महापुरिस कै वास।
पच तत्त लै उनमनि रहै, अछ्या होइ तौ जोगेन्द्र कहै।
पच तत्त का करो विचार, वाहर भीतर येककार
भिछ्या माँगै नग्री द्वार, माया मोहू तजै जजार ॥[६१]

इनकी उत्पत्ति का क्रम भी गोरखवानी मे इस प्रकार बताया गया है

अविगत उत्पना ऊ। ओ उतपदिते आकास। आकास उतपनी वाई। उतपन्या तेज। तेज उतपन्या तोया। तोया उतपनी मिट्‌टी।

और चित्त मे इनके उदित होने के क्रम में पूर्ण विपर्यय हो जाता 'मट्‌टी ग्रासन्त तोया। तोया ग्रासन्त तेज। तेज ग्रासन्त वाई। वाई ग्रा

आकास। आकास ग्रासन्त ओ। ओ ग्रासन्त ते अबिगत। अबिगत गति रहते आवते न जावते।'[६२]

दोहाकोष में पृथ्वी की इन्द्रिय नासिका, आप् की इन्द्रिय रसना, तेज की इन्द्रिय चक्षु, वायु की इन्द्रिय त्वचा और आकाश की इन्द्रिय श्रोत्र बताई गई है।[६३] गोरखबानी मे आकाश का गृह ब्रह्माड और द्वार श्रुति, वायु का गृह नाभि और द्वार नासिका, तेज का द्वार चक्षु, आप् का द्वार लिंग, पृथ्वी का द्वार गुदा बताये गये है।[६४] इसमे दोनो पद्धतियो मे थोडा विभेद है।

गोरखबानी मे इन पंचतत्वो की भार्यायो का उल्लेख मिलता है जो सम्भवत. बौद्ध तन्त्रो के पाच स्कन्ध, उनके देवता पाच ध्यानी बुद्ध और उनकी भार्याओ की कल्पना से थोडा बहुत अवश्य प्रभावित है

"स्वामीजी पृथी की कौंण भारिज्या, बाय की कौंण भारिज्या, आप् की कौण भारिज्या, तेज की कौण भारिज्या, आकाश की कौण भारिज्या।

अवधू पृथी की भारिज्या आसा धनवंती। आप की भारिज्या मनसा चोरेटी। तेज की भारिज्या कल्पना चाडाली। वायु की भारिज्या चिन्ता डाकणी। आकास की भारिज्या सक्या सीलवन्ती।[६५]"

इनमे केवल आशा और शका के साथ जो विशेषण है वे प्रशसात्मक है, किन्तु चोरटी, चाडाली और डाकिनी अपयश प्रदान करने के लिये प्रयुक्त हुए है। इसी डाकिनी या डाइन का कबीर ने 'माया' राक्षसी के रूप मे चित्रण किया है जिस पर हम आगे विचार करेंगे। जहाँ तक पंचतत्व-धारणा की पद्धति का सम्बन्ध है सन्तो मे इसका विस्तृत रूप भुला दिया गया है किन्तु देह मे इन पंच महाभूतो के उदय की ओर संकेत मिलते अवश्य है।

दादू—काया माहै सिरजनहार, काया माहै ओकार
काया माहै है आकास, काया माहै धरती पाण
काया माहै पवन प्रकास, काया माहै नीर निवास॥[६६]

नानक—पच तत्तु लै इहु धरि थाप। जो किछु कीनो सु आपे आपि
अपु तेजु वाय पृथ्वी आकासा। पंच मिलै जडि जोति प्रगासा।
सोंह आदि निरजन सोई। नानक अवरु न दूजा कोई।[६७]

पवन निरोध

बौद्ध हठयोग की साधना मे पवन के निरोध द्वारा चित्त के निरोध का विधान था। इसके कई प्रमाण दोहो मे मिलते हैं

सरहपा—अणिमिल लोअण चित्त णिरोहे, पवण निरुहइ सिरिगुरुवोहे
पवण वहइ सो णिच्चलु जव्वें, जोइ काल करइ रे तव्वें ॥[६८]

काण्हपा—जो णत्थु णिच्चल किअउ मण सो धम्मक्खर पाख
पवणह वज्झइ तक्खणे विसआ होन्ति निरास।[६९]

पवन के निरोध द्वारा चित्त का निरोध हठयोग की सामान्य पद्धति थी जो सभी हठयोगी सम्प्रदायो मे समान रूप से स्वीकृत थी। हठयोग प्रदीपिका मे भी हमें इस आशय के श्लोक मिलते है

पवनो वध्यते येन मनस्तेनैव वध्यते
मनश्च वध्यते येन पवनस्तेन वध्यते
मनो यत्र विलीयते पवनस्तत्र लीयते
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते।[७०]

नाथो की बानी मे भी मन को पवन से और पवन को मन से बाँधने का उल्लेख मिलता है :

मन बाँधूंगा पवन स्यू, पवन बाँधूंगा मन स्यू
तव बोलैगा कोवत स्यू।[७१]

चडाग्नि

वज्रयोग मे पवन-निरोध के उपरान्त अवधूती मार्ग मे चडाग्नि के प्रज्वलित होने की प्रक्रिया का उल्लेख हम कर चुके है। यही चडाग्नि समस्त क्लेश वासनाओ को भस्म कर देती है (अध्याय ३ ग)। शैव पद्धति मे इसी चडाग्नि को ब्रह्माग्नि कहा गया है 'अभिअन्तरि ब्रह्मा अगनि परजालै'।[७२] नाथपन्थी बानियो तथा सन्तो मे कही भी इसका चडाग्नि नाम नही मिलता किन्तु इसका वर्णन दोनो मे मिलता है

तिलोपा—अछ उघाड्यि आलोअणें ज्झाणे होइ रे थित्ति।[७३]

गोरखबानी—मन मुछावै लावै ताली। गगन सिपर मै होइ उजाली।[७४]

धामपा—कमल कुलिश माझे भमई लेली, समताजोएँ जलिल चण्डाली
नउ खर जाला धूम न दिसइ, मेरुसिखर लइ गअण पइसइ।[७५]

गोरखबानी—अकुच कुचीया बिगसा पोहा, सिधि परजली उठी लगिया धुवा
कहै गोरखनाथ धुवा प्राण, ऐसे पिंड का परचा जायौ प्राण।[७६]

इस अग्नि को प्रज्ज्वलित करने के लिये नव इन्द्रिय-द्वारो को पवन बन्ध द्वारा वन्द कर केवल दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र अथवा वैरोचन द्वार को (अवधूती मार्ग को) उद्‌घाटित करना पडता है 'नव दरवाजा देवै ताली, दसवाँ मधे होइ उजाली।'[७७] यद्यपि इसका नाम ब्रह्माग्नि है किन्तु वज्र-साधना से इसका सम्बन्ध और इसका बौद्ध रूप सर्वथा भुला नही दिया गया। जायसी ने इसे वज्राग्नि कहा है जिसकी ओर हम सकेत कर चुके है। गोरखबानी मे भी इसको प्रज्ज्वलित करने के लिये वज्र कछोटा और वज्रासन साधने का उल्लेख मिलता है।

अहनिसि अगनि पाप कू षाइ, सधै सधै पवन लुकाइ
बजर कछोटा आसण करें, रोग व्याधि षुध्या सब हरै॥[७८]

इसी को कही-कही दीपक की-सी ज्योति भी बताया गया था.

काण्हपा—जइ तसु घोरान्धारें मण दिवहो किज्जइ॥[७९]

दीपक रूप मे भी इसका उल्लेख नाथपन्थी बानियो मे मिलता है:

जोगी अपणे घर दिवला दीपै। ता जोगी की काया काल न छीपै।[८०]

. . . .

दीपक एक अषडित बाती। तहाँ जोगेश्वर थपना थापी।
अमन अगोचर सकल ब्रह्मड। ता दीपक कै चरण न पड।
सिषा न नैन दीस नहि हाथ। दीपग देख्या जती गोरखनाथ।
ता दीपक कै डाल न मूल। ता दीपक कै कली न फूल।
ता दीपक कै रङ्ग न रूप। ता दीपक कै छाँह न धूप।
ता दीपक कै विद्या न वादं। ता दीपक कै सवद न स्वादं।

और यह वह दीपक है जो शून्य से उद्‌भूत हुआ है और शून्य में ही समा जायगा।

ता दीपक कै मोह न माया। सो दीपक सूनै सून समाया।[८१]

सन्तो मे अन्तर्ज्योति, देहस्थ अग्नि की इस कल्पना से वज्र और शून्य का उतना सम्बन्ध भी टूट चुका है, जितना गोरखपन्थ मे रह गया था किन्तु इसका उल्लेख बराबर आता है।

लावौ बाबा आदि जलावौ घरा रे, का कारनि मन बंधे परा रे।[८२]

कबीर खिथा जलि कोइला भई, खापरु फूटिम फूटि
जोगी बपुडा खेलिओ आसनि रही बिभूति ॥[८३]
कबीर ऐसा को नही मन्दर देइ जराइ
पाचौ लरिके मारि कै रहै नाम लिउ लाइ।[८४]
कबीर कोठी काठ की दह दिसि लागी आगि
पण्डित पण्डित जलि मुए मूरख उबरे भागि ॥[८५]

किन्तु वज्र और शून्य की परम्परा से इसका सम्बन्ध टूट कर राम औ रामभक्ति से जुड रहा था। अन्त में तो यह अग्नि राम के विरह की अग्नि ब गई जिसके लिए कबीर ने लिखा —

विरह जलाई मै जलौ जलती जलहरि जाउँ
मो देख्या जलहरि जलै सतौ कहाँ बुझाउँ
हौं बिरहा की लाकडी समझि समझि धूंधाउ
छूटि परौ जो विरह ते तो सारी जलि जाउँ।[८६]

वज्रजप अथवा सहजजप

सिद्धो की साधना पद्धति पर विचार करते समय हमने यह देखा था कि वे अपनी योगपद्धति मे श्वास निरुद्ध कर चंडाग्नि प्रज्ज्वलित करने के ल… वज्रजाप का विधान करते थे। यह जप 'एव' बीज का होता था जिसके दे… अक्षर उपाय तथा प्रज्ञा के बीजाधार थे। इसका उच्चारण किया जाय इसकी आवश्यकता नही किन्तु इसे ध्यान मे ग्रहण कर लेना चाहिए और तब इ… साधना करने से प्रत्येक श्वास प्रश्वास के साथ स्वत यह शब्द निसृत हो… रहता है। इसी को वज्रजाप कहते थे और इससे वज्रयोग की साधना सम्प… होती थी।

इस वज्रजाप की विशेषता यह थी कि तान्त्रिक पद्धति के अनुसार होने के कारण तान्त्रिक बीजार्थ और योगपद्धति से समन्वित था। उसके पहले की भागवत तथा महायानी साधनाओ मे भी जाप का विधान था किन्तु वह नाम स्मरण तथा गुणकथन के रूप मे था और कृष्ण अथवा प्रभुतारत्न बुद्ध आदि के जप से गीता मे तथा महायानी ग्रन्थो मे निर्वाण की प्राप्ति बताई गई थी। बाद मे वैष्णव तन्त्रो मे भी बीजाक्षरो की कल्पना मिलती है। पाचरात्र मे प्रत्येक अक्षर

के तीन रूप परिकल्पित किये गये है जिनमें से परम रूप, वैष्णव रूप होता है। इस प्रकार तीन प्रकार के जप विधान मिलते है :

क—शुद्ध भावना से नामस्मरण के रूप मे
ख—तन्त्रान्तर्गत बीजाक्षरो के रूप मे
ग—बीजाक्षरो को योगपद्धति से समन्वित करने के उपरान्त
स्वतः साध्य-जप।

सिद्धो मे अन्तिम दोनो पद्धतियो का प्रचलन था।

नाथ सम्प्रदाय ने योगप्रधान साधना-पद्धति अपनाई थी अत उसमे जप का वह रूप स्वीकृत हुआ जो श्वास निरोध के साथ सम्पन्न होता था। इसे नाथ योग मे अजपा जाप कहा जाता था, वज्र जाप नही। किन्तु यह अजपा जाप शून्य मे मन को केन्द्रित करने का साधन अवश्य माना जाता था :

अजपा जपै, सुनि मन धरै, पाचौ इन्द्री निग्रह करै
ब्रह्मा अगनि मैं होमैं काया, तास महादेव बंदै पाया।[८७]

यह अजपा-जाप योग-साधना में प्राथमिक महत्व की वस्तु माना जाता था और इसके जप से अतीव अनुपम ज्ञान की प्राप्ति होती थी। यह जप एकाक्षरी, द्वयक्षरी त्रयक्षरी तथा चतुरक्षरी हुआ करता था।

जप के विषय मे गोरखबानी के एक पद से यह ज्ञात होता है कि बौद्ध सिद्धो के वज्रजाप की परम्परा का प्रभाव तो गोरख के अजपा जप पर अवश्य अवशिष्ट है किन्तु उसमे कई नये तत्व जुड गये है। इसमे जप जपने के साथ-साथ जपमाली को भी पहचानने का प्रयास करने का आदेश दिया गया है ('एवं' बीज को जपते समय भी इस बात का आदेश किया गया था कि 'ए' तथा 'व' वास्तव मे प्रज्ञा तथा उपाय है और इनका सही-सही तान्त्रिक अर्थ भली-भाँति समझ लेना चाहिये)। जप तो सभी करते है, पर गोरख कहते हैं कि इस अगम जप के वास्तविक अर्थ को बहुत कम लोग पहचानते है।[८८]

गोरखपन्थ के जप की एक विशेषता यह है कि 'एवं' की भाँति केवल द्वयक्षरी जप का विधान न कर उन्होने एकाक्षरी, द्वयक्षरी, त्रयक्षरी और चतुक्षरी जपो का विधान किया है। एकाक्षरी में वाणी के दो रूप इस पद मे बताये गये हैं, लौकिक तथा अलौकिक। अलौकिक वाणी को शून्य की संज्ञा दी गई। वह वाणी एकाक्षरी हैं। वही एकाक्षरी वाणी अजपा जप का मन्त्र बन जाती है।

इस एकाक्षरी वाणी की ओर सरहपा ने सकेत करते हुए कहा है :

अक्खर मेक्क एत्थ मइ जाणिउ, ताहर णाम जाणमि ए सडउ ।।[८६]

एकाक्षर तत्व रूप मे समस्त ब्रह्माड में व्याप्त है 'अक्खर वाढा सअ जगु'। इस एकाक्षर को नाथपन्थी अनन्त का प्रतीक मानते थे और उसी चित्त को विलीन कर देने का उपदेश देते थे।

सिद्धो ने जिस एव को बीज रूप मे ग्रहण करने का आदेश दिया था द्वयक्षरी था और उसमे बुद्ध अपनी शक्ति या उपाय अपनी प्रज्ञा के स विराजमान थे। नाथयोगी भी द्वयक्षरी मन्त्र में दोनो पक्षो की व ।न स्वीकार करते थे, 'द्वै अषिरी दोउ पष उधारीला' और उसी से शिव-शा। सगम के कारण सृष्टि की उत्पत्ति मानते थे। त्रयक्षरी त्रिकुटी से सम्बद्ध था औ त्रिकुटी में गगनमडल, शून्यसमाधि वज्रकपाट आदि वज्रयानी प्रभावो पर ह पीछे विस्तार से विचार कर चुके है। चतुरक्षरी मन्त्र भी वज्रयानी प्रभाव मुक्त नही है। चतुरक्षरी मन्त्र चार प्रकार की वाणियो का प्रतीक बताया है 'चारि षाणी चारि वाणी।' इन चार वाणियो के जो नाम बताये गये है परम्परागत परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी न होकर नये नाम है, सहज,सं सुभाइ और अतीत। इनमे से सर्वप्रथम नाम वज्रयानी परम्परा का द्योतक और इससे प्रतीत होता है कि चतुरक्षरी जप मे भी सहज अक्षर को श्रेष्ठ स्थान दिया गया था।

परवर्ती साधनापद्धति के जप अग पर सहजाम्नाय का प्रभाव और स्पष्ट हो जाता है जब हम सन्त-साहित्य का निरीक्षण करते है, क्योकि वहाँ ३ जप को सहज जप की सज्ञा ही दी गई है। यह सहज जप नाथपन्थी योगियो अजपा जप का ही दूसरा नाम है

जाप अजपा हो सहज धुन परखि गुरुगम धारिये
मनपवन थिर कर शब्द निरखे कर्म मनमथ मारिये।[९०]

इस सहज जप को कबीर ने शब्द-सुरत-मेला कहा है ·

सहजे ही धुन होत है हरदम घर के माहि
सुरत सबद मेला भया मुख की हाजत नाहि ।।[९१]

वास्तव मे यह सहजजप वज्रजाप की ही भाँति केवल अन्तर्मुख ज है। इसका उच्चारण नही होता। पवन निरोध के साथ-साथ यह ध्वनि मन मन मे उठती रहती है। इसमे मन की ही माला रहती है

दादू मन माला तहं फेरिये जहं दिवस न परसै रात
तहा गुरू बाना दिया सहजै जपिये तात ।
सुरति सदा सनमुख रहै, जहां जहां लौलीन
सहज रूप सुमिरन करै, निहकर्मी दादू दीन ।।[९२]

इस प्रकार यह सहजजप योग परम्परा मे विहित बीजाक्षरो का श्वास-निरुद्ध जप है। बौद्ध परम्परा का प्रभाव इस पर स्पष्ट है किन्तु वज्रयानी परम्परा मे एक सुधार किया गया है। बीजाक्षर बदल दिये गये है। ए तथा वं जो बुद्ध तथा उनकी शक्ति के वाचक थे उनके स्थान पर 'सोहम्' के जप का विधान किया गया। कबीर ने इस जाप के द्वारा पुण्य और पाप दोनो के निराकरण का उपदेश दिया है :

सोहं सो जाको है जाप, जा कल लिपत पु न होइ न अरु पाप।[९३]

दयाबाई इसी सकार और हंकार को अन्तर मे प्रकाश विकीर्ण करने वाला बताती है .

'दया' 'सकार' 'हकार' अक्षर को जो जप करत
अन्तर ह्वै उजियार, तिमिर अविद्या सब हरत
नाभि नासिका माहिं गाजै सोहं शब्द धुनि
यामे सखै नाहिं दया सुमिरि भव तरत मुनि ।।[९४]

इसका विधान इस प्रकार है कि पद्मासन मे बैठकर अन्तर्दृष्टि साध कर श्वास मे श्रुति जाग्रत कर अजपा का जाप करे। यह जप बिना जिह्वा, विना माला, विना मन के केवल अन्तर स्मरण है। इस अजपा सोहं जप से त्रिविध ताप मिट जाते है। इसी को दादू ने सहज धुन की डोर बताया है 'दादू डोरी सहज की यो आणै घर घेरि।'[९५] यही सोह शब्द बाद मे शब्द-ज्योति के रूप में बदल कर शून्य के अन्धकार मे प्रकाशित होने लगता है और यही परमतत्व तथा आत्मतत्व के अभेद का वाचक बन जाता है .

पारब्रह्म भगवान अस हमरै कहवाये,
हमही सोह सब्द ज्योति ह्वै सुन्न मे आये ।।[९६]

बाद के साम्प्रदायिक ग्रन्थो मे इस सोहम् के भी कई रूप परिकल्पित किये गये और उनका अनावश्यक विस्तार किया गया जैसे शून्य आदि का हुआ था। सूफी परम्परा मे भी सोहम् का उल्लेख है।[९७]

सोहम् के इन रूपो को नये नाम दिये गये और हरेक के लिये एक पुरुष त॰ एक लोक की कल्पना कर ली गई। ये रूप इस प्रकार थे—सोहग, वोहग, कोह तथा जोहग।[९८]

किन्तु इस अजपा जप के रूप पर एक और प्रभाव पड रहा था, वह वैष्णव प्रभाव। वैष्णव सम्प्रदायो मे राम, या हरि आदि का जप और स्मर॰ का विधान किया गया था और-उससे गोलोक की प्राप्ति बताई गई थी। तन्त्रो इन अक्षरो के तान्त्रिक अर्थ भी माने गये थे। कबीर ने वैष्णव प्रभाव को ॰र॰ अक्षर माना। कही-कहीं तो वे राम को 'सोह' से भी अधिक महत्व देते ॰ती॰ होते है

कबीर पढिबा दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ
बावन आषिर सोधि करि, ररै ममै चितलाइ।[९९]

इसमे न केवल कबीर ने 'सोह' के स्थान पर 'राम' की प्रतिष्ठा की वरन् योग पद्धति के बजाय वैष्णवो के नाम-जप की भावाकुलता की अभिव्य॰ अधिक है। दादू मे भावनायुक्त हरि अथवा राम का यह जप भी योग के अ॰ या सहज जप की श्वास निरोध पद्धति से समन्वित कर दिया गया है

राम सवद मुख ले रहै, पीछे लागा जाइ
मनसा, वाचा, कर्मणा तेहि तत सहज समाइ
अन्तरगति हरि हरि करै, तव मुख की हाजत नाहि
सहजै धुनि लागी रहै, दादू मन ही माहि
सहजै सुमिरण होत है रोम रोम रमि राम
चित्त चहूंट्या चित्त सो यो लीजै हरि नाम॥[१००]

इस प्रकार सन्तो के इस सहज जप मे ३ तत्वो का सम्मिश्रण हो गया है
क—जप की वह योग पद्धति जो सिद्धो के वज्र जप तथा नाथो मे अजपा कहलाती थी।
ख—उसकी सज्ञा सहज जप है।
ग—उसमे 'एव' का तिरस्कार कर सोह को ग्रहण किया गया और भक्ति प्रभाव से राम नाम को उससे भी श्रेष्ठ मान कर योग-पद्धति के ॰ साथ भाव-साधना को भी स्थान मिला और सहज के अर्थ अजपा ॰ के साथ 'आत्म-स्मरण' भी हो गये जिसमें वाह्य जप की अपेक्षा अन्त॰ स्मरण का अधिक महत्व होता है।

निरक्षर पद्धति की दृष्टि से इस पर थोड़ा-सा और विचार कर लेना आवश्यक है। बीजाक्षरो को महत्व देते हुए भी वज्रयानी सिद्धो ने जप का अन्तिम रूप वह बताया था जहाँ जप की परिणति 'निरक्षर' में होती है। वह शून्य स्थिति होती है। इसके लिये सरहपा ने कहा है कि जिस एक अक्षर मे सकल सृष्टि आबद्ध है उसका जप तब करना चाहिये जब तक वह निरक्षर न हो जाय :

ताव से अक्खर घोलिआ जाव णिरक्खर होइ ॥[१०१]

नाथ-योग-पद्धति मे भी शब्द के अतिरिक्त नि शब्द का महत्व प्रतिपादित किया गया है। शब्द ताला है, किन्तु नि शब्द उसकी कुंजी है ·

गोरष—स्वामी कौण सो कूँची कौण सो ताला
कौण सो बूढा कौण सो बाला।
मछिन्द्र—अवधू निहसबद कूँची, सबद ताला
अचेत बूढा चेतनि बाला।[१०२]

कबीर भी जप की अन्तिम परिणति नि शब्द मौन ही मानते थे। 'जाप मरै, अजपा मरै, अनहद हू मरि जाइ।'[१०३] परवर्ती साम्प्रदायिक ग्रंथो मे इसी 'निरक्षर' को शब्द का विदेह रूप बताया गया है जिसमे बिना रसना का जाप होता है और इसी को सूक्ष्म सहज पन्थ कहा गया है

सार शब्द सु विदेह स्वरूपा, नि अच्छर वहि रूप अनूपा॥
बिन रसना के जाप समाई, तासो काल रहै मुरझाई॥
सुच्छम सहज पन्थ है पूरा, ता पर चढो रहै जन सूरा॥[१०४]

और जो इस निरक्षर का भेद नही जानता वह सार शब्द नही पहचानता .

जो निरअक्षर भेद न जानै, कैसे सार शब्द पहचानै।[१०५]

बीजाक्षरो के जप की इसी अन्तिम 'निरक्षर' मे परिणति को सुरति का निरति मे समाना कहा गया है :

सुरति समाणी निरति में अजपा माहै जाप
लेख समाना अलेख में यू आपा माहै आप॥[१०६]

अब हम सुरति और निरति पर विचार करते हुए उसकी वज्रयानी परम्परा का विश्लेषण करेंगे।

सुरति

सुरति और निरति ये शब्द ऐसे है जिनका सन्तो की साधना मे अत्यधि महत्व है, किन्तु उनके उद्भव और अर्थ का ठीक-ठीक निर्णय नही हो पा। है। इस विषय में विद्वानो के कई मत है। सुरति का उद्भव स्रोत से बताया गय है और स्रोत का अर्थ चित्त प्रवाह किया गया है।[१०७] चित्त प्रवाह हमे विज्ञान वाद की याद दिलाता है किन्तु जैसा आगे हम देखेंगे चित्त प्रवाह के अर्थ सुरति का प्रयोग नाथ योगियो अथवा सन्तो ने लगभग नही के बराबर कथ है। हिन्दी मे सुरति के कई अर्थ होते हैं (प्रेम-क्रीडा, स्मृति)। यह श्रुति क भी अपभ्रंश माना जा सकता है। सन्तो मे सुरति शब्द का प्रयोग जितने विवि प्रसंगो में हुआ उससे बडथ्वाल जी की यह स्थापना उचित नही जान पडती इसका अर्थ केवल स्मृति है।[१०८]

वज्रयानी दोहो मे इस शब्द का प्रयोग मिलता है और वहाँ इसके अ भी स्पष्ट है, उसमे कोई सन्देह नही रहता। सरहपा इसे प्रज्ञोपाय या क ल कुलिश योग का ही पर्याय मानते है

कमल कुलिश वेवि मज्झ ठिउ जो सो सुरअ विलास
को त रमइ णाहि तिहुअणे हि कस्स ण पूरइ आस।[१०९]

और काण्हपा उसी को सुरत वीर मानते है जो एवकार बीज लेक मधुकर रूप मे कुसुमित अरविन्द (महासुख चक्र) तक जाता है और मकरन्द न करता है ·

एवकार विअ लइअ कुसुमिअ अरविन्दए
महुअर रुए सुरअ वीर जिघइ मअरन्दए॥[११०]

इस प्रकार सिद्धो ने इस शब्द का प्रयोग निस्सन्देह 'प्रेम-क्रीडा' के अ मे किया था, श्रुति या स्मृति के अर्थ मे नही।

नाथ सम्प्रदाय का एक बहुत पुराना नाम शब्द-सुरति-योग बताया जा है। अमरौघ-शासन में भी इसे सहज समाधि प्राप्त करने का वह मार्ग बता' गया है जिसमे शब्द (नाद या श्रुति) की साधना की जाय।[१११] ज्ञात होता है इस सुरति शब्द के मैथुन-परक अर्थ का गोरख ने बहिष्कार किया हो। और इसके नाद-परक अर्थ प्रचलित किये होगे। गोरखवानी में सुरति औ निरति का जो उल्लेख आया है उससे कही भी मैथुन के अर्थ का आभास

मिलता। मछिन्द्र गोरखबोध में सुरति का गुरु शब्द और शब्द का गुरु परिचय (साक्षात्कार) बताया गया है।[११२] इसी परिचय को ही सम्भवतः निरालम्भ अनुभव की अवस्था कहा गया है और निरति की सज्ञा दी गई है। क्योकि आगे शब्द सुरति और निरति की व्याख्या मछिन्द्र ने इस प्रकार की है

गोरख—स्वामी कौण सो सबद कौण सो सुरति
कौण सो बध कौण सो निरति
दुबध्या मेटे कैसे रहै। सतगुर होइ सो बूझ्या कहै।
मछिन्द्र—अवधू सबद अनाहद सुरति सो चित्त,
निरति निरालभ लागै बध
दुबध्या मेटि सहज मे रहै। ऐसा विचार मछिन्द्र कहै।[११३]

इन पंक्तियो से शब्द-सुरत-योग का रूप स्पष्ट हो जाता है। सुरति शब्द की वह अवस्था है जब वह चित्त मे स्थिर रहता है और साधना की अवस्था मे रहता है। शब्द अनाहद नाद है जो विशुद्धाख्य तथा आज्ञा चक्र मे सुन पडता है। किन्तु निरति उससे भी ऊपर की अवस्था है जिसमे निरालभ स्थिति आती है। वही सहज है।

हठयोग-प्रदीपिका मे भी विष्णु के परम पद मे अनाहद नाद की स्थिति बताई गई है और उसके उपरान्त परब्रह्म निराकार परमेश्वर है जहाँ शब्द भी नि शब्द हो जाता है, यही कल्पना 'निरति' के मूल मे प्रतीत होती है। इस प्रकार नाद से प्रवर्तित चित्त अन्त मे, नाद मे लीन हो जाता है और तब न नाद रहता है न विन्दु।[११४] इसी को 'एकोदेव निरालम्ब'[११५] कहा गया है जो निरति का पर्याय बताया गया है।

इस प्रकार नाथ योग मे शब्द अनाहद नाद है, सुरति वह शब्द है, जो साधना मे चित्त को प्रवर्तित करता है और निरति वह निरालव अवस्था है जो चित्त के शब्द या नाद मे लीन हो जाने पर आती है। इसीलिये मछिन्द्र सुरति को साधक और शब्द को सिद्धि कहते हैं .

अवधू सुरति सो साधक सवद सो सिधि,
आप सो माया पर सो रिधि।
दुइ को मेटि निरति में रहै। ऐसा विचार मछिद्र कहै[११६]

इसीलिये साधना मे लीन चित्त को सदा सुरति की ओर उन्मुख रखने

का आदेश दिया गया था, क्योकि सुरति ही भवजाल से चित्त फिराकर सार से साक्षात्कार कराती है·

अवधू सुरति मुषि बोलै, सुरति मुषि चलै
सुरति मुषि बैठे सुरति मुषि मिलै
• ••
सुरति सो फिर्या मिल्या सोइ सार ॥[117]

इस प्रकार नाथ साधना पद्धति मे सुरति का अर्थ बिल्कुल वदल गया था यद्यपि पूर्वागत प्रभाव इतना अवश्य था कि वज्रयानी सिद्ध कमल और कुलिश के मिलन को सुरति कहते थे और उससे सहज की सिद्धि मानते थे। इन्होने अन्तिम निरालम्ब अवस्था के लिये सहज का नाम तो ग्रहण किया किन्तु सुरति को दो तत्वो का युगनद्ध न मान कर एक तत्व माना जिसका मिलन शब्द से होता है। उस सुरति के अर्थ भी बदल दिये गये।

सन्तो ने सुरति का प्रयोग निस्सन्देह नाथ योगियो के शब्द-सुरति-योग के अर्थ मे किया है, सिद्धो के कमल-कुलिश सुरत-विलास के अर्थ मे नही। ह सुरति ढेकुली की भाँति है जिसके सहारे मन बार-बार प्रेम रस का पान करता है।

सुरति ढीकुली लै चल्यो, मन नित ढोलनहार
कवल कुवा मैं प्रेम रस पीवै बारम्बार ॥
सुरति समाणी निरति मैं निरति रही निरवार
सुरति निरति परचा भया तब खूले स्वय दुवार ॥[118]

एक अन्य स्थान पर कबीर श्रोता के लिये सुरता शब्द का प्रयोग करते ह 'कथता, बकता, सुरता सोई'[119] और दूसरे स्थान पर वे श्रुति के लिये सुरति और स्मृति के लिये स्मृति शब्द का प्रयोग करते है।[120] कबीरवानी मे भी सहज सुरति के लिये सहज श्रुति शब्द का प्रयोग मिलता है।[121] इससे स्पष्ट है कि मुख्यतया यह शब्द श्रुति (नाद) के लिये प्रयुक्त हुआ है। किन्तु इस के प्रयोग मे वैष्णवो के 'स्मरण' का प्रभाव बहुत परिलक्षित होता है, सिद्धो का रति क्रीडा का अर्थ बहुत कम।

सिद्धो के प्रेम या रति, क्रीडा या ममता के अर्थ मे मीरा के एक पद की एक पक्ति मे सुरति का प्रयोग मिलता है।

त्रिकुटी महल बना है झरोखा, वहाँ से झाँकी लगाऊँ री
सुन्न महल मे सुरत जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री।[122]

इस पद में सुरत का अर्थ सुन्न महल मे उठने वाली सहज ध्वनि या नाद भी लिया जा सकता है किन्तु इस रूपक मे प्रयुक्त अन्य उपमानों के साथ इसका अर्थ रति क्रीडा ही अधिक सगत प्रतीत होता है। कबीर ने एक स्थान पर इसे वासना के अर्थ मे भी प्रयुक्त किया है 'विपया अजहुँ सुरति सुख आसा, कैसे होई है राजा राम निवासा।'[123]

सुरति-सम्बन्धी कुछ अन्य प्रयोग भी दृष्टव्य है। पलटू ने सुरति को प्रेमिका (शक्ति) और शब्द को पति (शिव) माना है।

सुरति सुहागिनि उलटि कै मिली सबद मे जाय
मिली सबद मे जाय कन्त को वसि मे कीन्हा
चलै न शिव कै जोर जाय जब सक्ती लीन्हा
फिर सक्ती ना रही मिली जब सिव मे जाई
सिव भी फिर ना रहे, सक्ति से सीव कहाई
अपने मन कै फेर और न दूजा कोई
सक्ती सिव है एक नाम कहने को दोई
पलटू सक्ती सीव का भेद गया अलगाय
सुरति सुहागिनि उलटि कै मिली सबद मे जाय।[124]

किन्तु शिव और शक्ति मिलन तथा शब्द सुरति योग के अतिरिक्त पलटू सुरति के नाम स्मरण वाले अर्थ से भी अपरिचित नही है।

'पलटू सुरति कमान भर नाम निसाना मार।'[125]

एक तीसरे स्थल पर पलटू इसी सुरति को कच्छप वृत्ति की साधना का माध्यम मानते है और इसे अनासक्ति का पर्याय भी बताते है।[126] इस प्रकार सुरति का अर्थ सिद्धो वाले अर्थ से बहुत भिन्न हो गया और इस सुरति के लिये ऐसे-ऐसे उपमान प्रयुक्त हुए जो कल्पनातीत थे। गुलाव साहब एक स्थान पर इस सुरति सुहागिन का रसोई बनाना चित्रित करते हैं 'सुरति सुहागिन करै रसोई नाना भाँति बनाय।'[127] दूसरे स्थान पर प्रणामी छत्रसाल इसे तन रूपी कुञ्जी का ताला मानते है। 'तन की कुञ्जी सुरति का ताला प्रेम के लगे किवार।'[128] और आत्मबोध में इसे उस सुई की उपमा दी गई है जो श्वास और उश्वास की गुदडी सीती है।[129] ज्ञात यह होता है कि वाद में सन्तों के सम्मुख सुरति का नाथ-योगपरक अर्थ भी बहुत स्पष्ट नहीं था अत बहुत से स्थानो में इसका

प्रयोग निरर्थक है जैसा हम 'तन की कुन्जी और सुरति के ताले' वाले रूपक पाते है।

शून्य सहज आदि की भाँति सुरति का भी विस्तार परवर्ती स म्प्रदायि ग्रन्थो मे मिलता है। श्वास-गुजार मे शब्द पुरुष की दो शक्तियो के रूप सुरति तथा निरति का वर्णन मिलता है।[१३०] ज्ञान-स्थिति-बोध मे ऊर्ध्व कम को सुरति कमल बताया गया है।[१३१] कबीरवानी मे ४ प्रकार की सुरति वर्णन है और शब्द सुरति उनसे भी परे पाँचवी सुरति बताई गई है।[१३] आगे सहजाकुर मे सात अन्य सुरतियो का उल्लेख मिलता है जो सृष्टितत्व सम्बद्ध है।[१३३] आगे इनका और भी विकास होता है और सात के व आठवी सुरति का वर्णन आता है। सद्गुरु कबीर सहज सुरति को धारण क सहज द्वीप पर स्थित होते है और फिर इच्छा सुरति और मूल सुरति अ नवतम सुरति की शृखला ग्रहण कर त्रैलोक्यविजयी होते है।[१३४] इस प्रकार - सुरति और वज्रयानी सुरति-विलास का अन्त में केवल इतना सम्बन्ध शेष • जाता है कि इसमे सर्वप्रथम सुरति मे सहज जुडा हुआ है।

उलटी साधना

नाथ योगियो की प्रमुख साधना श्वास निरुद्ध कर अरध को उलट उरध मे ले जाना, नाद को पलट कर सुरति को निरति मे लीन करना, गगा उलट कर जमुना में मिलाना अथवा सूर्य को उलट कर चन्द्र मे मिलाना था इस साधना को वे उलटी साधना कहते थे

उलटत नाद, पलटत व्यद, बाई कै घरि चीन्हेसि ज्यद
उलटत पवन, पलटत बाणी, अपीव पीवत जे ब्रह्मग्यानी।
मीम कै मारग रोपीले भाणं, उलट्या फूल कली मे आण।
उलटी सकति चढै ब्रह्माड, नप नप पवना ले लै सरवग।
उलटि चद्र राहू कूँ ग्रसै, सिघ सकेत जती गोरप कहै।[१३५]

सत भी इस साधना को उलटा साधना पुकारते थे

कबीर उलटी गग जमुन मिलावउ, विनु जल सगम मन महि न्हावउ।[१३]
उलटी गग समुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै
नवग्रहि मारि रोगिया बैठे, जल मै व्यम्ब प्रकासै।[१३]

रैदास उलटी गंग जमुन मैं लावौं, बिनही जल मंजन ह्वै पावौं ।[१३८]
नानक उलटा शब्दु गगनि घरु छाया, नानक शब्दै शब्दु समाया ।[१३९]
पलट पच्छिउ गगा वहै पानी है जोर का
बीच मे है इक कुड मुरेरा तोर का
उलटी वहै बयार नाव मुरकाय दै
अरे हाँ, पलटू उतरे येहि के पार तो सूधी जाय दै ।[१४०]

इस उलटा साधना के अर्थ वास्तव मे यह है कि जिस शक्ति के विमर्श से यह समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है उसी शक्ति को उलटकर नाद मे समाहित करना, सूर्य को उलट कर चन्द्र मे लीन करना ही उलटा साधना है । सिद्धो मे इस शब्द का प्रयोग नही है किन्तु सूर्य को उलटकर चन्द्र मे लीन करने का रूपक अवश्य मिलता है जिस पर हम आगे विचार करेंगे ।

इस उलटा साधना का एक अर्थ और है । लगभग सभी तान्त्रिक पद्धतियो मे वामाचार प्रचलित था । जिसके दो अर्थ थे, वामायुक्त साधना या उलटी (वाम) साधना । वास्तव मे यह 'उलटा साधना' उसी वाम-साधना का देशी रूपान्तर है । इसके कई प्रमाण मिलते हैं । बाउलो मे भी साधना को इसी नाम से पुकारा जाता था और 'उलटा' तथा 'वाम' दोनो शब्दो का समान रूप से प्रयोग हुआ है ।[१४१] सिद्धो मे वामाचार की नारी मैथुन साधना पद्धति स्वीकृत थी । नाथ योगियो ने नारी-मैथुन-साधना का वहिष्कार किया किन्तु वज्रोली, अमरोली, सहजोली आदि कुछ मुद्राएँ उनमे भी प्रचलित थी जिनमे वीर्य के धारण के बजाय उलटे नारी रज को भी साधक लिंगद्वार से अपनी काया मे खीच लेता था । इस प्रकार वामा (नारी) सम्बन्धी अर्थ भी सर्वथा विलुप्त नही हुआ था किन्तु प्रमुखता हठयोग पद्धति को मिल गई थी जिसमे उलटा साधना के अर्थ थे श्वासनिरोध द्वारा गगा को उलट कर जमुना मे मिलाना और चन्द्र और सूर्य का मिलन सम्पन्न कराना । सन्तो तक आते-आते मैथुन साधना सर्वथा विस्मृत कर दी गई और हठयोग की पद्धति ही अवशेष रही ।

गगा-यमुना-संगम

हम पहले इस ओर सकेत कर चुके है कि बौद्ध तथा हिन्दू दोनो ही प्रकार की हठयोग परम्पराओं में इडा, पिंगला और सुषुम्णा या ललना रसना

तथा अवधूती को गगा, यमुना तथा सरस्वती की उपमा दी गई है। उसी के सा- साथ इडा को शक्ति और पिंगला को शिव माना गया है। इडा को वाम त पिंगला को दक्षिण और सुषुम्णा को पश्चिम दिशा में स्थित माना गया है। अ गंगा-यमुना का मिलन वास्तव मे शक्ति तथा शिव का मिलन है।

बाह्य प्रकृति मे यमुना गगा मे मिली है किन्तु हठयोग मे गगा (इ शक्ति) यमुना (या पिंगला · शिव) से मिलने के लिये अग्रसर होती है, इस लिये यह उलटी साधना है। हठयोग-प्रदीपिका मे मूलस्थान में उड्डीयान व द्वारा गगा तथा यमुना को बन्द कर पश्चिम पथ सुषुम्णा मे प्राण को प्रवा। करने का विधान है।[१४२] इडा तथा पिगला शक्ति तथा शिव का प्रतीक होने कारण अध तथा ऊर्ध्व भी कही गई है

अरध उरध की गगा जमुना मूल कवल कौ घाट
षट चक्र की गागरी त्रिवेणी सगम वाट ॥[१४३]

यहाँ कबीर ने मूलाधार चक्र को घाट माना है (सुषुम्णा की उपमा कभी-कभी घाट से दी जाती है)

तिरबेनी के घाट नाव को आनि कै, सुखमनि घाट थहाय चलावौ जानिकै
असी सगम के बीच पहारी फोरि कैं, गुन को खैंचु सिताव काम है जोरु कै
सुन्न समाधि के बीच ध्यान,को लावना, सुखमनि के रे घाट पवन ले आवना[१]

यह कल्पना चर्यापदो की गगा यमुना के मध्यवर्ती मार्ग से वहने वा सहजयान नौका तथा उसकी मातगी प्रज्ञा से वहुत मिलती-जुलती है। उसमें वाम तथा दक्षिण दोनो मार्गों को छोडकर मध्यपथ से प्राणो को ले चलने साधना का निधान है

गंगा जउना माँझेरे वहइ नाई
तहि बुडली मातगी पोइया लीले पार कराइ।
.. . .
वाम दाहिन दुइ माग न चेवइ वाहतु चएडा।[१४५]

टीकाकार मुनिदन्त नौका को सहजयान कहते है और दादू इसी सहजयोग कहते है तथा इससे निर्वाण की प्राप्ति भी वताते है

सहज जोग सुख मे रहै दादू निर्गुण जाणि।
गगा उलटी फेरि करि जउना माहै आणि ॥

परमातम सो आतम ज्यो जल उदक समान।
तन मन पानी लौण ज्यो पावै पद निर्बाण ॥[१४६]

अन्तिम पंक्ति का प्रथम चरण भी काण्हपा के 'जिम लोण विलिज्जइ पाणीएहि' की याद दिलाता है।

इस प्रकार इस गगा-यमुना सगम की कल्पना मे यथेष्ठ आदान-प्रदान हुआ है और इसी कारण उसके सहज तथा निर्वाण की शब्दावली जुडी रह गई यद्यपि उसका अर्थ वह नही रह गया। बाद मे यही योग-साधना वैष्णव भक्ति भावना मे अतर्भुक्त हो गई और गगा को विष्णुपद से निकलने वाली गगा मान कर इसी योग को विष्णु ध्यान की पूर्व भूमिका मात्र मान लिया गया :

विष्णु ध्यान सनान करि रे, बाहरि अग न धोइ रे...
निहकर्म नदी ग्यान जल, सुनि मडल माहि रे
औधूतजोगी आतमा, काई पेखै सगम न्हाहि रे
इला प्यगुला सुषमना पछिम गगा बालि रे
कहै कबीर कुसमल झडै काई माहि लौ अग पषालि रे ॥[१४७]

बाद मे तो प्राण तथा अपान का सधिस्थल यह सुखमन घाट बृन्दावन का वह घाट बताया गया जहाँ कृष्ण की लीला संपन्न हुई थी—'अरे हाँ पलटू, उहि गोकुल के घाट कन्हैयालाल है।'[१४८]

चन्द्र-सूर्य-सगम

चर्यापदो मे चन्द्र और सूर्य प्रज्ञा तथा उपाय के प्रतीक माने गये है और उनका भी सम्बन्ध ललना तथा रसना से है किन्तु दोनो का मेल कराने की अपेक्षा दोनो की द्वयता का परित्याग कर सहज-अद्वय अवस्था प्राप्त करने पर अधिक आग्रह है

गुंडुरीपा चाद सुज्ज वेणि पखा फाल।
काण्हपा रवि शशि कुंडल किउ आभरणे।
वीणापा सुज्ज लाउ ससि लागेलि तान्ती।
सरहपा नाद न विन्दु न रवि शशि मडल।[१४९]

इन उद्धरणों में चन्द्र तथा सूर्य के मिलन को एक स्थान पर वीणा के

रूपक और दूसरे स्थान पर कुडलो के रूपक मे प्रस्तुत किया गया है। ५१४७त
साहित्य मे हमे ये दोनो रूपक मिलते है

वीणा का रूपक . चद सूर दोउ तू बा करिहूँ चित चेतन की डाडी
सुषमन तन्ती वाजण लागी इहि विधि तृष्णा खाडी ।[१५]
(कबीर

कुडल का रूपक—चन्द्र सूर नी मुद्रा कीन्ही धरणि भस्म जल मेला
नादी व्यदी सीगी आकासी अलख गुरु ना चेला ।[१५]
(गोरखवानी

चन्द्र सूर्य दोनो का निषेध—कहा बुझाइ अवधू राइ गगन न धरनी
चद न सूर दिवस नहिं रैनी ।[१५२]
(गोरखवानी

दादू—तह चंद न ऊगै सूरा, मुख काल न वाजै तूरा
तह सुख दुख का गम नाही,
वौ तौ अगम अगोचर माही ।[१५३]

किन्तु दोनो के निषेध की प्रणाली वास्तव मे दोनो के मिलने के ७५१ न्त उनकी द्वयता की विनाश-प्रक्रिया ही थी। सोम को या चन्द्र को प्रमुखता मिलने मे शैव परम्परा की विशेष प्रेरणा बताई जाती है। कापालिको को सोमवादी भी कहा जाता था और सोम का अर्थ वे स + उमा (शक्ति तथा शिव का सगम) बताते थे, साथ ही सोम वारुणी या अमृतरूप मे भी परिकल्पित किया गया था। नाथ योग मे मूलाधार मे स्थित रवि-रूपी कुडलिनी शक्ति को जाग्रत कर ऊर्ध्व मे स्थित चन्द्ररूपी शिव मे लीन कर दोनो के अद्वैत के उपरान्त बरसने वाले अमृत का दशमद्वार द्वारा पान करने की साधना-पद्धति नाथ योगियो की प्रमुख साधना-पद्धति बन गई।

वे कहते थे कि मूलाधार मे शक्तिरूपी सूर्य स्थित है जिसकी १२ कलाएँ है। वह अमृत सोखता रहता है और उससे शक्ति का, जीवन का ह्रास होता है। ऊर्ध्व मे १६ कलाओ वाला चन्द्र स्थित है जिससे अमृत झरता है। १६ कलाओं के होते हुए भी चन्द्रमा शक्तिहीन रहता है और जब उसे सूर्य की ४ कलाएँ प्राप्त हो जाती है तब शिव और शक्ति या चन्द्र और सूर्य सम हो जाते है।

परमातम सो आतम ज्यो जल उदक समान ।
तन मन पानी लौण ज्यों पावै पद निर्वाण ॥[146]

अन्तिम पंक्ति का प्रथम चरण भी काण्हपा के 'जिम लोण विलिज्जइ पाणीएहि' की याद दिलाता है ।

इस प्रकार इस गगा-यमुना सगम की कल्पना मे यथेष्ठ आदान-प्रदान हुआ है और इसी कारण उसके सहज तथा निर्वाण की शब्दावली जुडी रह गई यद्यपि उसका अर्थ वह नही रह गया । बाद मे यही योग-साधना वैष्णव भक्ति भावना मे अतर्भुक्त हो गई और गगा को विष्णुपद से निकलने वाली गगा मान कर इसी योग को विष्णु ध्यान की पूर्व भूमिका मात्र मान लिया गया :

विष्णु ध्यान सनान करि रे, वाहरि अग न धोइ रे....
निहकर्म नदी ग्यान जल, सुनि मडल मांहि रे
औधूतजोगी आतमा, काई पेणँ सगम न्हाहि रे
इला प्यंगुला सुषमना पछिम गगा वालि रे
कहै कवीर कुसमल झडै काई मांहि लौ अग पपालि रे ॥[147]

बाद में तो प्राण तथा अपान का सधिस्थल यह सुखमन घाट वृन्दावन का यह घाट वताया गया जहाँ कृष्ण की लीला सपन्न हुई थी—'अरे हाँ पलटू, उहि गोकुल के घाट कन्हैयालाल है ।'[148]

चन्द्र-सूर्य-सगम

चर्यापदो में चन्द्र और सूर्य प्रज्ञा तथा उपाय के प्रतीक माने गये हैं और उनका भी सम्बन्ध ललना तथा रसना से है किन्तु दोनो का मेल कराने की अपेक्षा दोनो की द्वयता का परित्याग कर सहज-अद्वय अवस्था प्राप्त करने पर अधिक आग्रह है

गुंडरीपा — नाद नुज्ज वेणि पत्या फाल ।
काण्हपा — रवि शशि कुंडल किउ आभरणे ।
वीणापा — सुज्ज लाउ ससि लागेलि तान्ती ।
सरहपा — नाद न विन्दु न रवि शशि मडल ।[149]

इन उद्धरणों में चन्द्र तथा सूर्य के मिलन को एक स्थान पर वीणा के

रूपक और दूसरे स्थान पर कुडलो के रूपक में प्रस्तुत किया गया है। परवर्ती साहित्य मे हमे ये दोनो रूपक मिलते है

वीणा का रूपक .चद सूर दोउ तू बा करिहूँ चित चेतन की डाडी।
सुषमन तन्ती बाजण लागी इहि विधि तृष्णा खाडी।[१५०]
(कबीर)

कुडल का रूपक—चन्द्र सूर नी मुद्रा कीन्ही धरणि भस्म जल मेला
नादी व्यदी सीगी आकासी अलख गुरू ना चेला।[१५१]
(गोरखबानी)

चन्द्र सूर्य दोनो का निषेध—कहा बुझाइ अवधू राइ गगन न धरनी
चद न सूर दिवस नहि रैनी।[१५२]
(गोरखवानी)

दादू—तह चंद न ऊगै सूरा, मुख काल न बाजै तूरा
तह सुख दुख का गम नाही,
बौ तौ अगम अगोचर माही।[१५३]

किन्तु दोनो के निषेध की प्रणाली वास्तव मे दोनो के मिलने के उपरान्त उनकी द्वयता की विनाश-प्रक्रिया ही थी। सोम को या चन्द्र को प्रमुखता मिलने मे शैव परम्परा की विशेष प्रेरणा बताई जाती है। कापालिको को सोमवादी भी कहा जाता था और सोम का अर्थ वे स + उमा (शक्ति तथा शिव का सगम) बताते थे, साथ ही सोम वारुणी या अमृतरूप मे भी परिकल्पित किया गया था। नाथ योग मे मूलाधार मे स्थित रवि-रूपी कुडलिनी शक्ति को जाग्रत कर ऊर्ध्व मे स्थित चन्द्ररूपी शिव मे लीन कर दोनो के अद्वैत के उपरान्त वरसने वाले अमृत का दशमद्वार द्वारा पान करने की साधना-पद्धति नाथ योगियो की प्रमुख साधना-पद्धति बन गई।

वे कहते थे कि मूलाधार मे शक्तिरूपी सूर्य स्थित है जिसकी १२ कलाएँ है। वह अमृत सोखता रहता है और उससे शक्ति का, जीवन का ह्रास होता है। ऊर्ध्व मे १६ कलाओ वाला चन्द्र स्थित है जिससे अमृत झरता है। १६ कलाओं के होते हुए भी चन्द्रमा शक्तिहीन रहता है और जब उसे सूर्य की ४ कलाएँ प्राप्त हो जाती हैं तब शिव और शक्ति या चन्द्र और सूर्य सम हो जाते है।

शक्ति रुपी रज आछै सिव रुपी व्यद, बारह कला रवि आछै सोलह कला चंद
च्यारि कला रवि की जो ससि घर आवै, तो सिव सक्ति सम होवै अन्त कोई न
पावै ।[154]

नाडियों में से इडा चन्द्र रुप है और षोडश कला वाली है, पिंगला द्वादश कला वाली रवि नाडी है, सुषुम्ना मे असख्यो कला वाले तत्व का वास है :

पोडस नाडी चन्द्र प्रकास्या द्वादस नाडी भानं
सहस्र नाडी प्राण का मेला जहा असंष कला सिव थानं
अवधू ईडा मारग चन्द्र भणीजै प्यगुला मारग भानं
सुषमणा मारग बाणी बोलिये त्रिय मूल अस्थान ॥ [155]
बारह कला देवी, सोलह कला देवं । सुषमना नारी बाधिवा भेवं ॥[156]

सूर्य की बारह कलाएँ इस प्रकार बताई गई है ।

चिंता, तरग, दम्भ, माया, परिग्रह, प्रपच, हेतु, बुद्धि, काम, क्रोध, लोभ दृष्टि । चद्र की षोडश कलाएँ निम्नाकित है ·

शाति, निवृत्ति, क्षमा, निर्मलता, निश्चलता, ज्ञान,
स्वरूप, पद, निर्वाण, निर्विषता, निरंजन, आहार, निद्रा, मैथुन,
वायु, अमृत ।[157]

जब तक कि पवन निरुद्ध नही होता तब तक चन्द्रमा के अमृत को सूर्य सोखता रहता है । पवन निरुद्ध होते ही कालाग्नि सूर्य निरुद्ध हो जाता है, ब्रह्माग्नि प्रज्वलित होती है, दशमद्वार खुल जाता है और योगी अमृत पान करता है ।

चालत चंदवा खिसि खिसि परै, बैठा ब्रह्म अगनि परजलै ।[158]
चन्द सूर दोउ गगन बिलूंबा भईला घोर अंधारं
पंच बाहक जब थकी पौट्या प्रगट्या पौलि पगारं ॥[159]
चन्द सूर दोउ समि करि राष्या आपै आप जु मिलिया ।[160]

गोरखबानी में एक स्थान पर चन्द्र सूर्य उपमानो को गंगा यमुना मे बदल कर एक तीसरे ही रूपक का अंग बना दिया गया है :

चंदा गोटा टीका करि लै सूरा करि लै बाटी
मूंनीं राजा रूपा धोवै गंग जमुन की घाटी ॥[161]

सन्त साहित्य मे यद्यपि इस साधना का इतना विस्तृत विवरण तो नहीं मिलता, किन्तु फिर भी इसका संकेत बराबर है :

कबीर जहं धरनि बरसै गगन भीजै चंद सूरज मेलि
दोउ मिलि तह जुरन लागे करैं हसा केलि ॥[१६२]

नानक शशि घरि सूर समाने भाइ, हरि दर्शन की सोझी पाइ।
शिव शक्ती घरि अवतरे रक्त बिन्दु आकारू
चद सुरज दुइ साखीआ करि निर्मल ज्योति उज्यारू ॥[१६३]

जायसी ने भी पद्मिनी और रत्नसेन के प्रणय और विवाह मे लगातार इन्ही उपमानो द्वारा योग साधना के सकेत रक्खे है ·

देव पूजि जब आइउ काली। सपन एक निसि देखेंउ आली।
जनि ससि उदौ पुरुब दिसि कीन्हा। और रवि उदौ पछिव दिसि लीन्हा।
पुनि चलि सुरुज चाद पह आवा। चाद सुरुज दुहु होइ मेरावा।[१६५]
पारस रूप चाद देखराई। देखत सुरुज गएउ मुरझाई।
सोरह करा दिष्टि ससि कीन्ही। सहसौ करा सुरुज के लीन्ही।
भा रवि अस्त तराइन हसे। सुरुज न रहा चाद परगसे।
जोगी आदि न भोगी होई। खाइ कुरकुटा गा परि सोई।[१६६]

इन उद्धरणो में दो बातें विचारणीय है। प्रथम, कलाओ के सम्बन्ध मे जायसी का ज्ञान अधूरा है क्योकि वे सूर्य को बारह कला के बजाय सहस्र कला बताते है। दिशाओ के सम्बन्ध मे जहाँ उन्होने रवि का उदय पश्चिम और चन्द्र का उदय पूर्व मे बताया है वहाँ केवल काव्यगत चमत्कार मात्र नही है क्योकि दिशाओ की लगभग यही योजना नानक में भी मिलती है, 'पूरब पच्छिम यदि दच्छिण जाय, रवि शशि दोउ एकत्र मिलाय।[१६७]

चन्द्र-सूर्य-सगम से बाद की अवस्था के लिए शैव योग वाले नाम तो परिचयावस्था (परचा) या अनुभव (अनभै) आदि थे किन्तु कुछ बौद्ध नाम भी इससे सम्बद्ध रह गए थे वे थे सहज अवस्था, शून्य समाधि अथवा निर्वाण पद। इन सबो मे द्वयताओ का निषेध किया गया था और वहाँ सूर्य चन्द्र, रात दिन पवन आदि का भी प्रवेश निषिद्ध माना गया था। योग को अन्तिम अवस्था का परम पद रूप मे यही वर्णन गीता मे भी मिलता है और तभी से प्रत्येक योग परम्परा इसका वर्णन देती आई है

गीता न तद्भासयते सूर्यो न शशाको न पावक
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम ॥[१६८]

सरहपा जहि मण पवण ण संचरइ रवि ससि णाह पवेस
तहि वट चित्त विशाम करु सरहे कहिअ उऐस ।[१६९]

गोरखबानी कहा बुझै अवधू राह गगन न धरनी
चंद न सूर दिवस नहिं रैनी ॥[१७०]

कबीर जिहि वन सीह न सत्रैं पषि उड़ैं नहिं जाइ
रैनि दिवस का गम नही, तह कबीर रहा ल्यौ लाइ ॥[१७१]

दादू चल दादू तहं जाइये जंह चन्द सूर नहिं जाइ
राति दिवस का गम नही, सहजै रहा समाइ ।[१७२]
धरणि आकास अगम चंद सूर नाही
रजनी निस दिवस नाही पवना नहिं जाही ।[१७३]

इसी प्रकार सभी योग पद्धतियों में अन्तिम समाधि अवस्था इसी रूप में स्वीकृत थी। बौद्धों ने इसे चन्द्र सूर्य या प्रज्ञोपाय सहज समाधि का नाम दिया था, और शून्य समाधि भी कहते थे। इसी के साथ निर्वाण की कल्पना भी जुड़ी हुई थी। परवर्ती नाथ परम्परा में भी ये नाम चलते रहे

सहज—जिहि घर चंद सूर नहि ऊगै तिहि घरि होसी उजियारा
तिहाँ जो आसण पूरौ तो सहज का भरो पियाला मेरे ज्ञानी।

शून्य—सुनि ध्यान सोलह कला सपूरण माला।
आपण स्वभू श्री गोरष वाला।

निर्वाण—त्रिकुटी पेत्र उलटि मेला।
नृवाण तत्व ले रमौ अकेला।[१७४]

सहज तथा शून्य के विकास पर हम पीछे विचार कर चुके हैं। निर्वाण का विकास सन्त परम्परा में कैसे वैष्णव चिन्तना से प्रभावित होकर विष्णु के परम पद में परिवर्तित हो गया इस पर आगे विचार करेंगे, किन्तु उसके पहले वज्रयान की महामुद्रा साधना का नाथ योग में क्या रूप हो गया, इस पर विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि प्रज्ञोपाय समाधि के लिये महामुद्रा का समागम अनिवार्य माना गया था।

मुद्रा के अर्थ

मुद्रा के सम्बन्ध में पीछे विचार करते समय हमने यह देखा था कि

मुद्रा का प्रयोग तीन अर्थो मे होता था। क—शारीरिक अगो की स्थिति जैसे भूस्पर्श मुद्रा, अभय मुद्रा आदि। ख—वाह्य चिन्ह जैसे कुण्डल आदि। ग—वह नारी जो तान्त्रिक अनुष्ठानो (मैथुन तथा विन्दु रक्षा) के लिये सह-साधिका रहती है।

दोहो तथा चर्यापदो मे मुद्रा शब्द का व्यवहार प्रमुखत तीसरे अर्थ मे हुआ है और महामुद्रा साधना पर हम विस्तार से विचार कर चुके है। किन्तु एक स्थान पर हमे कुण्डलो का भी उल्लेख मिलता है। काण्हपा ने जब कापालिक रूप धारण करने का विवरण दिया है तो उन्होने स्वर तथा व्यजनो के नूपुर और सूर्य-चन्द्र-रूपी कुण्डलो का भी उल्लेख किया है।[१७५] मुनिदत्त ने इसे वज्र कापालिक का रूप बताया है। जिससे ज्ञात होता है नर-अस्थि के कुण्डल धारण करने की परम्परा बौद्धो मे थी और सम्भवत इसीलिये शबरपा ने अपने पद मे शबरी को कर्ण कुण्डलो के रूप मे वज्र कुण्डल धारण किये हुए चित्रित किया है।[१७६] नाथ योगियो मे भी ये मुद्राएँ चन्द्र सूर्य की ही प्रतीक थी। इसकी ओर हम पीछे सकेत कर चुके है। कर्ण-कुण्डल धारण करने की परम्परा का प्रवर्तन वज्रयानी सिद्धो ने नही किया था। द्विवेदी जी ने कई पुरानी परम्पराओ की ओर सकेत किया है जिनसे सिद्ध होता है कि बौद्ध सिद्धो के भी पूर्व कर्ण कुण्डल धारण किये जाते थे और बौद्ध वज्र कापालिक, मत्स्येन्द्र तथा गोरख इन सबो ने उस परम्परा को ग्रहण किया था।[१७७] किन्तु ज्ञात यह होता है कि जैसे महा-मुद्रा के बाद वज्रयानी सिद्ध समस्त अनुष्ठानो के बन्धन से मुक्त मान लिये जाते थे, वैसे ही नाथ सम्प्रदाय मे यह मुद्रा साधना की एक विशेष परिधि को पार कर लेने की चिन्ह मानी जाने लगी थी। जब तक वे चन्द्र सूर्य की समता नही स्थापित कर लेते थे तब तक वे मुद्रा धारण करने के योग्य नही समझे जाते थे और उन्हे औघड ही कहा जाता था।[१७८] उन कुण्डलो को कान के मध्य भाग मे धारण करना भी नाडी छेदन से सम्बन्धित था और यह गोरखनाथ की अपनी विशेषता प्रतीत होती है क्योकि द्विवेदी जी के अनुसार कानिपा सम्प्रदाय के अनुयायी कुण्डलो को कान की लोरो मे भी पहनते है और उनमे वामारग (वाममार्गी) साधनाओ का भी अस्तित्व पाया जाता है।[१७९]

जहाँ तक नारी रूप मे मुद्रा को धारण करने का प्रश्न है, द्विवेदी जी

का यह अनुमान ठीक ही प्रतीत होता है कि अपने मूल रूप में नाथ सम्प्रदाय ब्रह्मचर्य का उपदेश देने वाला, नारी संग का बहिष्कार करने वाला पन्थ था किन्तु उसमें धीरे-धीरे तान्त्रिक प्रवृत्तियाँ प्रविष्ट होती रही हैं और वज्रोली, सहजोली आदि जिन मुद्राओं का उल्लेख गोरक्ष-पद्धति तथा हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थों मे मिलता है, वे कुछ ऐसे वज्रयानी सम्प्रदायों से आई हैं जो नाथ सम्प्रदाय में बाद मे अन्तर्भुक्त हो गये हैं।[१८०] मत्स्येन्द्र का योगिनी-कौल-मार्ग निस्सन्देह तान्त्रिक प्रवृत्तियों को प्रश्रय देता था और हम इसकी ओर सकेत कर चुके हैं कि कौल-मार्ग में विशुद्ध हठयोग पद्धति को कृतका और महामुद्रा साधना को सहजा पद्धति कहते थे। वे अपनी साधनाओं के लिये वज्रयोग शब्द का भी प्रयोग करते थे।[१८१] ऐसा ज्ञात होता कि सहजोली तथा वज्रोली मुद्राएँ ऐसी ही किसी पद्धति की देन है। वज्रोली तथा सहजोली मुद्राओं की विस्तृत प्रक्रिया का वर्णन हठयोग-प्रदीपिका मे मिलता है और उसमे नारी मैथुन के समय विन्दु रक्षा अथवा क्षरित विन्दु को पुनः स्वास-प्रक्रिया द्वारा अन्दर खीचने की गुह्य प्रणाली का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार योगिनी नारी भी अपने रज की रक्षा करती है।[१८२]

नाथ सम्प्रदाय और मुद्रा साधना

गोरक्ष-सिद्धात-सग्रह मे भी प्रकारातर से इस बात को स्वीकार किया गया है। तान्त्रिक साधनाएँ इस शुद्ध हठयोग मार्ग मे प्रवेश पा गई हैं। किन्तु उसमें एक महत्वपूर्ण बात कही गई है जिसको ध्यान मे रखना आवश्यक है। उसमें स्पष्ट कहा गया है कि तान्त्रिक साधको का ध्यान बाह्य अनुष्ठानो पर अधिक केन्द्रित रहता है जब कि योगी अन्तरग की उपासना करता है। तान्त्रिक अनुष्ठान स्थूल शक्ति उपासना के माध्यम से देहस्थ शिव और शक्ति का संगम कराने में सहायक सिद्ध होता है।[१८३]

यह परिस्थिति श्रीगुह्यसमाज-तन्त्र की पूर्व निर्दिष्ट परिस्थिति से सर्वथा विपरीत है क्योंकि वहाँ हठयोग की साधना इसलिये आवश्यक बताई गई थी कि वह महामुद्रा साधना में विन्दु रक्षा में सहायक हो सके। वहाँ गुह्याचारों को प्रमुख स्थान मिला था, हठयोग को गौण, यहाँ हठयोग का स्थान प्रमुख है, मुद्रा-मैथुन उसका गौण अंग।

गोरखबानी में भी इन वज्रोली आदि साधनाओं को वह योग बताया

गया है जो भोग का बहिष्कार नही करता। 'बजरी करता अमरी राषै अमरी करता बाई। भोग करंता जे व्यद राषै, ते गोरष का गुरुभाई।'[१८४]

इन पक्तियो मे गुरुभाई शब्द का एक दूसरा सकेत भी हो सकता है। सम्भवत इसका यह भी अर्थ हो कि मत्स्येन्द्र द्वारा स्वीकृत तान्त्रिक पद्धतियाँ अन्य सम्प्रदायो मे चलती रही हो जिन्हे गोरख ने पहले अस्वीकृत किया किन्तु बाद मे एक ही गुरु परम्परा से निसृत होने के नाते वे गोरखपन्थ मे अन्तर्भुक्त हो गई हो। 'गुरुभाई' का नाता तो इसी ओर सकेत करता है।

किन्तु गोरखपन्थ के बहुसख्यक साधक ब्रह्मचारी थे और किसी भी रूप मे नारी संग उनके लिए विर्वजित था। इसीलिये वे नारी को माया का रूप मानते थे और जैसा हम पहले सकेत कर चुके है कि मत्स्येन्द्र की गोरख द्वारा मुक्ति की कथा इसका साकेतिक प्रमाण प्रस्तुत करती है कि गोरख ने तान्त्रिक अनुष्ठानो से योगमार्ग को मुक्त कराने का प्रयास किया था। इसके सकेत वानियो मे स्थान-स्थान पर मिलते है

कनक कामिनी त्यागै जोइ, सो जोगेस्वर निरभै होइ।[१८५]

कदै न सोधै सुन्नरी सनकादिक के साथि
जब तक कलक लगाइसी काली हाडी हाथि[१८६]

पासि बैठी सोभै नही साथि रमाई मुँडि
गोरष कहै असतरी कहा सलह कह मुँडि।[१८७]

सन्त साहित्य और नारी

सन्तो ने नारी के प्रति यही दृष्टिकोण अपनाया है और तान्त्रिक गुह्याचारो के प्रति उनमे तीव्र घृणा का परिचय मिलता है। कबीर कामिनी को नागिन, नरक, बुद्धिविवेकनाशिनी बताते हैं

कामणि काली नागणी तीन्यू लोक मंझारि
राम सनेही ऊबरै बिषई खाए झारि
नारी सेती नेह बुधि बबेक सबही हरै
काइं गमावै देह, कारिज करेइ ना सरै
नारी कुड नरक का, बिरला थामै वाग
कोइ साधू जन ऊबरै, सब जग मूषा लाग।[१८८]

और नारी के प्रति इसी कामुकता की प्रवृत्ति के कारण शाक्तों के प्रति कबीर के मन मे अतुलित घृणा है और उनका दृढ विश्वास है कि शाक्त को यमदूत जजीरो से बाँधकर यमपुर ले जाएँगे :

> सापति मरण का जेवडा भीगा सूं कठटाइ
> दोइ आपिर गुर वाहिरा बाध्या जमपुरि जाइ ॥[१८९]

किन्तु बाद में निर्गुण सम्प्रदाय में भी कहीं-कहीं इन तान्त्रिक गुह्याचारों का प्रवेश हुआ है और अनुरागसागर मे किसी ऐसी साधना का उल्लेख मिलता है जो निर्गुण सम्प्रदायो मे प्रचलित हो गई थी और जिसमे नारी अग को पारस मान कर उससे ससर्ग किया जाता था।[१९०] बाद के कुछ सन्तो ने वज्रोली आदि को भी स्वीकृत करते हुए सहजोली को सर्वश्रेष्ठ मुद्रा बताया है।[१९१] इस प्रकार ये तान्त्रिक अनुष्ठान बाद मे इन निर्गुण सम्प्रदायो मे भी प्रविष्ट हो गये किन्तु उनका वज्रयानी सिद्धो की महामुद्रा साधना से अप्रत्यक्ष सा ही सम्बन्ध था। किन्तु सिद्धो की महामुद्रा साधना से सम्बद्ध कुछ अन्य शब्द, परिवर्तित अर्थों में, सन्त साहित्य मे अवश्य व्यवहृत हुए है।

महामुद्रा के वाचक अन्य शब्द

एक विचित्र विपर्यय हमे 'डाइन' शब्द के प्रयोग मे मिलता है। वज्रयान में डाकिनी (डाइणि) के अर्थ तान्त्रिक साधिका होते थे जो सहज ज्ञान की स्वामिनी हो। 'डाक' तिब्बती शब्द बताया जाता है जिसके अर्थ ज्ञान के होते है। उसी से डाकिनी शब्द बना है, ऐसा प्रतीत होता है। बाद में तान्त्रिक बीजाक्षरो के आधार पर लाकिनी, शाकिनी, राकिनी, हाकिनी, आदि शब्द बना बना लिये जाते है जिनपर हम विचार कर चुके है। डाकिनी उन स्त्रियो को कहते थे जो योग-साधना मे स्वयम् प्रवृत्त हों या किसी साधक को प्रवृत्त करायें। वज्रानन्द मे एक दोहे में पाँच तत्त्वो की व्याख्या करते हुए डाइणि देवी को सम्बोधन किया गया है :

> खिति जल पवण हुतासन कुण्डण डाइणि देवि
> सुण्ण पवन लए पइ जो सु जाणइ केवि।[१९२]

इस दोहे मे भी डाइणि के साथ 'देवि' जुड़ने से यह प्रतीत होता है कि 'डाइणि' के साथ कोई भी अनादर की भावना नहीं सम्बद्ध हुई थी।

धाननाथ की कथाएँ अत्यन्त अविश्वसनीय है किन्तु उनमें कुछ बातें

डाकिनी आदि के विषय मे ऐसी ज्ञात होती है जिन पर अविश्वास करने का कोई कारण नही है। महासिद्ध सवरीपा की दोनो मुद्राएँ लोगी और गुनी का मुद्रानाम डाकिनी पद्मावती और ज्ञानावती रक्खा गया था। ये डाकिनियाँ अन्य सम्प्रदायो मे भी होती थी। सिद्ध कम्बलाम्वरपा एक बार बौद्ध डाकिनियो को छोडकर तीर्थक डाकिनियो के प्रभाव मे आ गये थे। डाकिनियो का प्रदेश किसी पश्चिम प्रान्त मे था ऐसा उल्लेख भी मिलता है।[163] डा० वागची इन्हे दागिनी या दागिस्तान की स्त्रियाँ मानते है जो जादू टोने के लिये प्रख्यात थी किन्तु प्रचुर प्रमाण के अभाव में किसी भी परिणाम पर पहुँचना सम्भव नही है।

ये डाकिनी स्त्रियाँ किसी विशेष प्रदेश या जाति की थी या केवल तान्त्रिक अनुष्ठानो मे सिद्ध स्त्रियो को डाकिनी कहते थे यह ठीक से नही कहा जा सकता, किन्तु यह अवश्य है कि बाद मे इनके गुह्य श्मशान आदि के अनुष्ठानो के कारण जन साधारण इन्हे भय की दृष्टि से देखता था। मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के प्रयोगो के कारण वे समाज मे गर्हित मानी जाती थी, इसीलिये कबीर जब इस डाइन शब्द का व्यवहार करते है तो वे इसके बौद्ध तान्त्रिक अर्थ भूल चुके है। वे इसे माया का उपमान मानते है और शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध आदि को इसके पाँच पुत्र बताते है

इक डाइन मेरे मन मे बसे रे, नित उठि मेरे जिय कौं डसै रे
या डाइन के लरिका पाँच रे, निस दिन मोहि नचावै नाच रे
कहे कबीर हूँ ताको दास, डाइनि के संग रहै उदास ॥[164]

नाथो की बानियो मे इसी प्रसंग में 'राक्षसी' का प्रयोग किया गया है और नारी (भग) को राक्षसी बताया गया है जो बिना दाँतो के ससार को खा गई

भग राकसि लो, भग राकसि लो, बिरा दता जग षाया लो
ग्यानी हुता सु ग्यान मुष रहिया, जीव लोक आपै आप गवाया लो।[165]

इसी डाकिनी की भाँति तान्त्रिक अनुष्ठानो मे यक्षिणी (जाखिनी, जाकिनी) का भी उल्लेख है जो सिद्ध होने पर साधक को अलौकिक शक्तियाँ प्रदान करती थी। जायसी ने पद्मावत मे राघव चेतन को यक्षिणी सिद्ध बताई है:

राघौ पूजा जाखिनी, दुइज देखावा साझि ॥[166]

और नारी के प्रति इसी कामुकता की प्रवृत्ति के कारण शाक्तो के प्रति कबीर के मन मे अतुलित घृणा है और उनका दृढ विश्वास है कि शाक्त को यमदूत जजीरो मे बाँधकर यमपुर ले जाएँगे

साषति सण का जेवडा भीगा सू कठठाइ
दोइ आषिर गुरु बाहिरा बाध्या जमपुरि जाइ ॥[१८९]

किन्तु बाद मे निर्गुण सम्प्रदाय मे भी कही-कही इन तान्त्रिक गुह्याचारों का प्रवेश हुआ है और अनुरागसागर मे किसी ऐसी साधना का उल्लेख मिलता है जो निर्गुण सम्प्रदायो मे प्रचलित हो गई थी और जिसमे नारी अग को पारस मान कर उससे ससर्ग किया जाता था।[१९०] बाद के कुछ सन्तो ने वज्रोली आदि को भी स्वीकृत करते हुए सहजोली को सर्वश्रेष्ठ मुद्रा बताया है।[१९१] इस प्रकार ये तान्त्रिक अनुष्ठान बाद मे इन निर्गुण सम्प्रदायो मे भी प्रविष्ट हो गये किन्तु उनका वज्रयानी सिद्धो की महामुद्रा साधना से अप्रत्यक्ष सा ही सम्बन्ध था। किन्तु सिद्धो की महामुद्रा साधना से सम्बद्ध कुछ अन्य शब्द, परिवर्तित अर्थों में, सन्त साहित्य मे अवश्य व्यवहृत हुए है।

एक विचित्र विपर्यय हमे 'डाइन' शब्द के प्रयोग में मिलता है। वज्रयान मे डाकिनी (डाइणि) के अर्थ तान्त्रिक साधिका होते थे जो सहज ज्ञान की स्वामिनी हो। 'डाक' तिब्बती शब्द बताया जाता है जिसके अर्थ ज्ञान के होते है। उसी से डाकिनी शब्द बना है, ऐसा प्रतीत होता है। बाद मे तान्त्रिक बीजाक्षरो के आधार पर लाकिनी, शाकिनी, राकिनी, हाकिनी, आदि शब्द बना बना लिये जाते है जिसपर हम विचार कर चुके है। डाकिनी उन स्त्रियो को कहते थे जो योग-साधना मे स्वयम् प्रवृत्त हो या किसी साधक को प्रवृत्त कराएँ। वज्र-तन्त्र मे एक दोहे मे पाँच तत्वो की व्याख्या करते हुए डाइणि देवी को सम्बोधन किया गया है :

महामुद्रा के वाचक अन्य शब्द

खिति जल पवण हुतासन सुण्ण डाइणि देवि
सुणहु पचमु तत्तु कहु जो ण जाणइ केवि।[१९२]

इस दोहे में भी डाइणि के साथ 'देवि' जुडने से यह प्रतीत होता है कि 'डाइणि' के साथ कोई भी अनादर की भावना नही सम्बद्ध हुई थी।

तारानाथ की कथाएँ अत्यन्त अविश्वसनीय हैं किन्तु उसमे कुछ बातें

डाकिनी आदि के विषय मे ऐसी ज्ञात होती है जिन पर अविश्वास करने का कोई कारण नही है। महासिद्ध सवरीपा की दोनो मुद्राएँ लोगी और गुनी का मुद्रानाम डाकिनी पद्मावती और ज्ञानावती रक्खा गया था। ये डाकिनियाँ अन्य सम्प्रदायो मे भी होती थी। सिद्ध कम्बलाम्बरपा एक बार बौद्ध डाकिनियो को छोडकर तीर्थक डाकिनियो के प्रभाव मे आ गये थे। डाकिनियो का प्रदेश किसी पश्चिम प्रान्त मे था ऐसा उल्लेख भी मिलता है।[१६३] डा० बागची इन्हे दागिनी या दागिस्तान की स्त्रियाँ मानते है जो जादू टोने के लिये प्रख्यात थी किन्तु प्रचुर प्रमाण के अभाव मे किसी भी परिणाम पर पहुँचना सम्भव नही है।

ये डाकिनी स्त्रियाँ किसी विशेष प्रदेश या जाति की थी या केवल तान्त्रिक अनुष्ठानो मे सिद्ध स्त्रियो को डाकिनी कहते थे यह ठीक से नही कहा जा सकता, किन्तु यह अवश्य है कि बाद मे इनके गुह्य श्मशान आदि के अनुष्ठानो के कारण जन साधारण इन्हें भय की दृष्टि से देखता था। मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के प्रयोगो के कारण वे समाज मे गर्हित मानी जाती थी, इसीलिये कबीर जब इस डाइन शब्द का व्यवहार करते है तो वे इसके बौद्ध तान्त्रिक अर्थ भूल चुके है। वे इसे माया का उपमान मानते है और शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध आदि को इसके पाँच पुत्र बताते है

इक डाइन मेरे मन मे बसे रे, नित उठि मेरे जिय कौं डसै रे
या डाइन के लरिका पाँच रे, निस दिन मोहि नचावै नाच रे
कहे कबीर हूँ ताको दास , डाइनि के सग रहै उदास ॥[१६४]

नाथो की बानियो मे इसी प्रसग में 'राक्षसी' का प्रयोग किया गया है और नारी (भग) को राक्षसी बताया गया है जो बिना दाँतो के ससार को खा गई

भग राकसि लो, भग राकसि लो, बिण दता जग षाया लो
ग्यानी हुता सु ग्यान मुप रहिया, जीव लोक आपै आप गवाया लो।[१६५]

इसी डाकिनी की भाँति तान्त्रिक अनुष्ठानो मे यक्षिणी (जाखिनी, जाकिनी) का भी उल्लेख है जो सिद्ध होने पर साधक को अलौकिक शक्तियाँ प्रदान करती थी। जायसी ने पद्मावत मे राघव चेतन को यक्षिणी सिद्ध बताई है

राघौ पूजा जाखिनी, दुइज देखावा साँझि ॥[१६६]

बौद्ध तन्त्रो से प्रभावित कुछ योग पद्धतियो में शंखिनी डंकिनी या शाकिनी डाकिनी इत्यादि को विभिन्न चक्रो तथा उनके दलो पर स्थित बताया गया है। पलटू उस पद्धति से परिचित भी मालूम पडते हैं और उसे स्वीकार भी करते हैं

सहज गुजार में परमली झाल है, झिलमिली उलटि के पौन भरना।
सखिनी डकिनी सोर करैंगी सब, सोर सुनि उहाँ से नाहिं टरना।

डाकिनी की ही भाँति महामुद्रा की साधना जिस स्त्री साधिका के साथ की जाती थी उसे योगिनी भी कहते थे। सिद्धो की साधना मे इस योगिनी अथवा जोइणि का विशेष महत्व था। उस योगिनी के गाढालिंगन मे वे सहज की साधना करते थे :

योगिनी

जोइणि गाढालिंगणहि वज्रिल लहु उपसरण
तत्तपग्रामिग्र तेहि खणे हरणे दिवग्रण णदिएण ॥सरहपा॥[९७]

गुडुरीपा भी इसी योगिनी से एक भरपूर आलिंगन की कामना करते है :

तिग्रड्डा चापि जोइणि दे अकवाली
कमल कुलिश घाट करहु बिग्राली ॥[९८]

योगिनी-कौल-मार्ग मे भी योगिनी की पूजा का विधान था :

चीर हंडादि मृष्टन्तु घृतपूर्णसुशोभनम्
पार्श्वे तु पूजयेत् सिद्धा योगिनी गुरुमेवच ॥[९९]

ये योगिनियाँ ६४ प्रकार की होती हैं।[१००] योगिनीकौल मार्ग में दो पद्धतियाँ थी, कृतका तथा सहजा। कुडली की साधना को कृतका कहते थे और सहजा (योगिनी) के साथ समरसता में स्थित रहने की पद्धति को सहजा कहते थे।[१२०] कृतका साधना मे योगिनी अवधूती को कहते थे और सहजा में एक वास्तविक नारी का अनुभाव होता है। हम पहले देख चुके है कि नाथ पन्थ मे ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ दोनो प्रकार के योगी थे। अत. योगिनी के भी दोनो अर्थ लिये जा सकते हैं—नाडी (अवधूती या सुषुम्ना) तथा नारी महामुद्रा। नाडी के अर्थ मे चर्यापदो में योगिनी शब्द का प्रयोग है जहाँ बत्तीस नाडियो की बत्तीस योगिनी बताया गया है—'अधराति भर कमल विकसिउ, वतिस जोइणी सु अग उल्हसिउ।'[१०२] गोरखबानी मे इन्ही नव नाडियो की कल्पना नौ सौ योगिनियो के रूप में की गई है जो नाथ योगी की वन्दना गाती हैं :

नौ सौ जोगणी चलिबा साथं । बुरिज बहतरि गाइवा नाथं ।[203]

गोरखबानी मे एक स्थान पर महामुद्रा रूपी महायोगिनी का उल्लेख है 'महामुद्रा अजब नग्री महा जोगणी स्यभू बोलिये ।'[204] जायसी मे भी एक स्थान पर योगी के साथ जोगिनी बनने का उल्लेख है 'अब को हमहि करिहि भोगिनी । हमहूँ साथ होइब जोगिनी ।'[205] किन्तु दूसरे स्थल पर इडा-पिङ्गला को योगिनी के रूप मे परिकल्पित किया गया है । उन्ही को योगी की पत्नी मानकर सास-ससुर और गृह आदि का वर्णन कर पूरा रूपक प्रस्तुत किया गया है :

माहरा रे बैरागी जोगी, अहनिसि भोगी जोगिणि सग न छांडै ।
मानसरोवर मनसा झूलती आवै गगन मडल मठ माडै रे ॥
कौण अस्थानिक तोरा सासू नै ससुरा कौण अस्थानक तोरा बासा ।
कौण अस्थानक तू नै जोगणि मेटी कहाँ मिल्या घर बासा ॥
नाम अस्थानका मोरा सासू नै सुसरा ब्रह्म अस्थानका मोरा बासा ।
इला प्यगुला जोगण भेंटी सुषमन मिल्या घर बासा ॥[206]

सन्त साहित्य मे जोगिन का बहुत कम उल्लेख है । किन्तु फिर भी पलटू योग पद्धति मे सुरति द्वारा योगिनी सुषमना को जाग्रत करने का उल्लेख करते है

भीतर औंटै तत्व को उठै सबद की खानि
उठै सबद की खानि रहै अन्तर लौ लागी
सुरति देइ उदगारि जोगिनी आपुइ जागी ॥

इसी को दूसरे स्थान पर पलटू जोगिनी का अलमस्त होना बताते है :

भूली जग की चाल सब भइ जोगिनि अलमस्त
भइ जोगिन अलमस्त खबर कुछ तन की नाही
ह्वै गइ दसा अरूढ जान तजि भइ विज्ञानी
धरती नभ जरि गई जरा है पवन औ पानी
पलटू दिनकर उदय भा रजनी ह्वै गइ अस्त
भूली जग की चाल सब भइ जोगिनि अलमस्त ।[207]

कही-कही इन जोगिनियो की सख्या ८४ बताई गई है

चारि मुक्ति जोइनि चौरासी तेहि मिलि हेत बढावै ।[208]

मीरा में इस जोगिनी का उल्लेख आता है किन्तु वहाँ योग तथा गुह्य

तन्त्र साधना की सारी पूर्व परम्परा भुलाकर यह केवल भाव-साधना की विरहिणी का उपमान मात्र रह गया है। प्रियतम की कल्पना जहाँ वे जोगी के रूप मे करती है वहाँ अपने को जोगिन कहती है :

जोगण होइ मै वण वण हेरू तेरा न पाया भेस
जोगिया के कहज्यो जी आदेस
माला मुद्रा मेखला रे, बाला खप्पर लूंगी हाथ
जोगिण होइ जग ढूढ सूं रे म्हारा रावलिया री साथ ॥[२०९]

किन्तु मीरा का यह जोगी नायक वास्तव मे जोगी के भेस मे कृष्ण है और यह जोगिनी मीरा उन्ही की पूर्व जन्म की प्रेमिका गोपी है

धूतारा जोगी एक बेरिया मुख बोल रे
रास रच्यो बसी बट जमुना ता दिन कीनी कोल रे
पुरब जनम की मै हूँ गोपिका अधबिच पड गयो झोल रे ॥[२१०]

पूर्वी भारत के नाथ साहित्य में भी हमे मीरा के योगिनी विरह गीतो के ही समानान्तर योगिनी विलाप के कुछ गीत मिलते हैं। उनमे भी योगिनी का विलाप शुद्ध भावात्मक स्तर पर है, तान्त्रिक अनुष्ठानो और योगसाधनाओ का आभास भी उनमें शेष नही रहा है। इतना ही नही, कही-कही तो मीरा के गीतो और बगाली 'जोगिनी विलाप' गीतो मे बिल्कुल समानातर शब्दावली मिलती है •

मीरा—पिय बिन सूनो छै जी म्हारो देश
ऐसा है कोइ पिव को मिलावै तन मन करू सब पेस
तेरे कारण बन बन डोलू कर जोगण को भेस ॥[२११]
बंगला—ग्रह छाडा हय आलि भ्रमि बने बने
कत देशे भ्रमि लाभि स्वामीर अन्वेषणे ॥[२१२]

यही नही जोगी का योगेश्वर रूप धीरे-धीरे वैष्णव रूप मे भी इसी प्रकार परिवर्तित हो रहा था जैसे मीरा मे नाथ योगी का रूप गिरधर के रूप से समन्वित हो रहा था •

आमार जोगीयार गले तुलसीर माला आछे
काने मुद्रा शिरे जटाभार

आमार जोगीयार गाये हरिनामावली आछे
कानें मुद्रा शिरे जटाभार
आमार जोगीयार हाते हरिनामेर माला आछे
कानें मुद्रा शिरे जटाभार
आमार जोगीयार सगे हरिदास शिष्य आछे
कानें मुद्रा शिरे जटाभार
आमार जोगीयार पाये सुवर्णेर नूपुर आछे
कानें मुद्रा शिरे जटाभार .. ... [२१३]

इस प्रकार तन्त्र साधनाओ की योगिनी अन्त मे पूर्व जन्म की गोपिका बन गई और वैष्णव-भाव साधना, भक्ति मे लीन हो गई। उसका बौद्ध तान्त्रिक रूप पूर्णतया भुला दिया गया।

सास ससुर आदि

जोगिनी के साथ ही साथ सास और ससुर भी प्रतीक रूप मे नाथ और सन्तो के साहित्य मे प्रयुक्त हुए है। सिद्धो ने भी परिशुद्धावधूती को वधू रूप मे ग्रहण करने का उपदेश देकर सास और ससुर को सुलाने या उनको मारने का आदेश दिया है। कुक्कुरीपा की चर्य्या में ससुरा (श्वास) के सोने और वधू के जागने का वर्णन मिलता है 'सुसुरा निद गेल बहुडी जागअ।' जिसकी व्याख्या करते हुए मुनिदत्त इसे श्वास को चतुर्थानन्द (सहजानन्द) अवस्था मे योग निद्रा मे लीन कर देने का प्रतीकात्मक वर्णन बताते है। गुडुरीपा इसी श्वास के निरोध को सास के घर मे ताला बन्द करने की प्रतीकात्मक शैली मे वर्णन करते है.

सासु घरे घालि कोचा ताल
चान्द सुज्ज बेणि पखा फाल। [२१४]

काण्हपा अपने कापालिक रूप मे इसी सास, ननद साली आदि (श्वास तथा इन्द्रियादि) को मारने का वर्णन करते है। [२१५]

नाथपन्थी बानियो मे कुम्भक समाधि द्वारा मणिपुर के चक्र मे स्थित प्राण और अपान वायु को सास और ससुर कहा गया है.

कौंण अस्थानिक तोरा सासू नैं सुसरा, कौण अस्थान क तोरा वासा
नाम अस्थान का मोरा सासू मैं ससुरा ब्रह्म अस्थान का मोरा वासा। [२१६]

इस पद के तिलक मे प्राण और अपान के स्थान पर सास का अर्थ सुरति और ससुर का अर्थ शब्द दिया हुआ है, और यह भी असगत नही प्रतीत होता।

पलटू ने एक स्थान पर इसी सास और ननद को मारने का उल्लेख किया है जो काण्हपा के वर्णन की स्पष्ट प्रतिध्वनि प्रतीत होता है .

पलटू—देखा पिय का रूप फिरा अहिबात हमारा
बहुत दिनन की राड मांग पर सेंदुर धारा
सासु ननद को मार मैं अदल दिहा चलाई
उनकै चलै न जोर पिया को मैहि सुझाई।[२१८]

काण्हपा—मारिआ सासु नणद घरे शाली,
माअ मारिआ कण्ह भइल कबाली।[२१६]

पलटू की बानी के सम्पादक ने टिप्पणी मे सास और ननद का अर्थ यहाँ माया और वासना दिया है। उस अर्थ से कोई असगति उत्पन्न नही होती किन्तु श्लेष के कारण श्वास के लिये सास का प्रतीक अधिक सगत मालूम होता है और वज्रयानी परम्परा से ही आया हुआ प्रतीत होता है। बाद मे सास का प्रतीकार्थ बदल भी गया है और जहाँ सिद्धो में अवधूती या सुषुम्ना, वधू के रूप मे परिकल्पित की गई है, वहाँ मीरा के एक पद मे हमें सास का अर्थ सुषुम्ना मिलता है '

सासु हमारी शुशुमना रे, सुसुरी प्रेम सन्तोष रे
जेठ जुगे जुग जीव जो रे, हाँ रे पेलो नावलियो निरदोस।[२२०]

इसी प्रकार काण्हपा के पद मे प्रयुक्त शाली या साली, कबीर के एक 'सलोक' मे सृष्टि-जाल के अर्थ मे प्रयुक्त हुई है .

कबीर सारी सिरजनहार की जाने नाही कोइ
कै जानै आपन धनी कै दासु दीवानी होइ।[२२१]

इस प्रकार नारी रूप मे महामुद्रा साधना का गौण स्थान हो जाने पर भी इनकी योग साधना में "खेचरी" नामक मुद्रा को विशेष स्थान प्राप्त था। यह मुद्रा शून्य स्थान त्रिकुटी से सम्बद्ध थी और इसमे प्राणायाम के साथ जिह्वा को उलट कर तालू मे स्थित किया जाता था ताकि ब्रह्मरन्ध्र से झरने वाले अमृत को पान किया जा सके।

खेचरी मुद्रा

इस मुद्रा का नाम खेचरी वज्रयानी सिद्धो की खेचरी सिद्धि से आया था या नही

यह सन्दिग्ध है किन्तु त्रिकुटी को शून्य मडल या ख-स्थान मानने की कल्पना से अवश्य सम्बद्ध था।[222] यही नही उसके साथ तान्त्रिक अनुष्ठानो का मास भक्षण तथा वारुणी पान का प्रतीकात्मक उल्लेख भी मिलता है, क्योंकि इसी जिह्वा को उलट कर तालू में स्थित करने को गोमास (इद्रिय का मास) भक्षण कहा जाता था और चद्र से झरने वाले अमृत को वारुणी।[223] इस मुद्रा का उल्लेख नाथ तथा सन्त दोनो परम्पराओ मे मिलता है

गोरखबानी कूँची ताली सुषमन करै, उलटि जिभ्या लै तालू मै धरै।[224]

कबीर सुही भच्छन करत बेद मुख, घन बरिसे तन भीजे।

त्रिकुटी मडल मधि मन्दिर वाजै, औघट अम्मर छीजे।[225]

कबीरपन्थ के पच-मुद्रा ग्रन्थ में बाद मे वज्रयान की चार मुद्राओ की परम्परा से सर्वथा मुक्त पाँच मुद्राओ का वर्णन मिलता है: खेचरी, चाचरी, मोचरी, अगोचरी और उन्मुनी। इनके ही समानान्तर पाँच शून्य है और अन्तिम मुद्रा उन्मनी मे ब्रह्म का प्रकाश और सहजानन्द की प्राप्ति होती है

ब्रह्म प्रकाश तहाँ पूरन चन्दा, रैन दिवस नहिं सहज अनन्दा।

इन मुद्राओ का स्थान इस प्रकार है—मुखाग्र, नासाग्र, चक्षु-अग्र, श्रवण-अग्र तथा तिलकपाट। अगोचरी में सहजशून्य और उन्मनी महाशून्य का ध्यान बताया गया है।[226] ज्ञात यह होता है कि शून्य, चतुर्मुद्रा, चार आनन्द तथा हठयोग की चौथी उन्मनी अवस्था की परम्पराएँ इनमे घुलमिल गई है और रचयिता उनमें से सबके ठीक-ठीक अर्थ भी नही समझता है, या कम से कम उनके उन अर्थों से तो अपरिचित है जिनमे वज्रयानी सिद्ध इन शब्दो का प्रयोग करते थे।

उपलब्धि

वज्रयानी पद्धति मे साधना की उपलब्धि के रूप मे निर्वाण का महत्व बहुत घट गया था और भव तथा निर्वाण दोनो ही का निषेध कर महासुख की उपलब्धि को विशेष महत्व दिया जाने लगा था.

निर्वाण

आइ ण अन्त ण मज्झु ण, णउ भव णउ णिव्वाण
एहु सो परम महासुख, णउ पर णउ अप्पाण।[२२७]

किन्तु नाथयोगियो की परम्परा मे योग के चौथे पद या चरम अवस्था को ही निर्वाण का नाम दे दिया गया था। योगिनीकौल मार्ग के ग्रथो मे निर्वाण का कही उल्लेख नही हैं क्योकि वह तन्त्रप्रधान मार्ग था और उसमे सहजानन्द या परमानन्द की उपलब्धि पर बल है, किन्तु नाथ सम्प्रदाय योग-प्रधान होने के कारण योग की चतुर्थ अवस्था या चौथे पद को सर्वोच्च अवस्था मानता था और उसके लिये वे परम पद के साथ-साथ 'निर्वाण पद' शब्द भी प्रयुक्त करते थे।

वास्तव मे इस अर्थ में निर्वाण का प्रयोग गीता मे भी हुआ है :

योन्त सुखोऽन्तरारामस्तथा अन्तर्ज्योतिरेव य
स योगी ब्रह्मनिर्वाणम् ब्रह्म भूतोऽधिगच्छति ॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषय. चीण कल्मषा
छिन्नद्वैधा यतात्मान. सर्वभूत हिते रता. ॥
कामक्रोधवियुक्तानाम् यतीना यत् चेतसाम
अमितो ब्रह्मनिर्वाण वर्तते विजितात्मनाम् ॥[२२८]

निर्वाण शब्द बौद्ध-परम्परा से ग्रहण करने पर भी उसका महत्व तथा उसकी व्याख्या में ये परवर्ती पद्धतियाँ वज्रयान की अपेचा ब्रह्म-निर्वाण की पर-म्परा के अधिक निकट प्रतीत होती है। नाथपन्थी बानियो मे निर्वाण तत्व परम आत्मानुभव को कहते हैं जिसमे साधक समस्त भवजाल से मुक्त हो शुद्ध आत्म-स्वरूप मे स्थित हो जाता है

दृष्टि आगे दृष्टि लुकाइबा, सुरति लुकाइबा कान
नासिका अग्रे पवन लुकाइबा तब रहि गया पद निरबान ॥[२२९]
त्रिकुटी षेत्र उलटि मेला। नृबाण तत्व लै रमौ अकेला।[२३०]

शब्द सुरति-योग की पद्धति के अनुसार निर्वाण की नाद द्वारा प्राप्ति बताई गई

नाद ही ते आछै बावू सब कछू निधाना
नाद ही ते पाइये परम निरवाना ॥[२३१]

एक स्थान पर आकाश (शून्यतत्व) मे शिव का वास बताया गया है और उन्ही के अभ्यन्तर मे निर्वाण पद की स्थिति का उल्लेख मिलता है .

आकास तत सदासिव जाण । तसि अभिअन्तरि पद निरवाण ।[२३२]

केवल आत्मा रह जाती है, माया का पूर्ण विनाश हो जाता है, आत्म-ज्योति प्रज्वलित हो जाती है। ऐसे निर्वाण पद को सन्तो ने भी परम पद बताया है। आत्मा और परमात्मा जल और लवण की भाँति पूर्णतया घुलमिल जाते है

कबीर—माइआ फास बध नहि काटे अरु मन सुनि न लूके
आपा पदु निरबाणु न चीन्हिआ इन विधि अभिउन चूके ।[२३३]
बूझ बूझ पडित पद निरबान
साझ परे कहवा बस भान ॥
उच नीच परबत ढेला न ईट
बिनु गायन तहवा उठे गीत ॥[२३४]

दादू—परमातम सौ आतमा, ज्यौ जल उदक समान
तन मन पानी लौण ज्यौ पावै पद निरवान ।[२३५]

इस निर्वाण पद का आचार पक्ष भी है जिसमें योगी विषय-भोग से विरक्त दुख-सुख आदि द्वन्दो मे सम भाव से स्थित रहता है .

प्रभ के मति रहै निरबान, जह नहि पीवन नहि किछु खानि
खाम्रण पिम्रण ते रहै निरारा ।[२३६]
इसतुति निन्दा दोऊ त्यागै पोजै पदु निरबाना
जनु नानकु इहु बेलु कठिन है किनहु गुरमुपि जाना ।[२३७]

कबीर इस निर्वाण प्राप्त योगी के आचार के सामाजिक पक्ष पर भी बल देते हुए उसे कुल-मर्यादा (जातिगत अहकार आदि) से मुक्त होकर शुद्ध आत्मस्वरूप को पहचान कर विदेह होने का आदेश देते है

कुल मरजादा खोयके खोजिनि पद निरवान
अकुर बीज नसाय कै, भये विदेही थान ।[२३८]

इस प्रकार निर्वाण को भी योग की चतुर्थ अवस्था तथा उसके उपरान्त उपलब्ध होने वाले सम भाव का वाचक मान लिया गया, और ऐसे सन्त को निर्वाणी की सज्ञा दे दी गई क्योकि वह तत्वग्राही है

सोई सन्त सोई निर्बानी । नीर छीर बिबरन करि आनी ।[२३९]

और शब्द या नाद द्वारा प्राप्ति होने के कारण इसे शब्द-निर्वाण कहा जाने लगा।

'चीन्हउ पंडित शब्द-निर्वाणा। निर्गुन नाहिं चिन्हहुँ ज्ञाना।[२४०]

और इस शब्द-निर्वाण को इतना प्रतापी माना गया कि यमराज भी उससे भयभीत बताया गया .

'यमराजा जेहि देखि डराना, सोई शब्द अहै निरबाना।'[२४१]

दूसरी ओर निर्वाण को आदिपुरुष के विशेषण के रूप मे ग्रहण किया गया और निर्वाण पुरुष को सहज पुरुष से भी परे बताया गया :

सहज पुर्ष से आगे जाई। आदि पुर्ष को लोक दिखाई।
सहज ते एक असख प्रवाना। तहंवा आदि पुर्ष निरवाना॥
नाद बिन्द को तहाँ न पानी। नहिं तहं सृष्टि चौरासी जानी।
चद सूर्य नारायण नाही। नहिं तहं दिवस रैन की छाहीं॥
यत्र मत्र तह दरद न धोखा। नर्क स्वर्ग संशय नहिं शोका।[२४२]

इसके उपरान्त निर्वाण को शुद्ध हिन्दू रूप दिया जाने लगा। हिन्दू परम्परा मे मुक्ति ही प्रमुख उपलब्धि मानी जाती थी और कुछ वैष्णव परम्पराओ में सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य चार प्रकार की मुक्तियाँ मानी जाती थी। निर्वाण को सामीप्य मुक्ति का मार्ग बताया गया[२४३] तथा ज्ञान-स्थिति-बोध मे वाम मार्ग द्वारा सालोक्य मुक्ति, निर्वाण मार्ग द्वारा सामीप्य मुक्ति, अघोर मार्ग द्वारा सारूप्य तथा यवन मार्ग द्वारा सायुज्य मुक्ति बताई गई, किन्तु पाँचवी इन सबो से श्रेष्ठ है वह है जीवन-मुक्ति।[२४४] ज्ञात यह होता है कि कबीरपन्थ को सभी सम्प्रदायो से श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये मुक्ति-योजना का ऐसा क्रम निर्धारित किया गया। प्रणामी सम्प्रदाय मे बाद मे यह अक्षर ब्रह्मा का पद माना गया 'जिनके आगे अक्षर ब्रह्मा जो कहिये यह पद है निर्बाना।'[२४५] और इस प्रकार इसका बौद्ध रूप पूर्णतया लुप्त हो गया।

आनन्द अथवा सुख

सिद्ध-साधना की उपलब्धि मे ज्ञान की अपेक्षा सुख अथवा आनन्द अधिक प्रमुख हो गया था और महासुख के अतिरिक्त वज्रयोग की पद्धति मे चार क्षण और उनमे प्राप्त होने वाले चार आनन्द प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द तथा सहजानन्द की कल्पना को प्रमुख महत्व दिया गया। स्वतः योगिनी-कौल मार्ग मे परम अनुभूति को

परम आनन्द (परमानन्द) की सज्ञा दी गई और चार आनन्दो का सिद्धान्त त्याग दिया गया, उसी को कभी-कभी वे सहजानन्द भी कहते थे .

यावत् सममेकत्वं परमानन्द न विन्दति
मूर्खाणा च यथा शास्त्र कुमारीसुरति यथा ॥
सहजानन्द न विन्दति सर्वधर्मा समासृता
अजानन्त्यमलैर्ग्रस्ता महामायान्धच्छादिता ॥[२४६]

सन्तो के साहित्य मे परमानन्द, सहज आनन्द, सहज सुख, महासुख आदि सभी शब्दो का व्यवहार सम्मानार्थक ढग से हुआ है और वे योग के परम आत्मानुभव सुख के पर्याय मान लिये गये है

कबीर— इआ देही परिमल महकन्दा, ता सुख बिसरे परमानन्दा ।[२४७]
कहु कबीर मनु भइया अनन्दा, गइआ भरमु रहिआ परमानन्दा ।[२४८]
काटि सकत सिव सहजु प्रगासिओ एकै एक समाना ना
कहिं कबीर गुरु भेंटि महासुख भ्रमत रहै मनमाना ना ।[२४९]
कोइ है रे सन्तु सहज सुख अन्तरि जा कउ जपु तपु देइ
दलाली रे ।[२५०]

दादू— जह तहं साखी सग है मेरे सदा अनद
नैन बैन हिरदै रहै, पूरण परमानन्द
बादल नहि तह बरसत देख्या, सबद नही गरजन्दा
बीज नही तह चमकत देख्या, दादू परमानन्दा ॥[२५१]

दरिया— परमारथ परमानद पिय सुरति लगाइये ।
ज्यो सरदें को चन्द जग जीवन गुन ज्ञान है ।[२५२]

गुलाल— सहज सुख दिन हो भजि लेहु आनदराय ।[२५३]

उपरोक्त उद्धरणो पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि सहज सुख महासुख आदि बौद्ध परम्परा के शब्द न केवल गौण हो गये है, और परमानन्द के ही परम अनुभूति तथा परमार्थ स्वरूप मान लिया गया है, साथ ही साथ जहाँ वे प्रयुक्त भी हुए है, उनके पीछे मुद्रा के समागम से प्राप्त होने वाली अनुभूति वाला अर्थ सर्वथा भुला दिया गया है और 'सहज' तथा 'महा' केवल साधारण विशेषण के रूप में प्रयुक्त है और उसकी बौद्ध परम्परा का स्मरण मात्र दिलाते हैं । किन्तु उनका तान्त्रिक अभिप्राय लुप्त हो गया है ।

रस रसायन की प्रक्रिया से पारे के विशोधन तथा मारण आदि का प्रयोग चित्त के विशोधन तथा मारण के अर्थ मे किया जाने लगा था। इसका उल्लेख हम पीछे कर चुके है। 'सोने भरिते करुणा नावी' स्वर्ण-रस सिद्धि आदि से यह भी स्पष्ट है कि वे शून्यता ज्ञान अथवा नैरात्म्य ज्ञान को ही सोना मानते थे। नाथपन्थी बानियो मे सुनार के रूप मे स्वर्णविशोधन प्रक्रिया द्वारा चित्त के विशोधन की प्रक्रिया का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है और यहाँ तक कि वहाँ श्लेष द्वारा सोना शून्य ज्ञान का ही उपमान माना गया है .

सोना ल्यौ रस सोना ल्यौ मेरी जाति सुनारी रे
आपै सोना नै आपै सुनारी मूल चक्र अँगीठा
अहरिणि नाद नै ब्यन्द हथौडा घटिस्यूँ गगन बईठा।
ऊर्षै आरण नै विषै कोइला सहज फूक दो नालियाँ
चन्द सूर दोउ सम करि राष्या आपै आप जु मिलिया
अरधै सोना उरधै सोना मध्ये सोनम सोना
तीनि शून्य की जाणै ता घटि पाप न पुना॥
उनमनि डाडी मन तराजू पवन किया गदियाना।
आपै गोरषनाथ जोषण बैठा, तब सोना सहज समाना।[२५४]

सन्तो ने इस स्वर्ण साधना मे योग-प्रक्रिया की अपेक्षा भक्ति तथा उस के अंग सत्सङ्ग, गुरुभक्ति आदि को प्रमुखता दी है। वे कभी सत्सङ्ग को, कभी गुरु को और कभी राम को पारस मानते थे

कबीर—पारस के संग ताबा बिगरिओ, सो ताबा कंचन होइ निबारिओ
सन्तन सगि कबीरा बिगरिओ, सो कबीर रामै होइ निबरिओ।[२५५]
अब घटि प्रगट भये राम राई, सोधि सरीर कनक की नाई
कनक कसौटी जैसे कसि लेइ सुनारा, सोधि सरीर गयो तन सारा
बिन परचै तन काच कथीरा, परचै कंचन भया कबीरा।[२५६]

दादू—दादू गुरु गुरुवा मिलै तायै सब गमि होइ
लोहा पारस परसता सहज समाना सोइ।[२५७]

पारे के शोधने की विधि का रूपक भी एक परवर्ती सूफी सन्त ने अपने एक दोहे में ग्रहण किया है,.

मन पारा तन की खरी ध्यान ज्ञान रस गोय
विरह अगन सू फूक दे निरमल कुन्दन होय ।[२५८]

इस प्रकार धातु-विशोधन तथा स्वर्ण प्रक्रिया को अप्रस्तुत के रूप मे वज्रयानी सिद्धो ने ग्रहण किया था, यद्यपि उनके साथ-साथ स्वर्ण सिद्धि की कल्पनाएँ भी प्रचलित थी और कहा जाता था कि वे स्वर्ण बना सकते हैं । पारस सिद्धि के रूप मे अप्रस्तुत वाला रूप ही ग्राह्य रहा किन्तु सन्तो की विशेषता यह थी कि उन्होने योग प्रक्रिया को गौण स्थान देकर, भक्ति तथा विरह को प्रमुख महत्व दिया और उसी से मन का स्वर्ण रूप होना सिद्धि किया ।

हम पहले ही इस बात की ओर सकेत कर चुके हैं कि तान्त्रिक अनुष्ठानों में वारुणी का प्रयोग होता था और उसको एक आध्यात्मिक अर्थ भी देने का प्रयास किया जाता था। सोमवादी उसे उमा सहित शिव का प्रतीक मानते थे, वज्रयानी उसे सहज रस मानते थे, उसके द्वारा अमरत्व की प्राप्ति वताई जाती थी ।

अमृत द्वारा अमरत्व प्राप्ति

सरहपा ने बाह्य रसायन या अमृत की अपेक्षा शून्यताज्ञान रूपी अमृत को सर्वश्रेष्ठ बताया था क्योकि वह जन्म और मरण दोनो का निषेध कर वास्तविक रूप मे साधक को अजरामर बना देता है

जो एथु जाम मरणे विसका, सो करइ रस रसानेर कखा ।
जे सचराचर तिअस भमन्ति, ते अजरामर किपि न होन्ति ।।[२५९]

नाथपन्थी योगियो मे ज्ञान के पक्ष पर इतना बल नही दिया गया था किन्तु उनके यहाँ यह धारणा अवश्य प्रचलित थी कि खेचरी मुद्रा द्वारा जो चन्द्र से झरने वाले अमृत का निरन्तर पान करता है वह छठे छमाहे कायाकल्प कर लेता है, और इस प्रकार वह अजरामर हो जाता है

जीवता जोगी अमीरस पीवता अहनिसि अपडित धार
दिष्टि मधे अदिष्टि बिचारिवा ऐसा अगम अचारं
जीवता बिछायबा मूवा बोढिवा कवहुँ न होयवा रागी
बरसवै दिन काया पलटिवा यूँ कोइ कोइ विरला जोगी ।।[२६०]

इसी अमीरस को वे सहजरस नाम से भी पुकारते थे किन्तु उसका तान्त्रिक अथवा नैरात्म्य-ज्ञान परक अर्थ नही स्वीकार करते थे

जिहि घर चन्द सूर नहिं ऊगै तिहिं घरि होसी उजियारा
तिहा जो आसण पूरौ तो सहज का भरौ पियाला।[२६१]

सन्तो ने भी अमीरस या रसायन या रस शब्द का व्यवहार मूलतया नाथयोगियो की साधना मे चन्द्र से झरने वाले अमृत के लिये ही किया है किन्तु धीरे-धीरे वे उसे हरि भक्ति रस के अर्थ मे प्रयुक्त करने लगे है और फिर दूसरा अर्थ प्रमुख हो गया। योगपद्धति के कायाकल्प वाले रस के अर्थ मे सन्त इसका प्रयोग करते है

कबीर—धरणी उलटि अकासहिं ग्रासै यहु पुरिषा की वाणी
बाझ पियालै अमृत सोख्या नदी नीर भरि राष्या।
कहै कबीर ते बिरला जोगी धरणि महा रस चाष्या।[२६२]

नानक—पाताली रसु गगनु चढाया। तातें सहजि पलटी काया।[२६३]

किन्तु सन्तो ने इसी अमीरस को राम रस या राम रसायन का नाम दिया है जो उनकी भक्ति भाव साधना के अधिक निकट है :—

बिना पियाले अमृत अचवे नदिय नीर भरि राखै
कहहिं कबीर सो जुग जुग जीवै राम सुधारस चाखै।[२६४]

इस प्रकार उन्होने योगमार्ग के अमृत को तो स्वीकार किया है किन्तु तान्त्रिको की वारुणी और सोम को पूर्णतया गर्हित ठहराया है। कबीर ने स्पष्ट घोषित किया है कि शाक्तो का रस झूठा है, वह अमरत्व प्रदान नही कर सकता, किन्तु सन्तो का हरिभक्त रस वास्तव मे मृत्यु को जीतने वाला है :

साकत मरहिं सन्त सभ जीवहिं
राम रसायन रसना पीवहिं॥[२६५]

और जब से यह राम रस उन्हें मिला है तब से वे अन्य सारे योग और तन्त्र के रसो को भूल गए है

राम रस पाइया रे तातै बिसरि गये रस और।[२६६]

इसी को वे हरिरस और प्रेम रस भी कहते है :

राम रसाइण प्रेम रस पीवत अधिक रसाल
कबीर पीवण दुलभ है मागै सीस कलाल।
हरि रस पीया जाणिये जे कबहु न जाइ खुमार
मैमता घूमत रहै नाही तन की सार।[२६७]

इस रस के प्रसग मे उन्मत्तता आदि का वर्णन चर्यापदो मे ही आता है किन्तु कबीर ने खुमार आदि शब्द सूफी साधनाओ से लिये है क्योकि सूफी भी इस रस या वारुणी को प्रेम रस के रूप मे प्रयुक्त करते थे। अमीरस आदि शब्द भी उन्होने तान्त्रिक और योग परम्परा से लिये थे

मझन जेहि भा पेम अमीरस परचै काल करै का पार।[२६८]

इसी हरि रस के दो प्रभाव साधक पर होते हैं वह कचन हो जाता है, और अमर हो जाता है।

सबै रसाइणि मै किया हरि सा और न कोइ
तिल इक घट मै सचरै तौ सब तन कचन होइ ॥
मैमता अविगत रता अकलप आसा जीति
राम अमलि माता रहै जीवत मुकति अतीति।[२६९]

यहाँ पर कंचन होने के अर्थ है समस्त वासनाओ से मुक्त होकर शुद्ध स्वरूप मे स्थित होना और अमर होने के अर्थ है जीवन्मुक्त होकर मृत्यु से अभय हो जाना। अन्य स्थलो पर कबीर ने अमर होने का मार्ग यह बताया है कि हरि के प्रति पूर्णतया शरणागति की भावना रखने से अमरत्व लाभ होता है क्योकि हरि ही मिलाने वाले है, वे अमर है और उनके भक्त भी अमर है .

हम न मरै मरिहै ससारा, हम कू मिल्या जियावन हारा।
अब न मरौ मरनै मनमाना तेई मुए जिनि राम न जाना।
हरि मरिहै तो हमहूँ मरिहै, हरि न मरै हम काहे कूं मरिहै ॥[२७०]

इस प्रकार वारुणी तथा सोम की रसायन रूप मे जो कल्पना तान्त्रिक अनुष्ठानो से विकसित हुई थी, जिसे सरहपा ने प्रतीत्य समुत्पाद के जन्म-मरण-रहित नैरात्म्य ज्ञान की व्याख्या दी, नाथ योगियो ने जिसे देहस्थ चन्द्र से चरित होने वाला अमृत बताया, अन्त मे वही परम्परा सन्तो द्वारा भक्ति मार्ग मे समाहित कर दी गई और अजरामर वही माना गया जो भक्तिपरायण है क्योकि यह दुख-सुख, जन्म-मृत्यु सबो से निरसग है, निरपेक्ष है।

दादू—जुग काला जामण मरण जहाँ जहाँ जिव जाइ
भगति परायण लीन मन ता कौं काल न खाइ ॥[२७१]

संत लोगों ने भक्ति के आगे अष्ट महासिद्धियो को भी कोई महत्व नही

दिया है। सहज सिद्धि के आगे अष्ट महासिद्धियों को तो वज्रयानी सिद्धो ने भी गौण बताया था किन्तु वे इस मार्ग मे उनकी उपलब्धि को अष्ट महासिद्धि भी स्वीकार करते थे। बौद्ध अष्ट महासिद्धियो का उल्लेख योगिनीकौल मार्ग मे तो अवश्य मिलता है,[२७२] किन्तु गोरख के अनुयायी बौद्ध अष्ट महासिद्धियो के स्थान पर हिन्दू परम्परा की अष्ट महासिद्धियो को स्वीकार करते थे। वैसे अन्तर्धानादि कुछ बौद्ध सिद्धियो का अप्रत्यक्ष उल्लेख उनकी बानियो मे मिल जाता है और सिद्ध-गुटिका अन्तर्धान तथा अमरत्व दोनो की प्रदायिका मानी जाती थी।[२७३] उनकी बानियो में सिद्धियो की सख्या २४ भी बताई गई है किन्तु वहाँ पर स्पष्ट उल्लेख है कि ये सिद्धियाँ ब्रह्मज्ञानी के मार्ग में बाधक होती है और जब वह इनका परित्याग कर देता है तभी उसे परमज्योति प्राप्त होती है।

'यती चौबीस सिधि ब्रह्मा ग्यानी कै आडी आवै। यती चौबीस सिधि आई होय तौ सतगुरु प्रसाद तैं त्यागै। सोइ जोगेश्वर सोई ब्रह्म ग्यानी। बल अपार जती गोरपनाथ समझावै। यती चौबीस सिधि त्यागै। सोई परम ज्योति कूँ पावै।[२७४]

सन्तो ने इन सिद्धियो का रहा सहा महत्व भी समाप्त कर डाला। उन्होने तो राम के चरणो में ही इन समस्त ऋद्धियो सिद्धियो का वास माना।

कबीर— राम चरन जाके हिदै बसत है ता जन कौ मन क्यूँ डोलै
मानौ अठ सिध्य नव निध्य ताकै, हरषि हरषि जस बोलै।[२७५]

दादू— हिरदै राम रहै जा जन कै ताकौं ऊरा कौण कहै
अठ सिधि नौ निधि ताके आगे सनमुख सदा रहै।[२७६]

और बाद मे तो भक्ति पर सन्तो की आस्था इतनी दृढ हुई कि वे इन भौतिक सिद्धियो को घोर उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे।

सत न चाहै मुक्ति को नही पदारथ चार
नही पदारथ चार मुक्ति सतन की चेरी
ऋद्धि सिद्ध पर थुकै स्वर्ग की आस न हेरी
• • • •••• •
पलटू चाहै हरि भगति ऐसा मता हमार
संत न चहै मुक्ति को, नही पदारथ चार।[२७७]

ङ

भाव, शैली, भाषा और छन्द

मध्यकालीन तान्त्रिक तथा योग साधनाओ मे काव्य को एक सिद्धि रूप मे स्वीकृति कर उसे धर्मसाधना मे ही पूर्णतया अन्तर्भुक्त कर लिया गया था।

गुह्यवाणी

काव्य का यह रूप बौद्ध तथा ब्राह्मण दोनो ही परम्पराओ मे स्वीकृत था। इसी के साथ परा, पश्यन्ती तथा मध्यमा को भी बीजाक्षरो की गुह्यवाणी मान लिया गया था। गुह्यवाणी या सरहपा द्वारा निर्दिष्ट 'गहिण, गुहिर भास' की कल्पना सन्तो तक चली आई है पर उसमे प्रज्ञोपायात्मक तान्त्रिक अर्थ नही रहे। फिर भी कुछ विशेष शब्द समूहो को तान्त्रिक बीजाक्षरो के ही समान महत्व दे देने की परम्परा सन्तो मे भी मिलती है। नानक की 'प्राण सगली' मे 'वाह, वाह' को गुहजी वाणी (गुह्य वाणी) कहा गया है, उसी से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है और उसी को निर्वाण स्वरूप भी कहा गया है:

वाह वाह कीना निरवाणु। नानक वाह वाह हैराणु।[१]

इस गुह्यवाणी की कल्पना के साथ कुछ बौद्ध तन्त्रो के पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग नाथपन्थियो की बानी मे भी बराबर मिलता है। नाथ पन्थियो के एक पद मे वाणी के दो रूप बताये गये है 'सुनि अस्थूल दोइ वाणी।'[२] स्थूल वाणी बाह्य प्रकट वाणी को कहते है, शून्य गुह्य वाणी है। दूसरे स्थल परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के ही समानान्तर वाणी का चतुर्विध विभाजन मिलता है:

चारि वाणी बोलिये घट भीतर ते कौण कौण
सहज सजम सुपाइ अतीथ।[३]

इन वाणियो के स्वरूप अथवा लक्षणो का स्पष्ट उल्लेख नही है किन्तु इनके नामकरण पर बौद्ध परम्परा के अवशिष्ट प्रभाव का कुछ आभास अवश्य मिलता है किन्तु यहाँ पर सहज से शिव और शक्ति के युगनद्ध की गुह्य वाणी का सकेत है, प्रज्ञा और उपाय के युगनद्ध की वाणी का नही।

कबीर पन्थ मे गुह्य वाणी की कल्पना का और भी प्रचुर विस्तार मिलता है और ज्ञात यह होता है कि मन्त्रो तथा बीजाक्षरो को फिर स्वीकार कर लिया गया है। स्वसम्वेद-बोध मे सात बीजाक्षरो तथा उनके सात अकुरो का उल्लेख है ऊ, श्री, र, सौ, रौं, ह्री, क्ली, अ, इ, उ, ए, व, म, ह इन्ही से सात करोड महामन्त्रो का उद्भव होता है जिनसे सात सिद्धियाँ मिलती हैं—जारण, मारण, वशीकरण, उच्चाटन, आकर्षण, स्तम्भन, तथा मोहन—इस प्रकार गुह्यवाणी की तान्त्रिक कल्पना कबीर पथ मे पुन प्रविष्ट हो जाती है, यद्यपि इस बार वह बौद्ध उद्गम से नही आई है।[४]

यहाँ पर यह विशेषतया उल्लेखनीय है कि यद्यपि नानक ने वाह-वाह को तान्त्रिक मन्त्रो के ही समान महत्व प्रदान किया किन्तु सन्त तन्त्रो की पद्धति को स्वीकार नही करते थे। कबीर ने भी साहित्य के वाणी के, एक गुह्य अर्थ की ओर सकेत किया है किन्तु वह अर्थ तान्त्रिक नही है, शुद्ध ब्रह्म-विचार मात्र है। इस दृष्टि से उनका साहित्य न केवल लौकिक साहित्य है न तान्त्रिक अभिप्रायो से युक्त है, वह शुद्ध ज्ञानपरक तथा भक्तिपरक ब्रह्म विचार है

लोग जानै इहु गीतु है, इहु तउ ब्रहम वीचार।[५]

भावपक्ष

वज्रयानी साधनापद्धति की तान्त्रिक प्रवृत्तियो का बहिष्कार कर जब गोरखनाथ के प्रभाव से शुद्ध योग मार्ग अपनाया गया उसी क्षण से इन परवर्ती योग सम्प्रदायो के साहित्य मे भावपक्ष गौण हो गया। बौद्ध सिद्धो ने महाराग की प्रतिष्ठा की थी और भगवती प्रज्ञा के प्रति महाराग को अपने काव्य की मुख्य भावभूमि बनाया था। नाथ परम्परा में तथा शक्ति को देहस्थ मानकर क्रम उलट दिया गया था और साधना की सक्रियता शक्ति मे मान ली गई थी, शिव उसकी निष्क्रिय निष्काम

परिणति मात्र थे। अत साधक का, अपने को उपायरूप परिकल्पित कर भगवती प्रज्ञा के प्रति प्रणय निवेदन करने वाली भाव-पद्धति पूर्णतया त्याग दी गई। किन्तु दूसरी ओर नाथ परम्परा के गृहस्थ योगियो मे किस प्रकार योगिनियो के प्रेम गीतो का विकास हुआ और मीरा के गीतो पर उनकी कैसी प्रतिछाया मिलती है इस पर हम विचार कर चुके है।

सन्तो मे हमे पुन हठयोग के अतिरिक्त भावपक्ष की प्रवलता मिलती है किन्तु भावाकुलता के इस पुनरुत्थान का उद्गम विन्दु बौद्ध साधना नही है। उन पर भक्ति का स्पष्ट प्रभाव है। इनकी भाव साधना का इष्ट न प्रज्ञा है, न शिव, वह है निरजन अथवा राम। इस दृष्टि से सिद्धो मे तथा सन्तो मे प्रमुख अन्तर यह है कि वज्रयानी साधक अपने को प्रेमी नायक परिकल्पित कर नारी प्रज्ञा से प्रणय निवेदन करता था जब कि सन्त साधक अपने को नारी परिकल्पित कर राम को पति के रूप मे स्वीकार करता है। किन्तु इसमे भी पातिव्रत्य पर जो आग्रह सन्तो ने किया है, वह आश्चर्यजनक रूप में सरहपा के स्वकीयत्व तथा पातिव्रत्य के उस विधान से मिलता है जिसकी ओर हम सिद्ध साहित्य के भाव पक्ष पर विचार करते समय सकेत कर चुके है। इसी कारण एक विशेष अन्तर यह भी आ गया है कि सिद्धो के काव्य मे विरह पक्ष का या विप्रलम्भ शृङ्गार का इतना प्राचुर्य नही है जितना सन्तो के काव्य में है।

वास्तव मे उस समय बौद्ध सम्प्रदाय जिस रूप में वचे हुए थे, उसमे उनकी भाव साधना गौण हो गई थी या वैष्णव धारा में अन्तर्भुक्त होने लगी थी, केवल सहज आदि शब्दो का प्रयोग कुछ परिवर्तित वेश वाले बौद्ध देवता या बौद्ध अनुष्ठान ही शेष रह गए थे अत उन्ही का विशेष प्रभाव सन्तो पर पडा। उनकी भावभूमि को विशेष परिष्कार भक्ति आन्दोलन से मिला था। सूफियो मे अवश्य हमें नारी रूप मे परमतत्व और नर प्रेमी रूप में साधक का चित्रण मिलता है। किन्तु यह बौद्ध परम्परा का ही प्रभाव था ऐसा कह सकने के लिये हमारे पास कोई प्रमाण नही। उनकी प्रेम-गाथाएँ बहुत कुछ लोककथाओ के आधार पर लिखी गई है जिनमे नाथ पन्थी प्रभाव भी घुल मिल गया है।

आलम्बन के साथ-साथ उद्दीपन विभाव मे प्रकृति चित्रण पर थोडा

विचार कर लेना आवश्यक है। सन्तो के साहित्य मे उसी अन्तस्थ प्रकृति का चित्रण है यद्यपि उसके कमल, नदी, घाट, त्रिवेणी, भँवरगुफा आदि शैव योग पद्धति से विशेषतया प्रभावित है और बौद्ध तान्त्रिक प्रभाव उसमे लगभग नही के बराबर है। यह कमल

उद्दीपन

गगा, त्रिवेणी आदि उपमान जिस देहस्थ चक्र योजना तथा नाडी-जाल के लिये व्यवहृत हुए है उनका सम्यक विवेचन हम कर चुके है। सूफी कवियो ने गाथाएँ लिखी अत उसमे कथा के निर्वाह के लिये वाह्य प्रकृति की योग-साधना के सकेतो से भी समन्वित करने का प्रयास मिलता है।

तान्त्रिक साधनाओ का परित्याग कर देने से नाथ और सन्त परम्परा के नीतिपरक साहित्य का स्वर भी सिद्ध साहित्य मे पृथक् हो गया था। हमने सिद्धो के नीतिपरक साहित्य के तीन अग माने थे—विवेचन, चेतावनी, और खंडन। विवेचन का आभास हमे मिल चुका है। जहाँ तक चेतावनी का सम्बन्ध है नाथ और सन्त दोनो परम्पराओ में निवृत्तिमूलक स्वर की प्रधानता है और जगत को माया समझकर उसके पूर्णत परित्याग पर विशेष आग्रह है। सिद्धो के भव का भोग करते हुए भी भव से निर्लिप्त रहने का सिद्धान्त त्याग दिया गया है क्योकि राग से परिशमन न कर, विराग से या फिर हरिभक्त से भवराग के निषेध का सिद्धान्त मान लिया गया है।

यह निवृत्तिमूलक दृष्टिकोण सिद्धो के ही समय से जैन दोहो मे पाया जाता है। बौद्ध सिद्धो ने कहा था कि विषयो मे रमते हुये भी विषयो मे लिप्त नही होना चाहिये किन्तु जैनो ने स्पष्ट कहा है ·

खतु पियतु वि जीव जइ पावहि सासयमोक्खु।
रिसहु भडारउ किम चवइ सयल वि इन्दिअसोक्खु ॥[६]

साथ ही इस पश्चिमी परम्परा मे नारी को पूर्णतया त्याज्य माना गया है और उसे साधना की सहसाधिका या महामुद्रा न मान कर सबसे बडी बाधा कहा गया

कुहिएण पुरिएण य छिद्देण य खारमुत्तगधेण।
सताविज्जइ लोओ जह सुणहो चम्मखडेण ॥
देरवताह वि मूढ वढ रमियइ सुक्खु ण होइ
अम्मिए मुत्तह छिद्द लहु तो वि ण विणउइ कोवि ॥[७]

ज्ञात यह होता है कि पश्चिम के सम्प्रदायो मे और उनके दोहा साहित्य

मे यह निवृत्तिमूलक दृष्टिकोण प्रधान था और नाथो तथा सन्तो के निवृत्तिमूलक चेतावनी के दोहो मे बौद्ध दोहो की अपेक्षा इस परम्परा का अधिक प्रभाव मालूम होता है।

जहाँ तक खडन का प्रश्न है बौद्ध दोहो तथा चर्यापदो मे उसके भी दो अश थे—समकालीन अन्त सम्प्रदायो का खडन तथा एक विशेप स्थिति के वाद बाह्य अनुष्ठानो का खडन। पीछे हम बौद्ध सिद्धो की साम्प्रदायिक स्थिति तथा उनकी साधना पद्धति मे बाह्य अनुष्ठान व उनसे मुक्ति की स्थिति, दोनो ही पर विचार कर चुके है। हम पीछे इस ओर सकेत कर चुके है कि नाथ पन्थ मे अन्तर्भुक्त बहुत से साधक समूहो तथा सन्तो की सामाजिक स्थिति कुछ इस प्रकार की थी कि उच्चवर्गीय हिन्दू भी उन्हें प्रश्रय नही देते थे और न कट्टर मुसलमानो की सकीर्णता ही उन्हे ग्राह्य थी, इस कारण उसमे से अधिकाश तथा साधक स्वतंत्र विचारक थे और वे मध्य मार्ग से हिन्दू और मुसलमान दोनो ही के मध्य के निष्पक्ष मार्ग का अर्थ लेते थे। नाथ पन्थ प्रारम्भ में अवश्य बडा ही सगठित सम्प्रदाय था, बहुत-सी अन्य धाराएँ मिल गई, बहुत से योगी समूह पूरे के पूरे मुसलमान बना लिये गये, बहुत से गृहस्थ होकर बस गये और उसका वह सैनिक सगठन केवल पश्चिमी प्रदेशो में ही कही-कही रह गया। सन्त परम्परा साम्प्रदायिक सकीर्णताओ से पूर्णतया मुक्त हो सकी, अत. उनके खडनात्मक साहित्य मे कोई पक्षपात नही है।

किन्तु साम्प्रदायिक दृष्टि से खडन-मडन की यह परम्परा बाद मे उन पन्थो मे आई जो सन्तो के नाम पर स्थापित हो गये। "जैन धर्म बोध" आदि कितनी छोटी-छोटी कृतियो मे साम्प्रदायिक दृष्टि से दूसरे सम्प्रदायो का खडन कबीरपन्थ के परवर्ती साहित्य में मिलता है।

बाह्याचार तथा बाह्य अनुष्ठानो की भी यही अवस्था रही। सन्तो ने इन तान्त्रिक अनुष्ठानो का वास्तविक रूप मे विरोध किया। वे गुह्याचारो के सख्त विरोधी थे। सिद्ध तो तन्त्र-मन्त्र का निषेध केवल तभी करते थे जब महामुद्रा साधना कर लें किन्तु सन्त तन्त्र-मन्त्र के सर्वथा विरुद्ध थे और किसी रूप मे भी उन्हें स्वीकृत नही करते थे और भक्ति को ही उन्होने एकमात्र साधन मान लिया था :

तन्त न जानूँ मन्त न जानूँ, जानूँ सुन्दर काया।[८]

तान्त्रिक गुह्यचारो के मद्य, मास, मैथुन आदि के भी वे घोर विरोधी

थे और इसी दृष्टि से न केवल भावभूमि वरन आचारपद्धति में भी वे वैष्णव ही थे। वैसे जैन दोहो मे भी श्रावक धर्म के अन्तर्गत मद्य, मास, पशुबलि का निषेध तथा अहिंसा आदि का विधान मिलता है।[९] किन्तु शाक्तो को असाधु मानते हुए भी जब उनकी निन्दा की गई है तब वही वैष्णवो का उल्लेख होने से ज्ञात यह होता है कि उनकी यह परम्परा वैष्णवो से ही प्राप्त हुई है, जैनो से नही। किन्तु बाद मे कबीरपन्थ मे भी मन्त्र, यन्त्र, चक्र (चौका), पशुबलि आदि अनुष्ठानो ने प्रवेश पा लिया जो निस्सन्देह समकालीन तान्त्रिक सम्प्रदायो के प्रभाव का द्योतक है। सुमिरन-बोध मे गायत्री का सुमिरन, सोने का सुमिरन, उठने का सुमिरन, यहाँ तक कि शौच करने, दातोन चीरने, टोपी लगाने और सुपाडी काटने तक का सुमिरन दिया गया है।[१०]

बाह्यानुष्ठान के अतिरिक्त जातिभेद तथा शास्त्रज्ञान के प्रति भी सन्तों की आलोचना बौद्ध सिद्धो की आलोचना से विभिन्न प्रतीत होती है। जहाँ तक जाति-भेद का प्रश्न है सिद्धो की और सन्तो की परिस्थिति में एक विशेष अन्तर है। बौद्ध सिद्धो के समय मे निम्न जातियो की परिस्थिति उतनी खराब नही थी और विशेषतया पूर्वी भारत में रूढिवादी ब्राह्मणों का उतना आधिपत्य नही था। किन्तु सन्तो के समय तक ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थिति बदल चुकी ती। ब्राह्मणो का आधिपत्य अधिक हो गया था और सामाजिक गठन को बार-बार ब्राह्मणोक्त मर्यादा मे कसने का अतुल प्रयास हो रहा था। स्वत रामानन्द को छूतछात और जात-पाँत का विरोध करने में जितनी कठिनाई उठानी पडी वह इस बात का प्रमाण है कि जाति-व्यवस्था अधिक सकीर्ण हो चुकी थी। यद्यपि कही कही वैष्णव आचार्य इसका विरोध भी करते थे। सन्तो को जातिभेद-निषेध को मुख्य प्रेरणा अपनी तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति से मिली और उसको वैष्णव उदारता मे प्रश्रय मिला। किन्तु उसका स्वरूप और शैली सिद्धो के समय से ही चली आने वाली जाति भेद निषेध की परम्परा से अवश्य-प्रभावित है। सिद्धों और सन्तो की परिस्थिति मे एक अन्तर और था। सिद्धो की अपनी बौद्ध परम्परा थी और उस समय उसका काफी प्रसार था। वे हिन्दू समाज-पद्धति का विरोध करने के उपरान्त भी बौद्ध समाज मे आदर पा सकते थे। सतो के समय तक समस्त साहित्य संगठन पूर्णतया नष्ट हो चुके थे या छद्मरूप धारण कर चुके थे। अत सन्तो के लिये जातिभेद की समस्या बहुत तीखी समस्या हो गई थी क्योकि उसे अस्वीकार करने के उपरान्त उनके पास सिद्धो की भाँति कोई

बौद्ध शरणास्थिल नही था। कतिपय वैष्णव आचार्यों की उदारता ही उनका एक मात्र आश्रय थी। जहाँ यह भी नही था वहाँ केवल अदम्य आत्मविश्वास और निष्ठा ही उन्हे प्रेरणा देती थी।

इसी प्रकार शास्त्रज्ञान के निषेध के सम्बन्ध मे भी परिस्थिति वदल चुकी थी। तन्त्रकाल के बौद्ध तथा अन्य वेद बाह्य सम्प्रदाय शास्त्रज्ञान का विरोध अवश्य करते थे किन्तु उनकी अपनी एक साम्प्रदायिक शास्त्रीय परम्परा होती थी जिसमे उनके आचार्य पारगत होते थे। अधिकाश बौद्ध सिद्ध सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्र श के महायानी, वज्रयानी और शैव तन्त्रो के भी पडित थे। वहुत से वेद वेदागो का भी अध्ययन कर चुके थे। सन्तो के समय तक बौद्ध शास्त्रीय परम्परा समाप्त हो गई थी और इन निम्न जातियो से आने वाले सन्तो को ब्राह्मणो की शास्त्रीय परम्परा की उपलब्धि असम्भव थी। इसलिये शास्त्रज्ञान के निषेध का अर्थ इन सन्तो मे आकर सर्वथा बदल जाता है। इनमे वस्तुत अध्ययन की अपेक्षा भाव-साधना पर विशेष आग्रह इसलिये भी है कि जो इनके लिये निषिद्ध ठहरा दिया गया था, उसके बगैर भी साधक पूर्णता उपलब्ध कर सकता है, यह वे सिद्ध करना चाहते थे और इसके लिये हरिभक्ति या प्रेम को वे समस्त शास्त्रीय ज्ञान से ऊँचा मानते थे और उसी के ढाई अक्षरो मे समस्त ज्ञान का वास मानते थे। हठयोगी सम्प्रदायो मे इसी शास्त्रीय ज्ञान का निषेध इसलिये भी किया गया है कि वे साधना को पाडित्य से अधिक महत्व देते थे। सन्तो ने हठयोग साधना का महत्व स्वीकार करते हुए उसमे भक्ति या प्रेम का तत्व और जोड दिया था।

भावभूमि मे नाथों तथा सन्तो का साहित्य वज्रयानी परम्परा से वहुत हट गया था किन्तु जहाँ तक शैली का प्रश्न है, यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से रही। यहाँ तक कि वे ही रूपक, वैसे ही प्रतीक, वे ही छन्द और वही सन्ध्या-शैली सिद्धो, नाथो और सन्तो के साहित्य मे मिलती है। यहाँ तक कि शैली की द्वयार्थक प्रवृत्ति और निहित अभिप्राय के लिये सन्धि शब्द का प्रयोग भी सन्त लोग भूले नही थे। इस दृष्टि से कबीर की उस साखी का उल्लेख आवश्यक है जिसको लेकर विद्वानो मे बहुत दिनो तक भ्रम रहा है

सधा भाषा या पूर्वी बोली

बोली हमरी पूर्ब की, हमै लखै नहिं कोय
हमको तो सोई लखै, धुर पूरब का होय।[१२]

इस साखी में 'पूर्व' के अर्थ पर अक्सर विद्वानो मे मतभेद रहा है और कई विद्वानो ने कबीर की भाषा को भोजपुरी सिद्ध करते समय इसको प्रमाण रूप मे प्रस्तुत किया है। वास्तव मे वहाँ बोली से उनका तात्पर्य शैली से है और पूर्व से उनका तात्पर्य आध्यात्मिक साधना की साकेतिकता से है। इसीलिये उन्होने स्पष्ट यह कहा है कि जो धुर पूर्व का है, जो इन योग साधनाओ मे पारगत हैं और इन रूढ प्रतीको को समझ सकता है वही मेरी शैली को भी समझ सकता है।

इस पूर्व के अर्थों की ओर हम पहले सकेत कर चुके है। नाथो तथा सतो द्वारा स्वीकृत साधना-पद्धति मे चन्द्र, सूर्य के सामरस्य का मार्ग पूर्व और पश्चिम का मध्य मार्ग बताया गया है :

'गुह्यात्पश्चिमपूर्वमार्गमुभय रुद्धानिलम् मध्यम्'....[१३]

और सुषुम्ना को इन्ही की सन्धि कहा गया है। नानक ने इसी पूर्व से प्रवेश कर पश्चिम दिशा की ओर मुडने के सुषुम्णा मार्ग को विषमी सन्धि कहा है :

आगासी सरु भरिआ नीर। तामहिं कमल बहुत बिस्थीरु
भौरा लुबधा ता की गध। नानक लै विषमी सन्धि ॥
किह विधि चन्दु भवनि आवै इहु भानु। किह विधि मरदह मन को मान ॥
पूर्व फिरि पच्छिम को तानै। त्रिजपा जाप जपै मनु मानै ॥[१४]

बीजक मे इसी 'पूर्व' के समीप सन्धि का स्थान बताया गया है :

पूरब दिसा हस गति सोई। है समीप सन्ध बूझै कोई।[१५]

बाद के कबीरपन्थी साहित्य में तो सधि का इतना महत्व बताया गया था कि उनके बिना हस (आत्मा) को सही मार्ग मिल ही नही सकता .

सन्धि छाप मोहिं देहु बताई। पुरुषनाम मोहि देहु सुझाई
बिना सन्धि जो उतरै घाटा। सो हसानहिं पावै बाटा।[१६]

इस प्रकार साधना पद्धति मे इडा था पिंगला के मध्य मे जो सुषुम्णा मार्ग है उसी को सन्धि कहा गया है और कही पर सूर्य तथा चन्द्र का मिलन होता है। यही पूर्व दिशा की सन्धि है और इसी को प्रतीको मे अभिव्यक्त करने वाली शैली सन्धा या अभिसन्धियुक्त शैली है जिसे कबीर ने अपनी 'पूर्वी'

बोली कहा है। इस 'पूर्वी' विशेषण के प्रयोग मे पूर्वी देश की जनता को चमत्कृत करने की भावना भी रही होगी किन्तु उनका प्रमुख अभिप्राय भौगोलिक पूर्व न होकर चन्द्र सूर्य योग की साधना था और उनके अधिकाश प्रतीक-बहुल पद और साखिया इसी चन्द्र सूर्य-योग का विवेचन करते हैं। उनके भक्ति भाव तथा खडन आदि के पद और दोहे जटिल प्रतीकयोजना से मुक्त हैं। इससे भी इसी का आभास मिलता है कि इस अभिसन्धियुक्त प्रतीकात्मक शैली की परम्परा सन्तो को परम्परागत तान्त्रिक तथा योग पद्धतियो के भाषा-साहित्य से मिली है। इस सन्धा शैली के अधिकाश प्रतीक तथा उपमान भी वे ही हैं जो सिद्धो के दोहो और पदो मे व्यवहृत हैं।

साधना-पद्धति पर विचार करते समय निम्नलिखित उपमानो का उल्लेख किया जा चुका है

अन्धा व्यक्ति (अज्ञानी गुरु या श्रद्धाहीन शिष्य), उड्डीयान (देहस्थ पीठ), कामरूप (देहस्थ पीठ), गगा (शक्ति या इडा), यमुना (पिंगला) सगम (सुषुम्णा), मेरु पर्वत (मेरुदड), कमल (देहस्थ चक्र), बद्ध तुरग (स्थिर मन अथवा पवन), कुजी ताला (श्वासनिरोध), वज्र कपाट (दशमद्वार में श्वासनिरोध), चोर (वासनात्मक मन), अग्नि (चडाग्नि अथवा ब्रह्माग्नि) दीपक (ब्रह्माग्नि का प्रकाश), चन्द्र (प्रज्ञा, शिव), सूर्य (शक्ति या उपाय), योगिनी (महामुद्रा, सुरति), सास (शुषुम्मा, श्वास, माया , ननद (वासना), साली (श्वासनिरोध या सृष्टि जाल)।

इसके अतिरिक्त जो प्रमुख उपमान सिद्धो के दोहो तथा चर्यापदो और परवर्ती सन्तो अथवा नाथो के साहित्य में समान रूप से व्यवहृत किये गये हैं, वे निम्नाकित हैं :

१ तरुवर

चर्यापदो में तरुवर कई उपमेयो का उपमान है काया, चित्त, सृष्टि विस्तार, सहज तत्व।

काया — 'काया तरुवर पचवि डाल (चर्यापद १)

'तरुवर एक अनन्त डार साखा पुहुप पत्र रस भरीआ ॥'

(सन्त कबीर पृ० १८१)

चित्त — 'अद्दअ चित्त तरुअरह गउ तिहुवणें वित्थार'

(दोहाकोष पृ० ३८)

'भौमि बिनां अरू बीज बिना तरवर एक भाई
अनन्त फल प्रकासिया गुरु दिया बताई।'
(कबीर-ग्रंथावली पृ० १३९)

सृष्टि-विस्तार 'नाना तरुवर मोउलिल रे गअणत लागेलि डाली।'
(चर्यापद २८)

'अछै पुरुष इक पेड है निरंजन वाकी डार
तिरदेवा साखा भये पात भया संसार।'
(सतबानी संग्रह पृ० २३)

सहज या परम तत्व 'सहज महातरु फरिए तेलोए।' (चर्यापद ४३)

'सहज सुनि इकु बिरवा उपजा धरती जलहरु सोखिआ'
(संत कबीर पृ० १८१)

२. पत्ते या पल्लव (प्रकृति)

'आशा बहल पात फल बाहा।' (चर्यापद ४५)

गत फल फूल तत्त तर पालव अंकुर बीज नसाना।
(कबीर ग्रन्थावली पृ ९०)

३. करभ (मन)

'एमइ करहा पेक्खु सहि विहरिअ मंहु पडिहाइ।'
(दोहाकोष पृ० २४)

'न्यूति जिमाऊं अपनों करहा छार मुनिस की डारी रे।'
(क० ग्रं० पृ० ११२)

४. गाय (इन्द्रियाँ)

'गविआ बांझें'। (चर्यापद ३३)

'काल्हि जुतेरी बन्सरिया छीनी कहा चरावै गाइ।'
(क० ग्रं० पृ० १४७)

'एक गाय नौ बछडा पंच दुहेबा जाइ।।'
(गोरखवानी पृ० ११३)

५. बैल (मन, बोधिचित्त)

'बलद बिआअल'........। (चर्यापद ३३)

'फील रबाबी बलद पखावज कउआ ताल बजावै'
(सन्त कबीर पृ० ९६)

'मन बछो।' (गोरखबानी पृ० २५४)

६. गज

गज का प्रयोग चर्यापदो में दो रूप मे हुआ है— कमलवन मे प्रवेश करने वाला प्रवृत्त मन तथा माया-शवलित उन्मत्त मन।

साधना-प्रवृत्त मन

'जिम जिम करिणा करिणीरे रिसअ, तिम तिम तथता मअगल वरिसअ। (चर्यापद ६)

गुरू प्रसाद सूई के नाकै हस्ती आवै जाही
(क० ग्र० पृ० ६१)

दसवै दरवाजै कूची सार, मैमन्त हस्ती वधिवा वार
(गोरखबानी पृ० १७५)

मायाग्रस्त मन—

'अविद्या करिकु दम अकिलेसें। (चर्यापद ६)
'हरि है खाडु रेतु मह विखरी हाथी चुनी न जाइ'
(सन्त कबीर पृ० २८२)

७. मूषक (मन)

'निसि अन्धारी मूसा आचारा। (चर्यापद २१)
'मूसा पैठा बाँबि मै लारै सापणि धाई।'
(कबीर ग्रं० पृ० १४१)

८. मेंढक (मन)

'वेंगस साप बाढिल जाअ।' (चर्यापद ३३)
'मीडक सोवै साँप पहरइया (क० ग्र० पृ० ११३)

९. साप (ससार)

(उपर्युक्त उदाहरणो के अनुसार)

१० शृगाल (मन)

'निति निति सिआला सिहे सम जुभअ।' (चर्यापद ३३)
'नित उठि स्याल स्वध सूं झूझै' (क० ग्र० पृ० ११३)

११. सिंह (वासना युक्तमन)

(उपर्युक्त उदाहरणो के अनुसार)

१२. भुजंग (साधक; कुंडललिनी रूपी नागिन का स्वामी)

'शवरो भुजंग नैरामणि दारी पेम्ह राति पोहाइली' (चर्यापद २८)

'ऐसा भुवंगम जोगी करे।
धरती सोषै अम्बर झरै।' (गोरखवानी पृ० १७४)

'साइर सोखि भुजंग बलइओ' (सन्त कबीर पृ० १०५)

'भुजग सोइ जाके मनि उजियारा।' (प्राण सगली पृ० ५०)

१३. हंस (चित्त, पवन या प्राण)

२४वें चर्यापद (मूल अप्राप्य) के तिब्बती रूपांतर में निर्मल मन के लिये प्रयुक्त।

'सोहम् बाई हंसा रूपी प्यंडब है!' (गोरखबानी पृ० ९९)

'कहै कबीर स्वामी सुख सागर हंसहि हंस मिलावैगे।' (क० ग्रं० पृ० १३७)

१४. भवरा (कमल चक्रो का प्रेमी मन या पवन)

'महुअर रूए सुरअ वीर जिघइ मअरन्दए।' (दोहाकोष पृ० ४१)

'भवरु एक पुहुप रसुबीधा बाहर ले उर धरिआ।' (सन्त कबीर पृ० १८१)

१५. मृग (पचेन्द्रियो के विषयो मे आसक्त मन)

'अपणा मासे हरिणा वैरी। (चर्यापद ६)

'सन्तनि एक अहेरा लाधा, मिर्गनि खेत सविन का खाधा।'
(क० ग्रं० पृ० २०६)

'ह्यौ ह्यौ मृगली बेधियौ बाण।' (गो० बा० पृ० ११९)

१६. हरिणी (माया)

चर्यापदो मे हरिणी प्रज्ञा तथा माया दोनो का वाचक है। (चर्यापद ६ तथा २३)।

सन्तो ने इसे माया या मनसा के अर्थ मे प्रयुक्त किया है—

'माया जाल पसारि रे बांधेलि माआ हरिणी।' (चर्यापद २३)

'वन की हिरनी कूवै बियानी ससा फिरै आकासा।' (क० ग्रं० पृ० १४७)

१७. अहेरी, पारधी (साधक)

'जाइ तुम्हें भुमुक अहेरी जाइवे मारिहहिणि पंचजणा' (चर्यापद २३)

'गोब्यन्दै तुम्हरी वन कन्दलि मेरो मन अहेरा खेलै।' (क०ग्रं० पृ०१५९)

'आइसो भील पारधी हाथि हाथ न पाई।' (गो० बा० पृ० ११९)

१८. हरिण-मास (ज्ञान)

'हरिण विणु मास भुसुकु- नलिनिवन पइसहिलि ।' (चर्यापद ३३)

'सावज न होय भाई सावज न होय, बाकी मासु भखै सब कोय ।'

(बीजक पृ० २५३)

१९ वाण, शर (गुरुवचन, शब्द, ज्ञान)

'गुरु वाक पुछिया बिन्ध निग्रमण बाणे
एके शरसन्धानें बिधह बिधह परमनि वाणें ॥' (चर्यापद २८)

'गुरु के बाणि बजर कल छेदी प्रगटिया पुद परगासा'

(सन्त कबीर पृ० २५३)

२०. जलधि (भव)

'तरित्ता भवजलधि जिस करिमाग्र सुइणा ।' (चर्यापद १३)

'विशम भयानक भौजला तुम बिन भारी होइ ' (दादूदयाल की बानी २, पृ० ७)

२१. नौका

नौका के दो उपमेय हैं काया तथा ईश्वर —

काया

'काग्रा णावडि खान्टि मन केडुग्राल' (चर्यापद ३८)

'ग्रजहु तु नाउ समुंद्र महिं किग्रा जानउ किया होइ'

(सन्त कबीर पृ० २५४)

ईश्वर

'तिशरण नावी किग्र ग्रठक मारी ।' (महासुख-कायारूपी नौका, चर्यापद १३)

'नौवे नाम निरंजन नौका कनहरि गुनहिं चलावै ।'

(गुलाल की बानी पृ० १२८)

२२. नौका के छिद्र या सन्धि

'गग्रण दुखोलें सिंचउ पाणी न पइसइ सन्धि ।' (चर्यापद १४)

'कबीर बेडा जरजरा फूटें छेंकि हजार ।' (सन्त कबीर पृ० २५३)

२३. नगरी (काया)

'देह नग्ररी बिहरइ एकाकारें ।' (चयापद ११)

'कौनो ठगवा नगरिया लूटल हो ।' (सन्त-बानी-सग्रह पृ० ४)

'काया हमारे सहर बोलिये मन बोलिय हुजदारं ।' (गो० बा० पृ० १२०)

२४. मेघ (करुणा, गुण)

'करुणा मेह निरन्तर फरिआ ।' (चर्यापद ३०)

'कबीर गुण की बादली तीतरवानी छांह ।' (क० ग्र० पृ० ३४)

'उतर देस में मेह धडक्या दक्षिण आचल छाया ।'

(गो० बा० स० १२४)

२५. चोपड़ (ज्ञानक्रीडा)

'करुणा पिहाडि खेलहुँ नअवल ।' (चर्यापद १२)

'चौपडि माही चौहटै अरध उरध बजार ।' (क० ग्र० पृ० ४)

२६. कपास (चित्त)

'तुला धुनि आशु रे आशु ।' (चर्यापद २६)

'धुन धुन धुन डालू अब मन को ।' (सन्त-काव्य पृ० ५४९)

२७. सोना (शून्य ज्ञान)

सोने भरिती करुणा नावी' (चर्यापद ८)

'अरधै सोना उरधै सोना मध्ये सोनम सोना ।' (गोरखबानी पृ० ९२)

२८. रूपा (रूपादि पचस्कन्ध, सासारिक ज्ञान)

'रूपा ठोइ नाहिक ठावी ।' (चर्यापद ८)

'सोने रूपै सीझै काज, तो राजा कत छोडै राज, (गो० बा० पृ० १७७)

२९. कर्पूरयुक्त ताम्बूल

'हिअ तावोला महासुह कापुर खाइ ।' (चर्यापद २८)

'काम क्रोध वाली चूना कीधा कन्द्रप कीया कपूरं ।'

(गोरखबानी पृ० १०६)

३०. वीणा

'सुज्ज लाउ ससि लागेलि ताती' (चर्यापद १७)

'ज्ञान गुरु दोउ तूंवा अम्हारे मनसा चेतनि डाडी ।'

(गो० व० पृ० १०६)

'तत करि ताति धर्म करि डाड़ि सत की सारि लगाइ ।

जोगिया तन को जन्त्र वजाइ ।' (क० ग्र० पृ० १५९)

चन्द सूर दोउ तूवा करिहूँ चित चेतनि की डाडी

सुषमन तन्ती वाजण लागी इह विधि त्रिपणा खाडी ॥

(क० ग्रं० पृ० १५४)

३१ काग (अज्ञानी चित्त)

'दिवसइ बहुडी काअ डरे भाअ ।' (चर्यापद २)

'कागिल गर फादिया बटेरै बाज जीता ।' (क० ग्र० पृ० १४१)

३२. आगन (उष्णीष कमल, अन्त'करण)

'आगण घरपण सुन भो विआती ।' (चर्यापद २)

'माग न खाइ न भूखा सोवै घर अगना फिरि आवै ।'

(क० ग्र० पृ० १५८)

३३. जुलाहा (जीव)

तन्त्रीपा २५ वें चर्यापद मे साधक के लिये जुलाहे (तन्त्री) का प्रतीक प्रयुक्त करते है । इस पद का मूल अप्राप्य है, तिब्बती रूपातर डा० बागची ने दिया है (चर्यापद पृ० ५४)

'माधौ चले बुनावन माहा, जग जीतें जाइ जुलाहा ।'

(क० ग्रं० पृ० १५३)

३४. कलाली या शौडिकी

'एक से शुडुनि दुइ घरे सान्धअ ।' (चर्यापद ३)

'काइआ कलालनि लाहनि मेलउ गुर का सबद गुडु कीन रे ।'

(सत कबीर पृ० १७६)

'गुडु करि धिआन गिआन करि महूआ मउ भाठी मन धारा

सुखमन नारी सहज समानी पीवै पीवनहारा ।' (सत कबीर पृ० १७७)

इस प्रकार हम देखते है कि पचास से भी अधिक (पिछले २० + ३४) उपमान ऐसे है जिनको सिद्धो ने विशेष प्रतीकात्मक अर्थों मे प्रयुक्त किया है और उनके वे प्रतीकार्थ परवर्ती परम्परा मे भी ज्यो के त्यो अथवा थोडे बहुत परिवर्तित रूप मे स्वीकृत कर लिये गये है । इन प्रमुख उपमानो के अतिरिक्त भी बहुत से उपमान इन प्रमुख उपमानो के साथ रूपक को पूरा करने के लिये गौण रूप मे सिद्धो तथा उनकी परवर्ती परम्परा मे समान रूप से प्रयुक्त होते रहे है—जैसे मादल, रात्रि, निद्रा, वर, वधू, मंडप, पुरोहित, पर्यंक, निद्रा, हाँडी (काया), करघा, घट, भट्ठी, मद्यपात्र, तूर्य, शख, पतवार, सूत, ताना-बाना, चादर आदि ।

बहुत से उपमान ऐसे है जो सिद्धो ने भी प्रयुक्त किये है और नाथो तथा

सन्तो ने भी किन्तु वे मध्यकालीन भारतीय दार्शनिक चिन्तन की सम्मिलित सम्पत्ति थे जैसे वंध्यासुत, रज्जु सर्प, आकाश कुसुम, शशशृङ्ग आदि।

सिद्धो के उपमानो तथा प्रतीको के सम्बन्ध मे परवर्ती परम्परा मे पाँच प्रमुख सशोधन या परिवर्तन हुए है

१. ऐसे बहुत से प्रतीक या उपमान लुप्त हो गये जो बौद्ध चिन्तना या साधना-पद्धति के उन तत्वो से सम्बन्धित थे जो बाद मे नाथ या सन्त-परम्परा मे स्वीकृत नही किए गये।

२. बहुत से प्रतीक या उपमान परवर्ती साहित्यिक परम्परा में स्वीकृत किये गये किन्तु उनके बौद्ध उपमेयो के स्थान पर हिन्दू हठयोग के समानान्तर उपमेय रख दिये गये जैसे गगा यमुना, ललना रसना के स्थान पर इडा पिंगला के प्रतीक हो गये।

३ वैष्णव तथा सूफी साधनाओ से प्रभावित होने के कारण ये उपमान कभी कभी उन नये उपमेयो से भी सम्बद्ध हो गये जो वैष्णव या सूफी परम्परा से लिये गये थे जैसे अग्नि चडाग्नि के साथ साथ विरह का भी प्रतीक हो गई, वर साधक के साथ साथ राजा राम का भी प्रतीक हो गया।

४ कुछ ऐसे प्रतीक है जो सिद्धो मे भी प्रयुक्त है और सन्तो मे भी, किन्तु प्रासगिक अर्थों के कारण वे बौद्ध के बजाय हिन्दू परम्परा थे आगत प्रतीत होते है। उदाहरणार्थ दूसरे चर्यापद मे 'कच्छप' प्रतीक रूप मे प्रयुक्त हुआ है। उसके लिये दुलि शब्द का प्रयोग हुआ है, मुनिदत्त ने अपनी टीका में 'द्वयम् लीनं गत यस्य' अर्थात् महासुख कमल बताया है किन्तु सन्तो ने उसे अन्तर्मुखी वृत्तियो वाले साधक के अर्थ में प्रयुक्त किया है जो हिन्दू परम्परा के अधिक निकट है।

५. कभी कभी भाषा के विकास के साथ कुछ शब्दो की शक्ति का भी विकास हुआ है और सन्तो ने श्लेष के आधार पर उन शब्दो को नये प्रतीकात्मक अर्थ दे दिये है। उदाहरण के लिये 'विनानी' शब्द विज्ञानी का अपभ्रंश रूप है और तथता-विज्ञानी के अर्थ में सिद्धो ने प्रयोग किया हैं। 'तथता का अंश निकाल कर केवल तत्वज्ञानी के अर्थ मे उसका प्रयोग बराबर होता रहा यहाँ तक कि सूर ने भी इस शब्द का इसी रूप में प्रयोग किया है · 'कबहुक भेस दिखाइ विनानी।' किन्तु कबीर ने इससे बुनने वाले का

अर्थ लेकर जुलाहे का पर्याप्त बना दिया है 'करगहि एक बिनानी, ता भीतर पंच परानी' (कबीर ग्रं० १८६)।

रूपक-योजना

हम पहले ही संकेत कर आये है कि सन्धा शैली मे अप्रस्तुतो तथा प्रतीको की द्विविध योजना प्रचलित थी औपम्यमूलक तथा विरोधमूलक। यही सन्तो के साहित्य मे रूपक तथा, उलटवासी के नाम से प्रख्यात हुई। अपने रूपको मे सन्तो ने इन्ही उपमानो को नियोजित कर तत्व का उपदेश किया। उनके बहुत से रूपक ऐसे है जो सिद्ध परम्परा से चलते आ रहे हैं जैसे कलाली का रूपक, जुलाहे का रूपक, विवाह का रूपक आदि। किन्तु उपमानो की पूर्वागत योजना स्वीकार करते हुए भी सन्तो तक आते आते उनका उपमेय पक्ष बौद्ध के स्थान पर हिन्दू रूप धारण कर चुका है। दो तीन रूपको की तुलना कर लेने से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

वीणापा ने वीणा के रूपक मे (चर्यापद १७) जो उपमान रक्खे है कबीर[१७] ने जन्त्री के रूपक मे लगभग उन्ही उपमानो का प्रयोग करते हुए भी कुछ परिवर्तन कर दिया है

वीणापा		कबीर	
तूंबा	सूर्य	तूंबा	सूर्य, चन्द्र
दंडिका	अवधूती	दंडिका	चेतना
तार	चन्द्र	तन्त्री	सुषुम्णा
सारिका	आली काली		
ध्वनि	करुणा (उपाय)		

अन्य कई स्थानो पर कबीर ने इसी रूपक को और ढंग से भी प्रस्तुत किया है। एक स्थान पर वे धर्म को दडिका, तत्व को तन्त्री और सत्य को सारिका बताते है।[१८] दूसरे स्थान पर वे इसी रूपक को रबाव के रूपक में वदल देते है। गोरखबानी मे इस रूपक मे ज्ञान और गुरु तूबा, मनसा दडी और उन्मनी अवस्था तन्त्री बताई गई है।[१९]

शुडनी के रूपक मे भी बहुत से नये तत्व और नई व्याख्याएँ जुड गई हैं। विरुपा की उपमान-योजना इस प्रकार थी :

कलाली (शुडिनी)	परिशुद्धावधूतिका
दो घर (घट)	ललना रसना
वल्कल चूर्ण	सम्वृत्ति चित्त
दशम द्वार	वैरोचन द्वार
ग्राहक	गन्धर्व सत्व (बोधिचित्त)
नली	शुक्र नाडी

कबीर मे कोई स्थानो पर यह रूपक मिलता है।[२०] जिनमें उपमेय पक्ष में कुछ परिवर्तन हो गया है :

	पहला रूपक	दूसरा रूपक	तीसरा रूपक
कलाली-	सहज शक्ति	आत्मा	काया
भठ्ठी	ब्रह्मरन्ध्र	ब्रह्मरन्ध्र	चौदह भुवन
दसवाँ द्वार	.. .	शून्य रन्ध्र	
ग्राहक-	सन्त	सन्त	

इसके अतिरिक्त कबीर ने अपने कलाली के रूपको मे गुडरूपी ज्ञान, महुआरूपी ध्यान, अग्निरूपी ब्रह्माग्नि, कलालरूपी जप तप, प्लालारूपी पवन, इंधनरूपी काम क्रोध आदि की कल्पना कर इस रूपक को बहुत विस्तार प्रदान कर दिया है। कालान्तर में अन्य सन्तो ने भी इस रूपक को कई ढङ्ग से विकसित किया है।

इसी प्रकार का दूसरा रूपक विवाह का रूपक है। काण्हपा ने (चर्यापद १९) में बारात का रूपक बाघते हुए निम्नांकित उपमान प्रयुक्त किये हैं :

भव–पटह, निर्वाण–मादल, मनपवन—धक्का-ध्वनि करनेवाले बाराती, डोम्बी–वधू, अनुत्तर–दहेज।

कबीर में एक स्थान पर यह रूपक इस प्रकार मिलता है[२१]

बाराती-पाँच तत्व; वर-राम, वधू-आत्मा, गायिकाएँ-इन्द्रियाँ, पुरोहित-चक्रस्थ ब्रह्म।

दूसरे स्थान पर यही रूपक और भी विस्तृत हो गया है और उसमे उपमान इस प्रकार है .[२२]

रवाव आदि वजाने वाले–हाथी, वैल, कौवा, गधा, भैंस, सिंह, मूषकी, कच्छप, शशक आदि–कर्मेंद्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ; कुलीन वर—जीवात्मा, मडप–

शरीर, वधू—माया, गायिकाएँ–शब्द, होम की अग्नि—ब्रह्माग्नि, पुरोहित–कच्छप रूपी स्थितप्रज्ञ गुरु।

विवाह के बाद की विदा का रूपक इस प्रकार है [२३]

वधू–आत्मा, पीहर—ससार, ससुराल–ब्रह्मलोक, डोली–शरीर, पाहुन–गुरु, विदा—मृत्यु ।

जुलाहे का रूपक कबीर का अत्यन्त प्रिय रूपक है। सिद्धो मे तन्तिपा ने (चर्यापद २५) करघे के ही रूपक से प्रज्ञोपाय-साधना का वर्णन किया है उनके रूपक मे उपमान इस प्रकार है :

जुलाहा—साधक, सूत्र—मनोवृत्तियाँ, चादर—तन, करघे का शब्द—अनाहतनाद ।

कबीर ने न केवल इस रूपक को अत्यधिक विस्तार दिया है[२४] वरन एक स्थान पर ईश्वर को कोरी मान कर सृष्टि को उसी का ताना बाना माना है ।[२५]

इस प्रकार कबीर ने इन रूपको को पूर्वागत परम्परा से ग्रहण करते हुए भी इनमें बहुत से सशोधन कर दिये थे। स्वत कबीर तक आते-आते इन रूपको की योजना बहुत परिवर्तित हो चुकी होगी। बाद के सन्तो ने अधिकतर इन्ही रूपको को अपनाया है और इनमे बहुत विकास होता गया है। बहुत से स्थलो पर तो केवल अनुकरण मात्र है और पुनरावृत्ति है। किन्तु कही कही सिद्धो के पदो से बिलकुल मिलते जुलते हुए पद मिल जाते है जिनकी न केवल उपमान योजना लगभग एक सी है वरन् पूरा पद एक सा प्रतीत होता है। उदाहरण के लिये शान्तिपा और सन्त शिवदयाल साहब के पद तुलनीय है जिनमे कपास धुनने के रूपक से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का वर्णन है

शान्तिपा :

तुला धुणि धुणि आसु रे आसु
आसु धुणि धुणि निखर सेसु ।।
तउसे हेरुअ ण पाविअइ
तुला धुणि धुणि सुणे अहारिउ ।।
पुण लइआ अपणा चटारिउ ।। .चर्यापद २६

शिवदयाल :
-धुन धुन धुन डालूँ अब मन को
मैं धुनिया सतगुरु चरनन को
मन कपास सुरत कर रूई
काम विनौले डाले खोई ॥
दुई साफ धुनकी सुधि पाई ।
नाम धुना ले गगन चढाई ॥ सन्तकाव्य पृ० ५४९

इस प्रकार के कुछ रूपको में किन कारणो से सशोधन और विस्तार हुआ और कभी कभी कैसे उनके कारण कुछ अन्य सहायक उपमान भी स्वीकृत कर लिये गये हैं इस पर विचार कर लेना आवश्यक है। उदाहरण के लिये हम तीन रूपक लेंगे . क-सुमेरु पर्वत का रूपक । ख-घोडे तथा सवार का रूपक । ग-ताला कुंजी तथा चोर का रूपक ।

बौद्ध योग परम्परा मे मेरुपर्वत को मेरुदंड का उपमान मान कर उस के शिखर पर प्रज्ञा नारी या नैरात्म्य बालिका वास माना गया था। उसी के

सुमेरु का रूपक

शिखर पर शवरपा ने शवरी का वास माना था। मेरुपर्वत का यह रूपक सन्त-परम्परा तक बराबर चला आया। नानक ने तथा अन्य सन्तो ने इसी मेरु शिखर पर सहज तथा शून्य की स्थिति बताई थी

नानक—चढि सुमेर बैसे अस्थानु, निझरु झरे धुनि सहजि ध्यानु।[२६]

दरिया—दरिया चढिया गगन को, मेरु उलघा डड,
सुख उपजा साईं मिल्या मेटा ब्रह्म अखंड ।
दरिया मेरु उलघ करि पहुँचा त्रिकुटी सध ।
दुख भाजा सुख ऊपजा, मिटा मर्म का धुन्ध ॥[२७]

इसी के सर्वोच्च शिखर अर्थात् त्रिकुटी को शून्य शिखर कहा जाता था और वही शून्यकमल तथा सहज अमीरस का वर्णन माना जाता है .

गुलाल—सुन्न सिखर सरोज फूलो वकनाल हि जाव
कह गुलाल अतीत पूरन, आपु मे घरु पाव ।[२८]
सुन्न सिखर चढि जाइव हो बाजत अनहद तार ।
उमंगि उमंगि सखि गावहिं हो, मानिक देव लिलार । [२९]

सुमेरु के शिखर का *'शून्य' नाम* बौद्ध परम्परा के अवशिष्ट प्रभाव का द्योतक है, किन्तु इसका एक दूसरा नाम कैलाश भी है जो शैव परम्परा का परिचायक है। हम पहले ही देख चुके हैं कि 'उरध' मे शिव का वास बताया गया है। इसी शिव के वास के कारण मेरु शिखर अथवा त्रिकुटी को कैलाश भी कहते थे। जायसी ने भी इसी शैव परम्परा का उल्लेख पद्मावत मे किया है :

अहुठ आठ तन जैस सुमेरू, पहुँचि न जाइ परा तसकेरू।
तिन्ह पावा उत्तिम कविलासू, जहाँ न मीचु सदा सुख बासू।
कचन मेरु देखावसि जहाँ, महादेव कर मडप तहाँ ॥[३०]

किन्तु यहाँ पर एक बात ध्यान मे रखना आवश्यक है। बौद्ध परम्परा में मेरु शिखर को सर्वोच्च महासुख-चक्र अर्थात् कपाल मे स्थित माना गया था। हिन्दू परम्परा मे मेरु का शिखर केवल ललाट (आज्ञा चक्र) तक है और वही शून्य समाधि सम्पन्न होती है। ललाट का यह महत्व शैव योग-परम्परा के कारण है, बौद्ध परम्परा के कारण नही। बौद्धो मे ललाट का महत्व केवल सेकोद्देश टीका मे मिलता है, अन्यत्र नही।

मेरु शिखर के साथ सन्तो ने कुछ वैष्णव भावनाए भी जोडी। दादू ने मेरु पर्वत पर राम भक्ति के जल की वर्षा का वर्णन किया है

मेर सिखर चढि बोलि मन मोरा,
राम जल बरिसै सबद सुनि तोरा ॥[३१]

कबीर ने तो अन्त में राम को ही मेरु पर्वत बताया है जिनकी शरण उन्होने ग्रहण की है और इस प्रकार भक्ति के सामने योग को गौण मान लिया है :

तूं मेरो मेरु परबतु सुआमी ओट गही मै तोरी
न तुम डोलहु ना हम गिरते रखि लीनी हरि मेरी ॥[३२]

यहाँ पर मेरु पर्वत का उपमान अंचलत्व के साधर्म्य के कारण ग्रहण किया गया है, योग पद्धति के मेरु दड के नाम साम्य के कारण नही।

परवर्ती कबीरपन्थी साहित्य मे सुमेरु के पाँच शिखर बताये गये है और उनमे भी मध्य आसन विष्णु को दिया गया है। ईशान कोण मे ध्रुव, वायु कोण मे कुबेर, नैऋत्य कोण मे यम, अग्नि कोण मे इन्द्र और मध्य मे विष्णु। उसके आगे शून्य की डोरी, निर्वाण के पथ और अन्त मे शक्ति रूपी नारी का मिलन बताया है जो सच्चा वाममार्ग है और अघोर साधना है।

घोडा तथा सवार का रूपक

पवन-निरोध के लिये पवन को घोडा मानकर उसे वशीभूत करने का रूपक सिद्धो ने बाधा है जो नाथपन्थियो की वानी मे भी मिलता है :

सरहपा — एहु मण मेल्लह पवण तुरग सुचचल
सहजे सहावे ण वसइ होइ णिच्चल ।[३४]

गोरखबानी — सहज पलाग पवन कर घोड़ा, लै लगाम चित्त चवका
चेतनि असबार ग्यान गुरू करि और तजो सब ढवका ।[३५]

सन्तो ने भी पवन निरोध के लिये यही रूपक अपनाया है । कबीर भी सहज के पावडे से युक्त मनरूपी अश्व पर सवारी करते है ।

देह मुहार वगामु पहिरावउ, सगलत जीन गगन दउरावउ ।
अपनै बीचारि असवारी कीजै, सहज कै पावड़ै पगु धरि लीजै ।
जलि रे बैकुठ तुझहि लै तारउ । हित हित प्रेम कै चाबुक मारउ ।
कहत कवीर भले असवारा, वेद कतेब तै रहै निरारा ॥[३६]

पलटू के एक रेखते में इस पवन के घोडे पर सुरति को सवार बताया गया है और जीन लगाम आदि की कल्पना से पूरा रूपक बांधा है :

सत्त को जीन, सन्तोष लगाम है, गुरूज्ञान की पाखर जाय डारा
विस्वास रकाब में जुगति की एड दै, पाच सच्चीस मवास मारा
पवन का घोडा सुरति असवार है, प्रेम की ढाल है मर्म माला
विवेक देवान इन्साफ पर बैठि के मुक्ति को कैद जंजीर डाला ![३७]

इस प्रकार सन्तो में पवन निरोध का घोड़े की सवारी वाला रूपक केवल प्राणायाम साधना का ही बोधक नही रह गया, उसमे सत्य, सन्तोष, विश्वास, विवेक आदि सद्‌गुणो का भी समन्वय हो गया है, यहाँ तक कि दरिया साहब तो उसे पवन का उपमान न मान कर केवल ज्ञान का उपमान मानने लगते है :

ज्ञान का घोडला सुन्न मे दौडिया, सुन्न मे सुरति है शब्द सारा ।[३८]

ताला-कुंजो तथा चोर का रूपक (३)

इस प्रकार पवनबन्ध का एक ~~दूसरा~~ रूपक सिद्धो ने ताला कुजी के उपमानो से भी प्रस्तुत किया है और धीरे-धीरे सन्तो की परम्परा मे उसका भी पवन निरोध वाला अर्थ नष्ट हो गया है, केवल प्रयोग की परम्परा चलती रही ।

प्राणायाम द्वारा पवन के बन्ध को वज्रयानी सिद्ध अध और ऊर्ध्व मार्ग मे ताला लगाने के रूपक से व्यक्त करते थे .

काण्हपा पवण गमण दुआरे दिढ़ ताला वि दिज्जइ
जइ तसु घोराधारें मण दिवहो किज्जइ।[३९]

गुंडरीपा सासु घरे घालि कोचा ताल
चाद सुज वेणि पखा फाल ॥[४०]

नाथपन्थी बानियो में भी इस ताला कुंजी के रूपक द्वारा पवनबन्ध का वर्णन मिलता है, यद्यपि उसमे दो सशोधन हो गये है। एक तो शब्द या नाद-योगपद्धति की प्रधानता के कारण नाद जाग्रत करने, या नाद को अन्तर्मुखी करने के लिये भी ताला लगाने का रूपक प्रयुक्त होने लगा। दूसरे ताला लगाने के साथ साथ, दसवें द्वार या ब्रह्मरन्ध्र का ताला खोलने की कल्पना भी ग्रहण की गई। अन्त मे, शब्द को ताला और चरमावस्था नि शब्द को कुंजी मान लिया गया (इस नि शब्दावस्था पर वज्र-जप के अन्तर्गत प्रकाश डाला गया है)

कुम्भक के प्रसग मे—

अरधै उरधै लाइलै कूंची थिर होवै मन तहाँ थाकीले पवणा।
दसवा द्वार चीन्सिलै, छूटै आवागवना।[४१]

खेचरी मुद्रा के प्रसंग मे—

कूंची ताली सुषमन करै। उलटि जिभ्या ले तालू धरे।[४२]

शब्दयोग के प्रसग मे—

सबदहिं ताला, सबदहिं कूँची सबदहिं सबद जगाया।
सबदहिं सबद सूं परचा हुआ, सबदहिं सबद समाया ॥[४३]
अवधू निहसबद कूँची, सबद ताला ॥[४४]

सन्त साहित्य मे भी प्राण-पवन के बन्धन के अर्थ में ताला कुंजी का प्रयोग मिलता है। अधिकतर इसका, प्रयोग त्रिकुटी में ध्यान को कुम्भक द्वारा केन्द्रित करने के प्रसग मे मिलता है :

कबीर खट नेम करि कोठडी बाँधी बसतु अनूपु बीचु पाई
कुँजी कुलफु प्रान करि राखे करते बार न लाई ॥
अब मनु जागत रहु रे भाई।
गाफल होइ कै जनम गवाइओ चोरु मुसै घरु जाई।[४५]

दरिया हीरा एक त्रिकुटी मँह होई। हीरा ध्यान धरहु नर लोई ॥
हीरा मध्य फेड बिस्तारा। जोगी ज्ञान को करै विचारा ॥

ताला कुंजी गहि लागि केवारा। चोर न मुसै ज्ञान रखवारा ॥
ताके कहिये ज्ञान गंभीरा। त्रिकुटी मध्य जो परखै हीरा ॥[४६]

भीखा जडि ताला वज्र कपाट को तह बैठे आतमराम।
देखें सुने की गम नही नहिं आँख कान को काम।[४७]

इसी ताला कुंजी के रूपक का प्रयोग अन्य अर्थो मे भी हुआ। दादू ने गुरु के शब्दो को कुंजी माना और उससे ज्ञान के कपाट खुलकर तत्व की प्राप्ति का वर्णन किया. दादू देव दयाल को गुरू दिखाई बाट
ताली कुंजी लाइ के खोले सबै कपाट ॥[४८]

बाद मे इसके कई निरर्थक प्रयोग भी मिलते है जहाँ ये दोनों उपमान ग्रहण किये गये है किन्तु उनका ठीक ठीक अर्थ नही बैठता .

बिना कुंजी का खुले नहीं ताला।
काहे के कुंजी, काहे का ताला, काहे के लगे हैं किवारा
तन की कुँजी, सुरति का ताला, प्रेम के लगे है किवारा
छत्रसाल भजो नाम धनी के चरन चित लागा।[४९]

उपरोक्त पद में केवल परम्परा निर्वाह के लिये कुंजी और ताला के उपमान ग्रहण किये गये किन्तु उनका पवन-बन्ध-परक अर्थ लुप्त हो चुका है। ताला कुँजी के साथ साथ उपमान रूप में चोर भी चर्यापदो मे आता है। यह 'चोर चचल चित्त या क्लेश-वासनादि से अभिभूतमन के लिये प्रयुक्त होता है और हठयोग साधना में पवन-बन्ध या श्वास-निरोध से स्थिर मन जब तत्व को ग्रहण करने लगता है तभी इस बात की आशका होती है कि वासनाविकल प्रवृत्तियाँ कही चोर बन कर उस तत्वरूपी धन को चुरा न ले जायँ। इसी कारण ढेण्ढणपा ने अपनी उलटबाँसी में साधु को ही चोर कहा है 'जो सो चोर सोइ साधी।'[५०] इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए कबीर ने भी कहा है :

चोर एक मूसै ससारा, बिरला जन कोइ बूजनिहारा।[५१]

यह वासना-विकल मन (या माया-शवलित अन्त करण) साधना-पथ में सबसे बडा अवरोध है और साधक के अनजाने ही कभी-कभी यह उसका तत्वरूपी धन गंवा देता है। इसीलिये साधना पथ में इस चोर से सावधान रहने की बात नाथ तथा सन्त साहित्य में बराबर कही गई है :

गोरखबानी —काया हमारै सहर बोलिये मन बोलिये हुजदारं
चेतनि पहरै कोटवाल बोलिये, तौ चोर न झकै द्वार ॥[५२]

कबीर अब मन जागत रहु रे भाई ।
गाफलु होइ कै जनमु गवाइयो चोरु मुसै घरु जाई
पच पहरुआ दर महि रहते तिन्ह का नही पतीआरा
चेति सुचेत चित होइ रहु तउ तौ परगासु उजारा
नउ घर देखि जु कामिनी भूली बसतु अनूप न पाई
कहतु कबीर नवौ घर मूसे दसवें ततु समाई ।।[५३]

दादू इत घर चोर न मूसै कोई । अन्तरि है जे जानै सांई ।
जागहु रे जन तत्त न जाइ । जागत है सो रह्या समाई ।।[५४]
दरिया ताला कुजी गहि लाग केवारा । चोर न मुसै ज्ञान रखवारा ।[५५]

किन्तु इसी चोर के रूपक के प्रसग मे सन्तो ने एक ऐसे धन का वर्णन किया है जिसे चोर भी नही चुरा ले जा सकते वह है—रामभक्ति रूपी धन । योग और तन्त्र से भी अधिक महत्व वैष्णव भक्ति को देते थे जो सिद्धो और नाथो की पद्धति मे नही स्वीकृत हुई थी । सन्तो ने उसे स्वीकार कर उसे योगपद्धति से भी अधिक श्रेष्ठता प्रदान की क्योकि योगपद्धति मे पवन निरोध से ताला कुंजी मे रक्खे जाने वाले तत्वरूपी धन को चोर चुरा सकता है किन्तु भक्ति ऐसा धन है जो कि मन मे आकर फिर जा ही नही सकता । कबीर इस हरिनाम रूपी धन को न गाँठ मे बाँधने की जरूरत समझते है न इसे बेचने का साहस कर सकते है :

इहु धनु मेरो हरि के नाउ । गाँठि न बाधउ बेचि न खाउ ।
नाउ मेरे खेती नाउ मेरे बारी । भगति करउ जनु सरने तुम्हारी ।
नाउ मेरे माइआ नाउ मेरे पूँजी । तुम्हहि छोडि जानिउ नही दूजी ।
नाउ मेरे बन्धिय नाउ मेरे भाई । नाउ मेरे सगि अति होइ सखाइ ।[५६]

दादू भी इस धन को अद्वितीय बताते हैं
राम धन खात खूटै रे ।
अपरम्पार पार नहिं आवै आथि न टूटै रे
तस्करि लेइ न पावक जालै, प्रेम न छूटै रे
चहु दिस पसर्यो बिन रखवारे चोर न लूटै रे
हरि हीरा है राम रसाइण, सरण न सूकै रे
दादू और आथि बहुतेरी, तुस न कूटै रे ।।[५७]

३०

उलटबासी

इन्ही उपमानो की विरोधात्मक योजना पर आधारित उलटबासियो की चमत्कारपूर्ण शैली सिद्धो के काव्य में भी व्यवहृत होती थी। परवर्ती सम्प्रदायो मे से बहुतो ने अपने को उलटा पथ माना है और अपनी साधनापद्धति के विवरण मे उन्होने पाताल की गंगा को आकाश मे चढाने, चन्द्र द्वारा राहु का ग्रास कराने आदि की विरोधमूलक उलटबासियो में योग-प्रक्रियाओ का सकेतात्मक उल्लेख किया है। इन उलटबासियो मे केवल परस्पर विरोधी धर्म वाले उपमानो की योजना की जाती थी। सन्त-सुन्दरदास ने इन उलटबासियो को विपर्यय की सज्ञा दी है, जो वास्तव में अत्यन्त सार्थक है।[५८] इन उलटवासियो में या तो पारस्परिक विरोधी धर्म वाले उपमानो का एकत्रीकरण होता था या उपमानो मे उनके स्वाभाविक धर्म के स्थान पर विरोधी धर्म का आरोप कर दिया जाता था। सिद्धो की उपलब्ध काव्य-सामग्री मे केवल एक ही उलटवासी मिली है, (ढेण्ढणपा, चर्यापद ३३)। कबीर के बीजक मे वही उलटबासी थोडे से सशोधित रूप मे मिलती है

ढेण्ढणपा टालत मोर घर नाहि पडिवेशी
हाडीत भात नाहि निति आवेशी
वेंगस साँप बढिल जाअ
दुहिल दूधु कि बेन्टे समाअ
वलद बिआअल गविआ बाझे
पिटा दुहिअउ ते तिनि साझे
जो सो बुधी सो धनि बुधी
जो सो चोर सोइ साधी
निति निति सिआल सिहे सम जुझअ
ढेंढण पाएर गीत विरले बुझअ॥

कबीर कैसे नगर करौ कुटवारी। चचल पुरिप विचषन नारी
बैल बियाइ गाय भई बाँझ। बछरा दूहै तीन्यू साझ
मकडी घरि माषी छछिहारी। मास पसारि चीोल्ह रखवारी
मूसा खेवट नाव बिलइया। मीडक सोवै साँप पहरइया
नित उठ स्याल स्वघ सू झूझै। कहै कबीर कोइ
बिरला बूझै।[५९]

कबीर के सग्रह मे यह पद निस्सन्देह बौद्ध परम्परा से आया है । इसका प्रमाण न केवल दोनो का अद्भुत साम्य है, वरन् यह भी है कि कबीर के पद के कुछ अश ऐसे है जो बौद्ध परम्परा मे तो सार्थक थे किन्तु कबीर उनका अर्थ सम्भवत भूल चुके है । उदाहरण के लिये इस पद मे तीन साझ का उल्लेख है । वज्रयानी साधना पद्धति मे चार क्षणो को चार सन्ध्याएँ भी कहा जाता था और चतुर्थी सन्ध्या अर्द्धरात्रि या प्रज्ञाज्ञानाभिषेक की सन्ध्या मानी जाती थी, उसके पहले तीन सन्ध्याएँ भवमुद्रा, कर्ममुद्रा तथा ज्ञानमुद्रा की सन्ध्याएँ होती थी । ढेंढणपा का सकेत उन्ही तीन सन्ध्याओं की ओर है । कबीर के पद में यह केवल तीन प्रहरो का सूचक है, उसका बौद्ध तान्त्रिक अर्थ भुलाया जा चुका है ।

कबीर तथा उनके बाद के सन्तो मे इस उलटबासी पद्धति का बहुत प्रचलन रहा है यद्यपि उनके अर्थनिर्णय मे बहुत कठिनाई होती है, क्योकि स्वत. सन्तो तक आते-आते इन प्रतीको के साकेतिक अर्थों मे काफी परिवर्तन हो चुका था और बहुत से बेपढे-लिखे सन्त तो केवल श्रोताओ को चौकाने के लिये ऐसी उलटबासियाँ कहते थे जिनके अर्थ के विषय मे सम्भवत वे ही सन्दिग्ध होते थे । थे । सन्तो मे सबसे सुसस्कृत कवि सुन्दरदास ने सम्भवत ऐसे ही सन्त कवियो को सम्बोधित करते हुए कहा था

बोलिये तो तब जब बोलिबे की सुधि होय
नतरु मौन गहि चुप होइ रहिये ।

भाषा

भापा की दृष्टि से सिद्धो के परवर्ती प्रभाव का मूल्याकन कर सकना तव तक सम्भव नही है जब तक नाथो की वानियो और कबीर के साहित्य की भाषा का मूल रूप का निर्णय नही हो जाता । नाथो की बानियो की भाषा अपने उपलब्ध रूप मे १७वी शती की भाषा है और कबीर के पाठ के विषय मे भी अभी वहुत विवाद है । किन्तु फिर भी डा० वर्मा द्वारा ग्रन्थसाहिव के आधार पर प्रस्तुत "सन्त कबीर" के पाठ को हम कबीर की भाषा के मूल रूप के वहुत निकट मान सकते है ।

कबीर तक आते-आते पूर्वी हिन्दी का स्वरूप निश्चित हो गया था किन्तु सन्त साहित्य की परम्परा केवल पूर्वी हिन्दी तक ही सीमित नही रही ।

पंजाब से लेकर मगध तक सन्त हिन्दी मे रचना कर रहे थे । कुछ तो पारस्परिक सम्पर्क के कारण और कुछ विभिन्न प्रान्तो में प्रचलित होने के कारण उनकी बानियो में भाषा-शैलियो का सम्मिश्रण होना एक साधारण-सी बात थी । वज्रयानी सिद्धो का अनुसरण करते हुए पूर्वी प्रदेशो के कवि भी अवधी या पश्चिमी बोलियो को अपनी काव्य-भाषा के रूप मे स्वीकार करते थे या नही और यदि करते थे तो पदो और दोहो मे दो विभिन्न भाषा-शैलियाँ रहती थी या एक, इस दृष्टि से भोजपुरी प्रदेश के सन्तो की बानियो पर विचार कर लेना आवश्यक है ।

भोजपुरी प्रदेश के सबसे पहिले कवि कबीर ही थे । उन्होने अपनी बोली को 'पूर्वी' कहा है जिसके योगपरक अर्थ पर हम पीछे विचार कर चुके है । यदि भौगोलिक दृष्टि से देखा जाय तो पूर्वी से यहाँ अवधी और भोजपुरी दोनो ही बोलियो का सकेत ग्रहण किया जा सकता है । डा० रामकुमार वर्मा ने 'सन्त कबीर' की भूमिका मे कबीर की भाषा का मूल ढाँचा अवधी ही माना है । किन्तु भोजपुरी प्रदेश के निवासी होते हुए भी उन्होने अवधी को काव्य-भाषा के रूप में क्यो स्वीकार किया इसका कोई कारण नही बताया जा सकता । केवल यही कहा जा सकना है कि उनके पहले से ही भोजपुर से भी अधिक पूर्वी प्रदेशो के सिद्ध और नाथ कवि अपने दोहो के लिये पूर्वी प्रभाव मिश्रित पश्चिमी अपभ्रंश का प्रयोग कर रहे थे जिसकी अधिकतम निकटता अवधी से मानी जा सकती है । अत कबीर ने भोजपुरी प्रदेश मे रहते हुए भी अवधी मे रचना कर एक पूर्वागत परम्परा का निर्वाह ही किया है ।

इस सम्बन्ध में डा० उदयनारायण तिवारी का मत यह है कि कबीर की भाषा की अवधी रूपरेखा के नीचे भोजपुरी का ढाँचा ढूँढा जा सकता है । उन्होने सम्भवत अपने पद भोजपुरी मे ही लिखे थे किन्तु पश्चिमी लिपिकारो ने अपने प्रान्त मे उनका प्रचार करने के लिये उनका खडी बोली, ब्रज भाषा, पजाबी आदि मे रूपान्तर करने का प्रयास किया है और इसी कारण उसका भोजपुरी रूप लुप्त हो गया है ।[६०] इसके समर्थन मे उन्होने कबीर ग्रन्थावली मे से कुछ सज्ञा-रूप तथा क्रिया-रूपो पर भोजपुरी प्रभाव दिखाकर राग गौडी के २०वें पद का भोजपुरी रूपान्तर प्रस्तुत किया है और उनका अनुमान है कि यही कबीर के पदो की वास्तविक भाषा शैली रही होगी । किन्तु डा० वर्मा ने इन्हे सबल प्रमाणो से यह सिद्ध किया है कि गुरु ग्रथ साहिब में संग्रहीत पदो

मे भाषा की शुद्धता रखने का प्रयास किया गया है और सुदूर पजाब मे भी लिपिबद्ध किये गये उन पदो मे भी अवधी बोली ही की प्रधानता मिलती हैं। इस दृष्टि से यही कहना उचित जान पडता है कि कबीर भोजपुरी प्रदेश के निवासी होते हुए भी अवधी मे रचना करते थे किन्तु उनकी अवधी मे भी भोजपुरी रूपो का मिश्रण हो जाना उतना ही स्वभाविक था जितना दोहाकोषो की पश्चिमी अपभ्र श मे पूर्वी रूपो का मिश्रण हो जाना।

स्वत डा० तिवारी के अध्ययन मे ही हमे और भी प्रमाण ऐसे मिलते है जिससे यह प्रमाणित होता हैं कि अवधी एक प्रकार से समस्त मागधी प्रदेश की काव्यभाषा बन चुकी थी और इस दृष्टि से सिद्धो के दोहो की भाषा का उत्तराधिकार उसी ने ग्रहण किया था। इतना ही नही वरन् भोजपुरी प्रदेश के सन्तो की रचनाओ पर सिद्धो की उस परम्परा का भी प्रभाव पडा है जिसके अन्तर्गत वे पदो की रचना करते समय अपनी स्थानीय बोली और दोहो की रचना करते समय पश्चिमी अपभ्र श का प्रयोग करते थे। डा० तिवारी ने शिवनारायण और धरणीदास की रचनाओ का अध्ययन कर यह मत निर्धारित किया हैं कि इनके पदो और गीतो की भाषा भोजपुरी हैं और दोहो की भाषा अवधी। यह परम्परा १८वी शती तक चली आई है।

सन्त शिवनारायण गाजीपुर जिले के चन्द्रमार गाँव मे पैदा हुए थे और उनकी कई कृतियाँ (अमुद्रित) प्राप्य है। इन रचनाओ मे उन्होने दोहा चौपाई की शैली स्वीकार की है और उनकी भाषा कोसली (अवधी) है। किन्तु उन्होने जँतसारी और घाँटो भी लिखे हैं। जँतसारी जाँते पर गाये जाने वाले लोकगीत होते है और घाँटो चैत मे गाये जाते हैं। इन दोनो प्रकार की रचनाओ की भाषा लोकप्रचलित भोजपुरी ही है, अवधी नही।

इसी प्रकार की द्विविधि शैली का प्रयोग सारन जिले के माँझी गाँवो के सन्त धरनीदास (१६५६ ई०) की कृतियो मे भी मिलता हैं। उनकी दो कृतियाँ 'सब्द-प्रकास' और 'प्रेम-प्रकास' उपलब्ध है जिनमे विवेचनात्मक अश दोहा-चौपाई मे है और उनकी भापा कोसली (अवधी) है, किन्तु जहाँ उन्होने पद लिखे है वहाँ उनकी भाषा भोजपुरी हैं

शुमिरु शुमिरु मन सिरजनहार
जिन्ह कैला सुर नर सरग पताल ॥

रवि मसि अगिनि पवन कैला पानी
जिश्रा जन्तु षानि षानि आनि आनि बानी ।।

इन भोजपुरी वाले अशो मे भी अवधी का थोडा बहुत प्रभाव है क्योकि अवधी काव्यभाषा के रूप मे बहुत मज चुकी थी अत भोजपुरी मे लिखते समय भी उसका सहारा लेना अनिवार्य हो जाता होगा।[६१]

इस प्रकार हम देखते है कि सिद्धो द्वारा पदो मे स्थानीय बोली तथा दोहो में पूर्वी प्रभाव-मिश्रित पश्चिमी बोली प्रयुक्त करने की परम्परा १८वी शती के सतो तक चली आई है। डा० वर्मा द्वारा प्रस्तुत 'सत कबीर' के पाठ मे अपभ्र श की उकार वाली प्रवृत्ति अवश्य मिलती है किन्तु अन्य दृष्टियो से भाषा सम्बन्धी परिस्थिति बहुत बदल गई है। सबसे प्रमुख परिवर्तन हुआ है शब्द-समूह में। अपभ्र श से कितने ही तद्भव शब्दो की थाती हिन्दी को मिली थी जिनका प्रयोग सन्त और सूफी कवि करते थे किन्तु वैष्णव प्रभाव बढने के साथ-साथ सस्कृत का प्रभाव बढा और भक्तिमार्ग-सम्बन्धी कितने ही तत्सम शब्द हिन्दी के धार्मिक काव्य मे प्रचलित हो गये जिन्होने भाषा का रूप ही बदल दिया। जायसी और कबीर आदि मे तद्भव शब्दो का प्रचुर प्रयोग है जब कि सुन्दरदास जैसे सस्कृत के ज्ञाता सन्त की रचना मे तत्सम की भरमार है। 'बिनानी' आदि कुछ बौद्ध अपभ्र श साहित्य से प्राप्त तद्भव शब्दो के अर्थ का विकार सन्तो ने किस प्रकार किया है इसका उल्लेख हम पीछे कर चुके है।

छद

सन्तो और नाथो की साखियो और पदो के छन्द अधिकतर उन्ही छन्दो के विकसित रूप है जो सिद्धो ने प्रयुक्त किये है। किन्तु उनका प्रचुर विस्तार हुआ है और आगे चल कर उन पर सिद्धो के अतिरिक्त भी कितने ही अन्य प्रभाव पडे है। उदाहरण के लिये लगभग सभी सन्तो और नाथो की वाणी का महत्वपूर्ण अश दोहो मे है किन्तु सिद्धो के दोहाकोषो में समचतुष्पदियो के साथ दोहे मिलते है। केवल मात्र दोहो की मुक्तक परम्परा थी। इसका कोई प्रमाण नही मिलता। वज्रगीतियो में भी कई दोहो की एक गीति है। सन्दर्भ से सर्वथा पृथक मुक्तक दोहे अधिक

साखी

नही मिलने । केवल सुभाषित सग्रह में बेंडेल ने कुछ ऐसे दोहे सग्रहीत किये हैं । किन्तु जैनो की पश्चिमी परम्परा में पाहुड और सावयधम्म दोहे चतुष्पदियो के कडवको के बिना मुक्तक रूप मे उपलब्ध होते है । सन्तो की 'साखियाँ' और 'सलोकु' सिद्धो की अपेक्षा पश्चिमी मुक्तक शैली के अधिक निकट है । जहाँ कही वे दोहे चौपाइयो के साथ है वहाँ उस काव्यरूप को रमैनी कहा गया है।

यह रमैनी भी अवध प्रदेश मे प्रचलित अपभ्र श की राम-काव्य परम्परा का प्रभाव सूचित करती है, बौद्ध प्रभाव नही । चौपाइयो के साथ दोहे के एक कडवक को पद कहा गया है और उस दृष्टि से, चौपदी, सतपदी और बारहपदी रमैनियाँ मिलती है । दोहो के मध्य मे चौपाइयो की संख्या का कोई निश्चित नियम नही मिलता । साखियो को जिस प्रकार वर्गीकृत किया गया है वह रीति शाक्त-तन्त्रो के विषय विभाजन से बहुत मिलती है । आचार्य क्षितिमोहन सेन इन अगो मे साखियो के वर्गीकरण पर बौद्ध परम्परा का प्रभाव मानने के पक्ष में हैं ।[६२]

सोरठा आदि के भी उदाहरण सन्तो के काव्य मे बहुत मिलते है, दोहो मे कभी कभी मात्राओ की अनियमितताएँ भी मिलती है । इस दृष्टि से गोरखबानी की साखियाँ अत्यन्त अनियमित है । सन्तो तथा नाथो की बानियो मे कही-कही केवल चार ही चतुष्पदियाँ ही मुक्तक छन्द के रूप मे प्रयुक्त हुई है जैसे—

दादू — घटि घटि दादू कहि समुझावै
जैसा करै सो तैसा पावै
को काहू की सीरी नाही
साहिब देखै सो घट माही ॥[६२]

या

गोरख (सबदी) — हँसिबा खेलिबा रहिबा रग
काम क्रोध न करिबा सग ॥
हँसिबा खेलिबा गाइबा गीत
दिढ करि राषि आपना चीत ॥[६४]

दोहा चौपाइयो का एक अन्य काव्यरूप भी नाथपन्थी बानियो तथा कबीरपन्थी ग्रथो मे मिलता है वह है प्रश्नोत्तरी । गुरु और शिष्य मे अथवा दो समान प्रतिष्ठा के आचार्यो मे तत्व-दर्शन, साधना-पद्धति आदि के गहन तत्वो पर जो वार्ता होती है उसे प्रश्नोत्तरी के रूप मे दोहा चौपाइयो मे प्रस्तुत किया जाता है । 'मछीन्द्र-गोरख-बोध' तथा 'गोरख-दत्त-गुष्टि' (गोरखबानी मे सग्रहीत)

इसी प्रकार की कृतियाँ हैं। सन्तो के अभी तक उपलब्ध साहित्य में यह प्रश्नोत्तरी शैली नही मिली है किन्तु पश्चिमी तथा पूर्वी लौकिक अपभ्रंश साहित्य में यह शैली बहुत प्रचलित थी। प्रहेलिकाएँ भी सम्भवत इसी का एक रूप प्रतीत होती हैं। धर्मदास की पूर्वी अपभ्र श की कुछ प्रहेलिकाएँ 'विदग्धमुख मडन' से डा० सुकुमार सेन ने अपने सग्रह में उद्धृत की हैं।[६५]

पद — पूर्वी सन्तो और नाथो के पदो की परम्परा पूर्वी भारत की परम्परा मालूम होती है। उनमे भी पदाकुलक से विकसित चौपाई तथा पयार छन्दो का बाहुल्य हैं।

चौपाई (अन्त मे दो दीर्घ)

कबीर करवतु भला न करवट तेरी
लागु गले सुनु बिनती मेरी
हउ वारी मुखु फेरि पियारे
करवट दे मोकउ काहे कउ मारे ॥[६६]

दादू जीवत मारे मुए जिलाये
बोलत गूगे गूगे बुलाये ॥ टेक ॥
जागत निसि भरि रोई सुलाये
सोवत रैनी सोइ जगाये ॥
सूझन नैनहुँ लोभ न लीये
अन्ध बिचारे ता मुख दीये ॥[६७]

पयार — पादाकुलक से ही पयार छन्द विकसित हुआ जिसमे अन्त मे एक दीर्घ और एक लघु के साथ १५ मात्राएँ होती है। यह छन्द समस्त मागधी क्षेत्र में बहुत प्रचलित हुआ। सन्तो तथा नाथो के पदो में यह छन्द प्रचुरता से व्यवहृत हुआ है।

कबीर—माधव जल कि पियास न जाइ
जल महि अगिनि उठी अधिकाइ ॥
तू जलनिधि हउ जल का मीनु
जल महि रहउ जलहि बिनु खीनु
तू पिंजरु हउ सूअटा तोर
जमु मजारु कहा करै मोर ॥[६८]

दादू हलका भारी कह्यो न जाइ
मोल माप नहिं रह्या समाइ ॥
कीमति लेखा नहि परिमाण
सब पचि हारे साधु सुजाण ॥[६९]

गोरखपंथी बानी झरै न पारा बाजै नाद
ससिहर सूर न बाद बिबाद
पवन गोटिका रहणि अकास
महियल अन्तर गगन कविलास ॥[७०]
चले बटावा थाकी बाट
सोवै डुकरिया ढौरै खाट ॥
ढूकिले कूकुर भूकिले चोर
काढै धणी पुकारै ढोर ॥[७१]

२८ मात्राओ के छन्द की परम्परा तो सिद्धो से जयदेव के पदों मे होती हुई सन्तो तक अविच्छिन्न रूप से मिलती है।

भुसुकुपा भुसुकु भणइ कत राउतु भणइ कत सअला सहज सहावा ॥
जयदेव धीर समीरे यमुना तीरे बसति बने बनमाली ॥
कबीर इकतु पतरि भरि उरकुट कुरकुट इकतु पतरि भरि पानी
आसि पासि पंच जोगीआ बैठे विधि नकटदे रानी ॥[७२]
दादू काले धौल बरन पलटिया तन मन का बल भागा
जोबन गया जुरा चलि आई तब पछितावन लागा ॥[७३]
गोरखपंथी बानी : उतर देस मैं मेह धडक्या दक्षिण आचल छाया
पूरब देस थी पाणिग बिछूटी पछिम खेत्र मैं पाया ।[७४]

कबीर तक आते-आते सगीत की देशी शैली शास्त्रीय पद्धति मे पूर्णतया स्वीकृत कर ली गई थी। किन्तु इन रागो के गायन की शास्त्रीय पद्धति जिसका उल्लेख 'सगीत-रत्नाकर' आदि मे मिलता है, वही पद्धति कबीर आदि की परम्परा में मान्य थी अथवा कोई अन्य पद्धति, इसके विषय मे कुछ अनुमान भी कर सकना कठिन है।

राग

किन्तु चर्यापदो मे प्राप्त और नारद तथा शार्ङ्गदेव आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत कई राग, कबीर आदि के पदो मे भी मिलते है जिनमे से गूजरी, गउडा, धनासिरी, मल्हार तथा भैरव प्रमुख है। दादू मे भी गौडी तथा भैरो राग के पद मिलते है। गोरखबानी के अधिकाश पद राग रामग्री तथा आसावरी मे हैं। इस सम्बन्ध मे एक विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सन्तो तथा नाथो के संग्रहो मे साखियो का वर्गीकरण तो विषय के अनुरूप होता था किन्तु पदो का वर्गीकरण रागो के आधार पर होता था। 'चर्याचर्य विनिश्चय' में पदो का वर्गीकरण रागो के आधार पर नही है। रागो के आधार पर पदो के वर्गीकरण की कोई पुरानी परम्परा सिद्धो मे थी या नही, इसके विषय मे कुछ कहा नही जा सकता।

उपसंहार

बौद्ध-सिद्धो के साहित्य और उनकी धर्मसाधना के इस विस्तृत अध्ययन पर कार्य प्रारम्भ करते समय ही लेखक इस बात के लिये सचेष्ट था कि इस परम्परा ने सन्तो के साहित्य को जिस प्रकार से जितनी दिशाओ मे प्रभावित किया है कम से कम उसका सकेत हो सके। किन्तु समीक्षा की जो एकागी शैली केवल उन पारिभाषिक शब्दो या काव्य-शिल्प के उपकरणो को आधार बनाती है, जो सिद्धो नाथयोगियो और सन्तो मे समान रूप से पाये जाते हैं, वह इस प्रभाव परम्परा का समुचित आकलन नही कर सकती। इस बात कभी अध्ययन होना चाहिये कि ८वी शताब्दी से लेकर १७वी शताब्दी तक भारतीय समाज-पद्धति मे कौन से व्यापक परिवर्तन आते रहे है और उनके कारण जनता की धर्म-चेतना किन उपधाराओ मे विभाजित होकर किन दिशाओ मे प्रवाहित होती रही है, वे उपधाराएँ किस प्रकार कभी-कभी एक दूसरे के समानान्तर चलती रही हैं, कभी-कभी एक दूसरे मे अन्तर्भुक्त हो गई हैं, कभी-कभी कुछ दूर समानान्तर बहने के बाद दूसरी उपधारा का अतिक्रमण कर किसी सर्वथा दूसरी धारा मे जा मिली हैं—और उनकी यह जटिल गतिविधि किस सामान्य भाव-भूमि या व्यापक धरातल पर घटित हुई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रमुख लक्ष्य बौद्ध सिद्ध-साहित्य का अध्ययन रहा है अत. परवर्ती प्रभाव परम्परा को इसमे दूसरे दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया गया है किन्तु स्थान-स्थान पर यह सकेत अवश्य कर दिया गया है कि इस समस्त विकास का आरम्भ-विन्दु तान्त्रिक धर्मान्दोलन है और वैष्णव भक्ति आन्दोलन इसकी परिणति रेखा है। सन्तो का अधिकाश साहित्य उस सक्रान्ति-काल का साहित्य है जब तन्त्र और योग की पद्धतिया गौण होती जा रही है और भक्ति को प्रमुखता मिलती जा रही है। किन्तु फिर भी सन्तो मे परम्परागत प्रभाव के कारण एक विशिष्ट काव्य-शैली, तथा पारिभाषिक शब्दावली रूढ हो गई है और वे उसी के द्वारा इस नई चेतना को व्यस्त करने का प्रयास करते है। अत' उनकी भाषा-शैली मे अर्थो के कई स्तर वर्तमान है जिनमे से कुछ से स्वत वे सन्त भी अपरिचित प्रतीत होते है। कही-कही वे शब्द या वे प्रतीक प्राचीन बौद्ध-तान्त्रिक या शैव योगी साधनाओ के अर्थो को ध्वनित करते है, कही-कही सन्त उन अर्थो के केवल एक अश को स्मरण रख पाये है, और कही-कही वे भक्ति आन्दोलन के प्रभाव मे उन शब्दो को नई व्याख्या देने के प्रयास मे सलग्न प्रतीत होते है। फिर भी वे अपने आराध्य के निर्गुण रूप, अपनी साधना के रहस्यात्मक गुह्य रूप और अपनी काव्य-शैली के परम्परागत रूप को किसी भी स्थिति मे छोडना नही चाहते। यही कारण है कि भाव-साधना मे वैष्णवो के निकट होते हुए भी सन्तो का निर्गुण-काव्य भक्तो के सगुण-काव्य से बिल्कुल पृथक् स्वभाव का प्रतीत होता है। भक्तो का काव्य सगुण अवतारो की जिन भावमयी लीलाओ पर आधारित था, उन्हे सन्त पूर्णतया अस्वीकार करते थे।

बौद्ध सिद्धो और सन्तो की सामाजिक स्थिति मे भी एक बहुत बडा अन्तर आ चुका था। ८वी शताब्दी मे तान्त्रिक आन्दोलनो के अध्ययन से प्रतीत होता था कि सारे देश मे सकीर्ण जाति-व्यवस्था और शुद्धतावादी आचार-पद्धति के विरुद्ध एक व्यापक विद्रोह जाग उठा था और निम्न वर्ग की जातियाँ उस समय सशक्त और जागरूक थी। किन्तु जैसे अधिकाश विद्रोह और क्रान्तियाँ अमर्यादित होकर उछृखलता और पतनोन्मुखता की ओर अग्रसर होने लगती है, वही परिणति इस विद्रोह की भी हुई जो तान्त्रिक वेश मे उभरा था। उसके वाद का काल ऐसा रहा जिसमे इस उछृखलता की प्रतिक्रिया मे, तथा यवन-आक्रमणो से सचेत

होकर भारतीय धर्माचार्यों ने धर्म-साधना को आचार और वर्ण-व्यवस्था की दृष्टि से पूर्णतया कस देने का प्रयास किया। इस प्रयास की अतिरेकता मे बहुत कुछ अन्याय उन निम्न वर्ग की जातियों के प्रति भी हो गया जिनमे ये अधिकाश सन्त सम्प्रदाय परिपोषित हुए। अत एक ओर ये सन्त एक पराजित और सामाजिक अन्याय से पीडित वर्ग के प्रतीक थे, दूसरी ओर ये तान्त्रिक-विद्रोह के खोखलेपन से भी परिचित थे और तीसरी ओर यवनो की मजहबी कट्टरता का भी स्वागत नही कर पाते थे और चौथी ओर वैष्णव भाव-साधना के प्रति आकर्षित होते हुए भी उनके अवतारवाद को ये तर्क-सम्मत नही मानते थे। इन चतुर्विध परिस्थितियो की सम्यक पृष्ठभूमि में इनके समस्त साहित्य का नये सिरे से मूल्याकन होना चाहिये। इस प्रकार सिद्ध-साहित्य का यह अध्ययन एक ओर उन कई जटिलताओ का समाधान करता है जो अभी तक सन्तो और नाथ-योगियो के अध्ययन मे बाधक सिद्ध होती रही है, दूसरी ओर वह आदिकाल और मध्यकाल के सर्वथा नये मूल्याकन के लिये एक भूमिका भी प्रस्तुत करता है।

टिप्पणियाँ

संकेताक्षर

इ० एं०	इंडियन एंटिक्वेरी
ओ० डे० बें० लैं०	ओरिजिन एंड डेवलपमेंट आफ बेंगाली लैंग्वेज
चर्यापद	जर्नल आफ डिपार्टमेंट आफ लेटर्स, खंड ३० मे प्रकाशित डा० प्रबोधचन्द्र बागची का पद-संग्रह
ना० प्र० प०	नागरी प्रचारिणी पत्रिका
ज० डि० ले०	जर्नल आफ डिपार्टमेंट आफ लेटर्स, कलकत्ता
ज० ए० सो० बं०	जर्नल आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल
ज० बि० ओ० सो०	जर्नल आफ बिहार एंड ओरिसा रिसर्च सोसायटी
इ० हि० क्वा०	इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली
बौद्ध गान०	बौद्ध गान ओ' दोहा—हर प्रसाद शास्त्री
सिस्टम्स०, सोगेन	सिस्टम्स आफ बुधिस्ट फिलासफी, यामाकिमि सोगेन
दोहाकोष	दोहाकोष, बागची,
मिस्टिक टेल्स०	मिस्टिक टेल्स आफ लामा, तारानाथ
श्रेडर	इन्ट्रोडक्शन टु पाचरात्र संहिता
भण्डारकर	शैविज्म, वैष्णविज्म एण्ड माइनर कल्ट्स



कण्हपा



कर्णरिपा



कुकुरिपा



कंकणपा



गुण्डरिपा



जयानन्त



जलन्धरपा



डोम्बिपा



तन्तिपा



तिलोपा



दारिकपा



भद्रपा



भूसुकुपा



मीनपा



लूईपा


विरूपा


वीणापा


सरहपा


शबरपा


शान्तिपा

अध्याय १

क

१ हिस्ट्री आफ बगाल (खड १) पृ० ३३६। २ दोहाकोप पृ० १३। ३ सुभापित सग्रह (१९०५) पृ० ३२,३६, ३९,७५, ७७,८१, ८५। ४ दोहाकोप पृ० ४८, ४९, ५०। ५ बौद्ध गान० पृ० ६२। ६ वही पृ० ३५ तथा ६२। ७ वही पृ० ४३, ४८, ५०, ५५, ७१, ७२, ७४, ७५। ८ दोहाकोप पृ० ५२, ५३। ९ वही पृ० ५७। १० बौद्ध गान० पृ० १५। ११ वही पृ० ३१। १२ सेकोद्देश टीका पृ० ४८।१, २, ३। १३ ओल्ड बगाली टेक्ट्स पृ० ३३-३६। १४ इ० हि० क्वा०, खड ६, पृ० ३९४ तथा दोहाकोष पृ० ५३ तथा ५५। १५ ओल्ड बगाली टेक्ट्स पृ० ४०। १६ चर्यागीतिकोष वृत्ति नामा (तिब्बती) नार्थंग सस्करण, खड ४७। १७. बा० स्टडीज इन तन्त्राज़, पृ० ७५। पुरातत्व-निबन्धावली पृ० १८४।

ख

१ गुप्त, जायसी ग्रथावली पृ० २९८। २ वही पृ० ३३४। ३ टुची, स्फुट टिप्पणियाँ, ज० ए० सो० ब०, खड ४, १९३०, पृ० १३३ तथा आगे ४ मोहनसिंह, गोरखनाथ० प्राक्कथन पृ० १, १५ तथा १६। ५ कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया, खण्ड २, पृ० ३१३, तथा आगे। ६ मोहनसिंह, गोरखनाथ प्राक्कथन, पृ० १५ तथा १६। ७ वही पृ० १५ तथा १६। ८. बौद्ध गान० पदकर्तार परिचय, पृ० ३५। ९ पुरातत्व-निबन्धावली, पृ० १४८ तथा आगे। १० मिस्टिक टेल्स० परिशिष्ट १, पृ० ८४। ११ नाथ-सम्प्रदाय, पृ० ३३, ३७। १२ वही, पृ० २७। १३ बा०, कौलज्ञान निर्णय, भूमिका, पृ० १०। १४ मिस्टिक, टेल्स०, पृ० २६। १५ वही, पृ० ३२। १६ कौलज्ञान निर्णय, भूमिका, पृ० ६। १७ मिस्टिक टेल्स०, पृ० १४। १८ वही, पृ० २६। १९ ज० ए० सो० ब० १९३०, पृ० १३८। २० बा०, कौलज्ञान निर्णय, भूमिका, पृ० १४। २१ शाहिदुल्ला, मीननाथ ओ कानुपा, शनिवारेर चिठि, वर्ष १६, सख्या १२, पृ० ३७९। २२. भट्टाचार्य-साधनमाला, भूमिका, पृ० ११। २३ भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित, तत्वसग्रह, भूमिका, पृ० १५ तथा आगे। २४. साधनमाला, खण्ड २, भूमिका, पृ० ११ तथा

आगे। २५. टुची, ज० ए० सो० बं० १६३०, पृ० १३८। २६. वही, पृ० १३६। २७. वही, पृ० १४३। २८ वही, पृ० १३४। २६. वही, पृ० १४१। ३०. न्यू० इ० ए०, खण्ड १, स० १, १६३८। ३१. मजुमदार, हिस्ट्री आफ बगाल, पृ० ३३३, टिप्पणी २। ३२ पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १४६, टिप्पणी सख्या १। ३३. वही, पृ० १५५। ३४. वही, पृ० १५६। ३५ मिस्टिक टेल्स०, पृ० १२। ३६. हिन्दी काव्य-धारा मे सगृहीत सिद्धो के पदो और दोहो के साथ उन्होने जो तिथियाँ दी हैं उनका कोई भी आधार नही बतलाया गया है। ३७. हिस्ट्री आफ बगाल मे सुनीति बाबू का लेख, पृ० ३८६। ३८. ज० ए० सो० ब० सं० १७, पृ० ८। ३६. ओ० डे० ब० लै, पृ० १२२। ४० द्विवेदी, मध्यकालीन भारतीय धर्म-साधना, पृ० ७३, ७४। ४१. हिस्ट्री आफ बगाल, पृ० १४२। ४२ कौलज्ञान निर्णय, भूमिका, पृ० ५। ४३. वही, पृ० २६। ४४. टुची, ज० ए० सो० ब०, खण्ड ४, पृ० १३७। ४५. वही, पृ० १३७। ४६. मिस्टिक टेल्स०, पृ० ८, ६, १०। ४७. कौलज्ञान-निर्णय, भूमिका, पृ० २८। ४८. ज० ए० सो० ब०, खण्ड ४, पृ० १३४। ४६ मिस्टिक टेल्स०, पृ० १२। ५० हिस्ट्री आफ बगाल, पृ० ३४१। ५१. पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १४७। ५२ कौलज्ञान निर्णय, भूमिका, पृ० २८। ५३ मिस्टिक टेल्स०, पृ० ७६। ५४. दोहकोप, टीका भाग, पृ० ७२। ५५ वही, पृ० ३४ दोहा ८४। ५६. वही, पृ० ३४ दोहा ८५। ५७. वही, पृ० ३४। ५८. साधनमाला, भाग १, पृ० ८०, पृ० ८३। ५६. मिस्टिक टेल्स०, पृ० ११। ६०. साधनमाला, खण्ड २, पृ० ४५६। ६१. वही, पृ० ४५५। ६२. मिस्टिक टेल्स०, पृ० १६। ६३. वही, पृ० ११। ६४. हिस्ट्री आफ बंगाल, पृ० ३४२, टिप्पणी ६। ६५ वही, पृ० ३४३ टिप्पणी २। ६६ मिस्टिक टेल्स० पृ० ५७। ६७. कौलज्ञान निर्णय भूमिका, पृ० २२, २३। ६८ मिस्टिक टेल्स०, पृ० १२। ६६ पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १४६, टिप्पणी १, तथा पृ० १४८। ७०. मिस्टिक टेल्स०, पृ० ८०। ७१ बौद्ध गान०, मुखबन्ध पृ० २१, ३५। ७२ साधनमाला, द्वितीय खण्ड, भूमिका, पृ० ६०, १२२। ७३ इण्डियन एण्टिक्वेरी, न्यू सीरीज, खण्ड १, सख्या १। ७४. पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १४७, २०४। ७५. वीणा, सितम्बर १६४०। ७६. कौलज्ञान निर्णय, भूमिका। ७७. नाथ-सम्प्रदाय, अध्याय २, ३, ४, ६ तथा १२। ७८. पदकर्तार परिचय, बौ० गा० दो०, पृ० २६। ७६. मिस्टिक टेल्स०, पृ० ६। ८० साधनमाला, खण्ड २ भूमिका, पृ० ११७। ८१ वही, पृ० ४४। ८२. मिस्टिक टेल्स० पृ० ८। ८३.

वही । ८४. पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १६८, १६६ । ८५ साधनमाला, प्रथम खण्ड । ८६. वही, द्वितीय खण्ड, पृ० ४६ । ८७ मिस्टिक टेल्स०, पृ० ११ । ८८ पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १७१ । ८६. वही, पृ० १७१ । ६०. साधनमाला खण्ड २, पृ० ३८७ तथा ४५६ । ६१ बौद्ध गान०, पृ० २१ । ६२. ज० वि० ओ० रि० सो०, १६२८, पृ० ३४१ तथा आगे । ६३ पुरातत्व निवन्धावली, पृ० १७४ । ६४ मिस्टिक टेल्स, पृ० ११ । ६५. दे, न्यू इण्डियन एण्टिक्वेरी खण्ड १, सख्या १ । ६६ पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १४८ । ६७. मिस्टिक टेल्स०, पृ० ११, १२ । ६८ साधनमाला, खण्ड २, भूमिका, पृ० ४३ । ६६. बौद्ध गान, पदकर्ता देर परिचय, पृ० ३० । १०० मिस्टिक टेल्स०, पृ० ११, १२ । १०१ पुरातत्व निवन्धावली, पृ० १७६, १८० । १०२ बौद्ध गान० प्रथम सस्करण, परिशिष्ट । १०३ पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १८० । १०४ मिस्टिक टेल्स०, पृ० १६ । १०५ वही पृ० २१ । १०६ वही, पृ० ३५ । १०७ साधनमाला, खण्ड २, भूमिका, पृ० ६०, ६१ । १०८ वही, पृ० ६१ । १०६ पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १८१ । ११०. मिस्टिक टेल्स०, पृ० २२, २३ । १११ बौद्ध गान०, प्रथम सस्करण, परिशिष्ट । ११२ पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १८५ । ११३. मिस्टिक टेल्स० पृ० ५६ (इस अनुवाद मे भूल से कुक्कुरी की जगह कुक्कुटी छपा है) । ११४ मिस्टिक टेल्स०, पृ० ४७ । ११५ पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १८५ । ११६ ज० ए० सो०ब०, खड ४ । ११७ मिस्टिक टेल्स०, पृ० ५६ । ११८ बौद्ध गान०, पृ० ३७, ३८ । ११६ पुरातत्व निवन्धावली, पृ० १८३ । १२० मिस्टिक टेल्स०, पृ० २४ । १२१. नाथ-सम्प्रदाय, पृ० ७७, ७८, ७६ । १२२ पुरातत्व निवन्धावली, पृ० १८४ । १२३ मिस्टिक टेल्स०, पृ० ३१ । १२४. पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १८७ । १२५. वही, पृ० १८७ । १२६ मिस्टिक टेल्स०, पृ० ३२ । १२७ पुरातत्व निवन्धावली, पृ० १८८ । १२८ चर्यापद, ३६ । १२६ तुलनीय, नाथ-सम्प्रदाय, पृ० ८०, टिप्पणी १ । १३० पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १८७ टिप्पणी १, तथा नाथ-सम्प्रदाय, पृ० ८१ । १३१ योगिसम्प्रदायाविष्कृति , अध्याय १४ । १३२, मिस्टिक टेल्स, ०, पृ० ५८, ५६ । १३४ मिस्टिक टेल्स०, पृ० ३३ । १३४ गङ्गा पुरातत्वाक, पृ० २४३, टिप्पणी । १३५. चर्यापद, पृ० ५४ । १३६ पुरातत्व निवन्धावली, पृ० १६१ । १३७. बौद्ध गान०, परिशिष्ट । १३८ मिस्टिक टेल्स०, पृ० २८ । १३६. वही, पृ० ३२ । १४० वही, पृ० ३३ । १४१. पुरातत्व निबन्धावलो, पृ० १६२ । १४२ बौद्ध गान०, पदकर्तादेर परिचय, पृ० २६ । १४३ ओल्ड बङ्गाली टेक्स्ट्स, पृ० ५२ । १४४. बौद्ध गान०

पदकर्तादेर परिचय, पृ० २५ । १४५ चर्यापद, पृ० १०१ । १४६. पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १५१ । १४७. ओल्ड बङ्गाली टेक्ट्स, पृ० ३६ । १४८ बौद्ध गान०, प्रथम सस्करण । १४६. पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १८६ । १५० मिस्टिक टेल्स०, पृ०,४० ४६ । १५१ बौद्ध गा० पदकर्तादेर परिचय, पृ० २६ । १५२. चर्यापद, पृ० ७३ । १५३. पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १६५ । १५४ चर्यापद पृ० ८१ । १५५ पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १५२ । १५६ साधनमाला, खण्ड २, पृ० १०० । १५७ पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १६३ । १५८ साधनमाला, खड २, भूमिका, पृ० १००, टिप्पणी । १५६ बौद्ध गान०, पदकर्तादेर परिचय, पृ० ३० । १६० पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १४६ । १६१ मिस्टिक टेल्स०, पृ० ४६ । १६२ मिस्टिक टेल्स०, पृ० ५८, ५६ । १६३ योगिसम्प्रदायाविष्कृति अध्याय ३३, तथा टिप्पणी, पृ० २४७ । १६४ चित्त विशुद्धि प्रकरण, भूमिका । १६५ मिस्टिक टेल्स०, पृ० २१ । १६६ बौद्ध गान० पदकर्तादेर परिचय, पृ० ३१ । १६७ पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १७७ । १६८ मिस्टिक टेल्स० पृ० १४, १७ । १६६ साधनमाला, खड २, पृ० ६०१ । १७०. पुरातत्व-निबन्धावली, पृ० १७८ । १७१. बौद्ध गान०, प्रथम संस्करण, परिशिष्ट । १७२ नाथ-सम्प्रदाय, पृ० २६ । १७३ बौद्ध गान०, मुखबन्ध, ६, १०, ११ । १७४ चतुर्वेदी, सिद्ध भुसुकुपा, हिन्दुस्तानी । १७५. पुरातत्व निवन्धावली, पृ० १७६ । १७६ शिक्षा-समुच्चय, प्राक्कथन । १७७ पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १७५ । १७८ मिस्टिक टेल्स०, पृ० ६२ । १७६ वही, पृ० ७७ । १८० बौद्ध गान० दो मुखबन्ध, पृ० १२ । १८१. चर्यापद, पृ० १०५ । १८२. चर्यापद ४१ तथा ४३ । १८३. मिस्टिक टेल्स०, पृ० ६४ । १८४ न्यू इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग १, स० १ । १८५ मिस्टिक टेल्स०, पृ० १२, ४७, ४८ । १८६ वही पृ० ४७ । १८७. चतुर्वेदी, सिद्ध तेलोपा, हिन्दुस्तानी । १८८ पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १६४ । १८६. मिस्टिक टेल्स०, पृ० ३३, ३४ । १६० सर चार्ल्स ईलियट, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, खण्ड ३, पृ० ३८७ ।

ग

१. कौलज्ञान निर्णय, भूमिका पृ० ५७ । २ साधनमाला, पृ० ४५३ । ३. चर्यापद, २, आठवी पक्ति, तथा चर्यापद ४, छठवी पक्ति । ४ टीका भाग, बौद्ध गान०, पृ० ६ तथा पृ० १० । ५. बुधिस्ट एसोटेरिज्म, पृ० ४३ । ६. मिस्टिक टेल्स०, पृ० ८ । ७. नाथ-सम्प्रदाय, पृ० १३ । ८ मिस्टिक टेल्स, पृ०

२४। ९ नाथ-सम्प्रदाय, पृ० ११। १० बरुआ, अर्ली हिस्ट्री आफ कामरूप, द्रष्टव्य, 'कल्चरल रिव्यू'। ११ लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, खण्ड १, भाग १, पृ० १२५, १२६, तथा काकती, आसामीज, इट्स फार्मेशन एण्ड डेवलपमेन्ट, पृ० ३-११। १२ मिस्टिक टेल्स०, पृ० ३६, ३७। १३ बरुआ, अर्ली हिस्ट्री आफ कामरूप, 'कल्चरल रिव्यू'। १४ साधनमाला, खण्ड १, पृ० ८०। १५ मिस्टिक टेल्स०, पृ० ११। १६ साधनमाला, खण्ड २, भूमिका। १७ मिस्टिक टेल्स० पृ० ११। १८ मिस्टिक टेल्स०, पृ० १९। १९ मिस्टिक टेल्स०, पृ० २२, २३, २४, ४०, ४३, ४६, ६३। २० बुद्धिस्ट एसोटेरिज़्म' पृ० ४६। २१ मिस्टिक टेल्स०, पृ० १८, अनुवादक की टिप्पणी, तथा परशुराम चतुर्वेदी, 'चौरासी सिद्ध कौन थे', पृ० १२। २२ मिस्टिक टेल्स०, पृ० २१, २२, ५३। २३ बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, पृ० ४४, ४५, ४६। २४ स्टडीज़ इन तन्त्राज़, पृ० ३८४०। २५ वैडेल, लामाइज्म, पृ० ३८२। २६ 'निअडि बोहि मा जाहु रे लङ्क' चर्यापद ३३। २७ वैडेल, लामाइज्म, पृ० ३८० 'स्टडीज़ इन तन्त्र'। २८ बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, पृ० ४५। २९ सेकोद्देश टीका पृ० १। ३० मिस्टिक टेल्स०, पृ० १०२। ३१ देखिये आगे, पृ० १५०-१५२। ३२ मिस्टिक टेल्स०, पृ० ८, ९, ११ १४। ३३ मेम्वायर्स आफ आर्कयालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, सख्या ६६। ३४ देखो आगे, पृ० १५५। ३५ मिस्टिक टेल्स० पृ० ४१। ३६. वही, पृ० ४०, ४१। ३७. डैनियल राइट, हिस्ट्री आफ नेपाल, प्रथम अध्याय। ३८. मजुमदार, हिस्ट्री आफ बगाल, खण्ड एक, पृ० ४१७। ३९. वही, पृ० ४१७। ४० किमूरा, शिफ्टिंग आफ सेन्टर्स आफ बुद्धिज्म इन इण्डिया, ज० डि० ले०, खड १। ४१ मजुमदार, हिस्ट्री आफ बगाल, खड १, पृ० ५९। ४२. वही, पृ० ६०, ६१। ४३ चटर्जी, हर्षवर्द्धन, पृ० ८०-८३। ४४ मजुमदार, हिस्ट्री आफ बगाल, (खड १) पृ० ६१। ४५ वाटर्स, जिल्द दो, पृ० ११५। ४६. वही, पृ० ४३, ९२, ११५, ११६। ४७. चटर्जी, हर्षवर्द्धन, पृ० १९०, १९१। ४८. वाटर्स, जिल्द, १, पृ० १८६। ४९. बागची, इण्डिया एण्ड चाइना, पृ० १९९, २०१। ५० यशोवर्मन के आक्रमण की तिथि ७२५-७३५ ई० के लगभग मानी गई। ललितादित्य के गौड विजय के उल्लेख अप्रत्यक्ष ही है। ललितादित्य ने यशोवर्मन को ७३६ ई० के लगभग पराजित किया था। मजुमदार, हिस्ट्री आफ वगाल, खड १, पृ० ८२, ८३। ५१. तारानाथ के जर्मन रूपान्तर का अग्रेजी अनुवाद, इडियन एण्टिक्वेरी, खड ४, पृ० ३६५, ३६६। ५२. मजुमदार, हिस्ट्री आफ वगाल, खंड

१, पृ० ६७। ५३. वही, पृ० ६८। ५४. घोष, इ० हि० क्वा० खंड ६, पृ० ४८४, ४८५। ५५. मजुश्रीमूलकल्प—जायसवाल संस्करण, श्लोक ८८३। ५६. मजुमदार, हिस्ट्री ग्राफ बंगाल, खड १, पृ० १०४। ५७ मिस्टिक टेल्स०, पृ० ४०, ४१। ५८. मजुमदार, हिस्ट्री ग्राफ बगाल, खड १, पृ० ११५। ५९. ग्राल्तेकर, राष्ट्रकूट एण्ड देयर टाइम्स, पृ०। ६० त्रिपाठी, हिस्ट्री ग्राफ कन्नौज, अध्याय १० तथा ११। ६१ मजुमदार, हिस्ट्री ग्राफ बंगाल, खड १, पृ० १०७, ६२ मजुमदार, गुर्जर प्रतिहार, ज० डि० ले०, खं० १०, पृ० ४०,।४४। ६३. डा० त्रिपाठी धर्मपाल की नागभट्ट द्वारा पराजय को गोविन्द के ग्राक्रमण के बाद मानते है। हिस्ट्री ग्राफ कन्नौज, पृ० २३२, २३३। ६४ ग्राल्तेकर, राष्ट्रकूट एण्ड देयर टाइम्स, पृ० ६६। ६५ मजुमदार, हिस्ट्री ग्राफ बगाल, खंड १, पृ० ११३। ६६. वही पृ० ११६। ६७. पाल वशावली, पाल राजाग्रो के ग्रभिषेक की तिथियाँ १ गोपाल प्रथम, ७५० ई०, २ धर्मपाल, ७७० ई०, ३. देवपाल, ८१० ई० ४ विग्रहपाल, प्रथम या शूरपाल, ८५० ई०, ५ नारायण पाल, ८५४ ई०, ६ राज्यपाल, ९०८ ई०, ७. गोपाल द्वितीय, ९४० ई०, ८ विग्रहपाल द्वितीय, ९६० ई०, ९ महीपाल प्रथम, ९८८ ई०, १० नैपाल, १०३८ ई०, ११. विग्रहपाल द्वितीय, १०५५ ई०, १० महीपाल द्वितीय, १०७० ई०, १३ शूरपाल द्वितीय, १०७५ ई०, १४ रामपाल, १०७७ ई०, १५. कुमारपाल, ११२० ई०, १६. गोपाल तृतीय, ११२५ ई०, १७. मदनपाल, ११४० ई०, १८ गोविन्द पाल, ११५५ ई०)। ६८. मजुमदार, गुर्जर प्रतिहार, ज० डि० ले०, खड १०, पृ० ५० था ग्रागे। ६९ रे-डाइनेस्टिक हिस्ट्री ग्राफ नार्दर्न इण्डिया, पृ० ६७४ तथा ग्रागे। ७०. मजुमदार, हिस्ट्री ग्राफ बगाल, खड १, पृ० १९२। ७१. वही, पृ० १९३। ७२. वही, पृ० १९५। ७३. सेकोद्देश टीका, पृ० १। ७४. मिस्टिक टेल्स०, पृ० २६। ७५. वही, पृ० २५। ७६. इण्डियन एण्टिक्वेरी, खंड ४, पृ० ३६५ तथा ग्रागे। ७७. नीलकण्ठ शास्त्री, द चोल्स, पृ० २४७। ७८. एपिग्राफिका इण्डिका, खड २४, पृ० १०५। ७९. मिस्टिक टेल्स०, पृ० ७९। ८०. मजुमदार, हिस्ट्री ग्राफ बंगाल, पृ० ३३६। ८१. शरत्चन्द्र दास, इण्डियन पंडित्स इन लैण्ड ग्राफ स्नो, पृ० ५१। ८२. फ्रैन्क, एण्टिक्विटीज ग्राफ टिवेट, पृ० १६९ तथा ग्रागे। ८३. मजुमदार, हिस्ट्री ग्राफ बगाल, पृ० २०३। ८४. वही, पृ० २०५ के ग्रागे। ८५. वही, ग्रध्याय सात, परिशिष्ट ३। ८६. फ्रेदूनबेग-चाचनामा (ग्रनूदित ग्रग्रे०) पृ० ७२, ८९, १०५। ८७. मिस्टिक टेल्स०, पृ०

१५ । ८८. वही, पृ० ६९, ७० । ८९. हले कालिंजर घणिग्रइ दुद्दरु वज्जिग्रइ दोहाकोष, पृ० ८५ । ९०. बौद्ध गान० पृ० ९ ।

घ

१. सस्कृत, बुद्धिस्ट लिटरेचर ग्राफ नेपाल, पृ० २६१ । २. बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, भूमिका, पृ० १, पृ० ३१, पृ० ३३ । ३. ग्ररविन्द, 'तन्त्र ग्रौर वेदान्त', कल्याण, शक्ति ग्रक, पृ० ३१ । ४. शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६ । ५. वही, पृ० ७ । ६ फ्रें० एजेल्स, लुडविग फ्यूएरबाख, पृ० ६७ । ७. वही, पृ० ४० । ८. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ८ । ९. माडर्न क्वार्टर्ली, खड १, सख्या २, पृ० ७५, ७६ । १०. मार्क्स, कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो, पृ० ४०, ४१ । ११. प्लेखनाव, मैटीरियलिस्ट कन्सेशन ग्राफ हिस्ट्री, पृ० ३९ । १२. हिन्दी काव्यधारा, भूमिका, पृ० १३ । १३. वही, पृ० १४ । १४. वही, पृ० १४, १५, १६ । १५. वही, पृ० १७ । १६. वही, पृ० १७, १८, १९ । १७. वही, पृ० २१ २२, २३ । १८. वही, पृ० ३५ । १९. वही, पृ० ४८ । २० वही, पृ० २१ । २१. वही, पृ० ४७ । २२. प्लेखनाव, रोल ग्राफ इण्डिविजुग्रल इन हिस्ट्री, पृ० ४५ । २३. मार्क्स एण्ड एजेल्स ग्रान इण्डिया, पृ० ७५, ७६ । २४. क्वेश्चन्स ग्राफ हिस्ट्री से मा० क्वा०, खड ५, सख्या ३ मे उद्धृत । २५. द्रष्टव्य मा० क्वा० ५।३ तथा इण्डिया टुडे १।३ मे डाँगे के ग्रन्थ की समीक्षाएँ । २६ मा० क्वा०, खड ?, सख्या २ । २७. हिस्ट्री ग्राफ बगाल, पृ० ७४३ । २८. सरकार, पोलिटिकल इन्स्टीट्यूशन्स एण्ड थिग्ररीज ग्राफ हिन्दूज, पृ० १०३, ४ । २९ ग्रोझा, मध्य-कालीन भारतीय सस्कृति, पृ० १३० । ३० मध्यकालीन भारतीय सस्कृति, ग्रोझा, पृ० १०७ । ३१. हिस्ट्री ग्राफ बगाल, पृ० ६०७ । ३२ सरकार, पोलिटिकल थिग्ररीज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स ग्राफ हिन्दूज, पृ० ५३, ५६ । ३३ इ० हि० क्वा०, खड ६, पृ० ५९, ६० । ३४. फिक-सोशल ग्रार्गनिजेशन इन ना० ई० इडिया, पृ० ११८ । ३५. हर्षवर्द्धन, चटर्जी, २७३, २७४ । ३६. हिस्ट्री ग्राफ बगाल, पृ० ६४७ । ३७. ग्रार्क्यालाजिकल सर्वे ग्राफ इडिया, वार्षिक विवरण, १९०४-५, पृ० १४२ तथा ग्रागे । ३७. चटर्जी हर्षवर्द्धन, पृ० २८७ । ३८ हर्षचरित, पृ० २४९ । ३९ वही, पृ० २८७ । ४० मज्झिमनिकाय, मधुरासुत्त । ४१. दीघ-निकाय, ३-४ । ४२ क्षितिमोहन सेन, जातिभेद, पृ० ४१ । ४३ सेन, सस्कृति सगम, पृ० ४१ । ४४ वही, पृ० ४३ । ४५ मनुस्मृति ३, १५१ । ४६ वही,

अध्याय ३, श्लोक १५२ तथा आगे तथा चाणक्य-नीति, एकादश अध्याय, पृ० ४४ श्लोक १३, १४। ४७. बागची, कास्ट्स आफ इडियन मिस्टिक्स, विश्व-भारती क्वार्टरली, अगस्त, अक्तूबर १९४५, पृ० १४३। ४८ सेन, जातिभेद, पृ० ११६। ४९ बरुआ, अर्ली हिस्ट्री आफ कामरूप, पृ०। ५० हिस्ट्री आफ बगाल, खड १, पृ० ५२७ तथा आगे। ५१. बसु, पोस्ट चैतन्य सहजीय कल्प, पृ० २६३, २६४। ५२ मा० क्वा० खड १, सख्या २, पृ० ७७। ५३ वही, पृ० ८४। ५४. वही, पृ० ८७। ५५ दत्त, भारतीय समाज पद्धति, पृ० १५० तथा आगे। ५६ द्रष्टव्य, बडथ्वाल, हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, पृ०६२ तथा पृ० ३२४, और चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० २८२ तथा २८३। ५७. क्षितिमोहन सेन, जातिभेद, पृ० २०१।

अध्याय २

क

१ साधनमाला प्रथम खड, पृ० ४। २. वही पृ० २२५। ३ वही, खड २, भूमिका, पृ० २३। ४. टू वज्रयानी टेक्स्ट्स, भूमिका। ५ बा०, साइनो इडियन स्टडीज़, पृ० ३६। ६ वैडेल लामाइज्म, भूमिका,पृ० २५। ७ कीथ, ओरिजिन आफ़ महायान बुद्धिस्ट फिलासफी। ८ अद्वयवज्र सग्रह, भूमिका, पृ० १६। ६ बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, पृ० १६ पर उद्धृत। १० चित्तविशुद्धि प्रकरण, पृ० ३। ११ बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, पृ० २६। १२ बौधिचर्यावतार पजिका, तृतीय परिच्छेद ४, १८ तथा बंगला-अनुवाद, पृ० २२, २३। १३ शिक्षा समुच्चय, बेडेल सस्करण, पृ० १६०, १६१। १४ दासगुप्त, तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृ० १०। १५ तत्व रत्नावली, अद्वय वज्र सग्रह, पृ० १४। १६ ज० डि० ले०, खड १ किमूरा का लेख। १७ से० बु० ई०, खड १७, पृ० ३४७ तथा आगे। १८ ज० डि० ले०, खड १, किमूरा का लेख। १६ परशुराम चतुर्वेदी, महायान सम्प्रदाय का क्रमिक विकास, हिन्दुस्तानी, पृ० ६६। २० पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १२१। २१ वही, पृ० १२८, १२६। २२, वही, पृ० १२८, १२६। २३ कीथ, 'स्कूल्स आफ हीनयान', बुद्धिस्ट फिलासफी। २४ पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १३०। २५ किमूरा, ओरिजिन आफ महायान बुद्धिज्म, ज० डि० ले० १६२४ पृ०। २६ चतुर्वेदी, महायान का क्रमिक विकास, हिन्दुस्तानी, पृ० ७६। २७ सूत्रो का रचनाकाल—१०० ई० से ४०० ई०। दासगुप्त, हिस्ट्री आफ इडियन फिलासफी, भाग १, पृ० १२५। २८ अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृ० २३५, २३६। २६ ईलियट, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, खड २, पृ० ७। ३० बरुआ, प्रोलोग्मेना टु ए हिस्ट्री आफ बुद्धिस्ट फिलासफी, प्रथम अध्याय। ३१ चटर्जी, हर्षवर्द्धन, पृ० ३५० तथा आगे। ३२ वही। ३३ शास्त्री, लिटरेरी हिस्ट्री आफ पाल पीरियड, ज० ब० ओ० रि० सो०, खड ५, अक २। ३४ सोगेन, सिस्टम्स०, पृ० १८६। ३५ माध्यमिक वृत्ति, १३, ८। ३ सोगेन, सिस्टम्स०, पृ० १६८। ३७ अनिरोधम् अनुत्पादम् अनुच्छेदम् अशाश्वतम्, अनेकार्थम् अनानार्थम् अनागमम् अनिर्गमम्। माध्यमिक वृत्ति, १. १। ३८ वही—२४, १४। ३६ देवराज, भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास, पृ० १६४। ४० सुजुकी,

आउट लाइन्स आफ महायान बुद्धिज्म, पृ० १७३। ४१. अप्रतीत्य समुत्पन्नो धर्म कश्चिन्न विद्यते। यस्मात्तस्मादशून्योहिधर्म कश्चिन्न विद्यते . .माध्यमिका वृत्ति २४, १६। ४२ या प्रतीत्य समुत्पादा शून्यताम् ताम्प्रचक्ष्महे ..वही २४, १८। ४३ वही चौथा प्रकरण। ४४ वही, बाईसवाँ प्रकरण। ४५ वही, पृ० १२। ४६ माध्यमिका वृत्ति, पृ० २५, १६। ४७ रत्नावली, माध्यमिका वृत्ति मे उद्धृत पृ० ५२४। ४८ शास्त्री, लिटरेरी हिस्ट्री आफ पाल पीरिअड, ज० ब० ओ०रि० सो० खंड ५, अक २, पृ० १७१ तथा आगे। ४६ किमूरा का लेख, शिफ्टिंग आफ सेन्टर्स आफ बुद्धिज्म अयोध्या काल। ५० यहाँ पर यह सकेत कर देना आवश्यक है कि विज्ञानवादियो ने शून्य को अभाव के रूप मे ग्रहण किया है। यह अर्थ उपयुक्त नही है किन्तु उनके तर्कों के स्पष्टीकरण के लिये इस समय हम भी शून्य का वही अर्थ लेंगे। ५१. आलयविज्ञान क्रमवद्ध चेतना की शृङ्खला है। यह सदा प्रवाहित और विकसित होती रहती है। सोगेन, सिस्टम्स, पृ० २१०। ५२ लंकावतार सूत्र, जिल्द २। ५३ सोगेन, सिस्टम्स, २३०। ५४ चटर्जी, हर्षवर्द्धन, पृ० ३५१। ५५ महायान सूत्रालकार, अतिम अध्याय। ५६ किमूरा, ओरिजिनल एण्ड डेवेलप्ड थियोरीज आफ बुद्धिज्म, पृ० ४६ तथा पृ० ६२। ५७ सुजुकी, आउट लाइन्स आफ महा-यान बुद्धिज्म, पृ० २२३, २२४। ५८ दासगुप्त, तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृ० १३, १४। ५६ शातिदेवेर बोधिचर्यावतार, पृ० १४। ६० माध्यमिको ने दस पारमिताएँ मानी है, दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपाय, कौशल, प्रणिधान, बल और ज्ञान तथा इनके साथ चार अप्रमाणो की साधना भी अनिवार्य मानी है, मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा। किन्तु योगाचार सम्प्रदाय मे उपरोक्त ६ पार-मिताएँ स्वीकार की गई है और उनके अतिरिक्त तीन शिक्षाएँ भी साधना की अग है, शीला, ध्यान, प्रज्ञा। (अष्ट साहस्त्रिका, पृ० ३०३) बोधिचर्यावतार मे केवल शान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा का ही विस्तृत वर्णन छठे, सातवें आठवें तथा नवें परिच्छेद मे है जिससे ज्ञात होता है कि कालान्तर में ४ पारमिताएँ प्रमुख हुई। अन्त मे प्रज्ञा मे सभी अन्तर्भुक्त हो गई। उसी को साधने से सब सध जाती थी (अष्ट साहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता, तीसरा परिवर्त)। ६१ वास्तव मे महायान एक विशाल जलयान के समान है। ये छ पारमिताएँ उसके यान की पतवारें है। ६२ सुजुकी, आउट लाइन्स आफ महायान, पृ० ३११। ६३ नागार्जुन, महायान विशक, ११, १२। ६४, अष्ट साहस्त्रिका, प्रथम परिवर्त, पृ० ४५८। ६५ वही प्रथम परिवर्त, ४६२। ६६ वही, भूमिका, पृ० १८। ६७

भट्टाचार्य, बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, पृ० ३१ । ६८ बाद मे भी वहुत से ऐसे महायानी बौद्ध साधक थे जो मान्य थे किन्तु वे तान्त्रिक साधनाओ मे निष्णात नही थे। किन्तु ऐसे लोगो को वह श्रेष्ठता प्राप्त नही थी जो वज्रयानी सिद्धो को थी। ऐसे पण्डितो का केन्द्र नालन्दा था। ६९ श्री राहुल साकृत्यायन ने मन्त्रयान का समय ४००-७०० ई० तथा वज्रयान का समय ७००-१२०० ई० माना है जो उचित ही प्रतीत होता है।

ख

१. डा० बेनीप्रसाद, हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता । २ वही, तान्त्रिक काल । ३ ना० प्र० प० वर्ष ५०, अक १, २, २००२, पृ० ६६ । ४ सेन, स्कूल एन्ड सेक्ट्स इन जैन लिटरेचर, पृ० ४० । ५ द्विवेदी, ना० प्र० प०, वर्ष ५०, १, पृ० ६४ । ६ वही, पृ० ६४ । ७ सर जे० वुडरफ, शक्ति और शाक्त, पृ० १८ । ८ दास गुप्ता, फिलासाफिकल एसेज । ९. भट्टाचार्य, थियरी एन्ड प्रैक्टिस आफ तन्त्राज, पृ० २ । १०. वोस, "माडर्न बुद्धिज्म एन्ड इट्स फालोअर्स इन उडीसा", भूमिका । ११. बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, पृ० ५४ । १२ वही, पृ० ५४ । १३ साधनमाला, भाग २. भूमिका, पृ० ३६ । १४ बागची, स्टडीज इन तन्त्र, पृ० ४५ । १५. बागची, इन्डिया एन्ड चाइना, पृ० १९९, २०२ । १६ कालान्तर मे आगम की नई व्याख्या खोज ली गई—द्रष्टव्य महापरिनिर्वाण तन्त्र, भूमिका तथा ना० प्र० पत्रिका, ५०, १, पृ० ७२ । १७ कूर्म पुराण, भूमिका, पृ० १७ । १८ वही, पृ० १८१, १८५ । १९ उपाध्याय, शकराचार्य, पृ० २८६ । २० हरप्रसाद शास्त्री, प्रोसीडिंग्स आफ रा० ए० सो० ब० खन्ड १८, १९२१ । २१ सेन, सस्कृति सगम, पृष्ठ १९ । २२ भन्डारकर, द्रष्टव्य 'शैविज्म' । २३ बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, पृ० ५४ । २४. रुद्र यामल तन्त्र मे यह कथा मिलती है कि वशिष्ठ वहुत दिनो तक जप, तप और सयम करते रहे किन्तु उन्हे सिद्धि नही मिली तो उन्होने क्रुद्ध होकर भगवती को शाप दे दिया। उसके अनन्तर देवी ने प्रकट होकर कहा कि तुम्हे सिद्धि मिलेगी किन्तु तुम अथर्ववेद की मूलभूमि महाचीन को जाओ। महाचीन मे उन्हे बुद्ध दीख पडे जो नग्न, मद्यपी, रक्तपायी स्त्रियो से घिरे थे। उनके रहस्य को जान कर वशिष्ठ को सिद्धि मिली। इससे यह स्पष्ट होता है कि तान्त्रिक साधनाओ का अथर्ववेद से घनिष्ठ सम्वन्ध था और इसे बौद्ध तान्त्रिक भी स्वीकार करते थे। इसी प्रकार वैष्णव तन्त्रो मे भी नारद ने जव

अहिर्बुध्न्य से सहिता के १९वें अध्याय मे वर्णित विधानो का उद्गम तथा अध्यक्ष देवता का नाम पूछा तो अहिर्बुध्न्य ने उत्तर दिया कि ये साधनाएँ अथर्ववेद से ली गई है और इनके देवता स्वयम् भगवान विष्णु है जो सुदर्शन चक्रधारी है तथा समस्त प्राणियो के रक्षक है। २५ चटर्जी, हर्षवर्द्धन, पृष्ठ ३०३। २६ वागची, स्टडीज इन तन्त्राज, पृष्ठ १०२। २७ वही पृष्ठ ११२। २८ वही, पृ० ४५। २९ सेन, सस्कृति सगम, पृ० ३२। ३० इसका प्रमाण इसमें भी मिलता है कि शापनिर्दग्ध और ब्रह्मकर्म विवर्जित ब्राह्मणो को इस धर्म मे आमन्त्रित किया गया है और उन्हे भोग और मुक्ति दोनो की आशा दिलाई गई है।

ये विप्रा शापनिर्दग्धा ब्रह्म कर्म विवर्जिता
तेषाम् तु कौल धर्मोऽयम् मुक्ति मुक्त्योस्तु साधनम्
ये विप्रा पापसजाता शाप निर्दग्ध विप्लुत
तेषाम् कुलाऽधिकारोऽयम् मार्गस्यास्य प्रजायते।

पुरश्चर्यार्णव, पृ० २४।

३१ कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायाम् स्मृति सम्भव
द्वापरे तु पुराणोक्तम् कलौ आगम केवलम्।

कुलार्णव,

३२ "वैदिकी तान्त्रिकीश्चैव द्विविधा श्रुति कीर्तिन" कुल्लूक भट्ट, वुडरफ, शक्ति एन्ड शाक्त, पृ० १९। ३३ ना० प्र० प०, ५०, १, पृ० ७०। ३४ फर्कुहर, पृष्ठ १८१। ३५ ज० रा० ए० सो० १९११, पृ० ९५१, ९५३। ३६ श्रेडर, पृष्ठ २२। ३७ उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ४६०। ३८ अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० ३६। ३९. श्रेडर, पृ० १२०। ४०. श्रेडर, अहि बुध्न्य सहिता, परिच्छेद १७। ४१ वही, पृ० १२७। यन्त्र पूर्वाङ्ग तथा मन्त्र अपराग कहलाते थे। ४२ वही, पृ० १३०। ४३ वही, पृ० १२६। ४४ वही, पृ० ११३। ४५ वही, पृ० ४३। ४६ वही, पृ० ११२। ४७. किसी समय शिव के चार मुखो की भी कल्पना थी। महाभारत अनुशासन पर्व, १४१, श्लोक ५, ८ तथा आदि पर्व २१६, श्लोक २२, २८। ४८ आगम के पाँच मुख, सद्योजात, वमदेव, अघोर, तत्पुरुप वा ईशान थे। ४९ देवराज, दर्शन शास्त्र का इतिहास, पृ० ४८३, ४८६। तथा उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ५४५ आगे। ५० श्रेडर पृ० ११२। ५१ सर्व-दर्शन-सग्रह, नकुलीश पाशुपत मत। ५२ विश्वभा ती, जुलाई १९४२, पृ० २४५ आगे। ५३ पशु, पाश और पति या शिव शक्ति और अणु के कारण, इसे त्रिक् दर्शन कहते है। ५४. भन्डारकर, पृ० १८३। ५५

डा० काशीनाथ मिश्र, शक्ति-विशिष्टाद्वैतवाद की भूमिका, पृ० ४, ५ । ५६ सी० नान्दीमठ, हैन्डबुक आफ वीरशैविज्म, प्रथम परिच्छेद । ५७ सिद्धान्त शिखामणि २०, ३१ । ५८ वही, १०, ६६ । ५९ अनुभव सूत्र । ६० वही । ६१ भन्डारकर, पृ० १८१ । ६२. नान्दीमठ, हैन्डबुक आफ वीर शैविज्म का प्रथम परिच्छेद । ६३ आदि नाथ, अनादि, काल, अतिकालक, कराल, विकराल, महाकाल, कालभैरव नाथ, वटुक, भूतनाथ, वीरनाथ, श्रीकन्ठ, नागार्जुन, जड-भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, मीननाथ, गोरक्ष, चर्पट अद्वय, वैराट्य, कन्थाधारिन, जालन्धर, मलयार्जुन । इनमे से १२ आदिगुरु शिव है तथा १२ उनके शिष्य हैं । ६४ द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ० २७३ । ६५ टुची० आन मैत्रेय, ज० ए० सो० ब०, १९३०, पृ० १२५ तथा आगे । ६६. द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ० ७ । ६७ भन्डारकर, पृ० १८२ । ६८ चटर्जी, हर्षवर्द्धन, पृ० ३३५, ३३६ । ६९ ज० ए० सो० ब० १९३०, पृ० १२५ तथा आगे । ७० भन्डारकर, पृ० ८२ । ७१ टुची, ज० ए० सो० ब० १९३०, पृ० १२५ तथा आगे । ७२ प्रवोध चन्द्रोदय, अक ३ । ७३ झा, न्याय दर्शन पृ० ३० । ७४ सर्वदर्शन सग्रह, (कावेल गफ सस्करण), नवाँ परिच्छेद, पृ० १३७ । ७५ वही, पृ० १३८ । ७६ वही, पृ० १३९ । ८७ वही, पृ० १४२ । ७८ फर्कुहर द्रष्टव्य सहायक-पुस्तक-सूची । ७९ देवताओ की शक्ति की कल्पना वैदिक काल मे भी थी किन्तु इस रूप मे नही । उस समय शक्ति के स्थान पर उन्हे शची कहा जाता था । ऋगवेद मे लगभग ११ बार शक्ति का प्रयोग है और हर बार वह इन्द्र से सम्वद्ध हैं । पहले शची केवल इन्द्र की शक्ति थी, बाद मे उसको नारी रूप मे माना गया और उसे पत्नी पद इन्द्राणी दिया गया । ऋगवेद ३, ६०, २ मे शची को ही प्रज्ञा भी गया है । यह "ज्ञ" देवियो का वाचक है और बाद मे यह वाक् का पर्याय हो गया । कहा गया कि इसी "ज्ञ" से समस्त मन्त्र बने और उनके छन्द प्रकट हुए । कही-कही यह सृजनात्मक शक्ति के रूप मे भी आई है पर यह स्वीकार करना होगा कि वैदिक शक्तियो मे वह मातृरूप, देवीत्व नही विकसित हुआ था और लोक परम्परा तथा लोकधर्म ने बाद मे इन शक्तियो को जगज्जननी रूप दे दिया है । एस० के० दास, शक्ति आर डिवाइन पावर, अध्याय १, विशेपत पृ० ४ । ८० वुडरफ, शक्ति एन्ड शाक्त, पृ० ३० । ८१ वही, पृ० १७० । ८२ वही पृ० ४१ । ८३ पुर-श्चर्यार्णव, पृ० २१ । ८४ वही, पृ० २४ । ८५ वही, पृ० ३७ । ८६ कुलार्णव-तन्त्र, पृ० १२० । ८७ वही, पृ० ३७ । ८८. वही, पृ० ७५, ७६, ७७ । ८९-

९० पुरश्चर्यार्णव, पृ० २७ । ९१. सातवी शती के लगभग पूर्वी देशो मे इस निर्गंथ सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव था । मजुमदार, हिस्ट्री आफ बगाल, प्रथम खन्ड, पृ० ४११ । ९२ टुची, शक्तिअक, कल्याण, पृ० ५४५ । ९३ दासगुप्त, आव्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० २० । ९४ विष्णुपुराण, १, ६, १६ । ९५ श्रेडर पृ० ११३ । ९६ कौलावली निर्णय, पृ० १४० ।

९७ य शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्ध बुद्धइव प्रमाण पटव कर्तेति नैयायिका.
अर्हन्नित्यथ जैन शासन रत कर्मेति मीमासकम्
सोऽयम् वो विद्धातु वाछित फलम् त्रैलोक्यनाथो हरि .

९८ आर० एल० मैत्र, सस्कृत बुद्धिस्ट लिटरेचर आफ नेपाल, पृ० ९५ । ९९. द्रष्टव्य, यही ग्रन्थ०, पृ० ३१६, ३२० ।

ग

१. चित्त विशुद्धि प्रकरण, पृ० ६, श्लोक १२२ । २. वही, भूमिका, पृ० १६ । ३. वही, पृ० ३, श्लोक ३३ । ४. डाकार्णव, पृ० १, छन्द १ । ५. तन्त्रस्य देशना पुसा पुण्यज्ञान प्रयोजनम् सेकोद्देश टीका, पृ० ४ । ६ अद्वयवज्र सग्रह, पृ० २१ । ७ 'सस्कृत भाषया पारमितानयम्, मन्त्रयानम् तन्त्र तन्त्रान्तरम् सस्कृत भाषया प्राकृतभापया अपभ्र शभाषया असस्कृत शबरादि म्लेच्छभाषया' लघुकल चक्र-तन्त्र-राज टीका रा० ए० सो० ब० मे सग्रहीत पाण्डुलिपि । दासगुप्त, 'तान्त्रिक बुद्धिज्म्' मे उद्धृत, पृ० ६१ । ८. सेकोद्दे श टीका, पृ० ४८ । ९ फ्लैग, योग आर ट्रान्सफार्मेशन, पृ० १७ । १० डा० मथुरालाल शर्मा, मैजिकल बिलीफ्स इन बुद्धिज्म, ज० ब० ओ० रि० सो०, खण्ड १७, मान १ । ११. महावग्ग, विनयपिटक (से० बु० ई०) । १२ ब्रह्मजाल सुत्त, पाली टेक्ट सोसायटी, पृ० ९ तथा आगे । १३. सर चार्ल्स ईलियट, हिन्दुज्म एण्ड बुद्धिज्म, खन्ड १, पृ० ३१७ । १४ चुल्लवग्ग, (से० बु० ई०, खण्ड २०) पृ० ७८ तथा आगे । १५. सर चार्ल्स ईलियट, हिन्दुज्म खण्ड बुद्धिज्म, खण्ड १, पृ० ३१७ । १६. बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, पृ० १८ । १७ सर चार्ल्स ईलियट, हिन्दुज्म एण्ड बुद्धिज्म, खण्ड १, पृ० ३१९ । १८. चुल्लवग्ग, (से० बु० ई०, खण्ड २०) पृ० ७९ । १९ राइस डेविड्स, पाली-इगलिश डिक्शनरी, पृ० १२१ । २० सर चार्ल्स ईलियट, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, खण्ड १, पृ० ३१९ । २१. दृष्टव्य, यही ग्रन्थ, पृ० १०२ । २२. शान्तिभिन्नु, बौद्ध धर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियो का प्रवेश,

विश्वभारती, जनवरी-मार्च १६४५। २३ सेकोद्देश टीका, पृ० २, ३। २४ दासगुप्त, आब्स्क्योर रेलीजस कल्ट्स, पृ० १७। २५ वैडेल, लामाइज्म, पृ० १२८। २६ टुची, आन मैत्रेय, ज० ए० सो० व०, खण्ड २६ मे उद्धृत। २७ टुची, वही। २८ साधनमाला, खण्ड १, पृष्ठ २१०। खण्ड २, पृ० ४८१। तथा चित्तविशुद्धि प्रकरण, श्लोक ५। २६ अभिसमयालकारालोक मे मैत्रेय को अनागत बुद्ध कहा गया है। टुची सस्करण, पृ० २२५, २७६। ३० महायान सूत्रालकार, लेवी सस्करण, पृ० ४१। ३१ वही, पृ० ४१। ३२ विराटरनीत्ज, गुह्य समाज तन्त्र एण्ड एज आफ तन्त्र, इ० हि० क्वा०, खण्ड १६, अक १। ३३ वागची, स्टडीज इन तन्त्राज, पृष्ठ ८७। ३४ दासगुप्त, आव्सक्योर रेलोजस कल्ट्स, पृष्ठ १७। ३५ अद्वयवज्र-सग्रह, तत्व-प्रकाश, पृ० ४६। अप्रतिष्ठान प्रकाश, पृ० ४८। ३६ द्रष्टव्य, यही ग्रन्थ, पृ० ३१८। ३७ साधनमाला, पृ० ३३४। ३८ नैरीमान, लिटरेरी हिस्ट्री आफ सस्कृत बुद्धिज्म, पृष्ठ ११२ तथा मित्र, सस्कृत बुद्धिस्ट लिटरेचर आफ नेपाल, पृष्ठ ८०। ३६ भट्टाचार्य, बुद्धिस्ट आइकानोग्राफी, सर्वे आफ बुद्धिज्म। ४० पुरातत्व निबन्धावली, "वज्रयान का प्रारम्भ और विकास"। ४१ बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, पृष्ठ ५५६। ४२ दासगुप्त, तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृष्ठ ६४। ४३ एस० एन० दासगुप्त, इन्ट्रोडक्शन टु तन्त्र फिलासफी। फिलासाफिकल एसेज मे सग्रहीत। ४४ द्विवेदी, अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० ६२, ६३। ४५ डाकार्णव, भूमिका, पृ० १५। ४६ वाडेल, लामाइज्म, पृष्ठ १४७। ४७ दासगुप्त, तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृष्ठ ७०। ४८ अद्वय-वज्र सग्रह, पृ० ५१। ४६ अद्वयवज्र सग्रह, पृ० ५०। ५० विश्वभारती, जन० मार्च, १६४५, पृ० २०। ५१ बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, पृष्ठ १११, १३०। ५२ सुखावती-व्यू (मैक्समूलर और नान्जियो द्वारा सम्पादित)। ५३ भट्टाचार्य, इण्डियन बुद्धिस्ट आइकानोग्राफी, पृष्ठ १६६। ५४ वही, अध्याय १। ५५ बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, पृष्ठ ५२, ५३। ५६ द्र० यही ग्रन्थ, पृ० १११। ५७ अद्वयवज्र सग्रह, पृ० ५४ तथा दोहाकोष, पृ० १५५। ५८ अष्ट साहस्रिका, पृ० ४६०। ५६ बोधिचर्यावतार पजिका, प्रज्ञापारमिता, अध्याय २, श्लोक ५३ की टीका। ६० साधनमाला, पृ० १८, १६। ६१ अद्वयवज्र सग्रह, पृ० २३, ६२ साधनमाला, प्रथम खण्ड, पृ० २२५। ६३ अथर्ववेद का स्वाध्याय, सातवलेकर, पृ० ४७। ६४ सुधीन्द्र कुमार दास, शक्ति या डिवाइन पावर, अध्याय १। ६५ अथर्ववेद, ४, २०। ६६ अथर्ववेद का स्वाध्याय, पृ० १५३। ६७ वही, पृ०

२२। ६८ बोधिचर्यावतार, अध्याय २, श्लोक ५३। ६९ वाडेल, लामाइज्म, पृष्ठ २७। ७० सेकोद्देश टीका, भूमिका, पृ० ६। ७१ वही, पृ० १३ तथा साधनमाला, पृ० २२७। ७२ अष्ट-साहस्रिका, प्रथम परिवर्त, तृतीय परिवर्त। ७३ इन्द्र कामावचर रूप में उपस्थित होते है और ब्रह्मादिक रूपावचर रूप मे। ७४ साधनमाला, पृ० २२५। ७५ वही, पृ० ३६८, ३६९। ७६ परस्व हरणम् कुर्यात् परदारा निसेवनम्, वक्तव्यम् च मृषा वाक्यम् सर्व बुद्धान् च पीतयेत। गम्या-गम्य विकल्पन्तु भक्ष्याभक्ष्यन्तथैव च, पेयापेयम् तथा मन्त्री कुर्यान्नैव समाहित अद्वयसिद्धि, लक्ष्मीकरा। ७७ स्तूप बनाने के समय भूमि चुनते समय जिन ४० देवी-देवताओ की पूजा का विधान है वे सब महायानी पारमिताओ के विव तथा विवृत्ति रूप है। पश्चिमाभिमुख होकर पूर्व मे दशभूमियो प्रमुदिता आदि की उपासना करनी चाहिये। दक्षिण मे दश पारमिताओ के प्रतीक दशदेवता, पश्चिम मे पूर्वाभिमुख होकर आप, चित्त, परिष्कार, कर्म, उपपत्ति, सिद्धि, अभिमुक्ति, प्रणिधान, ज्ञान और धर्म वशिता की उपासना करनी चाहिये। उत्तर मे वसुमती, रत्नस्या, उष्णीप, विजया मारिची, पर्णशवरी, अनेकमुखी, जाँगुली, चण्डा, प्रज्ञा-वर्द्धिनी, सर्वबुद्ध क्रोशाती इन धरणी देवियो की पूजा करनी चाहिये। क्रिया-सग्रह नाम पजिका, तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृ० ४२। ७८ सरहा के दोहाकोष की टीका का नाम 'सहजाम्नाय पजिका' है। ७९ साधनमाला मे चित्त विशुद्धि को ही प्रमुख मान कर 'अनुत्तर सम्यक सम्बोधि मार्ग' वज्रयान की यह परिभाषा मिलती है पृ० २२५। किन्तु श्री गुह्य समाज तन्त्र मे बुद्ध के पाँच कुलो की वज्र रति और उस तक पहुँचने के मार्ग का नाम वज्रयान बताया गया है पृ० १५४। ८० ज्ञानसिद्धि, पृ० ३८। ८१ अद्वयवज्र सग्रह, पृ० २६। ८२ न कष्टकल्पनाम् कुर्यान्नोपवासेन चक्रियाम्, स्नानम् शौचम् न चैवात्र ग्रामधर्मम् विवर्जयेत् ५८. चित्त-विशुद्धि प्रकरण। ८३ अद्वयवज्र सग्रह, पृ० २४। ८४ प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि, पृ० १। ८५ सेकोद्देश टीका, भूमिका, पृ० ०। ८६ चित्त विशुद्धि प्रकरण, श्लोक ६७, ७०। ८७ वही, भूमिका, पृ० १९। ८८ नैरात्म्य परिपृच्छ, पृ० २०। ८९ चित्तविशुद्धि प्रकरण, श्लोक, ९३, ९७, तथा प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि, पृ० ५। ९० चित्तविशुद्धि प्रकरण, श्लोक ११७। ९१ बुद्धिज्म एसोटे-रिज्म, पृष्ठ १०१, १०२। ९२ साधनमाला, पृ० २२६, २३८, पृ० ३५९। ९३ या भगवती प्रज्ञापारमिता साऽहम्, साधनमाला, पृ० ३१८। ९४ इन आवेशो मे से क्रोधा-वेश का रोचक वर्णन सेकोद्देश टीका मे मिलता है। पहले साधक 'ओ अ

र र र र ल ल ल ल वज्रावेश्य हुँ', इस मन्त्र के जाप से क्रोधावेश मे होता है। फिर आवेश मे आने पर प्रहार, हनन्, आक्रमण कुछ भी कर सकता है। वज्र-नृत्य करता है, मनुष्यो के लिये अगम्य ध्वनियाँ करता है, गीत गाता है, निर्लज्ज और निर्विशक व्यवहार करता है। आचार्य उसके शिर पर मन्त्राभिषिक्त पुष्प रखता जाता है और लोचन आदि सौम्य देवताओ का आह्वान करता है और मुद्रा द्वारा उसका कोध उपशमित होता है। सेकोद्देश, पृ० १४, १५। ९५ साधनमाला, पृ० ४४९। ९६ कुदृष्टि निर्घातम् अद्वयवज्र सग्रह। ९७. कहा जाता है कि डोम्बीपा ने हेरुक की साधना का प्रचलन किया था। नागार्जुन ने भोट देश एकजटा का प्रचलन किया था। ९८ देखिये यही ग्रन्थ, पृ० १५४। ९९ भारत मे यही विभाजन प्रचलित है, तिब्बत मे और प्रशाखाएँ है। १००. जे० आर० ए० एस०, १९०१, पृष्ठ ९००। १०१ कुदृष्टिनिर्घातम्, अद्वयवज्र सग्रह। १०२ ज्ञानसिद्धि, पृ० ३२। १०३ कुदृष्टि-निर्घातम् अद्वयवज्र सग्रह। १०४. चक्रसम्वर तन्त्र, भूमिका, पृ० ३२। १०५ शक्ति अक, कल्याण, पृ० ५४५। १०६ वाडेल, लामाइज्म, पृष्ठ १५२। १०७ दास-गुप्त, इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृष्ठ ७१। १०८ कुदृष्टिनिर्घातम्, पृ० २, अद्वयवज्र सग्रह। १०९ कुदिृष्टि निर्घातम्, पृ० ३, (अद्वयवज्र सग्रह)। ११०. वही, पृ० ५। १११. वही, पृ० २। ११२ वही, पृ० २। ११३ चित्त विशुद्धि प्रकरण, श्लोक ६। ११४ इ ग्य दो, (सहजयान) नन् ग्य दो, (कठिनयान,) किमूरा, ओरिजिन आफ महायान बुद्धिज्म, ज० डि० ले० १९२४। ११५. सहजे णिच्चल जेण किअ समरसें णिअमण राह, सिद्धो सो पुण तक्खणे णअ जराम-रणह भाअ, दोहाकोष, पृ० ४३। ११६ वौद्ध गान, १४वी चर्या की टीका। ११७ गाइल्स, रेलीजस आफ ऐंशेंट चाइना। ११८ सर चार्ल्स ईलियट, हिन्दु-इज्म एण्ड बुद्धिज्म, खण्ड ३. पृ० २४६। ११९ वागची, इण्डिया एण्ड चाइना, पृष्ठ १९९। १२० फ्लैग योग आर ट्रान्स्फार्मेशन, पृष्ठ १३४, २०७, २१४, २१५, ३३५। १२१ इलियट, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, खण्ड ३, पृष्ठ २४५। १२२ विष्णुक्रान्ता, विन्ध्य से चटगाँव तक, अश्वक्रान्ता, विन्ध्य से महाचीन तक और रथक्रान्ता, विन्ध्य से कम्बोज तथा जावा द्वीप तक। १२३ एवलन, प्रिन्सी-पिल्स आफ तन्त्राज, भूमिका। वागची, स्टडीज इन तन्त्र, भाग १, पृ० ४८। १२४ एकजटा साधनम्, साधनमाला, भाग २। १२५ 'आन फारेन एलीमेंट्स इन तन्त्राज़'. वागची-स्टडीज इन तन्त्राज़। १२६ वागची, इण्डिया एण्ड चाइना,

पृष्ठ १९९, २०१ । १२७. साधनमाला भूमिका, पृष्ठ ४३ । १२८. फरकु हर, पृष्ठ १४३ । १२९. विष्णुपुराण, १, ६, १६ । १३०. वही, २, १, २५ । १३१. डाक्ट्रिनल कलचर एण्ड ट्रैडिशन आफ सिद्धाज, बी० वी० आर० शास्त्री, कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया, खण्ड २, पृ० ३१३, ३१७ । १३२. एपिग्राफिका इण्डिका, खण्ड ५, पृ० १८६ । १३३. वाडेल-लामाइज्म, पृ० १५१, १३१ । १३४. बसु, 'मार्डन बुद्धिज्म एण्ड इट्स फालोअर्स इन उडीसा', की भूमिका, पृष्ठ ८ । १३५. सर चार्ल्स इलियट, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, खण्ड ३, पृष्ठ ३८५, ३८७ । १३६. कोरोस, टिबेटियन-टिट्बिट्स कलकत्ता १९१२ । या ज० ए० सो० ब०, खण्ड २, पृ० ५७ । १३७. पितो का उल्लेख कालचक्र तन्त्र के प्रथम प्रवर्तक के रूप मे तारानाथ ने भी किया है । साधनमाला, खण्ड २, भूमिका, पृ० ४३ । १३८ इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृष्ठ । ७६ । १३९. सेकोद्देश टीका, पृ० १ । १४०. सेकोद्देश टीका—पृ० ३ । १४१. सेकोद्देश टीका, पृ० ८ । १४२. दासगुप्त तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृष्ठ ७८ ।

अध्याय ३

क

१. 'अद्वयार्थो हि परमार्थ', लेवा संस्करण, पृ० २२ । २. उच्छिन्तपापा मम् सर्वधर्मान्नितेनास्त्रि बुद्धो जगतानुबोधात् सद्धर्म पुंडरीक सूत्र, पृ० ४७ । ३. एहुसे अप्पा एहु जगु जो परिभावइ, णिम्मल चित्त सहाव सोकि बुज्झइ, बागची दोहाकोष, पृ० ५ । पर अप्पाण म भन्ति करु सअल निरन्तर बुद्ध । बा० दोहा-कोष, पृ० ५ । ४. जिम बाहिर तिम अब्भन्तरु, चउदह भुवणे ठिअउ निरन्तरु । वही, पृ० ३५ । सोहिअ चित्त णिरालम् दिण्णा, वही पृ० ३४ । ५. डाकार्णव, चौधरी, पृ० १४१ । ६. दृश्यम् न विद्यते चित्तम् चित्तम् दृश्यात् प्रमुच्यते . लंका-वतार सूत्र, जिल्द २ । ७. चाटिल्लपाद पद ५, बा० दोहाकोष, पृ० १११ । ८. बा० दोहाकोष, पृ० ३ । ९. बा० दोहाकोष, पृ० ११ । १०. बा० दोहाकोष, पृ० १२ । ११. बा० दोहाकोष, पृ० १३ । १२. बा० दोहाकोष, पृ० १८ । १३. बा० दोहाकोष, पृ० १३ । १४. बा० दोहाकोष, टीका भाग, पृ० ९१ । १५. बा० दोहाकोप, पृ० २१ । १६. बा० दोहाकोष, पृ० ३६ । १७. बा० दोहाकोष, पृ० ३६, दोहा ९२ । १८. बा० दोहाकोष, पृ० ४१, दोहा ७, ८ । १९. बा० दोहाकोष, पृ० ५२, दोहा १५ । २० पद १, बा० चर्यापद, पृ० १०७ । २१. बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ४, १६ । २२ बा० दोहाकोष, पृ० ३६ । दो० ९३, ६ पृ० ३१ दो० ७१ । २३ बा० दोहाकोष, टीका भाग पृ० १५२, १५३ । २४ बा० दोहाकोप, पृ० ११ । २५. अभिधर्म कोष, राहुल संस्करण, प्रथम अध्याय । २६ मैन्युएल आफ ए मिस्टिक, पृ० ९ । २७ सअल आआरहि गअण सम्पुण्णा, बा० दोहाकोप, पृ० ११ । २८ बा० दोहाकोष, पृ० ५२ दोहा १५ २९ बा० दोहाकोष, पृ० ४१ । ३० सोगेन, सिस्टम्स०, पृ० १२५ । ३१. सेकोद्देश टीका, पृ० ७ । ३२. बौद्धगान ओ दोहा, पृ० ४ । ३३. अभिधर्म को, (राहुल), प्रथम अध्याय । ३४ सोगेन सिस्टम्स, पृ० २३१, २३२ । ३५ सेको-द्देश टीका, पृ० ७ । ३६ टीका भाग, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० २५ । ३७. सोगेन, सिस्टम्स०, पृ० २३१ । ३८ वही, पृ० १११, ११२ । ३९. टीका भाग,

बा० दोहाकोष पृ० ६२, ५८, सेकोद्देश टीका पृ० ७ । ४० सोगेन, सिस्टम्स० पृ० २१६, २३० । ४१ बा० दोहाकोष पृ० ६२, ४२ लंकावतार सूत्र, जिल्द २ । ४३ चर्यापद १ । ४४ बा० दोहाकोष पृ० २४ । ४५ वही पृ० १०२ । ४६ वही पृ० ३४ । ४७ वही० पृ० ४ । ४८ वही० पृ० २४ । ४९ वही० पृ० २८ । ५० वही पृ० १६ । ५१ वही पृ० ३१ । ५२ वही पृ० ४३ । ५३. वही पृ० ३६ । ५४ वही पृ० २६ । ५५ वही पृ० २२ । ५६ वही पृ० १० । ५७ वही पृ० २पृ । ५८ वही पृ० १४३ । ५९ महायान सूत्रालकार ११, १६ । ६० बा० दोहाकोष १११० ८ । ६१ वही पृ० ३ । ६२. वही पृ० ५३ । ६३ वही पृ० ११ । ६४ बा० चर्यापद पृ० ५३ । ६५. बा० दोहाकोष पृ० । ६६ वही पृ० १४४ । ६७ पद ७ की टीका, बौद्ध गान ओ दोहा पृ० १५ । ६८ बा० दोहाकोष पृ० १४५ । ६९ बौद्ध गान ओ दोहा पृ० २४ । ७० प्रज्ञोपाय-विनिश्चय-सिद्धि, पृ० १८ श्लोक २३ । ७१ बौ० दो० पृ० १२ । ७२ वही, पृ० २२ । ७३. महायानविंशक, श्लोक १० तथा १२ । ७४ चित्तविशुद्धि प्रकरण श्लोक १८ । ७५. चित्तविशुद्धि प्रकरण पृ० ३, श्लोक २७ । ७६ नैरात्म्य परिपृच्छ पृ० १५, श्लोक १९ तथा २० । ७७ महायान सूत्रालकार ९. १५ । ७८. ज्ञानसिद्धि पृ० ४६ । ७९. साधनमाला, खण्ड पृ० २६, २७१ । ८० साधनमाला, प्रथम खण्ड, पृ० १३३ । ८१ ब० चर्यापद पृ० १४७ । ८२ ब० दोहाकोष पृ० १०१ । ८३. ब० दोहा-कोष पृ० १२ । ८४. मारह चित्त णिव्वाणें हणिआ । तथा टीका बा० दोहाकोष पृ० ६२ । ८५. बा० दोहाकोष पृ०१०४ । ८६ पद ४५, तथा टीका, बौद्धगान ओ दोहा पृ०६९ । ८७ बा० चर्यापद पृ० १३८ । ८८. बा० दोहाकोष पृ० ६५ । ८९ बा० दोहाकोष टीका पृ० ६५ । ९१ माध्यम वृत्ति-१५-१९ । ९१. सोगेन, सिस्टम्स० पृ० २०१ । ९२. माध्यमक वृत्ति पृ० ५२१ । ९३ दे० पीछे, शून्य-वाद । ९४. लंकावतार सूत्र अध्याय ३ । ९५ महायान श्रद्धोत्पाद सूत्र (अनू०) पृ० ६७ । ९६ सोगेन, सिस्टम्स पृ० ६७ । ९७, महायान श्रद्धोत्पाद सूत्र (अ०) पृ० ५८ । ९८. महायान सूत्रालकार पृ० ६५ । ९९, अद्वयार्थौ हि परमार्थ , महायान सूत्रालकार ६ । १ । १००. ब० दोहाकोष पृ० ४३ । १०१. ब० दोहाकोष पृ० १५९ । १०२. प्राप्ति, जीवितेन्द्रिय, निमाग सगाम, पृथजाति, असंज्ञा समापत्ति, निरोव समापत्ति, असंज्ञिकम् व्यंजनकाय, नामकाय, पदकाय, जाति जरा, स्थिति, अनित्यता, प्रवृत्ति एवम्मागोय, प्रत्युवन्ध, जावन्यम्, अनुक्रम, देश, काल, संख्या,

सामग्री, भेद । सोगेन, सिम्टम्स० पृ० २२६ । १०३ दोहाकोप पृ० १२४ । १०४ अश्वघोष द्वारा वर्णित स्मृतिया को डा० दासगुप्त ने वासना के अर्थ मे ग्रहण किया है दास गुप्त, तांत्रिक बुद्धिज्म पृ० २४ । १०५ टीका, दोहाकोप,पृ० १२४, । जयनन्दीपा, बा० चर्यापद पृ० १४२ । १०७ बौद्धगान ओ दोहा पृ० ६१ । १०८ ६ वी चर्या । १०६ चर्या० बागची पृ० १५०. । ११० बौद्धगान ओ दोहा पृ० ६८ । १११ ब० चर्यापद पृ० ११६, १२ । ११२. बौ० गान ओ दोहा पृ० २३ । ११३ बा० दोहाकोष पृ० १५६ । ११४. वही पृ० ३ । ११५ वही पृ० ३ । ११६ वही पृ० ६८ । ११७ वही पृ० ३२ । ११८ अश्वघोष का कथन है कि तथता न तो भाव है न अभाव, न भावाभाव है, न भावाभाव का निषेध, न एक है, न अनेक है, न एक अनेक का अभाव । एक शब्द मे सर्व सत्व इसका ज्ञान नही प्राप्त कर सकते अत इसे शून्यता की संज्ञा दी गई है । महायान श्रद्धोत्पाद सूत्र सुजुकी का अनुवाद' पृ० ५६, ६० । ११६ आर्य सत्यद्वयावतार सूत्र, मध्यान्त विभाग पृ० ३७४ । १२० बा० दोहाकोष पृ० १२१ । १२१ वही पृ० ४ । १२२ गुणदोस रहिअ एहु परमत्य । २६ । दोहाकोष पृ० ७ बा० । १२३ पत्था एहु परमत्थवि । ३ । बा० दोहाकोष पृ० ६ । १२४. एवमनेन मुनिर्भगवान परमार्थ रूपकम सरोरूहवज्रपादेनोक्तम्.... सिद्धम् परमार्थम् अम् सर्वेषु तदाश्रिता चेति । १२५. विज्ञानवादी तीन प्रकार के ज्ञान मानते थे—परिकल्पित, परतन्त्र, परिनिष्पन्न, । इनमे से प्रथम दो सम्वृति सत्य या माया के प्रभास स्वरूप थे और ग्राह्य-ग्राहक भाव से युक्त थे । परिनिष्पन्न ज्ञान दोनो से मुक्त था । महायानसूत्रालकार, पृ० २२ । १२६ महायानसूत्रालकर पृ० ६५ । १२७ वही १३ । १ । १२८. सर्वधर्मानुत्पाद समतया परमार्थत," मध्यान्त-विभाग पृ० ३७४ । १२६. सर्व भावा स्वभावेन प्रतिबिम्ब समामता शुद्धा शान्तस्वाभावाश्च अद्वयस्तथता समा । महायानविशक ।। तथाअनादिनिधनम् शातम् भावाभाव विवर्जितम्, निर्विकल्पम् निरालम्बमनवस्थितमद्वयम् ।। १ ।। चित्तविसुद्धि प्रकरण । १३०. महायानसूत्रालकार पृ० ६४ । १३१ चर्यापद पृ० १५० । १३२ चर्यापद पृ० १४१ । १३३ आइ रहिय एहु अन्तरहिअ, वरगुरूपाअ अद्वअ कहिअ । बा० दोहाकोप पृ० ७ तथा टीका पृ० ७० । १३४ हउ सुण्ण, जग सुण्ण, तिहुअण सुण्ण । पृष्ठ ८, दो बा० १३५ सअलाआरहि गअण सम्पुण्णा । १६ । पृ० ११ बा० दोहा १३६ अण्ण तरग कि अण्ण जल भवसम खसम सरूअ । बा० दोहाकोप पृ०

३१। १३७. बा० दोहाकोष पृ० ३१। १३८. पृ० ४० बा० दो० तथा तिलोपा बा० दोहाकोष पृ० ५। १३९ बा० दोहाकोष पृ० ४१। १४० वही पृ० ४। १४१ वही पृ० ६। १४२ वही पृ० ४१। १४३ चर्यापद १ तथा १०। १४४. दे० वज्रज्ञान। १४५. दे० पीछे "शून्यवाद"। १४६. भावग्राहम् परित्यज्य नाभावम् कल्पयेद् बुध, वरम् हि भावसंकल्पो तत्वभाव प्रकल्पना। निर्वानि ज्वलितो दीपो निर्वृत का गतिम् व्रजेत्। ६। प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि पृ० ४। १४७ ६ वा चर्यापद काराहपा, २९ वा चर्यापद लुईपा, ३० वा चर्यापद भुसकुपा पृ० १३६, सरहपा, बा० दो पृ० ६४, सरहपा बा० दो० पृ० ११६। १४८ तिलोपा बा० दो० पृ० ६। १४९ देखिये पीछे लोकधर्म। १५० देखिये आगे महासुख। १५१. ब० दोहाकोष पृ० १४५। १५२ देखिये पीछे "माध्यमिक सम्प्रदाय और तन्त्र"। १५३. "चित्ता ज्ञान ज्ञेयादि, अचित्तो नि स्वभावादि। बा० दोहाकोष टीका पृ० ११८। १५४. वही पृ० ३९। १५५ वही, पृ० ४, ७। १५६ सोगेन सिस्टम्स० पृ० २५७। १५७ वही पृ० ४१। १५८ बा० चर्यापद, पृ० १०७। १५९. आयतनेन्द्रियादि गगनम् प्राप्तारिण। खसम बीजम् यत् खसमम् याति। बा० चर्यापद, पृ० ५३। उपरोक्त चर्या मूल ताडपत्र लिपि में नही प्राप्त हैं। बागची ने तिब्बती अनुवाद की छाया दी है। १६० चर्यापद, पृ० १३१। १६१ सुनापान्तर उह न दीसइ भान्ति न बाससि जान्ते। १५ वी चर्या, चर्यापद पृ० १२२। १६२ बा० दोहाकोष, पृ० ७। पृ० ५६। बा० चर्यापद, पृ० १४१। १६३ बा० दो० पृ० ३२। १६४ बा० चर्यापद, पृ० १४९। १६५ सर्वे भावा स्वभावेन प्रतिबिम्ब समामता। शुद्धा शान्तस्वभावश्च अद्वयस्तथता समा। महायान विंशक। १६६ बा०दोहाकोष, पृ० ४२। १६७ वही,पृ० ४६, १६८ वही, पृ० ४७ तथा पृ० १३। १६९ वही, पृ० १०४। १७० वही, पृ० ४३। १७१ वही, पृ० ६१। १७२ वही, पृ० ८६। १७३. वही, ६३। १७४. वही, पृ० ३। १७५ वही, पृ० ६९। १७६ वही,पृ० २५। १७७ वही,पृ० ८। १७८। वही, पृ० १२२। १७९. वही,पृ० १३१। १८०. वही, पृ० १७। १८१ जहि मण पवण ण सचरइ रवि ससि णाह पवेस। तहि वढ चित्त विसाम करु सरहें कहिअ उएस। तथा इसकी टीका पृ० ९६ बा० दोहा०। १८२ णित्तरग सम सहजरूअ असल कलुस विरहिए। पाप पुराण रहिए कुच्छ णाहि काणह फुड कहिए ॥१०॥ तथा टीका, बा० दो०, पृ० १५४। १८३ वा चर्यापद, पृ० १४९। १८४ देखिये पीछे 'सहज'। १८५ बा० दोहाकोष पृ० ४८। १८६. वही, पृ० १२७। १८७ टीका बा० दोहाकोष पृ०

१२६ । १८८ तिलोपा, पृ० ३, बा० दो० । १८९ बा० दो० पृ० ४८ । १९० वही, पृ० २६ । १९१ वही, पृ० ३९, छन्द १०८, १०९, ११० । १९२ इस पचक्रम प्रणाली का उल्लेख प्रथम चर्या की टीका मे कई बार मिलता है। देखिये बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० २ । साथ ही डोम्बीपा इस पचक्रम को ही भव-सागर से पार उतारने वाले केडुआल मानते हैं। देखिये १४वें चर्यापद की टीका बौद्ध गान ओ दोहा पृ० २६ । १९३ शून्य रचति शून्यच महाशून्यम् तृतीयकम् । चतुर्थम् सर्वशून्यच फल हेतु प्रभेदत ॥ दासगुप्त द्वारा उद्धत । १९४ दासगुप्त, आब्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स, पृ० ५३ । १९५ पत्तो चउठ्ठ चउ मूणाल ठिअ महासुह वासे ॥५॥ पृ० ४० दोहाकोष, बागची । १९६ शून्यातिशून्य महाशून्य सर्व्वशून्यमिलत चतु शून्यस्वरूपेण पत्रचतुष्टयम् चतुरादिस्वरूपेण चतुर्मृणाल सस्थिता । टीका बा० दोहाकोष पृ० १५१ । १९७ ५०वाँ चर्यापद तथा टीका, बौद्धगान ओ दोहा पृ० ९५ । १९८. दोहा ६ तथा टीका पृ० १५१ बा० दोहा-कोष । १९९ महाप्रज्ञा महोपाय महाकृपाधिमोचत , महायानसमुद्दिष्टम् महासत्वस्य गोचरम् ॥८४॥ चित्तविशुद्धिप्रकरण पृ० ६ । २०० सातवलेकर, अथर्ववेद का स्वाध्याय पृ० २० । २०१. बा० चर्यापद पृ० १३६ । २०२ सुजुकी—आउट-लाइन्स आफ महायान बुद्धिज्म, पृ० २९८ । २०३ एस० बी० दासगुप्त, इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृ० ११०, १११ । २०४ दीवान नर्मदाशकर मेहता, कल्याण, (शक्ति अक) पृ० ५४४ तथा आगे । २०५ बागची, चर्यापद पृ० ११० । २०६ वही, पृ० १२७ । २०७. बौद्धगान ओ दोहा पृ० ५६ । २०८ सुजुकी, आउटलाइन्स आफ महायान बुद्धिज्म, पृ० ६३ । २०९ देखिये पीछे पृ० । २१० वीर्य पारमिता सहगतो वज्रोपमो दृढात्वाद भेद्यत्रया । महायान-सुत्रलकार पृ० १६ । २११ बोधिचित्तम् सावृतस्पन्दरूपम् शुक्रम् रजोभूषितम् तन चित्तवज्रेणश्लिष्टम् ॥ टीका पृ० १५० बा० दोहा० । २१२ एवम् वीजम् गृहीत्वा कुसुमितम् अरविन्दम् कमलम् मधुकररूपेण चित्तवज्र, प्रज्ञोपाय योगात् .. . टीका पृ० १५१, बा० दोहाकोष । २१३ करुणाशून्यता मूर्तिः काल सम्वृत्ति रूपिणी, पृ० ८ सेकोद्देश टीका । २१४ स एव काल चन्द्रो भगवान प्रज्ञोपायात्मको ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्धेत्मो यथाक्षर सुखज्ञानम् सर्वसवरण क्षय हेतुभूतम् काल इत्युक्तम् । उपाय करुणात्मक । 'सेकोद्देश'टीका । २१५ दोहाकोष टीका पृ० १५१, १५२ २१६ बा० दोहाकोष पृ० ५ । २१७ बा० दोहाकोष टीका पृ० ६७ । २१८ बा० दोहाकोष पृ० ११९ । २१९ सर्वे ते शुद्ध भावाहि । यस्मात् वुद्धमयम्

जगदिति। टीका पृ० ७०, बा० दोहाकोष। २२० १३वी चर्या तथा टीका बौद्धगान ओ दोहा, पृ० २५। २२१ बा० दोहाकोप, पृ० ११। २२२ देखिये 'देवशृङ्खला'। २२३ सर्वे ते वैरोचनादयस्तयागत रूपादि पच स्कन्ध रूपेण जगदाकारस्तेपाम्...वज्रधर—शरीरमित्यर्थ। बा० दोहाकोप पृ० १६२। २२४ सकीर्ण दोहा सग्रह पृ० ५६, बा० दोहाकोष। २२५ बौद्ध गान ओ दोहा, ४६वी चर्या की टीका पृ० ७०। २२६. ए० गेटी, गाड्स आफ नार्दन बुद्धिज्म; पृ० ११। २२७ दोहाकोष, बा० पृ० १६२। २२८ महायान श्रद्धोत्पाद सूत्र। सुजुकी। पृ० ५५, ५८। २२९ बा० दोहाकोष, पृ० ७०। २३० बा० दोहाकोष। पृ० १४९। २३१. वही पृ० ४०। २३२ ज्ञान सिद्धि, पृ० ४३। २३३. बा० दोहाकोष पृ० ६५। २३४ वही, पृ० ६७। २३५ वही पृ० ६५। २३६ डाकार्णव, पृ० ५४। २३७ ज्ञानसिद्धि पृ० ३८। २३८ महायानसूत्रालकार ११।१८। २३९. णिम्मल सहजे पाप ण पुण्ण, तिलोपा बा० दोहाकोष पृ० ८। २४० ज्ञानसिद्धि पृ० ३८, श्लोक ६६, ७१।

ख

१ बा० चर्यापद, पृ० १०७। २ बा० दोहाकोष, पृ० ६१। ३ भुसुकुपा, पद २१ बा० चर्यापद, पृ० १२८। ४ महीधरपा, पद १६, बा० चर्यापद, पृ० १२३। ५ बा० दोहाकोष, पृ० १५०। ६ देखिये पीछे, सम्वृत सत्य। ७ देखिए पीछे, त्रिकवाद। ८ दास, शक्ति आर डिवाइन पावर, पृ० ११८। ९ 'विमल सलिल सोख जाइ जइ कालाग्नि पइट्ठइ,' काण्हपा, बा० दोहाकोप, पृ० १५६। १० 'वोहि रअभू सिअ अक्खोहेहि सिट्ठओ काण्हपा, वही, पृ० १५०। ११ 'महोत्साहा महारम्भा महार्थाथ महोदया' महायान सूत्रालङ्कार, पृ० १४। १२ महायान सूत्रालङ्कार, श्लोक १५, २०, पृ० ७६। १३ दे० आगे अध्याय ४। १४. बौ० गा० ओ० दो०, पृ० ४२। १५ बागची दोहाकोष, पृ० ११। १६ बा० दोहाकोष, पृ० ७, ६२, १५८, १६०। १७ बा० चर्यापद, पृ० १०७। १८ ब० दोहाकोष, पृ० ३७। १९ वही, पृ० ६३। २० दे० पीछे, रसेश्वर सम्प्रदाय, २१ चित्तविशुद्धि प्रकरण, पृ० ४। २२ बा० दोहाकोप, पृ० १०१। २३ बा० दोहाकोप, टीका भाग, पृ० ९८, पृ० १००। २४ सरहपा, दोहा ५१ बा० दोहाकोप, पृ० २६। २५ सरहपा, दोहा ६९, बा० दोहाकोप, पृ० ३१। २६ काण्हपा, दोहा १९ तथा टीका, बा० दोहाकोप, पृ० १५८। २७ सरहपा, पद २२, तथा टीका, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ३९। २८ बा० दोहाकोप, पृ० २६। २९ बा० चर्यापद, पृ० १२८। ३०. पद १२ स्वा० चर्यापद,

पृ० ११६ । ३१. बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० २३ । ३२ बा० दोहकोष, पृ० ३, ३३ वही, पृ० ४ । ३४ वही, पृ० ७ । ३५ सर्व दर्शन सग्रह, कावेल तथा गफ पृ० १३८ । ३६ ब० दोहाकोष, पृ० ५ । ३७ अमनस्कार बाहुल्यम् कौशीद्यम् योग विभ्रम १०, ४ महायान सूत्रालङ्कार । ३८ अमितमयालकारालोक टुची-सस्करण पृ० ११५ । ३९ सोगेन, सिस्टम्स आफ बुद्धिस्ट थाट, पृ० १४२ । ४० सोगेन सिस्टम्स आफ बुद्धिस्ट थाट, पृ० २१६ । ४१. बा० दोहाकोष, टीका भाग, पृ० ६२ । ४२ 'सोवि मणु ताहि अमणु करिज्जइ' तथा टीका' बा० दोहाकोष, पृ० १३१ । अद्वयवज्र ने 'अमनसिकार' शब्द की व्याख्या करते हुए 'अ' को तान्त्रिक बीजाक्षर बताया है। वह नैरात्म्य-स्वरूप, वर्णों मे अग्रणी, महार्थयुक्त, परमाक्षर, महाप्राण और स्वर होने के नाते अनुत्पादक है। अद्वय-वज्र-सग्रह, पृ० ६२ । ४३ विसअ रमन्त ण विसअ विलिप्पइ, ऊअर हरइ ण पाणी छिप्पइ । तथा टीका, बा० दोहाकोष, पृ० १२३ । ४४ बा० दोहाकोष, पृ० ३४ । ४५ बा० चर्यापद, पृ० ११८ । ४६ काण्हपा बा० दोहाकोष, पृ० १६३ । ४७. प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि, पृ० ५, श्लोक १५, ४५ । ४८ बा० दोहाकोष, टीका भाग, पृ० १६२ । ४९ बा० दोहाकोष, टीका भाग, पृ० १६३ । ५० महारागानुरागेण महाराग स्वभावत, महाराग समाधिस्थो महामुद्रा प्रसाध्येत् । सुभाषित सग्रह, बेण्डेल । ५१ दे० आगे, "उपलब्धि"––मूल्याकन । ५२ बा० दोहाकोष, पृ० ४ । ५३ वही, पृ० ७ । ५४ वही, पृ० ९ । ५५ वही, पृ० १८ । ५६ बा०, दोहाकोष, पृ० १८ दोहा १८ । ५७ बा० दोहाकोष, पृ० २१, दोहा ११ । ५८. बा० दोहाकोष, पृ० २२ । ५९ वही, पृ० ३० । ६० वही, पृ० ३१ । ६१ वही, पृ० ३६ । ६२. बा० चर्यापद, पृ० १४४ । ६३. बा० चर्यापद, पृ० १३३ । ६४ बा० चर्यापद, पृ० १०७ । ६५. बा० चर्यापद, पृ० १५१ । ६६ बा० दोहाकोष, पृ० ३ । ६७. वही, पृ० २६ । ६८ वही, पृ० १३ । ६९ वही, पृ० ६ । ७० वही, पृ० २७ । ७१ विश्वभारती मार्च १९४५, पृ० १९, २० । ७२. दे० पीछे, तन्त्र, पृ० ७३ कुछ आगमो मे मध्य-प्रदेश, कुरुक्षेत्र, कोकण आदि मे प्रथम श्रेणी, गौड, शाल्व, मगध, केरल, कोशल आदि मे द्वितीय तथा कर्णाटक, कच्छ, कलिन्द और कम्बोज मे तृतीय श्रेणी के गुरु बताये गये है। बागची, स्टडीज इन तन्त्राज, पृ० १८ । ७४ साम्नाया सन्ति ये केचिद् प्रज्ञोपायार्थदेशका ...प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि पृ० ६ । ७५ वज्राचार्याराधन निर्देश, प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि, पृ० १० । ७६ गुह्य समाज तन्त्र, पृ० १३७, १३८ । ७७ 'गुरुर्बुद्धो भवेद्धर्म सघश्चापि स एव हि' ज्ञानसिद्धि।

७८ गुरो राज्ञाञ्च मुद्राञ्च छायामपि न लघयेत्, चित्त विशुद्धि प्रकरण, पृ० ६, श्लोक १३१। ८० बा० दोहाकोष, पृ० १०। ८१ दे० पीछे, 'वज्रयान' ८२. द्विवेदी, ककीर, पृ० २५। ८३ राहुल, हिन्दी काव्यधारा, भूमिका, पृ० ४७, ४८। ८४ दे० आगे, साम्प्रदायिक स्थिति। ८५ दे० आगे, साम्प्रदायिक स्थिति। ८६ बा० दोहाकोप, पृ० ६६, ६७, ६१, ११४, १२१, १६२। इन आलोचनाओ पर आगे 'साम्प्रदायिक स्थिति' के अन्तर्गत विचार किया गया है। ८७. देखिए पीछे, अध्याय २, ख, टिप्पणी सख्या ६०। ८८. अद्वय वज्र सग्रह, पृ० ३। ८६ राहुल जी का भी ऐसा अनुमान है। हिन्दी काव्यधारा, भूमिका, पृ० ४८। ६० साधनमाला, खड १ पृ० ८०। ६१ साधनमाला, खड १, पृ० ८३। ६२ साधनमाला, खड २, पृ० ३८४ तथा आगे। ६३ त कुरुकुल्ला रूप करिये ह्यग्र, अहखिसि वीअ हन्ते दहयग्र, गुरु वअरण दिढ करि माणहु, भणह सवरपा विसडा करे हाणहु। ६४ पोडष भुजा महाकाल साधनम्, साधनमाला, खड २, पृ० ५६७। ६५ महामायासाधनोपायिका, साधनमाला, खड २, पृ० ४६६। ६७. प्रज्ञालोक साधनम्, साधनमाला, खड २, पृ० ४२६। ६८ दे० पीछे, अध्याय ३ क, बुद्ध। ६६. बा० दोहाकोष, पृ० ६६। १०० वही, पृ० ६७। १०१. वही, पृ० १५। १०२ वही, पृ० १५६। १०३ एकाराकृत यद्दिव्यम मध्ये वकार भूषितम्, आलयः सर्वसौख्यानाम् बुद्ध रत्नकरण्डकम् हेवज्र से उद्धृत बा० दोहाकोष, पृ० १५६। १०४ बा० दोहाकोष, पृ० १५६। १०५ अवधूइ किअ मूल णाल हङ्कारो टीका, बा० दोहाकोष पृ० १५०। १०६ मैन्युएल आफ ए मिस्टिक पृ० १। १०७ मैन्युएल आफ ए मिस्टिक, पृ० १८। १०८. मैन्युएल आफ ए मिस्टिक, पृ० २४। १०६ चतुर्वेदी, तिलोपा हिन्दुस्तानी। ११० पद २६, बा० चर्यापद, पृ० १३१। १११. इसी कारण डा० बागची को यह भ्रम है कि सभी सिद्धो और सन्तो की जातियाँ चर्या की परिचायक है, ११२ दे० पीछे, सामाजिक स्थिति। ११३. मैन्युएल आफ ए मिस्टिक, पृ० ४, ५। ११४ साधनमाला, खड २, पृ० ४५८, ४६६। ११५. बा० दोहाकोष, पृ० ५६। ११६ सेकोद्देश टीका, पृ० ४८१। ११७ बा० दोहाकोप, पृ० ३७। ११८ वही, पृ० २२। ११६ अद्वय वज्र संग्रह मे सकलित। १२० 'घर अच्छइ बाहिरे पुच्छइ' तथा टीका, बा० दोहाकोप पृ० १२१। १२१. बा० दोहाकोष, पृ० ३०। १२२. देह नअरी विहरइ एकाकारे, पद ११, बा० चर्यापद, पृ० ११८। १२३. बाहअ काअ काण्हिल माआजाल, पद १३, बा० चर्यापद, पृ० १२०। १२४ काआ

नावडि खाट मन केडुआल, पद ३८, बा० चर्यापद, पृ० १४४। १२५ सरहपा दोहा ४७, ४८, बा० दोहाकोष, पृ० २५। १२३ टीकाभाग बा० दोहाकोप, पृ० १३३। १२७ पुरश्चयार्णव भाग २, पृ० ४६०। १२८ दासगुप्त, आव्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स, पृ० १०४। १२६ ज्ञानसिद्धि, पृ० ४४ श्लोक ३८। १३०. ज्ञानसिद्धि, श्लोक ३७, पृ० ४४। १३१. कारहपा, १६वाँ दोहा, बा० दोहाकोष, पृ० ४३।

ग

१. बा० दोहाकोष, पृ० १५२, १५३। २ कारहपा दोहा, ३, ४ तथा टीका, बा० दोहाकोप, पृ० १५०। ३. 'एवकार वीअ लइअ कुसुमिअ अरविन्दए' तथा टीका, बा० दोहाकोष, पृ० १५१। ४ दासगुप्त, इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृ० १२४। ५. एकारस्तु भवेत् माता वकारस्तु पिता स्मृत एकारस्तु भवेत् प्रज्ञा वकार सुरताधिप .बैरडेल, सुभाषित-सग्रह, पृ० ७६। ६ टीका भाग, बा० दोहाकोप, पृ० १५२। ७. इरिडयन हिस्टारिक क्वार्टरली, खरड ६, पृ० ३६४, तथा बा० दोहाकोष, पृ० ६६। ८. वोल कक्कोल योगेन स्पर्शात् काठिन्य धर्म्मरण ...पृथ्वी तत्र जायते, बा० दोहाकोष, पृ० १५२। ६ ज्ञानसिद्धि, पृ० ४२। १०. टीकाभाग, बा० दोहाकोष, पृ० १५२ तथा १५३। ११ मैन्युएल आफ ए मिस्टिक, पृ० १ तथा भूमिका, पृ० १३। १२ दे० पीछे, अध्याय ३ ख, टिप्पणी सख्या १०३। १३. मैन्युएल आफ ए मिस्टिक, पृ० ८। १४. वही, पृ० २२। १५. दुक्ख दिवाअर अत्थगउ उवइ तरावइ सुक्क। सरहपा, बा० दोहाकोष, पृ० ३७ तथा उइअ रे . गअरण मजो अद्भूआ उइअ उरे भुसुकु तारा। सेकोद्देश टीका मे उद्धत, पृ० ४८१। १६. अद्वय वज्र सग्रह, पृ० ३३। १७ मैन्युएल आफ ए मिस्टिक, पृ० ८। १८. बा० दोहाकोष, पृ० ६६। १६ महारत्नम् सकूर्परम् रक्तचदन योजितम्। प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि, पृ० १३। २० इरिडयन हिस्टारिकल क्वार्टरली, खरड ६, पृ० ३६४। २१. बा० दोहाकोष, पृ० ६८। २२ अद्वय वज्र सग्रह, पृ० ३३। २३ मैन्युएल आफ ए मिस्टिक, पृ० १८। २४ दे० आगे, मुद्रा मैथुन (इसी अध्याय में) २५. सेकोद्देश टीका, पृ० ३६। २६ गुह्य समाज तन्त्र, पृ० १६२। २७ वही, पृ० १६२। २८. वही, पृ० १६३। २६. सेकोद्देश टीका, भूमिका, पृ० २०। ३०. मैन्युएल आफ ए मिस्टिक, पृ० १८, २२। ३१ गुह्य समाज तन्त्र मे भी पाँच ज्ञानमय श्वास प्रक्रियाओ के साथ पंचमहाभूतो को नासाग्र पर स्थिर कर ध्यान करने का

विधान है। पृ० १६३ ३२ बा० दोहाकोष, पृ० १५६, १५७। ३३ वही, पृ० १६१। ३४. ऊँचा-ऊँचा पावत तहि वसइ सवरी वाली तथा टीका, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ४४। ३५. सेकोद्देश टीका, पृ० २८। यहाँ सभोग चक्र की स्थिति कण्ठ के बजायी ललाट मे मानी गई है। हेवज्रतत्र की कुछ अमुद्रित प्रतियो में निर्माण चक्र की स्थिति नाभि के बजाय उपस्थेन्द्रिय के पास मूल स्थान मे मानी गई है। इन्ट्रो० तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृ० १६३। इस प्रकार इस विषय में कुछ मतभेद मिलता है। ३६ दासगुप्त, इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक, बुद्धिज्म, पृ० १६३। ३७. दासगुप्त, इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक, बुद्धिज्म पृ० १६७। ३८ सेकोद्देश टीका, पृ० २७। ३९ इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृ० १६३। ४०. मैन्युएल आफ ए मिस्टिक, पृ० ६६। ४१ दे० टिप्पणी, ३५। ४२. पटचक्र निरूपण, पृ० ७, ८, श्लोक ४ तथा ५। ४३. वही, पृ० १६, श्लोक १४। ४४ षटचक्र निरूपण, पृ० २२, २३, (टीका)। ४५ षटचक्र निरूपण, पृ० २५, श्लोक २२। ४६ पटचक्र निरूपण, पृ० ३०, श्लोक २८। ४७ पटचक्र निरूपण, ३५, (टीका)। ४८ षटचक्र निरूपण, पृ० ४९. श्लोक ४०। ४९. हेवज्र तन्त्र मात्र इसका अपवाद है। ५० मैन्युएल आफ एक मिस्टिक, पृ० १८, २२। ५१ दे० पीछे, चतुर्विध शून्य, अध्याय ३ क। ५२. बा० दोहाकोष, पृ० १५१। ५३. पद २३, बा० चर्यापद पृ० १३०। ५४ बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० १६६। ५५ पद २७, बा० चर्यापद, पृ० १३२। ५६ टीका भाग, बा० दोहाकोष, पृ० ७१। ५७ बा० चर्यापद, पृ० ११६। ५८. बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० २०। ५९. 'द्वत्रिंश नाडिका,' टीका भाग, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० २१। ६०. दासगुप्त, एन इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृ० १६७। ६१ काण्हपा, दोहा ४, ५, तथा टीका, बा० दोहाकोष, पृ० १५०, १५१। ६२ एक से शुण्डिनि दुइ घरे सान्धअ, पद ३, तथा टीका, बौ० गा० दो०, पृ० ७। ६३ तिअड्डा चापि जोइनि दे अंकवाली, पद ४, तथा टीका, बौ० गा० दो० पृ० ९। ६४ वामनासापुटे प्रज्ञा-चन्द्र स्वभावेन ललना स्थिता, टीका, बा० दोहाकोष, पृ० १५१। ६५. दक्षिण नासापुटे उपाय सूर्य स्वभावेन रसनास्थिता, टीका, बा० दोहाकोष, पृ० १५१। ६६. क्लेशानि पापानि धुनोतीत्यवधूती, बा० दोहाकोष पृ० १५०। इसके अति-रिक्त रजकी रूप मे भी अवधूती की एक व्याख्या मिलती है, अनादि भाव विक-ल्पान् च धूत्वा प्रकृति परिशुद्धावधूतीरूपेण (पद २ की टीका) अर्थात् जो भाव विकल्पो का प्रक्षालन कर नैरात्म्य स्वभाव की प्राप्ति कराए। ६७ पद १४ की

टीका, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० २६ । ६८. 'दशमि दुआरे तें', पद ३ की टीका, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ८ । ६९. दासगुप्त, इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृ० १७१ । ७० दासगुप्त, इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृ० १७३ । ७१. बागची, स्टडीज इन तन्त्र, पृ० ६५ । ७२ पद १५ की टीका, बौद्धगान ओ दोहा पृ० २१, २२ । ७३. पद १८ की टीका, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ३२, ३३ । ७४ बा० दोहाकोष, पृ० १५६ । ७५ बा० चर्यापद, पृ० १०७ । ७६. बा० दोहाकोष, पृ० ३० । ७७ चित्त का विशोधन, दे० पीछे, अध्याय ३, ख । ७८ बा० दोहा कोप, पृ० ६३ । ७९ पद २, तथा टीका, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ६ । ८०. बा० दोहाकोष, पृ० ९४ । ८१ अधो न गच्छति ऊर्ध्व न गच्छति टीका, बा० दोहाकोष । ८२ बा० दोहाकोष, पृ० ४२ । ८३ पद २ तथा टीका, बौद्ध गान ओ दोहा । ८४ मैन्युएल आफ ए मिस्टक, पृ० १, २ । ८५ बा० दोहाकोष, पृ० ४३ । ८६ काण्हपा के दोहा, २१ तथा २२ की टीका, बा० दोहाकोष, पृ० १६० । ८७ मणिकूले बाहिआ ओडिआणे समाअ, गुण्डुरीपा, पद ४, बा० चर्यापद, पृ० ११० । ८८ अध उधाडिय आलोअणे ज्झाणें होई रे थित्ति तिलोपा तथा टीका, बा० दोहाकोष, पृ० ७१ । ८९. बा० चर्यापद, पृ० १५३ । ९० बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ९२ । ९१. सेकोद्देश टीका मे पाच नाडिया तथा उनके अधिष्ठाता पाँच तथागत बताये गये हैं, पृ० ५१ । ९२ बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० १० । ९३. सरह, दोहाकोप पृ० १३५ । ९४ द्रष्टव्य, बौद्ध गान ओ दोहा, टीकाभाग, पृ० २४ । ९५ टीकाभाग, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० १० । ९६ दासगुप्त, इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृ० १८४ । ९७ सेकोद्देश टीका, पृ० ५, ६ । ९८ बा० दोहाकोप, पृ० ६८ । ९९ वही, पृ० ६९ । १०० वही, पृ० ३६ । १०१ वही, पृ० ६८ । १०२. वही, पृ० ६८ पर उद्धृत । १०३ चतुर्मुद्रा, अद्वयवज्र-सग्रह, पृ० ३२ । १०४ बा० दोहाकोष, पृ० १४१। १०५ वही, पृ० ६८। १०६ विचित्रम् विविधम् ख्यातम् आलिंगन चुम्बनादिकम् ..आदि, बा० दोहाकोप, पृ० ६८ पर उद्धृत । १०७ बा० दोहाकोष, पृ० ७० । १०८. चतुर्मुद्रा, अद्वय वज्र सग्रह, पृ० ३२। १०९ श्री सम्पुट में लोचना, मामकी, पाण्डरा तथा तारा को क्रमश कर्म, ज्ञान, महा तथा समय मुद्रा माना गया है । दासगुप्त, इन्ट्रोडक्शन, टु तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृ० १६५ । ११०. "भव मुद्दें सअल हि जग वाहिउ". तथा टीका, पृ० ९६ । १११. मुद्रयते लक्षणेनेति मुद्रणम् तेन भण्यते । ११२. दे० पीछे,

तन्त्र, मुद्रा। .. ११३ बा० दोहाकोष, पृ० ६८। ११४. वही, पृ० ६८। ११५. टीका भाग, बा० दोहाकोष, पृ० ६८। ११६. कर्मया कायवाक्चित्त चिन्ता तु प्रधाना मुद्रा कल्पना-स्वरूपा तस्याम् आनन्दम् जायते। चतुर्मुद्रा, अद्वय वज्र सग्रह, पृ० ३२। ११७. बाद में तो बौद्ध तन्त्रो मे अगणित नाम मिलते हैं। इन्द्रा, वज्री, यमा, गौरी, वारुणी, वारियोगिनी, कौबैरा, वज्रडाकिनी, नैरात्मयोगिनी, ऐशाना, वुक्कसी, पावका, राक्षसा, आशया, वायव्या, चौरिका, वैताली, भूचरी, खेचरी, आदि साधनमाला, खण्ड २, पृ० ३४४, ३४५। ११८. देखिये, अध्याय ४ ख। ११९. प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि, पृ० २२। १२०. वही, पृ० २३। १२१. चित्त विशुद्धि प्रकरण, पृ० ८। १२२. गम्यागम्म विकल्पम् तु भक्ष्या-भक्ष्यम् तथैव च, पेयापेयम् तथा मन्त्री कुर्यान्नैव समाहित.। सर्ववर्ण समुद्भूता जुगुप्सा नैव योपित, सैव भगवती प्रज्ञा सम्वृत्यारुपमाश्रिता। लक्ष्मीकरा, अद्वय-सिद्धि, अमुद्रित, किन्तु बुद्धिस्ट, एसोटेरिज्म में अशत उद्धृत, पृ० ७७। १२३ प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि, पृ० ११। १२४. अथ सर्वालकार युक्ताम् द्वादशा-ब्दाम् सुकन्याम् विशति वर्ष पर्यन्ताम्. आदि, सेकोद्देश टीका, पृ० २४। १२५. प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि, पृ० २४। १२६. वही, पृ० २४। १२७. ज्ञानसिद्धि, पृ० ७८। १२८ हठयोग प्रदीपिका, तृतीयोपदेश, श्लोक ९०, १०५, पृ० ११९ तथा आगे। १२९. मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ, पृ० ८। १३० वही, पृ० ११। १३१ वही, पृ० १२। १३२. अद्रे श्रृंगहरित पवन. किंस्विदित्युन्मुखीदृष्टोत्साह चकित चकितम् मुग्ध सिद्धागनाभि। मेघदूत, कालिदास ग्रन्थावली, पृ० ३४५। १३३. साधनामाला, पृ० ४६०। १३४. बा० चर्यापद, पृ० १२४। १३५ अद्वयवज्र सग्रह, पृ० १३। १३६. "अर्द्धरात्रौ प्रज्ञाज्ञानाभिषेकम्", टीका चर्यापद १। 'अर्द्धरात्रौ चतुर्थी सन्ध्यायाम' टीका चर्यापद २। १३७. हउ कापालिक। चर्याधरश्च टीका, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० २०। १३८ सेकोद्देश टीका, पृ०२७ तथा भूमिका पृ०२०। १३९. टीक भाग, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० १४३। १४०. दे० आगे, सिद्धो की सम्प्रदायिक स्थिति। १४१ सेकोद्देश टीका, पृ० १७। १४२. तेन गन्धादिकम् मण्डल वाह्ये न रजो-भूम्याम्। रजो मण्डल भगवत कायोज्ञेय. .सेकोद्देश टीका, पृ० १७। १४३ डिअ णिभ्भाणे जिम्मिअउ तेण वि मण्डल चक्क, तथा टीका बा० दोहाकोप, पृ० १४३। १४४. द्रष्टव्य, गुह्य समाज तन्त्र मे आकाश धातु के मण्डलो का उल्लेख, पृ० २५। १४५. टीका भाग, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० २०। १४६.

गुह्य समाज तन्त्र, पृ० ३३ । १४७ एक्कु ण किज्जइ तन्त्र न मन्त, निअ घरिणी लइ केलि करन्त, ऐसो जप होमे मण्डल कम्मे, अणुदिण अच्छसि काहिउ धम्मे ... बागची दोहाकोष, पृ० १६२, १६३ । तथा—न मन्त्र जापो न तापो न होमो न माण्डलेयच, न मंडलम्म स मन्त्र जाप स तपःसहोम तन्माण्डलेयम् तन्माण्डलम् च । अद्वयवज्रसग्रह, पृ० ३५ । ऐसे सिद्ध को चर्याधारी कहते थे चाहे वह चर्या करे या न करे—अद्वयवज्रसग्रह, पृ० ४९ । किन्तु यह बौद्धो की ही विशेपता नही थी यह स्थिति तो सभी तान्त्रिक पद्धतियो मे मान्य थी । १४८. मैन्युएल आफ ए मिस्टिक, भूमिका । २४९. अष्ट साहस्रिका मे वज्रोपम तथा गगनोपम समाधियो का कई बार उल्लेख है । १५०. पग्गोपाअ समाहि लग्गहु, वा० दोहा-कोष, पृ० ६७ । १५१ दे० पीछे टिप्पणी, १२२ ।

घ

१. देखिये 'तन्त्र' (पीछे) । २ साधनमाला, खण्ड २, भूमिका, पृ० ८१ । ३. जन्मौषधि मन्त्रतप समाधिजा सिद्धय, कैवल्यपाद योग रहस्य पृ० १०५ ४ रहस्य ७४, कैवल्यपाद । ५ गुह्य समाज तन्त्र, पृ० १६२ । ६, वही पृ० १५३ । ७ सेकोद्देश टीका, पृ० २७ । अध्याय ७८, श्लोक २०-२९ । ८. ब्रह्मवैवर्त पुराण, कृष्णजन्म,-खण्ड । ९. बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, पृ० ८३ । १०. पातजल योगसूत्र, ३।४५ तथा टीका । ११ साधनमाला पृ० ३५० । १२ वा० चर्यापद, १५, पृ० १२२ । १३ बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म पृ० ८९ । १४ गुह्य समाज तन्त्र, पृ० १८ । १५ वही पृ० ५२ । १६ वही, पृ० १५ । १७ वही पृ० ५३ । १८ बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, पृ० ८९ । १९. गुह्य समाज तन्त्र, पृ० ५७, ११७ । २० वही, पृ० ५५ । २१ दे० पीछे, रसायन, २२ बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म पृ० ८९ । २३. गुह्य समाज तन्त्र, पृ० ६३ । २४ दे० जीवनवृत्त । २५ मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ, पृ० ९ । २६ वही पृ० १४ । २७ वही पृ० १५ । २८ वही, पृ० १५ । २९. वही, पृ० २१ । ३० वा० दोहाकोष, पृ० ६ । ३२ वही, पृ० ६७ । ३३ जौतुके किअ अणुतु धाम वा० चर्यापद, १९, पृ० १२६ । ३४ अतएव जोतकेना क्लेशेनानुत्तरधर्म साचात्कृतम् . टी० वौद्ध गान ओ दोहा, पृ० २४ । ३५. चर्यापद, वसु, पृ० १००—१०३ टिप्पणियाँ । ३६. सर्वाकारज्ञ-ताम् चैव लभ्यतेऽनुत्तरम् पदम् ..१४—४६...महायान सूत्रालकार । ३७ 'अनु-त्तरम् सहजम्' टी० बा० दोहाकोप, पृ० १२२ । ३८. वा० दोहाकोप, पृ० ४३ ।

३९ वा० दोहाकोष, पृ० ४६। ४० सुण्ण करुण तहि समरस इच्छइ...२... तिलोपा, वा० दोहाकोष, पृ० ३। समरस भावाभाव रहिअ...११...ति०, दोहा-कोष, पृ० ४। ४१ तव्वें समरस सहजें वज्जइ णउ सुद्द ण वह्मण—४६... सरहपा...बा० दोहाकोष, पृ० २५। ४२ जत्त वि पइसइ जलहि जल तत्रइ समरस होइ...७४...सरहपा... बा० दोहाकोप, पृ० ३१। ४३ तिन मन रअणा समरस गअण समाअ...४३ वा पद। बा० चर्यापद, पृ० १४९। ४४ चित्त खसम जहि समसुह पइट्ठइ...तिलोपा, बा० दोहाकोप, पृ० ३। ४५. बा० दोहाकोष, पृ० १२ १९। ४६ चर्यापद, सख्या, १, ८, १३, १८, २१, २८, ३४, ४९, ५०। ४७. बा० दोहाकोष, पृ० १३। ४८ वही पृ० २७। ४९. टीका, बा० दोहाकोप, पृ० ६७। ५०. चित्त विशुद्धि प्रकरण, पृ० ३, ४। ५१ खाअन्त पिवन्ते, सुहहिं रमन्ते। अइस धम्म सिज्झइ परलोअह। सरहपा, बा० दोहाकोष, पृ० २० सुख से रमण के अर्थ यह नही थे कि खाओ पिओ और सुख से रमण करो। यह तो पशुता है। इस अज्ञानपरक भोग के ही कारण पुद्गल को पशु कहा गया है। सरहपा, वा० दोहाकोप, पृ० १९। ५२ धम्माधम सो सोहिअ खाइ...सर-हपा, वा०, दोहाकोष, पृ० २३।

अध्याय ४

क

१ सुनीतिकुमार चटर्जी, 'राइज आफ वर्नाक्युलर लिटरेचर', हिस्ट्री आफ बंगाल, प्रथम खण्ड, पृ० ३८७ । २ कपिलदेव द्विवेदी, अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० २६१ तथा पृ० ३८१ । ३ द्रष्टव्य, मीमासकों के शब्द-सम्बन्धी सिद्धान्त । पीछे 'वज्रयान' । कपिलदेव द्विवेदी, अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० ३८ तथा आगे । ५. द्रष्टव्य, पीछे, तन्त्र, पाचरात्र, पृ० ६ कपिलदेव द्विवेदी, अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० ६४ । ७ कपिलदेव द्विवेदी, अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० ६४ । ८ इह स्थाने चित्तम् निरवधि विनिधायात्म सम्पूर्ण योग , कविर्वाग्मी ज्ञानी स भवति नितरा साधक शान्तचेता । टीका : स जीवी जना नितरामतिशय कविर्भवति पटचक्र निरूपणम्, पृ० ३४ । ६ पुरश्चयर्णव, पृ० ५७३, ५७४ । १० सद्धर्म पुण्डरीक कर्न नैन्जियो सस्करण, पृ० ५० । ११. साधनमाला, प्रथम खण्ड, पृ० २१४, २३६ । १२ आर्य जागुली साधनम्, साधनमाला, प्रथम खण्ड, पृ० २५३ । १३ बा०, दोहाकोष, पृ० २० । १४ अक्खरवाढा सअले जगु णाहि निरक्खर कोइ, सरहपा, बा०, दोहाकोष, पृ० ३५ । १५ बा०, दोहाकोष, पृ० ३५ । १६ द्रष्टव्य, पीछे, वोल कक्कोल सावना 'एव' । १७. द्रष्टव्य, पीछे, वज्रयान, देवशृङ्खला का विकास । १८ गुह्यसमाज तन्त्र, पृ० १६३ । १६ वर गुरु वअणे पडिज्जहु सच्चे, सरह भणइ मइ कहिअउ वाँचे . बा०, दोहाकोप, पृ० २२ । अद्वयवज्र ने अपनी टीका मे इस पर कोई व्याख्या नही दी है, किन्तु बागची ने दूसरी अर्द्धाली का सस्कृत रूपान्तर इस प्रकार किया है, 'सरहो भणति भया कथितो वाचा । २० द्रष्टव्य, पीछे, तन्त्र, पचरात्र मत्र । २१ कपिलदेव द्विवेदी, अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० ४६, ५५, ४२, ४३ । २२ एस० के० दास, शक्ति ऐंड डिवाइन पावर, प्रथम अध्याय विशेषतया पृ० ४१ तथा आगे । २३ कपिलदेव द्विवेदी, अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० ५६, ५७ । २४ द्रष्टव्य, पीछे, साधना पद्धति, काय वाक् चित्त वज्र . २५. बा०, दोहाकोप, पृ० १२६ । २६ द्रष्टव्य, पीछे, साधना-पद्धति

वोधिचित्त राग और महाराग ...२७. मणीन्द्र नाथ वसु, पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट, पृ० १३५। २८, बागची, डेवेलपमेण्ट आफ रेलिजस आइडियाज, हिस्ट्री आफ बगाल, पृ० ४२१, तथा स्टडीज इन तन्त्र, पाद टिप्पणी, १, पृ० ३१। २९ देखिए, आगे शैलीपक्ष-चण्डाली, बगाली वधू डोम्बी ३० देखिए पीछे, वज्र-यान।. तथा २८ वी टिप्पणी। ३१. सुकुमार सेन, ओल्ड बगाली टेक्ट्स, पृ० ३८ तथा आगे। ३१. डा० सुकुमार सेन तान्त्रिक ग्रन्थो मे प्राप्त सिद्धो की स्फुट दो पंक्तियो या चार चरणो की रचनाओ को पद कहते हैं और चर्यापदो को चर्यागीत कहते हैं। इन पर हम बाद मे विस्तृत विवेचन करेंगे। देखिये आगे, छन्द योजना, काव्य रूप। प्रस्तुत प्रवन्ध में चर्यागीति को चर्यापद ही कहा गया है और पदो को मुक्तक। ३२ देखिये पीछे, साधना-पद्धति, बाह्य अनुष्ठान, चर्यागीत, चर्यापद, आदि। ३३ साधनमाला, खण्ड २, पृ० ५०१। ३४. मिस्टिक टेल्स आफ लामा, तारानाथ, पृ० ६। ३५ सद्धर्म पुण्डरीक-कर्न नैन्जियो सस्करण पृ० ३९ तथा पृ० ५०। ३६ देखिये पीछे तत्व चिन्तन, प्रज्ञोपाय। ३७ बागची दोहाकोष, पृ० ३१। ३८. सरहपा, बा०, दोहाकोष, पृ० ४७। ३९ विशिष्ट सयोगाच्चर सुखानुभव कस्मिन्नपि कथावेद्यो न भवतीति। तथाच सरहपादा' को पतिज्जइ कासु कहमि अज्ज कडाइअ आउ, पियदसणे हले न टलेसि ससार फुड जाउ —वौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ३५। दोहे का पाठ बागची के अनुसार, दोहाकोष, पृ० ४७। ४०. बागची, दोहाकोप, पृ० ११९। ४१ तिल्लोपा, बागची, दोहाकोप, पृ० ५। ४२. प्रेम पचक अद्वयवज्र सग्रह, पृ० ५८। ४३ चर्यापद,२,३,४,५, १०, ११,१४,१७,१८,१९,२०,२८,४७,५०। इनमे से च० २ तथा च० १४ मे शुण्डिनी तथा मातगी रूप मे नायिका की चर्या का रूपकात्मक वर्णन मात्र है, प्रत्यक्ष प्रणय निवेदन नही है। च० ५ मे हरिण तथा हरिणी का रूपक है। चर्या ११ मे वीर कापालिक के रूप मे साधक का चित्रण है और उसके द्वारा की गई कुछ हत्याओं का सकेत मात्र है। च० ४७ में केवल डोम्वी के घर मे चण्डाग्नि द्वारा लगी हुई आग का वर्णन है। इसके अतिरिक्त काण्हपा के दोहो में भी गृहिणी के प्रति प्रेम निर्देश है जिस पर आगे हम विचार करेंगे। ४४. दे आगे, गृहिणी वधू, ४५. द्र० चर्यापद, १९ तथा टीका, वौद्धगान ओ दोहा। ४६ वागची दोहाकोष, पृ० ४६। ४७ चर्यापद २८ तथा टीका, वौद्ध गान ओ दोहा। ४८. चर्यापद ३, तथा टीका वौद्ध गान ओ दोहा। ४९ चर्यापद १४ तथा टीका, वौद्ध गान ओ दोहा। ५० चर्या-पद २८ तथा टीका, वौद्ध गान ओ दोहा। ५१. चर्यापद २ तथा टीका, वौद्ध गान

ओ दोहा । ५२. चर्यापद १४ तथा टीका, बौद्ध गान ओ दोहा । ५३ कोष्ठक की सख्याएँ, बौद्धगान ओ दोहा तथा बागची के 'चर्यापद' मे दी गई सख्याएँ है। ५४. देखिये पीछे, तत्व चिन्तन, प्रज्ञोपाय, ५५. इस चर्या के अर्थ के विषय मे कुछ मत-भेद है । मुनिदत्त की टीका में थोडा विरोधाभास है और उस पर आधारित वसु महोदय के 'चर्यापद' के मम्मार्थ मे भी वही दोष आ गया है। इस दृष्टि से डा० सुकुमार सेन द्वारा प्रस्तुत अर्थ, ओल्ड बगाली टेक्स्ट्स, पृ० ३, अधिक उपयुक्त जान पडता है । वास्तव मे मुख्य कठिनाई 'बिगोआ' शब्द को लेकर है। इसका अर्थ 'विज्ञान' है किन्तु उसका तात्पर्य मुनिदत्त के अनुसार योगाक्षर सुख के रूप मे लें तो दो विरोधी भावो की स्थिति एक ही पद मे मिलती है । इस दृष्टि से डा० सुकुमार सेन का 'व्यग्रता' अर्थ अधिक उपयुक्त बैठता है । अगली एक पक्ति मे पिता की मृत्यु का जो सकेत है वह इस पद को शृगार के स्थान पर करुण के निकट ले आता है, किन्तु दर्शन-पक्ष की विवेचना करते हुए हम देख चुके है कि चित्त के मरण के अर्थ केवल विशोधन है, अनस्तित्व नही अन्यथा महासुख सगन की सम्भावना नही रह जाती इसीलिये मैंने इसे विप्रलम्भ शृङ्गार मे रक्खा है। ५६. बुद्ध कपाल साधना, साधनमाला, द्वितीय खण्ड, पृ० ५०१ तथा सम्पादक द्वारा सस्कृत-छाया, उसी पृष्ठ की टिप्पणी सख्या १ । ५७ बागची, दोहाकोष, पृ० ५३, ५४ तथा इस चर्यागीति की अग्रेजी मे छाया, ओल्ड बगाली टेक्स्ट्स, पृ० ३४, ३५ । ५८ चौधरी, डाकार्णव । ५९ मुद्रालिगन सयोगाद् वज्रावेश प्रवर्तनात् .. प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि, पृ० २४ । ६० २८ वा पद, बौद्ध गान ओ दोहा । ६१. डोम नारियो (डोमिनियो) के साथ नृत्य-गान की परम्परा अवश्य रही है । लोकोक्ति है, मुँह लगाई डोमिनी, गावे ताल बेताल । ६२. चर्यापद १० तथा ११, बौद्ध गान ओ दोहा । ६३ बौद्धगान ओ दोहा, टीका भाग, पृ० ४२ । ६४. वा० दोहाकोष, टीका भाग, पृ० १४२ । ६५ देखिये आगे, प्रतीक योजना, 'वीर' ६६. भूषण ग्रन्थावली, फुटकर भाग, छन्द सख्या ६२, पृ० ११२ । ६७ सेकोद्देश टीका, पृ० १४, १५ । ६८ सुकुमार सेन, ओल्ड बगाली टेक्स्ट्स, पृ० २४, २५ । ६९ भागीरथ मिश्र, हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० २२ । ७० ये सख्याएँ डा० सुकुमार सेन द्वारा सम्पादित ओल्ड बगाली टेक्स्ट्स की है जिनमे उन्होने प्रत्येक सिद्ध के समस्त पदो को एक साथ सगृहीत कर दिया है जो चर्याचर्य विनिश्चय मे बिखरे हुए मिलते है । ७१ साधनमाला, दूसरा खण्ड, पृ० ३८२ । ७२ ५० वें चर्यापद की अन्तिम पक्तियो की व्याख्या मुनिदत्त ने नही दी है।

२० वें चर्यापद मे उन्होने विगोत्रा का अर्थ योगाचार सुखानुभव दिया है जो उस चर्या के शोक-प्रधान वातावरण मे उपयुक्त नही बैठता। द्रष्टव्य, सुकुमार सेन ओल्ड वगाली टेक्स्ट्स, पृ० ४०। ७३ हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० १५५। ७४ एन एन्थालाजी आफ क्रिटिकल स्टेटमेन्ट्स, पृ० २४३, २४४। ७५ वागची दोहाकोष, पृ० ४, दोहा स० ८, पृ० ११ सं० १६, पृ० २० स० २३, पृ० २०, स० २५, पृ० २४, स० ४४। ७६ अब्भिन्तर चित्त वि मइलियइ बाहिरि काई तवेण, चित्ति णिरजणु कोव धरि मुच्चहि जेम मलेण। पाहुड दोहा, ६१, पृ० १९। तुलनीय, कोडिअ मज्झ एक्कु जइ होइ णिरजणु लीण, काण्हपा, वा० दोहाकोष, पृ० ४०। ७७ जेण निरजणि मणु धरिउ विसयकसायहिं जन्तु, मोक्खह कारण एत्तउउ अवरइ ततु ण मन्तु पाहुड दोहा, ६२, पृ० २०। तथा एक्कु ण किज्जइ तन्त ण मन्त, निअ घरिणी लइ केलि करन्त। काण्हपा, वागची दोहाकोष, पृ० ४५। ७८ वहु सत्थत्थ मरुत्थलिहिं तिसिए मरिअउ तेहि भा० दोहाकोष, पृ० २७।

१ सरहे गहिण गुहिर भ स कहिअ, बागची, दोहाकोष पृ० १९। २. विनयतोष भट्टाचार्य, वुद्धिस्ट एसोटेरिज़्म, पृ० ३५ तथा ७०। ३ इ० हि० क्वा, १९२८ खण्ड ४, अक २, पृ० २९३ तथा आगे। ४. बागची, स्टडीज इन तन्त्राज़, पृ० २७ तथा आगे। ५. वागची, स्टडीज़ इन तन्त्राज, पृ० ७५। ६. डा० दासगुप्त, आब्सक्योर रेलिजस कल्ट्स, पृ० ४७८। ७. हरप्रसाद शास्त्री, डेस्क्रिप्टिव कैटेलाग आफ सस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन द गवर्नमेण्ट कलेक्शन, कालचक्र तन्त्र की विमलप्रभा टीका का उद्धरण, पृ० ७८। ८ बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ८। ९ वागची, स्टडीज इन तन्त्राज़, पृ० ७५। १० अथर्ववेद सहिता, ७-१, ११-८-१० तथा ऋग्वेद सहिता, १-१५२ १०-५५ आदि। ११ देखिये पीछे, तन्त्र, पच मकार, १२ सद्धर्म पुण्डरीक, मूल ३-३६, ३७। १३ सद्धर्म पुण्डरीक, अनुवाद से० बु० ई०, खण्ड २१, पृ० ७०। १४. सद्धर्म पुण्डरीक अनुवाद से० बु० ई०, खड २१, टिप्पणी पृ० ५९। १५. वज्रच्छेदिका, टिप्पणी पृ० २३। १६ सद्धर्म पुण्डरीक मूल, पृ० ५९। १७ वही, पृ० ७१। १८ वागची, स्टडीज इन तन्त्राज, पृ० २८, २९, ३०। १९. चित्तवज्र प्रज्ञोपाय योगात् सुरतमवच्छिन्न महाराग रूपेण विरागदमनद्वीरः। टीका, वागची, दोहा-कोप, पृ० १५१। २० काण्हपा, वागची, दोहाकोष, पृ० १५१। २१. भणइ गुण्डुरी अम्हे कुन्दुरु वीरा, तथा टीका। वौद्ध गान ओ

दोहा, पृ० १० २२ आजि भूसु बंगाली भइली, णिग्र घरिणी चण्डाली लेली। ४६ वाँ पद, बागची चर्यापद, पृ० १५४। २३ ६ठाँ चर्यापद तथा टीका, वौद्ध गान ओ दोहा, पृ० १२, १३, १४। २४ सरहपा, दोहा ७१, वागची दोहाकोप, पृ० ३१। २५ दे० पीछे०, हठयोग, चण्डाली, २६ चर्या २८, पृ० १३३। २७ चर्या १६ वी, पृ० १२६, पटह् मादल आदि के प्रतीकार्थों के लिये देखिये, पीछे, उपलब्धि अनुत्तर, २८ काण्हपा, दोहाकोप पृ० १६२। २९ दोहाकोप, पृ० १६३। ३० वही, पृ० १६४। ३१ वही, पृ० १६४। ३२ 'निज गृहणी, तव-महामुद्रा रूपम् टीका दोहा० पृ० १६३, तथा 'येन कृतम् प्रचंडाली चालि-यितुम् अशक्यत्वात्' .पृ० १६४, दोहाकोप। ३३ चर्यापद, पृ० १२०। ३४ अर्थात् विकाल हो जाय, काल का चय हो जाय, दे० टीका बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ९। ३५ तुलनीय, 'जिघए मअरन्दए' काण्हपा पृ० १५१, दोहाकोप। ३६ ५०वी चर्या, चौथी चर्या, चर्यापद, पृ० १५५ तथा पृ० ११०। ३७ डाकार्णव, भूमिका, पृ० ७। ३८ 'वायुडोम्बी प्रकीर्तिता', साधनमाला, पृ० ४४६। ३९ चर्यापद १४, पृ० १४। ४० चर्यापद १९, पृ० १९। ४१ चर्यापद पृ० ११६। ४२ उपर्युक्त पद की टीका, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० २०। ४३ चर्यापद, पृ० १०८ तथा टीका, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ६, ७। ४४ सेकोद्देश टीका 'वाल प्रौढ वृद्ध प्रजापति सञ्ज्ञकानि प्रथम सेक प्रा'तत्वाद्योगी पयोधराभिपिक्तो वाल इति उच्यते।' पृ० २८। ४६ देखिये पीछे, 'विज्ञानवाद' तथा 'तथता'। ४६ प्रज्ञाभिषेक का समय चौथे अभिषेक का समय वताया गया है। तव योगी पूर्ण सिद्धत्व को प्राप्त करता है। देखिये चर्या १४ की टीका। ४७ या निशा सर्वभूतानाम् तस्याजागति सयमी, यह गीता का प्रख्यात सिद्धात है। ४८ यथा-चित्रकारो रूपम् यक्षस्यातिभयकरम्, समालिख्य स्वयम् भीत' संसारेप्य वुध-स्तथा १०. महायान विंशक। ४९ कामरूप दूसरा पीठ है। इसीलिये देह को पीठ, उपपीठादि का आलय माना गया है। दे० पीछे, 'देह का महत्व'। ५० इस चर्या के रचयिता के विषय मे सन्देह है। हरप्रसाद शास्त्री ने इसे कुक्कुरीपा कृत माना है, या डा० सुकुमार सेन इसे उनके किसी शिष्य की रची हुई मानते हैं। दे० ओल्ड बगाली टेक्स्ट्स, पृ० ३९। ५१. चर्यापद पृ० १२१। ५२. तत्र स्थित्वा सहजयान प्रमत्तागी डोम्बी नैरात्मा ससारार्णवे योगीन्द्र पारम् करोतीति। टीका वौद्ध गान ओ दोहा, पृ० २६। ५३ चर्यापद, पृ० १३२। ५४. देखिये काण्हपा, दोहाकोष तथा टीका, पृ० १५० 'अवधूह किन्न मूलणाल

हंकारों। ५५ देखिये पीछे, निर्वाण संसार माया, पृ० तथा टिप्पणी सख्या १०२। ५६ चित्त विशुद्धि प्रकरण, पृ० २, तथा साधनमाला, पृ० १३३। ५७ वेदान्त सूत्र, शकर भाष्य, २, २, २८। ५८ दे० पीछे, साधना-पद्धति, बोल कक्कोल साधना, पृ० ५९, शुक्र, सरहपा, "उवइ तरावह सुक्क", बा दोहाकोष, पृ० ३७। नवचन्द्र-आर्यदेवपा, चान्दरे चान्द कान्ति जिम पडिमासअ, ३१ वाँ चर्यापद। मेघ, भुसुकुपा, करुणा मेह निरन्तर फरिआ, ३० वाँ चर्यापद। मोरपङ्ख मोरङ्गी पिच्छ परहिण शवरी, २८ वाँ चर्यापद। ६० महायान सूत्रालङ्कार, सस्करण, पृ० १६ श्लोक १५, २०। ६१ यान देखिये इसी अध्याय की टिप्पणी, १३१ तथा कम्बलाम्बरपा, सोने भरिती करुणानावी, ८वाँ चर्यापद। राजा, आर्यदेवपा, चीआ राअ सहावे भूअल, ३१ वाँ चर्यापद। गन्धर्वों का मधुर घोष, वीणापा, बाजइ आलो सहिहेरुअ वीणा सुन तान्ती धुन विलसइ रुणा। १७ वाँ चर्यापद। ६२ दे पीछे, बोल कक्कोल साधना, ६३ दे पीछे, बोल क्कोल साधना, ६४ बा० स्टडीज इन तन्त्राज पृ० ३०। ६५, कामरूप, कुक्कुरीपा, राति भइले कामरु जाअ, दूसरा चर्यापद, टीका में कामरूप महासुख-चक्र का प्रतीक बताया गया है, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ६ ६६ उड्डीयान, गुण्डरीपा, मणिकूले वहिआ ओडिआणे समाअ, चौथा चर्यापद। टीका के अनुसार यह भी महासुख चक्र का प्रतीक है। बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ९, १०। ६७ वगाल, भुसुकूपा, अद्दअ वगाले क्लेश लुणिउ। ४९ वाँ चर्यापद टीका मे बगाल "अक्षर सुखाद्वय" अर्थात् युगनद्ध अद्वय का प्रतीक बताया गया है, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ९३। ६८ देखिये, यही अध्याय, टिप्पणी सख्या ४३। ६९ चर्यापद ३३ तथा टीका, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ५१ ५२। ७० चर्यापद तथा टीका, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ३६, ३७, ३८। ७१ मह्रीधरपा, १६ वाँ चर्यापद तथा टीका, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० २९, ३०, ७२ ६ ठाँ चर्यापद, पृ० १२। ७३ देखिये पीछे साधना-पद्धति १ वाह्य अनुष्ठान, पृ० ७४ देखिये पीछे, तत्व-चिन्तन, टिप्पणी, १८३। यह रुई धुनने की प्रतीकात्मक प्रक्रिया भी सिद्धो की चर्या से ही सम्बन्धित थी, इसका एक प्रमाण और मिलता है। चर्यापदो मे २५ वें चर्यापद का अपभ्र श रूप अप्राप्य है किन्तु उसका तिब्बती रूपान्तर मिलता है। उसमें रच-यिता का नाम तन्त्रीपा है और वे रुई धुनने के ही रूपक से अपनी अध्यात्म-चर्या का वर्णन करते हुए कहते हैं 'मै कालपचक-रूपी तन्त्र पर निर्मल वस्त्र बुन रहा हूँ। मै तन्त्री हूँ, जुलाहा हूँ, मेरा निज स्वभाव ही सूत्र है। मै उसका रूप नही

जानता। साढे तीन हाथ का ताना बाना तीन ओर फैला है। इस ताने वाने से सारा गगन 'शून्य' ढँक गया है। जब मुझे वयनरस की प्राप्ति हुई तो मै मोह-मल से मुक्त हो गया।' ७५, १७ वाँ चर्यापद तथा टीका, बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ३०, ३१। ७६ १२ वाँ चर्यापद, प्रतीकार्थों के लिये, देखिये पीछे, साधना-पद्धति १ चित्त का हनन। ७७ चर्यापद संख्या ३, तथा टीका, बौद्ध गान ओ दोहा पृ० ७, ८। ७८ देखिये पीछे, उपलब्धि, सिद्धियो का उपयोग। ७९ मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ, पृ० १४ ; ८० चौधरी, डाकार्णव, पृ० ४१, ५९, ६४। ८१. बा० दोहाकोष, पृ० १५० दोहा ३, तथा टीका ८२ बा० चर्यापद, २३ वाँ पद पृ० ५१ यह पद चर्याचर्य विनिश्चय मे खडित मिला है। तिव्वती रूपान्तर पूरा मिलता है। ८३, २८ वाँ चर्यापद तथा टीका, बौद्ध ज्ञान ओ दोहा, पृ०, ४३, ४४, ४५। देखिये पीछे, 'उपलब्धि' टिप्पणी सख्या, ३३, ३४, ३५,। ८५ देखिये पीछे, यही अध्याय, टिप्पणी सख्या, ६६। ८६ पोद्दार, सस्कृत साहित्य का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० १३९ तथा आगे। इसके पूर्व अग्निपुराण मे अलकारो का शब्द, और उभय मे विभाजन मिलता है किन्तु उसमे शव्द और अर्थ का विशेष ध्यान रक्खा गया है, अप्रस्तुत योजना की मूल प्रकृति का नही। ८७ बा० दोहाकोष, पृ० २४। ८८ वही, पृ० २७ ५८, पृ० ३१ ७३, पृ० ३१। ७४ पृ० ३६ ९१। ८९ बौद्ध गान ओ दोहा, टीका पृ० २। ९० हर्षचरित, १/७। ९१ चर्यापद ३३। ९२ साँप और मेढक का प्रतीकार्थ डा० बागची द्वारा प्रकाशित तिब्बती रूपातर के आधार पर निर्धारित किया गया है। चर्यापद, पृ० ११ तथा टीका के अतिरिक्त डा० सुकुमार सेन की टिप्पणियो का भी उपयोग किया गया है। ओल्ड बंगाली टेक्स्ट्स, पृ० २६।

ग

१ बौद्ध गान ओ दोहा-भूमिका। २ महती, उत्कल साहित्य का सच्चिस इतिहास पृ० ३। ३ ककाती, आसामीज, इट्स फार्मेशन एन्ड डेवलपमेट, पृ० ९। ४ राहुल, पुरातत्व निबन्धावली पृ० १६७। ५ हिन्दी काव्य-धारा, पृ० ११। ६ चटर्जी-ओरिजिन एन्ड डेवलपमेट आफ बंगाली लैंग्वेज, खंड १, पृ० ११२। ७ चौधरी, डाकार्णव, पृ० १९। ८ ओल्ड वगाली टैक्ट्स्, पृ० ४४। ९. तोमर, प्राकृत और अपभ्र श साहित्य का इतिहास और उसका हिन्दी पर प्रभाव, पृ० ५६-५९। १० तोमर, प्राकृत और अपभ्र श साहित्य का इतिहास और उसका हिन्दी पर प्रभाव, पृ० ६२ तथा ७२। ११ चटर्जी, ओरिजिन एन्ड डेवे-

लपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज, पृ० ११३, ११४। १२. पुरातत्व-निबन्धावली, पृ० १८४। १३ तोमर, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का इतिहास और उसका हिंदी पर प्रभाव, पृ० ६३। १४ ककाती, आसामी, इट्स फार्मेशन एड डेवेलपमेंट, पृ० ५, ६, ११। १५ ककाती, आसामी, इट्स फार्मेशन एड डेवलपमेंट, पृ० ६। १६ चटर्जी, ओरिजिन एड डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज, खड, ११ पृ० ११२। १७ ल शाँ मिस्तीक्स, भूमिका पृ० ११। १८ चटर्जी, ओरिजिन एड डेवलपमेंट आफ वगाली लैंग्वेज, खड १, पृ० ११६। १६ महन्ती, उत्कल साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३। २० पुरातत्व-निबन्धावली, पृ० १६०। २१ तगारे, हिस्टारिकल ग्रैमर आफ अपभ्रंश, पृ० १५, १६। २२ बा० दोहाकोष, पृ० ३६। २३ गुप्त, ब्रजभाषा रीतिकाव्य की परम्परा (हिन्दी अनुशीलन, वर्ष २, अंक ४, पृ० २०)। २४ साधनमाला, पृ० ५०१। २५ बा० दोहाकोष, पृ० ५३, ५६। २६ सेन, ओल्ड वगाली टेक्ट्स, पृ० ४४। २७ गुप्त, ब्रजभाषा रीतिकाव्य की परम्परा (हिन्दी अनुशीलन)। २८ साधनमाला, खंड २, पृ० ३८३। २६ बा० दोहाकोष, पृ० २१। ३० ल शाँ मिस्तीक्स, पृ० १६१। ३१ ल शाँ मिस्तीक्स, पृ० ७६। ३२ ल शाँ मिस्तीक्स, पृ० १४३। ३३ बा० दोहाकोष, पृ० ३४। ३४ तोमर, प्राकृत, अपभ्रंश साहित्य और उसका हिन्दी पर प्रभाव (अमुद्रित), पृ० २७०। ३५ शाहिदुल्ला, शाँ मिस्तीक्स, पृ० ८०। ३६ चटर्जी, ओरिजन इड डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज, खड १, पृ० ११७। ३७ सेन, ओल्ड वगाली टेक्स्ट्स, पृ० ४४, ४५। ३८. सगीत-रत्नाकर, पृ० १५६ तथा आगे। ३६ सगीत मकरन्द, पृ० ११ तथा आगे। ४० अइयर, स्वर-कलानधि, भूमिका, पृ० ६६।

क

१ तन्त्रो मे कहा गया है कि जिसे पूर्णाभिषेक प्राप्त हो चुका हो फिर वह वर्णाश्रम धर्म से सर्वथा मुक्त हो जाता है। १ गतम् शूद्रस्य शूद्रत्वम् गता विप्रस्य-विप्रता, दीक्षासस्कार सम्पन्ने जातिभेदो न विद्यते। पुरश्चर्यार्णव, पृ० ४१०। २... तीर्थयात्राम् न च ब्रजेत्, तीर्थाटनम् च सन्यासम व्रतधारणमेव च उपवासम् मुडनम् च सर्वथा परिवर्जयेत्, पूर्णाभिषेक्ते शिरसि तेन तत्र न मुडनम् पुरश्चर्याणव, पृ० ४१०। ३ वेद बाह्यमतो पर पुराणो और अन्य ब्राह्मण ग्रन्थो की तीव्र आलोचना का परिचय हमे मिल चुका है। देखिये पीछे, "तन्त्र"। किन्तु ये नये सम्प्रदाय भी अन्य सम्प्रदायो की तीखी और स्पष्ट आलोचना करते थे। जैनो का निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय इस विषय मे अग्रणी था। उनके ग्रन्थो मे वेदान्तियो, बौद्धो, ब्राह्मणो, अज्ञानवादी, विनयवादी और शून्यवादी सम्प्रदायो की तीव्र तर्क-सम्मत आलोचना तो मिलती ही है, बाह्याचारो पर बिल्कुल उसी प्रकार के व्यग मिलते है जैसे सरहपा ने किये है। वे कहते है, अगर नहाने से मुक्ति मिलती तो मछलियाँ और कछुए भी मुक्त हो गये होते। अगर जल कर्मों को धो देता है तो वह दुष्कर्मों के साथ-साथ सुकर्मों को भी धो देता होगा और फिर अगर पानी के अन्दर कोई हत्या करे तो उसे पाप लगना ही नही चाहिये। सोमरस पीने या महामास भक्षण करने से चित्तवृत्ति असाधारण से असाधारण अवश्य हो जाती होगी, किन्तु वह मुक्ति तो नही है। ४ "तित्थ तपोवर्ण म करहुँ सेवा, देह सुचिहि ण स्सन्ति पावा" टीका, बाह्य तीर्थ तपोवन सेवाम् मा कुरु.. महायान मेव तीर्थम्। "ब्रह्मा विष्णु महेसुर देवा, वोहिसत्व म करहु सेवा" टीका—तया चोक्तम् अष्ट साहस्त्रिककाया प्रज्ञापारामितायाम्—नान्येभ्य देवेभ्यः पुष्पम् वा धूपदीपम् दातव्यम् 'देव म पूजहु तित्य ण जावा, देव पूजाहि ण मोक्ख पावा', वुद्ध आराहहु अविकल चित्तें...तिल्लोपा...बागची दोहाकोष, पृ० ६६, ६७। ५ अनुष्ठानो की यह आलोचना केवल सहज पद्धति के प्रचारक सिद्धो की ही विशेपता नही थी। यह सभी तान्त्रिको का मत था कि सिद्धि को उपलब्धि के उपरात बाह्यानुष्ठानो

का कोई महत्व नही रहता। बौद्धो मे सभी पद्धति के तान्त्रिक इसे मानते थे। गुह्य-समाज-तन्त्र मे कहा गया है —

चैत्यकर्म न कुर्वीत न च पुस्तक वाचनम्
मडलम् नैव कुर्वीत न त्रिवज्राग्रवन्दनम्।

भट्टाचार्य, गुह्यसमाज तन्त्र, पृ० १४२।

६ तारानाथ, मिस्टिक टेल्स, पृत्र ८। ७ तारानाथ, मिस्टिक टेल्स, पृ० ९, १०, शंकर का उल्लेख अनैतिहासिक है। ८ देखिये पीछे, यही अध्याय, सिद्धियो का उपयोग। ९ बागची, दोहाकोष, पृ० ७२ तथा आगे। १० अत्र तावत् षडदर्शनानि उच्यन्ते। ब्रह्म, ईश्वर, अर्हन्त, बौद्ध, लोकायत, साख्याश्च। टीका—बागची, दोहाकोष, पृ० ७२। ११ ब्रह्मणो हिण जानन्त हि भेउ, एवइ पढिअउ एच्चउवेउ। १ वही, पृ० १४। २२ वही, पृ० ७३ तथा ७४। १३ वही, पृ० १४। १४ वही, पृ० १४। १५ वही पृ० १४। १६ वही, पृ० १५। १७ वही पृ० ७९, ८०। १८ वही, पृ० १५, १६। १९ वही टीका भाग पृ० ८६। २० चेल्लु भिक्खु जे स्थविर उएसें, बन्देहिअ पव्वज्जि वेसें। तथा टीका, वही, पृ० ८३, ८४। २१ अरण ताहि महजाणहिं धावइ, तहि सुतन्त तक्कसत्थ होइ, णउ परमत्थ एक ते साहिउ। वही, पृ० १६, १७। २२ वही, प० १६, १७, २०। २३......वही, पृ० १८। २४. देखिये पीछे, 'गुरु का महत्व' २५ देखिये पीछे, "तन्त्र" २६ देखिये पीछे, "तन्त्र" २७ देखिये पीछे, "तन्त्र" २८ खत्री, बौद्ध गान ओ दोहा, टीका चर्यापद २, पृ० ६। २९ कारेलो सेकोद्देश टीका, पृ० २८। ३० मजूमदार, हिस्ट्री आफ बगाल, प्रथम खण्ड, पृ० ६७२, ६७३ तथा वैडेल, लामाइज्म, पृ० २४, २५। ३१ वासुदेव उपाध्याय, तिब्बत का प्राचीन धर्म बोनपा "शिक्षा," जनवरी ५०, पृ० २०७। ३२ तिब्बती जनता मे यह अनुश्रुति प्रचलित है कि पद्मसम्भव के पचीस शिष्य थे जिनमे अद्भुत सिद्धियाँ थी। उनमें से १. सूर्यकिरणो पर सवारी करता था, २ चट्टानो मे कीलें गाड देता था, ३ अश्वमुख धारण कर तीन बार हिनहिनाता था, ४ मुर्दो को जीवित कर देता था, ५. तीन डाकनियो का स्वामी था, ६ देवी और दानवो को दासो की भाँति रखता था, ७ भूतो को बुलाता था, ८ उडते पक्षी को पकड लेता था, ९ मुर्दो को सोने में बदल देता था, आदि आदि। इनका सिद्धो की प्रज्ञोपाय भावना तथा नैरात्म्य ज्ञान से कोई सम्बन्ध

नही था । ये केवल असस्कृत जातियो के अन्धविश्वास और आदिम सस्कारो से उद्भूत कल्पनाएँ थी जिन्होने धीरे-धीरे वज्रयान में प्रवेश पा लिया । वैडेल लामा-इज्म, पृ० ३० । ३३ वैडेल, लामाइज्म, पृ० ३० ३४ साधनमाला मे उल्लेख मिलता है कि 'एकजटा' की पूजा सरहपा के शिष्य नागार्जुन ने भोट देश मे उद्धृत की थी, साधनमाला, पृ० २६७ । ३५ बागची, स्डीज इन द तन्त्र, पृ० ५०, ५१ । ३६ चौधरी, डाकार्णव, भूमिका, पृ० ६ । ३७, बागची, स्टडीज़ इन द तन्त्र, पृ० ५१ । ३८, खिति जल पवण हुतासण सुण्ण डाइणि देवि । बागची, दोहाकोष, पृ० ५२ । ३६, बागची, स्टडीज इन तन्त्र, पृ० ५१ । ४०, जयद्रथ यमल मे ही इनका विस्तृत उल्लेख "लामावर्ग" मे है । इस कृत का समय बागची ने ८ वी शती माना है । दे० स्टडीज, पृ० ५०, ५१ उसमे इनके तिब्बती चेहरे लगा कर बहुरूप धारण करने का भी उल्लेख है । ४१ बाद मे १६ वी सती के स्वामी पूर्णानन्द परमहस के षट्चक्र निरूपण मे हमे प्रत्येक चक्र की अधिष्ठात्री डाकिनी, शाकिनी राकिनी, लाकिन, हाकिनी आदि का उल्लेख मिलता है । द्र० षट्चक्र निरूपण, कलकत्ता १६४१ । इस परपरा का अस्तित्व बौद्ध तन्त्रो मे पहले ही मिलता है । इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृ० १६३ । ४२ मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ, पृ० ११ १५, २३ आदि । ४३. साधनमाला, पृ० ४१३, ४१४ । ४४. प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि पृ० ७ । ४५ डा० एस० सी० सरकार, कालिदास, एण्ड हिज कन्टेम्परेरीज इन ए टिबे-टन रेफ्रेंस, गगानाथ भा रिसर्च जर्नल १६४४, पृ० ४०३ तथा आगे । ४६ इन सम्प्रदायो के विषय मे डा० सरकार का यह मत है जिस पर वे तिब्बती प्रमाणों का आश्रय लेकर कार्य कर रहे है । तारानाथ के पालवश के पहले चन्द्रवश का जो उल्लेख किया है उस पर हम राजनीतिक परिस्थिति के अतर्गत विचार कर चुके है । ४७ मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ, पृ० १६ । ४८ मिस्टिक टेल्स आफ तारानाथ, पृ० २४, २५, २६ । ४६. देखिये, आगे, नाथ सम्प्रदाय । ५० देखिये, बागची, कौलज्ञान निर्णय, भूमिका । ५१. न द्वयम् नाद्वयम शान्तम् शिवम् सर्वत्र सस्थितम् ।। स्वाधिष्ठान पद्म रम्यम् प्रज्ञापारमिता शिवम् ।। अनगवज्र, प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि पृ० ५ । ५२ भट्टाचार्य, साधनमाला, भूमिका पृ० ७६ । ५३. सेकोद्देश टीका । ५४. महाकाल साधनम् साधनमाला, पृ० ५६७ । ५५. हलाहल साधनमाला, पृ० ७१ । ५६ कहा जाता है कि जब विष्णु ने अवतार लेकर पृथ्वी को अत्याचार से पीडित किया तो श्रीनाथ भगवान

ने २४ कापालिको को भेजा। इन्होने विष्णु के २४ अवतारो का शिरच्छेदन कर गले मे उनके कपाल धारण किये। इसीलिये ये कापालिक कहलाए। द्विवेदी, "नाथ सम्प्रदाय" मे उद्धृत, पृ० ७। ५७ देखिये बागची, कौलज्ञान निर्णय मे संग्रहीत कौलग्रन्थ। ५८ मिस्टिक टेल्स आफ लामा, तारानाथ, पृ० १५। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि आचार्य क्षितिमोहन सेन ने एक ऐसे शिवपूजक सम्प्रदाय का उल्लेख किया है जो पहले लिंग पर वज्र स्थापित करता है, फिर वज्र हटा कर शिव की पूजा करता है। ज्ञात यह होता है कि कोई ऐसा बौद्ध सम्प्रदाय है जिसे राजभय से शैव धर्म अपनाना पडा है, किन्तु शिव-पूजा के पहले वह शिवलिंग पर वज्र की स्थापना कर देता है जैसा विरूपा ने सोमनाथ का आदर किया किन्तु पहले उन पर अवलोकितेश्वर की स्थापना कर अपने को बौद्ध घोषित कर दिया। सेन महोदय ने उस विधि का अर्थ यह लिया है कि वे वज्र को हटा कर शुद्ध शिव की पूजा करते हैं किन्तु तारानाथ का यह विवरण उस पर नया प्रकाश डालता है जो विचारणीय है। ५९. तीसरा पाठ, बागची, चर्यापद, पृ० १०९। ६० बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ७, ८। ६१ द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ० ८२। ६२ बौद्ध गान ओ दोहा, चर्यापद १०, तथा उसकी टीका पृ१९, २०। ६३. बौद्ध गान ओ दोहा चर्यापद ११ तथा उसकी टीका पृ० २१, २२। ६४ मिस्टिक टेल्स आफ लामा, तारानाथ, पृ० ३१, ३२। ६५ राइस डैविड्स, मैन्युएल आफ ए मिस्टिक, पृ० ८० तथा आगे। ६६. राइस डैविड्स, मैन्युएल आफ ए मिस्टिक, पृ० ८६ तथा आगे। ६७. शास्त्री, गुह्य समाज तन्त्र, पृ० ९०, १४०, १४३। ६८. बागची, स्टडीज इन द तन्त्राज, पृ० २९। ६९. साधनमाला, पृ० ४७३। ७०. साधनमाला, पृ० ४८३ ७१. साधनमाला, पृ० ४७४ ७२. साधनमाला, पृ० ५०१ ७३ साधनमाला, पृ० ५११ ७४ साधन-माला, पृ० ५११ ७५. साधनमाला, पृ० ४७२ ७६. द्विवेदी, मध्ययुग मे भारतीय धर्म-साधना। नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०, अंक १, २। ७७ अद्वयवज्र कुदृष्टि निर्घातम्, पृ० १, २, ३। ७८ उन्होने ५४ ग्रन्थो की रचना की थी। साधनमाला, खण्ड २, भूमिका पृ० ९२। ७९ मिस्टिक टेल्स आफ लामा, तारानाथ, पृ० ४१, ४२। ८०. तारानाथ, इण्डियन एटिक्वेरी, भाग ४, ३६४ तथा आगे।

ख

१ बौद्ध गान ओ दोहा, मुखबन्ध, पृ० १६। २ मोहनसिंह-गोरखनाथ

भूमिका दलजीत सिंह । ३ बा० दोहाकोप, पृ० ३१ । ४ बा० दोहाकोप, पृ० ४४, ४६ । ५ योग प्रवाह, पृ० २१७ । ६ डा० मोहनसिंह, गोरखनाथ, पृ० ६ तथा आगे । ७ द्विवेदी नाथ सम्प्रदाय, पृ० ६८ । ८ द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ० ६७ । ६ कौलज्ञान निर्णय, पृ० १०५ श्लोक १२६ । १० द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ० १८८ । ११ योगिसम्प्रदायाविष्कृति, पृ० ४१६ तथा आगे । १२ द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ० १४७ । १३ दासगुप्त, आब्सक्योर रेलीजस कल्ट्स, पृ० २२६ । १४ डा० मोहनसिंह, गोरखनाथ, पृ० ८ । १५ गोरक्ष सिद्धात सग्रह, पृ० १६ । १६ डा सुरेन्द्रनाथ सेन, स्टडीज़ इन इन्डियन हिस्ट्री कलकत्ता पुस्तकालय १६३० , पृ० १२० । १७ प्रोसीडिंग आफ ए० सो० आ० बें० १६०३, पृ० १०० । १८ इब्बेटसन, पजाब कास्ट्स, पृ० २३५ । १६ कास्ट्स एन्ड ट्राइब्स आफ साउथ इन्डिया, थर्स्टन, खड २, पृ० ४६४ । २० कास्ट्स एन्ड ट्राइब्स आफ़ साउथ, इन्डिया, थर्स्टन, खड २, पृ० ५०० । २१ कास्ट्स एन्ड ट्राइब्स आफ साउथ इन्डिया, थर्स्टन, खड ७, पृ० ४३२ । २२ पजाब कास्ट्स, इब्बेटसन, पृ० २३५ तथा द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय पृ० १५६ । २३ द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ० १८८ । २४ बडथ्वाल, योग प्रवाह, पृ० १ । २५ बड़थ्वाल, योग प्रवाह, पृ० ८ । २६. बडथ्वाल, योगप्रवाह, पृ० २ । २७ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५४ । २८ चतुर्वेदी, सन्त काव्य, पृ० ५२२ । २६ आर्क्यालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, मयूरभज । ३० दासगुप्त, आब्सक्योर रेलीजस कल्ट्स, पृ० ३०१ । ३१ जनवाणी, अगस्त १६५०, पृ० ७५ । ४३ दासगुप्त, आब्सक्योर रेलीजस कल्ट्स, पृ० २६६ । ३३ दासगुप्त, आब्सक्योर रेलीजस कल्ट्स, टिप्पणी २, पृ० ३०० । ३४ एम० एन० बोस, माडर्न बुद्धिज्म, पृ० १६ । ३५ जनवाणी, अगस्त १६५० पृ० ७६ । ३६ दासगुप्त, आब्सक्योर रेलीजस कल्ट्स, पृ० ३०१ । ३७ दासगुप्त, आब्सक्योर रेलीजस कल्ट्स, पृ०, ३२१ । ३८ दासगुप्त, आब्सक्योर रेलीजस कल्ट्स, पृ० २१६ । ३६ लक्ष्मणबोध, बोधसागर ५, पृ० १४२ । ४० लक्ष्मण बोध, सक्षेपसाऊ, बोधसागर ५, पृ० १५४ तथा आगे । ४१. दासगुप्त, आब्सक्योर रेलीजस कल्ट्स, पृ० ३१६ तथा ३०५ । ४२ राय-ओराव आफ छोटा नागपुर, पृ० ४४४ तथा आगे । ४३ दासगुप्त, आब्सक्योर रेलीजस कल्ट्स अध्याय १४ । ४४ द्विवेदी, कबीर, पृ० ५२ तथा आगे । ४५ गोरखबानी, भूमिका, पृ० १५ ।

ग

१ विष्णु-सहस्र-नाम, पृ० २१३, २१४। २ पाहुड दोहा, पृ० ६४। ३ दे० पीछे "शून्यवाद" ४ दे० पीछे "परमार्थ"। ५ गोरखबानी, पृ० १। ६ वाक्यपदीप १, १, १, १२०। ७ नाशोत्पाद समालीढम् ब्रह्म शब्दमयम् च यत्। ८ हठयोगप्रदीपिका, पृ० १७२। ९ जायसी ग्रन्थावली, पृ० ६५८। १० पद ४४, तथा टीका बौद्धगान ओ दोहा, पृ० ६७, ६८। ११. गोरखबानी, पृ० ३२। १२ गोरखबानी, पृ० ७३। १३. गोरखबानी, पृ० ५८। १४ गोरखबानी, पृ० १८७। १५. गोरखबानी, पृ० १८७। १६. गोरखबानी, पृ० १८९। १७ गोरखबानी, पृ० १७। १८. गोरखबानी, पृ० ६०। १९ गोरखबानी, पृ० २०। २०. गोरखबानी, पृ० ५१। २१. गोरखबानी, पृ० २८। २२. गोरखबानी, पृ० २९। २३. गोरक्ष-पद्धति, पृ० ८८। २४. प्राण सगली, पृ० २०२। २५. प्राण सगली, पृ० १३७। २६ प्राण संगली, पृ० १६९। २७. सन्त कबीर, पृ० १८१। २८ सन्त कबीर, पृ० १९२। २९. पचमुद्रा बोधसागर, पृ० १८७। ३०. भवतारण बोध, बोधसागर, पृ० ५०। ३१. भवतारण बोध, बोधसागर, पृ० ५१। ३२. सन्त कबीर, पृ० ९०। ३३. सन्त कबीर, पृ० ४९। ३४ रैदास जी की बानी, पृ० ३। ३५. दादू दयाल की बानी भाग—१, पृ० १७०। ३६ गुलाल साहब की बानी, पृ० २७। ३७. सुन्दर विलास, पृ० १६८-७०। ३८. तैत्तिरीयोपनिषद्, पृ० २०८। ३९. चतुर्वेदी, सत परम्परा, पृ० ३८५। ४० जायसी ग्रन्थावली, पृ० ६५३। ४१. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ६५६। ४२. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ६५८। ४३ जायसी ग्रन्थावली, पृ० ६६५। ४४. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ६६६। ४५ गोरक्ष-पद्धति, पृ० ८६। ४६ हठयोग प्रदीपिका, पृ० १६९। ४७. हठयोग प्रदीपिका, पृ० १९८। ४८. दरिया सागर, पृ० १५। ४९ चतुर्वेदी, सत काव्य, पृ० ५३८। ५० प्राण सगली, टिप्पणी, पृ० १९४। ५१ पलटू साहब की बानी, पृ० ६। ५२, श्वासगु जारअनुरागबोधक खण्ड—१०, पृ० ९। ५३ सन्त कबीर, पृ० ५६। ५४ दादू दयाल की बानी, १, पृ० ५२। ५५. प्राणसगली, पृ० १३०। ५६ गुलाल साहब की बानी, पृ० ६०। ५७ पलटू साहब की बानी १, पृ० ७७। ५८ पलटू साहब की बानी, २, पृ० ३३। ५९ अनुराग सागर, पृ० ७२। ६० सन्त कबीर, पृ० २२७। ६१. सन्त बानी सग्रह, १, पृ० ८। ६२ सन्त बानी सग्रह।२। पृ० १३। ६३ मीरा वृहद् पद, सग्रह, पृ० ३२४। ६४. मलूक

दास जी की बानी, पृ० ४ । ६५ सन्त काव्य, पृ० ३५६ । ६६ भीखा साहब की बानी, पृ० ४३ । ६७ भीखा साहब की बानी, पृ० ६४। ६८ गुलाल साहब की बानी, पृ० २ । ६९ गुलाल साहब की बानी, पृ० २१ । ७० गुलाल साहब की बानी, पृ० ३२ । ७१ गुलाल साहब की बानी, पृ० ३४ । ७२ गुलाल साहब की बानी, पृ० ३७ । ७३. गुलाल साहब की बानी, पृ० ४१ । ७४ गुलाल साहब की बानी, पृ० ५० । ७५ गुलाल साहब की बानी, पृ० ५९ । ७६ सन्त काव्य, पृ० ३२७ । ७७ सन्त काव्य, पृ० ४५४, ४५५ । ७८. भीखा साहब की बानी, पृ० ८५ । ७९ पलटू साहिब की बानी (२), पृ० ३४ । ८०. गुलाल साहब की बानी, पृ० १२५ । ८१ बागची, दोहाकोष, पृ० ४०, ४१, ४२ । ८२. बा० दोहाकोष, पृ० ५६ । ८३. सन्तवानी संग्रह, पृ० १८६, २३ । ८४ प्राण सगली, पृ० १८३ । ८५ गुलाल साहब की बानी पृ० ५० । ८६. निरजन बोध, बोधसागर, (७) पृ० ४ । ८७ ज्ञानबोध, बोधसागर, ७, पृ० २१ । ८८ आगम निगम बोध-बोधसागर (१०), पृ० १५ । ८९ आगम निगम बोध, बोधसागर १०, पृ० १५ । ९० श्वास-गुजार, बोधसागर १०, पृ० ३३ । ९१ कबीर बानी, बोधसागर (७), पृ० १०५ । ९२ भवतारण बोध, बोधसागर (७), पृ० ५५ । ९३. कबीर बानी, बोधसागर (७), पृ० १०५ । ९४ हठयोग प्रदीपिका-चतुर्थोपदेश, श्लो० ७०-८१ तथा टीका, पृ० १७९ तथा आगे । ९५. मोहनसिंह-गोरखनाथ, पृ० ७५-६ पर उद्धृत । ९६ चतुर्वेदी-सन्त काव्य, पृ० ५४९ । ९७ चतुर्वेदी-सन्त काव्य, पृ० ५५९ । ९८. दादूदयाल की बानी—भाग १, पृ० ५०-५१ । ९९ दादू दयाल की बानी, भाग १—पृ० ५८ । १०० कबीरबानी, बोधसागर (७), पृ० ५५ । १०१. कबीर बानी, बोधसागर ७, पृ० १०५ । १०२ कबीर बानी, बोधसागर ७, पृ० १०७ । १०३. प्रणामी साहित्य, पृ० ५६ । १०४ अनुरागसागर, पृ० ४३ । १०५ रैदासजी की बानी, पृ० ४ । १०६ बीजक, पृ० १०३ । १०७ बा० दोहाकोष, पृ० ३१ । १०८. दरिया सागर, पृ० ५७ । १०९ रैदास जी की बानी, पृ० ५ । ११० गोरखबानी, पृ० १९५ । १११. दादू दयाल की बानी (१), पृ० १७० । ११२ दादू दयाल की बानी, पृ० १७१ । ११३ कबीर, पृ० ७२ । ११४. सन्त कबीर, पृ० २१२ । ११५ बीजक, पृ० २९ । ११६ गुलाल साहब की बानी, पृ० ५१ । ११७ गुलाल साहब की बानी, पृ० ८ । ११८ गुलाल साहब की बानी, पृ० ५९ । ११९ गुलाल साहब की बानी, पृ० ६४ । १२०. पलटू साहब की बानी, पृ० २८ । १२१ निरजन बोध, बोधसागर ७, पृ० ३ । १२२ श्वास

गुंजार, वोधसागर १०, पृ० ३३। १२३ बीजक, पृ० ४२५। १२४ प्राण सगलो, पृ० २७६। १२५ भीखा साहब की बानी, पृ० ८१। १२६ गोरखबानी, पृ० ४७। १२७ जायसी ग्रन्थावली, पृ० १४७। १२८ जायसी ग्रन्थावली, पृ० २५८। १२९ सूफी काव्य सग्रह, पृ० ९९। १३०. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ५६९। १३१ जायसी ग्रन्थावली, पृ० ६५४। १३२ सन्त कबीर १२०। १३३ रैदास-जी की वानी, पृ० १९। १३४.वडथ्वाल—योगप्रवाह—पृ० ७३। १३५ कबीर, पृ० ७५। १३६ बा० दोहाकोष, पृ० ३२। १३७. तिलोपा, बागची दोहाकोष, पृ० ५५। १३८ गोरक्ष पद्धति, पृ० ८७। १३९ हठयोग प्रदीपिका, पृ० १७२। १४० सन्त कबीर, पृ० १। १४१. बीजक, पृ० २७८। १४२ बीजक, पृ० २९२। १४३ सन्त कबीर, पृ० ३५। १४४. पलटू साहब की बानी, पृ० १९। १४५ गुलाल साहब की बानी, पृ० २२। १४६ बीजक, पृ० २८। १४७ बीजक, पृ० ३६। १४८. पलटू साहब की बानी, पृ० ९७। १४९ बा० दोहाकोष, पृ० १३। १५० ला शाँ मिस्तिीक्स, पृ० २११। १५१ सन्त कबीर, पृ० ३५। १५२ आगम निगम बोध सागर (१०), पृ० ४४, ४५। १५३ द्विवेदी-कबीर—पृ० ७९। १५४. पलटू साहब की वानी, पृ० ८२। १५५ बागची दोहाकोष, पृ० ३५। १५६ द्रष्टव्य। अध्याय—टिप्पणी ५३ तथा ६९। १५७ सन्त कबीर, पृ० २२। १५८ कौल-ज्ञान निर्णय, पृ० २२। १५९ कौलज्ञान निर्णय, पृ० ६५। १६० कौलज्ञान निर्णय, पृ० ८४, ८५। १६१ कौलज्ञान निर्णय, पृ० ८६। १६२. गोरखबानी, पृ० १००। १६३ वडथ्वाल, योगप्रवाह, पृ० २२७। १६४. गोरखबानी, पृ० १८९ १६५. गोरखबानी, पृ० १९६। १६६ गोरखबानी, पृ० ११६। १६७. गोरखबानी, पृ० १००। १६८ गोरखबानी, पृ० १९६। १६९. गोरखबानी, पृ० १०५। १७० गोरखबानी, पृ० १०४। १७१ गोरखबानी, पृ० २१८। १७२ गोरखबानी, पृ० २३१। १७३ गोरखबानी, पृ० ७९। १७४ गोरखबानी, पृ० ११। १७५. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६। १७६. सन्तबानी सग्रह २, पृ० १७७. बीजक, पृ० ११६। १७८ रैंदास जी की बानी, पृ० २०, २१। १७९ सन्त कबीर, पृ० ५१, २०९, २४२। १८०. दादू दयाल की बानी, पृ० ३, ५, २०, ३२। १८१. गोरखबानी, पृ० १००। १८२ बीजक, पृ० ११९। १८३. सन्त बानी सग्रह २, पृ० १२। १८४ सन्त बानी सग्रह, २, पृ० १७७। १८५ दादू दयाल की बानी, पृ० २१, ६३। १८६. उग गीता, बोधसागर ८। १८७ श्रीमद्भगवत् गीता, अध्याय १३ श्लोक २७, २८। १८८ कबीर बानी, बोधसागर ७, पृ० १२०।

१८६ बडथ्वाल, हिन्दी काव्य मे निगुण सम्प्रदाय, पृ० ११० । १६० कबीर बानी, बोध-सागर १०, पृ० ३१ । १६१ सुमिरन बोध, बोधसागर १०, पृ० ३१ । १६२ पचमुद्रा, बोधसागर ८, पृ० २०४ । १६३ ज्ञानस्थिति बोध, बोधसागर, ८, पृ० १०६ । १६४. ज्ञानस्थिति, बोधसागर ८, पृ० ६३ । १६५ सन्त कबीर, पृ० १ । १६६. सन्त कबीर, पृ० ११ । १६७ दादू दयाल की बानी २, पृ० ८६ । १६८ दादू दयाल की बानी २, पृ० ८६ । १६६ दादू दयाल की बानी १, पृ० १७० । २०० प्राण सगली, पृ० १४७ । २०१ गोरखबानी, पृ० २, ३ । २०२. गोरखबानी, पृ० ३६ । २०३ दादू दयाल की बानी १, पृ० १७३, १७४ । २०४ सन्त कबीर, पृ० २१ । २०५ दादू दयाल की बानी २, पृ० ८६ । २०६ दादू दयाल की बानी २, पृ० २०७ । २०७ दादू दयाल की बानी १, पृ० ६, ६० । २०८ भीखा साहब की बानी, पृ० ३६ । २०६ सन्त बानी संग्रह १, पृ० २६, ३३ । २१० हठयोग प्रदीपिका, चतुर्थोपदेश, श्लोक ३, पृ० १३६ । २११. गोरखबानी, पृ० १३ । २१२ सन्त कबीर, पृ० १६ । २१३ बीजक, पृ० ११६ । २१४ सन्त बानी संग्रह २, पृ० २० । २१५ सन्त बानी सग्रह २, पृ० २१७ । २१६ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १८ । २१७ पलटू साहब की बानी, पृ० ३६ । २१८ दादू दयाल की बानी १, पृ० १७० । २१६ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १८ । २२० दादू दयाल की बानी १, पृ० १७२ । २२१ बागची, दोहाकोष, पृ० २० । २२२ श्रीमद्भागवत्गीता, अध्याय १८, श्लोक ४६, ४८, ४६ । २२३ श्रीमद्-भागवत्गीता, अध्याय १२ ६ । २२४. नारद भक्ति सूत्र : प्रेमदर्शन सूत्र ६५ पृ० १२२ । २२५ सन्त बानी सग्रह २, पृ० १४, १५ । २२६ कबीर ग्रन्था-वली, पृ० १४२ । २२७ गोरच सिद्धान्त संग्रह, पृ० ५७ । २२८ गोरखबानी, पृ० २४६ । २२६ प्रणामी साहित्य संग्रह, पृ० ६ ।

घ

१ गोरखबानी, पृ० ८२, २७०, ८३, २७१ । २. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३, दोहा २६ । ३. गोरखबानी, पृ० १०४, १४ । ४ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२ । ५ गोरखबानी, पृ० ४ । ६ बडथ्वाल, योग प्रवाह, पृ० १६, १७ । ७. सत कबीर, पृ० ४६ । ८ कबीर ग्रन्थावली, पृ० २ । ६. पलटू साहिब की बानी २, पृ० १०६ । १०. बा० दोहाकोष, पृ० १० । ११ कबीर ग्रन्थावली, पृ० २ । १२. दादू दयाल की बानी १, पृ० १२ । १३ बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ३ । १४.

बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ६ । १५. सिद्धान्त संग्रह, द्वितीयोपदेश श्लोक, ३, ५ पृ० ११ । १६. हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेश, श्लोक ५५, ५६ । १७. हठयोग प्रदीपिका, तृतीयोपदेश, श्लोक ६१ तथा ७० । १८. गोरखबानी, पृ० १०४ । १९. गोरखबानी, पृ० २१८ । २० गोरखबानी, पृ० २४२ । २१. दादू दयाल की बानी २, पृ० १५२ ३ । २२. प्राण संगली, पृ० १६३ । २३. प्राण संगली, पृ० १५७ । २४. पाहुड दोहा, पृ० १६ । २५. बा० दोहाकोष, पृ० १० । २६ बा० दोहाकोष, पृ० ८८ । २७. कौलज्ञान निर्णय, पृ० ६५ । २८. गोरखबानी, पृ० २८ । २९. गोरखबानी, पृ० २९ । ३० गोरखबानी, दृ० ११७ । ३१. सन्त कबीर, पृ० २२७ । ३२. सन्त कबीर, पृ० २१ । ३३ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४ । ३४. गोरख बानी, पृ० १९६ । ३५. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६ । ३६. पलटू साहिब की बानी १, पृ० १०१ । ३७ सन्त बानी संग्रह २, पृ० १७७ । ३८. जायसी ग्रन्थावली, पृ० २१६ । ३९ सन्त कबीर, पृ० ७७ । ४० पद ४७, बा० चर्यापद, पृ० १५३। ४१. दादू दयाल की बानी २, पृ० १५१। ४२ गोरखबानी, पृ० १००। ४३ गोर्ख विजय, पृ० १५६ । ४४. गोर्ख विजय, पृ० २५२ । ४५ जायसी ग्रन्थावली, पृ० २३३ । ४६. शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, पृ० १४२ । ४७. राष्ट्रभारती, मई १९५२, पृ० २६२, ६३ । ४८. दे० पीछे अध्याय, ३ ग । ४९ सेकोद्देश । टीका, पृ० २७ । ५०. दे० पीछे अध्याय (३ ग) । ५१ पद ३, बा० चर्यापद, पृ० १०९ । ५२. गोरखबानी, पृ० ३९ । ५३ संत कबीर, पृ० ५५ । ५४ सन्त कबीर, पृ० २० । ५५. प्राण संगली, पृ० १५७ । ५६ रैदासजी की बानी, पृ० २६ । ५७ जायसी ग्रन्थावली, पृ० २७७ । ५८. भीखा साहब की बानी, पृ० ४२ । ५९ गोरक्ष पद्धति, पृ० ५१ । ६०. दे० पीछे साधना पद्धति २ । ६१ गोरखबानी, पृ० २१९। ६२. गोरखबानी, पृ० २१९ । ६३ बा० दोहाकोष, पृ० १५३ । ६४. गोरखबानी, पृ० २२४ । ६५. गोरखबानी, पृ० २२५ । ६६ दादू दयाल की बानी, २ पृ० १५१ । ६७. प्राण संगली, पृ० २०५ । ६८. दोहाकोष, पृ० ३० । ६९ बा० दोहाकोष, पृ० ४४ । ७०. हठयोगप्रदीपिका, पृ० २१, २३ । ७१. गोरखबानी, पृ० ८१ । ७२. गोरखबानी, पृ० १७५ । ७३. बा० दोहाकोष, पृ० ८ । ७४ गोरखबानी, पृ० १७४ । ७५. पद ४७ बा० चर्यापद, पृ० १५३ । ७६. गोरख बानी, पृ० ७४ । ७७. गोरखबानी, पृ० १७४ । ७८. गोरखबानी, पृ० १७७ । ७९. बागची दोहाकोष, पृ० ४४ । ८० गोरखबानी, पृ० १७५ । ८१. गोरखबानी, पृ० २४० । ८२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६८ । ८३. सन्त कबीर, पृ० २५५ ।

८४ सन्त कबीर, पृ० २६० । ८५ सन्त कबीर, पृ० २७३ । ८७. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १० । ८७. गोरखबानी, पृ० ७ । ८८ गोरखबानी, पृ० १०१, १०२। ८९ बा० दोहाकोष, पृ० ३५ । ९० अनुराग सागर, पृ० १३ । ९१ सन्त बानी संग्रह, पृ० ७ । ९२ दादू दयाल की बानी १, पृ० ७, ९० । ९३ सन्त कबीर, पृ० २२७ । ९४ दयाबाई की बानी, "अजपा का अग" पृ० १०, ११ । ९५. दादू दयाल की बानी १, पृ० १०९ । ९६ पल्टू साहब की बानी, पृ० ८१ । ९७ जा० ग्र०, पृ० ६७६ । ९८ बोधसागर ८, पृ० २१९, २२० । ९९ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३८ । १०० दादू दयाल की बानी, पृ० २१, ३६, १९ । १०१. बा० दोहाकोष, पृ० ३५ । १०२ गोरखबानी, पृ० १९१ । १०३ सन्त बानी संग्रह १, पृ० ७ । १०४ अनुराग सागर, पृ० १३ । १०५ उग्रगीता, बोधसागर ८, पृ० २९ । १०६ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४ । १०७ योग प्रवाह, पृ० २७ । १०८ योग प्रवाह, पृ० २४ । १०९ बा० दोहाकोष, पृ० ३६ । ११० बा० दोहाकोष, पृ० ४१ । १११ मोहनसिंह, गोरखनाथ, पृ० २५ पर उद्धृत । ११२. गोरखबानी, पृ० १८७, ६ तथा १४ । ११३ गोरखबानी, पृ० १९६ । ११४. हठयोग प्रदीपिका, चतुर्थोपदेश, श्लोक, ९८, १०२ । ११५ हठयोग प्रदीपिका, तृतीयोपदेश श्लोक, ५४ । ११६ गोरखबानी, पृ० २०० । ११७ गोरखबानी, पृ० १९६, २०१ । ११८ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १८, १४ । ११९ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०२ । १२० कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०३ । १२१ बोधसागर ७, पृ० १०२ । १२२. मीरा बृहद् पद संग्रह, पृ० ३२४ । १२३ सन्त कबीर, पृ० ३८ । १२४. पलटू साहब की बानी १, पृ० १०१ । १२५ पलटू साहब की बानी १, पृ० १०१ । १२६ पलटू साहब की बानी, पृ० ४१ कुडली ९१ । १२७ गुलाल साहब की बानी, पृ० ३७ । १२८. प्रणामी साहित्य, पृ० २२ । १२९ बोधसागर ९, पृ० १३०५ । १३० बोधसागर, १० पृ० १३ । १३१. बोधसागर ८, पृ० ९१ । १३२ बोधसागर ७, पृ० ११३ । १३३ बोधसागर ७, पृ० ११९ । १३४. बोधसागर ७, पृ० १२४, १२५ । १३५ गोरखबानी, पृ० २०, ३२, ४० । १३६. संत कबीर, पृ० २० । १३७ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४१ । १३८ रैदास की बानी, पृ० २६ । १३९ प्राण संगल, पृ० १४० । १४० पलटू साहिब की बानी, ।२। पृ० ९८ । १४१ दासगुप्त, आब्सक्योर रेलीजस कल्ट्स, पृ० १८५ । १४२ हठयोग प्रदीपिका, तृतीयोपदेश, श्लोक ७४ तथा व्याख्या । १४३ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९४ । १४४ पलटू साहिब की बानी, २ पृ० ९७, ९८ । १४५ पद

१४, बा० चर्यापद, पृ० १२१ । १४६ दादू दयाल की बानी, १ पृ० ९० । १४७. कबीर ग्रन्थावली, पृ० २१८ । १४८ पलटू साहब की बानी, २, पृ० ९६ । १४९. बा० चर्यापद, पृ० ११०, ११८, १२४, १३८ । १५० कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५४ । १५१. गोरखबानी, पृ० ११० । १५२ गोरखबानी, पृ० १२९ । १५३. दादू दयाल की बानी, २ पृ० ८९ । १५४ गोरखबानी, पृ० १० । १५५ गोरखबानी, पृ० ३३ । १५६. गोरखबानी, पृ० १६२ । १५७ गोरखबानी, पृ० २०६ । १५८ गोरखबानी, पृ० १८ । १५९ गोरखबानी, पृ० ९६ । १६० गोरखबानी, पृ० ९२ । १६१ गोरखबानी, पृ० ११६ । १६२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १८३ । १६३ प्राण संगली, पृ० १७६ तथा २०४ । १६४ जायसी ग्रन्थावली, पृ० २५६ । १६५ जायसी ग्रन्थावली. पृ० ३१२ । १६६. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ३२७ । १६७ प्राण संगली, पृ० १७६ । १६८. श्रीमद्भागवत्गीता, १५, ६ । १६९, बा० दोहाकोष, पृ० २०। १७० गोरखबानी, पृ० १२९। १७१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १८। १७२. दादू दयाल की बानी १, पृ० १७२। १७३. दादू दयाल की बानी २, पृ० ४२ । १७४ गोरखबानी, पृ० ९०, १६३, १८७। १७५. पद ११ बा० चर्यापद, पृ० ११८। १७६ पद २८ बा० चर्यापद, पृ० १३३। १७७. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ६। १७८. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ७। १७९ नाथ सम्प्रदाय, पृ० ७। १८० नाथ सम्प्रदाय, पृ० ७२। १८१ कौलज्ञान निर्णय, पृ० ५५ श्लोक १० १८२ हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेश. श्लोक, ८३ १०३ । १८३ गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह, पृ० २०। १८४ गोरखबानी, पृ० ४९। १८५ गोरखबानी, पृ० ३५ । १८६. गोरखबानी, पृ० ७७। १८७. गोरखबानी, पृ० ७८। १८८ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३९, ४०। १८९. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३६। १९० अनुराग सागर, पृ० १४२ १९१। बडथ्वाल, निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ४३०। १९२ बा० दोहाकोष, पृ० ५२ । १९३ मिस्टिक टेल्स आफ लामा, तारानाथ, पृ० २२, २३। १९४ कबीर ग्रथावली, पृ० १३८ । १९५, गोरखबानी, पृ० १४३ । १९६ जायसी ग्रन्थावली, पृ० ४२०। १९७ बा० दोहाकोष, पृ० ११। १९८ पद ४, बा० चर्यापद, पृ० ११०। १९९ कौल ज्ञान निर्णय, पृ० ६८। २०० कौल ज्ञान निर्णय पृ० ८०, श्लोक १०। २०१ कौल ज्ञान निर्णय, पृ० ६७ श्लोक ४३। २०२ बा० चर्यापद, पृ० १३२। २०३ गोरखबानी, पृ० १६२। २०४. गोरखबानी, पृ० २०५। जायसी ग्रन्थावली, पृ० २०९। २०६ गोरखबानी, पृ० १०५। २०७ पलटू साहिब की बानी १, पृ० १०० तथा ३०। २०८ संतकाव्य, पृ० ५१५ । २०९ मीरा बृहद पद सग्रह, पृ०

५४ तथा १८१ । २१० मीरा बृहद पद सग्रह, पृ० २६६। २११ मीरा बृहद पद सग्रह, पृ० २६६। २१२, गोर्ख-विजय, पृ० १६८ २१३ गोर्ख-विजय, पृ० १६८ २१४ पद ४ बा० चर्यापद, पृ० ११०। २१५ पद ११ बा० चर्यापद, पृ० ११८। २१६ गोरखवानी, पृ० १०५ । २१७, गोरखवानी, परिशिष्ट ३, पद २४, पृ० २७। २१८ पलटू साहब की बानी १, पृ० १०। २१९ पद ११ बा० चर्यापद, पृ० ११८। २२०. मीरा बृहद पद सग्रह, पृ० १४८ २२१ सन्त कबीर, पृ० २७८। तथा २२२. हठयोग प्रदीपिका, चतुर्थोपदेश, श्लोक ४३ तथा आगे । २२३ हठयोग प्रदीपिका, तृतीयोपदेश श्लोक ४७, ४८। २२४ गोरखबानी, पृ० ४६। २२५ बीजक, पृ० २४०। २२६. पंचमुद्रा, बोधसागर ८, पृ० १८२ तथा आगे । २२७. बा० दोहाकोष, पृ० ५४ । २२८. श्री मद्भगवत्गीता, अध्याय—५, श्लोक २४-२५-२६। २२९ गोरखबानी पृ० २७ । २३० गोरखबानी, पृ० १८७। २३१ गोरखवानी, पृ० ९९ २३२. गोरखबानी, पृ० ५७ २३३ सत कबीर, पृ० ९०। २३४ बीजक पृ० १८२। २३५ दादू दयाल की बानी १, पृ० ६०। २३६. नानक, प्राण सगली, पृ० १४२। २३७. सन्त काव्य, पृ० ३४५ । २३८ बीजक, पृ० ५२। २३९ दरियासागर, पृ० १४। २४० दरियासागर, पृ० १४। २४१ ज्ञानास्थिति बोध, बोधसागर । ८। पृ० ७९। २४२. पञ्चमुद्रा, बोधसागर ८, पृ० २०४ २४३ कबीर बानी, बोधसागर ७, पृ० १०५। २४४ ज्ञानस्थिति बोध, बोधसागर ।८। पृ० १३६। २४५ प्रणामी साहित्य, पृ० ५७ । २४६ कौल ज्ञान निर्णय, पृ० १०१, ८४। २४७ सन्त कबीर, पृ० १४। २४८ सन्त कबीर, पृ० २२। २४९ सन्त कबीर, पृ० ७७। २५०, सन्त कबीर, पृ० १७६। २५१ दादू दयाल की बानी, पृ० ५४। २५२ दरियासागर, पृ० २७। २५३ गुलाल साहब की बानी, पृ० ११। २५४ गोरख-बानी, पृ० ९१ ९२। २५५ सत कबीर, पृ० २१०। २५६ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६४। २५७ दादू दयाल की बानी, १ पृ० ५। १५८ सूफी काव्य सग्रह, पृ० २१६ । २५९ पद २२, बा० चर्यापद पृ० १२९। २६० गोरखबानी, पृ० ६४, ६५। २६१ गोरखबानी, पृ० ९०। २६२ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४०। २६३ प्राण सगली, पृ० १३४। २६४ बीजक, पृ० ११०। २६५ सन्त कबीर, पृ० १५। २६६ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १११। २६७ कबीर ग्रथावली, पृ० १७। २६८ सूफी काव्य सग्रह, पृ० १२६ । २६९ कबीर ग्रंथावली, पृ० १७। २७० कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०२। २७१ दादू दयाल की बानी १, पृ० २२५। २७२ कौलज्ञान निर्णय, पृ० ११ श्लोक ३, ४। २७३ गोरखबानी, पृ० १८। २७४. गोरखवानी, पृ० २४९, ९।

२७५. कबीर ग्रंथावली, पृ० २१२ । २७६ दादू दयाल की वानी १, पृ० २६ । २७७ सन्त काव्य, पृ० ५२६ ।

ङ

१. प्राण सगली, पृ० १५६ १६१। २. गोरखबानी, पृ० १०१। ३ गोरखबानी, पृ० २०५। ४ स्वसम्वेद बोध, बोधसागर ६, पृ० १३८ ३, १३८४। ५. सत कबीर, पृ० ५८। ६ पाहुड दोहा, ६३, पृ० २० । ७ पाहुड दोहा, पृ० ५८। ८. कबीर ग्रथावली, पृ० १२७। ६ सावयधम्म दोहा, सख्या २२, २६, ३३, ४१, ४२, ४३, ४६, ५०, ५१ । १० सुमिरन बोध 'छोटा :, बोधसागर १०, पृ० २ तथा आगे । ११ पुरुपोत्तम, साहित्य का अध्ययन, पृ० ६४ तथा आगे । १२ बीजक, पृ० ३६८ । १३ सिद्ध सिद्धान्त सग्रह, सप्तमोपदेश, पृ० ३६ । १४. प्राण सगली, पृ० १३३, १३५ । १५. बीजक, पृ० ८ । १६. अनुराग सागर, पृ० ६६ । १७ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५४, १८. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५६, १६ गोरखबानी, पृ० १०६ । २० दे० सन्त कबीर, परिशिष्ट, पृ० १७२ । २१ सन्त कबीर, पृ० ११४। २२ सन्त कबीर, पृ० ६६ । २३. सन्त कबीर, पृ० ५३ । २४. का० ग्रं०, पृ० १५३ । २५ सत कबीर, पृ० १२६ ।२६. नानक, प्राण सगली, पृ० २७६। २७ सन्तबानी संग्रह १, पृ० १३०। २८. गुलाल साहव की बानी, पृ० २१। २६ गुलाल साहब की बानी, पृ० ४१। ३० जायसी ग्रन्थावली, पृ० २०२, २१६, २३० ।३१ दादू दयाल की बानी २, पृ० १३६। ३२ सन्त कबीर, पृ० १७८ । ३३ कबीर बानी, बोधसागर ।७। पृ० १०५। ३४ बा० दोहाकोष, पृ० २५। ३५ गोरखवानी, पृ० १०३ । ३६. सन्त कबीर, पृ० ३३ । ३७ पलटू साहब की बानी २, पृ० १६ । ३८. दरिया साहेब की वानी, पृ० ११ । ३६ बा० दोहाकोष, पृ० ४४ । ४० पद ४, बा० चर्यापद, पृ० ११० । ४१ गोरखबानी, पृ० ११७ । ४२ गोरखवानी, पृ० ४६ । ४३ गोरखवानी, पृ० ८ । ४४ गोरखबानी पृ० १६६। ४५. सन्त कबीर, पृ० ७६। ४६ दरियासागर, पृ० १५। ४७ भीख साहब की बानी, पृ० ८१। ४८ दादू दयाल की बानी १, पृ० १। ४६ प्रणामी साहित्य, पृ० २२। ५० पद ३३, बा० चर्यापद, पृ० १३६। ५१ बीजक, पृ० ७१। ५२ गोरखबानी, पृ० १२०। ५३. सन्त कबीर, पृ० ७६ । ५४ दादू दयाल की बानी २, पृ० १६। ५५ दरिया सागर, पृ० १५।५६ सन्त कबीर, पृ० २०६ । ५७ दादू दयाल की बानी २, पृ० २१। ५८. सुन्दर विलास, पृ० ८७ । ५६.

कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११३। ६० संस्कृति-संगम, पृ० ९९ ६१. दादू दयाल का बानी १, पृ० १५२। ६२ गोरखबानी, सबदी सख्या ७, पृ० ३। ६३ ओल्ड बगाली टेक्ट्स : बंगाली अंश, पृ० ३२, ३३। ६४ सन्त कबीर, पृ० १२५। ६५. दादू दयाल की बानी २, पृ० ६९। ६६ गोरखबानी, पृ० १३८। ६७ सन्त कबीर, पृ० ४।६८. दादू दयाल की बानी २, पृ० २३। ६९, गोरखबानी, पृ० १३०। ७० गोरखबानी, पृ० १४१। ७१ सन्त कबीर, पृ० ९४। ७२. दादू दयाल की बानी २, पृ० १२९। ७३. गोरखबानी, पृ० १२५।

सहायक ग्रन्थ-सूची

1. An Introduction to Budhist Esoterism.
   Dr Benoytosh Bhattacharya-London, 1932.
2 An Introduction to Tantric Budhism
   Dr S B Das Gupta-Calcutta 1950
3 An Anthology of Critical Statements.
   Amarnath Jha Allahabad 1931
4 An Outline of Religious Literature of India
   J Furquhar. London 1920
5 Antiquities of Tibet A H Francke Calcutta 1914.
6. Arecord of Budhist religion as practised in India and malaya, Archipalago by Itsing I Takakusu Oxford 1896
7 Assamese Its formation and development.
   Vani Kanta Kakati Gauhati 1914
8 Budhist Philosophy in India and Ceylone
   A B Keith Oxford, 1923
9 Budhist Iconography (The Indian Budhist Iconography mainly based upon the Sadhanmala and other cognate Tantric Texts)
   Dr Benoytosh Bhattacharya—(Oxford University Pass) Calcutta 1924
10. Castes and tribes of South India
   E Thurston. madras 1907.
11. Dynastic History of Nothern India Pt I
   H C. Ray Calcutta 1951.

12 Early history of Kamarup Rai K L. Barua.
Shillong 1933

13 Gods of Northern Budhism A. Getty
Oxford, 1914

14. Gorakhnath and Medieaval Misticism.
Dr. Mohan Singh. Lahore, 1937.

15. Handbook of Vir Shaivism
S. C. Nandimath. Dharwar, 1941

16. History of Bengal, Pt. I. Edited dy Dr R C
majumdar. Dacca, 1943.

17. Hinduism and Budhism. Sir C. Eliot. London 1921.

18. History of Nepal (Tr from Parbatiya)
Ed. Daniels wright. Cambridge 1877.

19. History of Kanauj R. S Tripathi Banaras 1937

20 Historical Grammer of Apabhramsha.
Dr G. V Tagare Poona, 1948

21. India and China Dr P C Bagachi Calcutta, 1944

22 Introduction to Panchratra and Ahirbudhnya
Samhita Dr F. Otto Schrader. Madras 1916

23. Indian Pundits in land of Snow S. C Das.
Calcutta, 1893

24 Lud wig Feurbaeh F. Engels moscow 1946

25 Budhism or Tibet of Lamaism L. A. Waddell
London 1895

26 Lotus of Sacred law Sacred books of East Series
Vol 21.

27. Linguistic Survey of India-Grearson, Vol I pt I

28 Les chants mistiques be Kanha et de Saraha.
M. Shahidullah Paris, 1928

29. Manifesto of Communist party K. Marx. Moscow, 1948.

30. Marx and Engels on India Allahabad (Date not given)

31. Mystic tales of Lama Taranath Ed and tr by Dr B N. Dutta, Calcutta, 1944

32. Mahapari-Nirvana Tantra (Eng prose translation by M M. Dutta) Calcutta, 1900

33. Manual of Budhism H Kern, Strassburg, 1896.

34 Manual of mystic or Yogavachar's manual Tr by F Wood Wards Ed by Rhys Davids, London, 1916

35. Modern Buddhism and its followers in Orissa N N Bose. Calcutta, 1911

36 Outlines of Indian Philosphy M Hiriyanna London 1932

37 Oraon of Chota-Nagpur S C Roy Ranchi, 1915.

38 Obscure Religious Cults Dr S B Dasgupta, 1946.

39. Original and developed forms of Indian Buddhism R Kimura, Calcutta, 1920.

40 Outlines of Mahayana Buddhism, D T Suzuki, London 1907

41. Origin and Development of Bengali Language, Pt I Dr. S K Chatterji, Calcutta 1926

42. Origin and Development of Bhojpuri Dr U N Tiwari (Unpublished Thesis)

43 Punjab Castes, D Ibbetson Lahore 1916

44 Post Chaitanya Sahajiya Cult M. M Bose Calcutta 1930

45. Pali English Dictionary,
Rhys Davids. P. T. S London 1925.,
46. Philosophical Essays S N Dasgupta Calcutta 1,941.
47. Prolegomena to a history of Budhist Philosophy.
B. M. Barua. Calcutta. 1918.
48. Role of individual in History.
G Plekhnov. Moscow, 1946.
49 Rashtrakuts and their times. A S. Altekar Poona 1934
50 Sacred Books of the East Series Vol. 17
51 Sacred Books of the East Series Vol. 20
52. Suzuki, London 1907. Sanskrit Budhist Literature of Nepal. R. L. Mitra. Calcutta 1882.
53 Sarva Darshan Sangraha (Tr. Cowell & Gough) London 1914.
54 Shakti and Shakota J. Woodroffe, Calcutta 1918.
55 Sakti or Divine power. S K. Das Calcutta 1934.
56 Shakti Vishishtad-waita or Philsophy of Vir Shivism. Kashinath Shastri, Mysore 1938.
57 Schools and Sects in Jain Literature.
A Sen. Vishwabharti 1931.
58. Social Organization in N. E India during times of Budha. A. Ficke Calcutta. 1920.
59 Studies in Indian History. Dr S N Sen. Calcutta 1930.
60 Systems of Budhistic thoughts. Yamakimi Sogen. Calcutta 1912.
61 Theory and practice of Tantras.
Guru Prasanna Bhattacharya. Calcutta (Dates not given)

62. Tibetan Tit-bits. Calcutta. 1912.

63 On Ywanchang's travels in India.
T. Walters. London 1905.

64. Vaishnavism Shaivism and minor religious cults
R G. Bhandarkar Poona. 1925.

65. Yoga or Transformation. W. I Flagg London
(Date not given).

66. Vedanta Sutras (S B E 35 & 38)

JOURNALS, MEMOIRS, CATALOGUES ETC

1 Archaeological Survey report. Mayurbhanj

2 Archaeological Survey of India. Annual report 1904.

3 Bharat Kaumudi Pt. II. Allahabad. 1947.

4. Cultural heritage of India Vol II.

5 Descriptive catalogue of Sansk. Mss. in Govt. Collection A. S. B. H P. Shastri

6. Epigraphica Indica Vol 5.

7. Epigraphica Indica Vol 24.

8 Journal of the Dept. of letters of Calcutta Vol. 1.

9. Journal of the Dept. of letters of Calcutta Vol 10.

10. Journal of the Dept. of letters of Calcutta. Vol. 30.

11 Journal of the Dept. of letters of Calcutta Vol 1924.

12. Journal of the Asiatic Society of Bengal Pt II.

13 Journal of the Asiatic Society of Bengal 1930.

14 Journal of the Asiatic Society of Bengal (New Series No 17)

15 Journal of the Royal Asiatic Society 1911.

16 India to-day (Alld.) Vol. 1 no 2.

17 Indian Historical Quarterly Vol. 6.
18 Indian Historical Quarterly Vol. 9. No 1.
19 Indian Historical Quarterly Vol. 4 No. 2.
20 Indian Antiquary Vol. 4.
21 Ganganath Jha Research Inst. Journal 1944.
22 Modern Quarterly Vol 1 No. 2.
23 Modern Quarterly Vol 5 No. 3.
24 Modern Review 1930.
25 Memoirs—Archeological Survey of India No 66.
26 Proceedings of Royal Asiatic Society of Bengal Vol. 18, 1921.
27 Proceedings of Royal Asiatic Society of Bengal 1903.
28 Sino-Indian Studies Vol. I Part I.
29. Vishwabharati Quarterly Aug. Oct. 1945.
30. Journal of the Behar and Orissa Research society. Vol. 5. No. 2.
31. Journal of the Behar and Orissa Research Vol. 17 No. 1
32. Journal of the Behar and Orissa Research Society 1928.
33. New Indian Antiquary Vol. I No 1.

संस्कृत



१. अद्वय-वज्र-संग्रह, सं० म० हरप्रसाद शास्त्री, बड़ौदा १९२७।
२. अभिसमयालंकारालोक, स० टुची, बडौदा १९३२।

३ अष्टहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता स० राजेन्द्र लाल मित्र, कलकत्ता १८८७ ।
४ अभिधर्म कोष, स० राहुल साकृत्यायन, बनारस स० १९८८ ।
५. आनन्द-लहरी स० आर्थर एवलन, मद्रास १९४८ ।
६. कुलार्णव, जीवानन्द, कलकत्ता स० १८९७ ।
७. कूर्मपुराण, स० नीलमणि मुखोपाध्याय कलकत्ता १८९० ।
८. कौलावली निर्णय, स० आर्थर एवलन, कलकत्ता स० १९८५ ।
९. कौल ज्ञान निर्णय, स० डा० प्रबोधचन्द्र बागची, कलकत्ता, स० १९३४ ।
१० गुह्य समाज तन्त्र, स० हरप्रसाद शास्त्री, बडौदा १९३१ ।
११. गोरक्ष पद्धति, बम्बई सं० १९७४ ।
१२ गोरक्ष सिद्धात सग्रह, स० गोपीनाथ कविराज, बनारस, १९२५ ।
१३ चाणक्य नीति दर्पण, भागव पुस्कालय, काशी ।
१४ चित्त विशुद्धि प्रकरण, आर्यदेव स० पी० वी० पटेल, विश्वभारती १९४९ ।
१५ चक्रसम्भार तन्त्र, काजी दावा सम्दुप (तान्त्रिक टेक्ट्स सीरीज) ।
१६ तत्व सग्रह, शान्तिरक्षित, स० डा० विनयतोष भट्टाचार्य, बडौदा गायक-वाड बडौदा सीरीज ।
१७ तैत्तिरीयोपनिषद्, गोरखपुर स० १९९५ ।
१८. न्याय दर्शन, स० गङ्गानाथ झा, बनारस (चौखम्भा सीरीज़) ।
१९ नारद भक्ति सूत्र, गोरखपुर स० २००१ ।
२०. नैरात्म्य परिपृच्छ, विश्वभारती १९३० ।
२१. पुरश्चर्यार्णव भाग १, २, ३, स० महाराज प्रताप सिंह, बनारस १९०
२२. प्रज्ञापारमिता 'सूत्र', स० खुन्नीलाल शास्त्री बरेली स० १९६० ।
२३. प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि, स० डा० विनयतोष भट्टाचार्य टू वज्रयान वर्क्स मे सकलित बडौदा १९२९ ।
२४ बौधिचर्यावतार पञ्जिका, प्रज्ञाकरमति. पूसिं द्वारा सम्पादित घेंट १९०२ ।
२५ मनुस्मृति, स० तुलसीदास स्वामी, मेरठ स० १९५९ ।
२६ महायानविंशक, स० विधुशेखर भट्टाचार्य, विश्वभारती १९३१ ।
२७ महायान सूत्रालङ्कार, स० सिल्वियाँ लेवी, पेरिस १९०७ ।
२८ महाभारत (अनुशासन पर्व) बम्बई १८७७ ।
२९ माध्यमिक वृत्ति, स० पूसि तथा नैजियो, सेंट पीटर्सबर्ग (१९०३ से १९१३ तक सात भागो मे प्रकाशित) ।

३०. योग-रहस्य, नारायण स्वामी, देहली १९४५ ।
३१. लङ्कावतार सूत्र स० सिल्वियाँ लेवी पेरिस (तिथि अनुपलब्ध)
३२ वज्रच्छेदिक, स० मैक्समूलर आक्सफोर्ड १८८१ ।
३३. विष्णुपुराण सपादक—टी० आर० व्यासाचार्य—बबई १९१५ ।
३४. विष्णुसहस्रनाम, गोरखपुर, स० २००१ ।
३५. ब्रह्म-षट-चक्र-निरूपण, कलकत्ता १९४१ ।
३६. सद्धर्म पुडरीक-सूत्र स० कर्न तथा नैंजियो, सेंट पीटर्सबर्ग १९०८ ।
३७ सिद्धात सग्रह, स० गोपीनाप कविराज, वनारस १९२५ ।
३८ सुखावती व्यूह, स० मैक्समुलर तथा नैंजियो, आक्सफोर्ड १८८३ ।
३९. स्वरमेल कलानिधि, रामात्य, स० एम० एस० आर० अय्यर, अन्नमलय विश्वविद्यालय, १९३२ ।
४० सगीत मकरन्द, स० एम० आर० तैलङ्ग बडौदा १९२० ।
४१. सङ्गीत रत्नाकर, शार्गदेव, स० एम० आर० तैलङ्ग, पूना १९२८ ।
४२. साधनमाला (खंड १) स० डा० विनयतोष भट्टाचार्य, बडौदा १९२५ ।
४३. साधनमाला (खड २) स० डा० विनयतोष भट्टाचार्य, बडौदा १९२८ ।
४४. सेकोद्देशटीका, नडपाद, स० डा० मेरियो कारेली, बडौदा १९४१ ।
४५. शिक्षा समुच्चय, स० सी० बैंडेल, सेंट पीटर्सबर्ग (१८९७, १९०२) ।
४६. श्रीमद्भगवद्गीता, गोरखपुर, स० २००८ ।
४७ हठयोगप्रदीपिका, बम्बई स० १९४९ ।
४८. हर्ष-चरित सपादक डा० ए० आर० फ्यूहरर, बबई १९०९ ।
४९. ज्ञानसिद्धि, इन्द्रभूति, स० डा० विनयतोष भट्टाचार्य (वज्रयान वर्क्स मे) सकलित), बडौदा १९२९ ।

हिन्दी

तथा पाली और अपभ्रंश



१. अथर्ववेद का स्वाध्याय, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, सतारा १९२७ ।
२. अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, डा० कपिलदेव द्विवेदी, इलाहाबाद १९५१ ।

३. अनुराग-सागर, युगलदास, बम्बई स० १९८२ ।
४. उत्कल साहित्य का सचित्र इतिहास, आर्त वल्लभ महन्ती, पटना १९५१ ।
५. उत्तर भारत की सन्त परम्परा, परशुराम चतुर्वेदी, इलाहाबाद सं २००८ ।
६. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, बम्बई १९४२ ।
७. कबीर ग्रन्थावली, सं० श्यामसुन्दर दास, बनारस, २००८ ।
८. कबीर साहित्य का अध्ययन, पुरुषोत्तम एम० ए० बनारस सं० २००८ ।
९. गोरखबानी, स० डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल, इलाहावाद, सं० २००३।
१०. गुलाल साहब की बानी, इलाहाबाद १९१० ।
११. चौरासी सिद्ध कौन थे, परशुराम चतुर्वेदी ओरियंटल कान्फ्रेंस लखनऊ, १९५१ में पठित निबन्ध की मुद्रित प्रति ।
१२ जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, बनारस स० २००८ ।
१३. जायसी ग्रन्थावली, डा० माताप्रसाद गुप्त, इलाहाबाद १९५२ ।
१४. जातक, भाग १, २, भदन्त आनन्द कौसल्यायान, इलाहाबाद ।
१५. दरिया सागर इलाहाबाद १९१९ ।
१६. दरिया साहब के चुने हुए पद और साखी, इलाहाबाद १९१३ ।
१७. दयाबाई की बानी, इलाहाबाद १९५१ ।
१८ दादू दयाल की बानी (१) इलाहावाद ।
१९ दादू दयाल की बानी (२) इलाहावाद १९४१ ।
२०. दीघ निकाय (दो खड), पाली टेक्ट्स सोसायटी, लन्दन १८९० १९०३ ।
२१. दोहाकोष, (अग्रेजी टीका सहित) डा० प्रबोधचन्द्र बागची, कलकत्ता १९३५ ।
२२. दोहाकोष, (संस्कृत छाया सहित) डा० प्रबोधचन्द्र बागची, कलकत्ता १९३८ ।
२३. नाथ सम्प्रदाय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, इलाहाबाद १९५० ।
२४. पलटू साहिब की बानी (१) इलाहाबाद २९२३ ।
२५. पलटू साहिब की बानी (२) इलाहाबाद १९२५ ।
२६. पाहुड दोहा, रामसिंह (स० हीरालाल जैन) करजा (बरार) १९३३ ।
२७. पुरातत्व निबन्धावली, राहुल साकृत्यायन, इलाहावाद १९२७ ।
२८. प्रणाली साहित्य सग्रह, स० अम्बरदत शास्त्री, कानपुर १९२९ ।
२९. प्राण सगली (२) नानक (१) इलाहाबाद १९१३ ।

३०. प्राकृत अपभ्रंश साहित्य और हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, डा० रामसिंह तोमर (इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा पी० एच० डी० के लिए स्वीकृत अमुद्रित प्रबन्ध)।
३१. बीजक, स० विचारदास शास्त्री, इलाहाबाद १९२८।
३२. बोधसागर (७) युगल दास, बम्बई स० १९५०।
३३. बोधसागर (८) युगलदास, बम्बई स० १९८?।
३४. बोधसागर (९) युगल दास, बम्बई स० १९८३।
३५. बोधसागर (१०) युगलदास, बम्बई स० १९८३।
३६. भारतीय दर्शन, बल्देव उपाध्याय।
३७. भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास, डा० देवराज, इलाहाबाद १९५०।
३८. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, डा० बेनी प्रसाद, इलाहाबाद १९३१।
३९. भीखा भाहब की बानी इलाहाबाद १९१९।
४०. भूषण ग्रन्थावली, विश्वनाथ मिश्र, बनारस, सम्वत १९९८।
४१ मज्झिम निकाय (३ खण्ड) पाली टेक्ट्स सोसायटी, लन्दन १८८८।
४२. महाभारत, सच्चिप्त। कल्याण प्रेस।
४३. मध्यकालीन भारतीय सस्कृति, गौरीशकर हीराचन्द ओझा, इलाहाबाद १९५१।
४४. मध्यकालीन धर्म साधना, हजारी प्रसाद द्विवेदी, इलाहाबाद १९५२।
४५. मलूकदास की बानी इलाहाबाद १९४६।
४६. मीरा वृहद् पद सग्रह, पद्मावती 'शबनम' बनारस, स० २००८।
४७. योग-प्रवाह, डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल, बनारस।
४८. योगिसम्प्रदायाविष्कृति, योगी चन्द्रनाथ, अहमदाबाद १९२४।
४९ योग-रहस्य, नारायण स्वामी, देहली १९५५।
५०. रैदास जी की बानी, इलाहाबाद १९४८।
५१ सावयधम्मदोहा, देवसेन, स० हीरालाल जैन, करजा सं० १९८९।
५२. सुभाषित सग्रह, स० सी० बेंडेल, ब्रसेल्स १९०५।
५३ सुन्दर विलास, सुन्दर दास, इलाहाबाद १९१४।
५४. सूफी काव्य सग्रह, स० परशुराम चतुर्वेदी, इलाहाबाद १९५२।
५५. सत कबीर, स० डा० रामकुमार वर्मा, इलाहाबाद १९४७।
५६. सस्कृति संगम, चितिमोहन सेन, इलाहाबाद १९५१।

५७ संत-काव्य, परशुराम चतुर्वेदी इलाहाबाद, सं० २००८।

५८. सन्त बानी सग्रह (१) इलाहाबाद १९३८।

५९ सन्त बानी सग्रह (२) इलाहाबाद १९३८।

६०. सहजोबाई की बानी इलाहावाद १९४६।

६१ संस्कृत साहित्य का इतिहास, कन्हैयालाल पोद्दार, बम्बई १९३८।

६२. शंकराचार्य, बल्देव उपाध्याय इलाहाबाद १९५१।

६३ हर्षवर्द्धन, गोरीशकर चटर्जी इलाहाबाद १९५१।

६४ हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारीप्रसाद द्विवेदी, बम्बई १९४४।

६५ हिन्दी काव्यधारा, राहुल साकृत्यायन, इलाहाबाद १९४५

६६. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, इलाहाबाद।

६७. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, डा० भागीरथ मिश्र, लखनऊ सं० २००५

६८ हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, डा० पी० बडथ्वाल (परशुराम चतुर्वेदी द्वारा अनूदित लखनऊ स० २००७।

बंगला



१ गोर्क्ष-विजय, स० पचानन मडल, विश्वभारती व० स० १३५६।

२ चर्यापद स० मणीन्द्रमोहन वस, कलकत्ता।

३. जाति भेद, क्षितिमोहन सेन, विश्वभारती ब० स० १३५३।

४. भारतीय समाज पद्धति, डा० बी० एन० दत्त, कलकत्ता, ब० स० १३४६।

५. शान्तिदेवेर वोधिचर्यावतार, विश्वभारती ब० स० १३५४।

६ हाजार वछरेर पुरान बगला भाषार बौद्ध गान औ दोहा, स० हर प्रसाद शास्त्री, प्रथम सस्करण कलकत्ता ब० स० १३२३।

७ हजार बछेरेर पुरान वगला भाषार बौद्ध गान औ दोहा, सं० हरप्रसाद शास्त्री द्वितीय संस्करण व० स० १३५८।

हिन्दी पत्रिकाएँ



१. गंगा, पुरातत्वाक ।
२. जनवाणी, (काशी) अगस्त १९५०
३ नागरी प्रचारिणी पत्रिका (काशी) वर्ष ५० अंक १ ।
४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका (काशी) वर्ष ५० अंक २ ।
५. राष्ट्रभारती (वार्धा) मई १९५२
६. विश्वभारती (शान्तिनिकेतन) मार्च १९४५ ।
७. विश्वभारती (शान्तिनिकेतन) जुलाई १९४२ ।
८ वीणा (इन्दौर) सितम्बर १९४० ।
९. शक्ति अक (कल्याण, गोरखपुर) १९३४ ।
१० शनिवारेर चीठी (बगला कलकत्ता) वर्ष १६, सख्या १२ ।
११ शिक्षा (इलाहाबाद) जनवरी १९५० ।
१२ हिन्दुस्तानी (इलाहाबाद) जनवरी १९३९ ।
१३ हिस्दुस्तानी (इलाहाबाद) जुलाई १९४० ।
१४ हिन्दुस्तानी (इलाहाबाद) अक्टूबर १९४० ।
१५ हिन्दी अनुशीलन (इलाहाबाद) वर्ष २, अक ४ ।



नामानुक्रमणिका

